अष्टावक्रः महागीता, भाग एक

प्रवचन-क्रम

1. सत्य का शुद्धतम वक्तव्य..................................................................2
2. समाधि का सूत्र: विश्राम.................................................................21
3. जैसी मति वैसी गति............................................................................43
4. कर्म, विचार, भाव--और साक्षी............................................................64
5. साधना नहीं -- निष्ठा, श्रद्धा........................................................84
6. जागो और भोगो..................................................................................101
7. जागरण महामंत्र है.........................................................................124
8. नियंता नहीं -- साक्षी बनो.............................................................144
9. मेरा मुझको नमस्कार.......................................................................164 10.....................................................................................हरि ओम् तत्सत्
....................................................................................................... 181
11..............................................................................दुख का मूल द्वैत है
....................................................................................................... 199
12..................................................प्रभु प्रसाद -- परिपूर्ण प्रयत्न से
....................................................................................................... 222
13.................................................................................जब जागो तभी सवेरा
....................................................................................................... 241
14........................................................................उद्देश्य -- उसे जो भावे
....................................................................................................... 259
15.............................................................जीवन की एकमात्र दीनता: वासना
....................................................................................................... 279

1

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
पहला प्रवचन

सत्य का शुद्धतम वक्तव्य

जनक उवाच।

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो।। १।।

अष्टावक्र उवाच।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज।। २।।
न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुद्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्दि मुक्तये।। ३।।
यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शांतः बंधमुक्तो भविष्यसि।। ४।।
न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव।। ५।।
धर्माऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न तो विभो।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा।। ६।।

एक अनूठी यात्रा पर हम निकलते हैं।
मनुष्य-जाति के पास बहुत शास्त्र हैं, पर अष्टावक्र-गीता जैसा शास्त्र नहीं। वेद फीके हैं। उपनिषद बहुत धीमी आवाज में बोलते हैं। गीता में भी ऐसा गौरव नहीं; जैसा अष्टावक्र की संहिता में है। कुछ बात ही अनूठी है!
सबसे बड़ी बात तो यह है कि न समाज, न राजनीति, न जीवन की किसी और व्यवस्था का कोई प्रभाव अष्टावक्र के वचनों पर है। इतना शुद्ध भावातीत वक्तव्य, समय और काल से अतीत, दूसरा नहीं है। शायद इसीलिए अष्टावक्र की गीता, अष्टावक्र की संहिता का बहुत प्रभाव नहीं पड़ा।
कृष्ण की गीता का बहुत प्रभाव पड़ा। पहला कारण: कृष्ण की गीता समन्वय है। सत्य की उतनी चिंता नहीं है जितनी समन्वय की चिंता है। समन्वय का आग्रह इतना गहरा है कि अगर सत्य थोड़ा खो भी जाये तो कृष्ण राजी हैं। कृष्ण की गीता खिचड़ी जैसी है; इसलिए सभी को भाती है, क्योंकि सभी का कुछ न कुछ उसमें मौजूद है। ऐसा कोई संप्रदाय खोजना मुश्किल है जो गीता में अपनी वाणी न खोज ले। ऐसा कोई व्यक्ति खोजना मुश्किल है जो गीता में अपने लिए कोई सहारा न खोज ले। इन सबके लिए अष्टावक्र की गीता बड़ी कठिन होगी। अष्टावक्र समन्वयवादी नहीं हैं--सत्यवादी हैं। सत्य जैसा है वैसा कहा है--बिना किसी लाग-लपेट के। सुनने वाले की चिंता नहीं है। सुनने वाला समझेगा, नहीं समझेगा, इसकी भी चिंता नहीं है। सत्य का ऐसा शुद्धतम वक्तव्य न पहले कहीं हुआ, न फिर बाद में कभी हो सका।
कृष्ण की गीता लोगों को प्रिय है, क्योंकि अपना अर्थ निकाल लेना बहुत सुगम है। कृष्ण की गीता काव्यात्मक है: दो और दो पांच भी हो सकते हैं, दो और दो तीन भी हो सकते हैं। अष्टावक्र के साथ कोई खेल संभव नहीं। वहां दो और दो चार ही होते हैं।
अष्टावक्र का वक्तव्य शुद्ध गणित का वक्तव्य है। वहां काव्य को जरा
भी जगह नहीं है। वहां कविता के लिए जरा-सी भी छूट नहीं है। जैसा है वैसा कहा है। किसी तरह का समझौता नहीं है।
कृष्ण की गीता पढ़ो तो भक्त अपना अर्थ निकाल लेता है, क्योंकि कृष्ण ने भक्ति की भी बात की है; कर्मयोगी अपना अर्थ निकाल लेता है, क्योंकि कृष्ण ने कर्मयोग की भी बात की है; ज्ञानी अपना अर्थ निकाल लेता है, क्योंकि

कृष्ण ने ज्ञान की भी बात की है। कृष्ण कहीं भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, कहीं ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, कहीं कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।
कृष्ण का वक्तव्य बहुत राजनैतिक है। वे राजनेता थे--कुशल राजनेता थे! सिर्फ राजनेता थे, इतना ही कहना उचित नहीं--कुटिल राजनीतिज्ञ थे, डिप्लोमैट थे। उनके वक्तव्य में बहुत-सी बातों का ध्यान रखा गया है। इसलिए सभी को गीता भा जाती है। इसलिए तो गीता पर हजारों टीकाएं हैं; अष्टावक्र पर कोई चिंता नहीं करता। क्योंकि अष्टावक्र के साथ राजी होना हो तो तुम्हें अपने को छोड़ना पड़ेगा। बेशर्त! तुम अपने को न ले जा सकोगे। तुम पीछे रहोगे तो ही जा सकोगे। कृष्ण के साथ तुम अपने को ले जा सकते हो।
कृष्ण के साथ तुम्हें बदलने की कोई भी जरूरत नहीं है। कृष्ण के साथ तुम मौजूं पड़ सकते हो।
इसलिए सभी सांप्रदायिकों ने कृष्ण की गीता पर टीकाएं लिखीं--शंकर ने, रामानुज ने, निम्बार्क ने, वल्लभ ने, सबने। सबने अपने अर्थ निकाल लिए। कृष्ण ने कुछ ऐसी बात कही है जो बहु-अर्थी है। इसलिए मैं कहता हूं, काव्यात्मक है। कविता में से मनचाहे अर्थ निकल सकते हैं।
कृष्ण का वक्तव्य ऐसा है जैसे वर्षा में बादल घिरते हैं: जो चाहो देख लो। कोई देखता है हाथी की सूंड़; कोई चाहे गणेश जी को देख ले। किसी को कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता--वह कहता है, कहां की फिजूल बातें कर रहे हो? बादल हैं! धुआं--इसमें कैसी आकृतियां देख रहे हो?
पश्चिम में वैज्ञानिक मन के परीक्षण के लिए स्याही के धब्बे ब्लाटिंग पेपर पर डाल देते हैं और व्यक्ति को कहते हैं, देखो, इसमें क्या दिखायी पड़ता है? व्यक्ति गौर से देखता है; उसे कुछ न कुछ दिखाई पड़ता है। वहां कुछ भी नहीं है, सिर्फ ब्लाटिंग पेपर पर स्याही के धब्बे हैं--बेतरतीब फेंके गये, सोच-विचार कर भी फेंके नहीं गये हैं, ऐसे ही बोतल उंडेल दी है। लेकिन देखने वाला कुछ न कुछ खोज लेता है। जो देखने वाला खोजता है वह उसके मन में है; वह आरोपित कर लेता है।
तुमने भी देखा होगा: दीवाल पर वर्षा का पानी पड़ता है, लकीरें खिंच जाती हैं। कभी आदमी की शक्ल दिखायी पड़ती है, कभी घोड़े की शक्ल दिखायी पड़ती है। तुम जो देखना चाहते हो, आरोपित कर लेते हो।
रात के अंधेरे में कपड़ा टंगा है--भूत-प्रेत दिखायी पड़ जाते हैं।
कृष्ण की गीता ऐसी ही है--जो तुम्हारे मन में है, दिखायी पड़ जायेगा। तो शंकर ज्ञान देख लेते हैं, रामानुज भक्ति देख लेते हैं, तिलक कर्म देख लेते हैं--और सब अपने घर प्रसन्नचित्त लौट आते हैं कि ठीक, कृष्ण वही कहते हैं जो हमारी मान्यता है।
इमर्सन ने लिखा है कि एक बार एक पड़ोसी प्लेटो की किताबें उनसे मांग कर
ले गया। अब प्लेटो दो हजार साल पहले हुआ--और दुनिया के थोड़े-से अनूठे विचारकों में से एक। कुछ दिनों बाद इमर्सन ने कहा, किताबें पढ़ ली हों तो वापस कर दें। वह पड़ोसी लौटा गया। इमर्सन ने पूछा, कैसी लगीं? उस आदमी ने कहा कि ठीक। इस आदमी, प्लेटो के विचार मुझसे मिलते-जुलते हैं। कई दफे तो मुझे ऐसा लगा कि इस आदमी को मेरे विचारों का पता कैसे चल गया! प्लेटो दो हजार साल पहले हुआ है; इसको शक हो रहा है कि इसने कहीं मेरे विचार तो नहीं चुरा लिए!
कृष्ण में ऐसा शक बहुत बार होता है। इसलिए कृष्ण पर, सदियां बीत गईं, टीकाएं चलती जाती हैं। हर सदी अपना अर्थ खोज लेती है; हर व्यक्ति अपना अर्थ खोज लेता है। कृष्ण की गीता स्याही के धब्बों जैसी है। एक कुशल राजनीतिज्ञ का वक्तव्य है।
अष्टावक्र की गीता में तुम कोई अर्थ न खोज पाओगे। तुम अपने को छोड़ कर चलोगे तो ही अष्टावक्र की गीता स्पष्ट होगी।
अष्टावक्र का सुस्पष्ट संदेश है। उसमें जरा भी तुम अपनी व्याख्या न डाल सकोगे। इसलिए लोगों ने टीकाएं नहीं लिखीं। टीका लिखने की जगह नहीं है; तोड़ने-मरोड़ने का उपाय नहीं है; तुम्हारे मन के लिए सुविधा नहीं है कि तुम कुछ डाल दो। अष्टावक्र ने इस तरह से वक्तव्य दिया है कि सदियां बीत गईं, उस

वक्तव्य में कोई कुछ जोड़ नहीं पाया, घटा नहीं पाया। बहुत कठिन है ऐसा वक्तव्य देना। शब्द के साथ ऐसी कुशलता बड़ी कठिन है।
इसलिए मैं कहता हूं, एक अनूठी यात्रा तुम शुरू कर रहे हो।
अष्टावक्र में राजनीतिज्ञों की कोई उत्सुकता नहीं है--न तिलक की, न अरविंद की, न गांधी की, न विनोबा की, किसी की कोई उत्सुकता नहीं है। क्योंकि तुम अपना खेल न खेल पाओगे। तिलक को उकसाना है देश-भक्ति, उठाना है कर्म का ज्वार--कृष्ण की गीता सहयोगी बन जाती है।
कृष्ण हर किसी को कंधा देने को तैयार हैं। कोई भी चला लो गोली उनके कंधे पर रख कर, वे राजी हैं। कंधा उनका, पीछे छिपने की तुम्हें सुविधा है, और उनके पीछे से गोली चलाओ तो गोली भी बहुमूल्य मालूम पड़ती है। अष्टावक्र किसी को कंधे पर हाथ भी नहीं रखने देते। इसलिए गांधी की कोई उत्सुकता नहीं है; तिलक की कोई उत्सुकता नहीं है; अरविंद, विनोबा को कुछ लेना-देना नहीं है। क्योंकि तुम कुछ थोप न सकोगे। राजनीति की सुविधा नहीं है। अष्टावक्र राजनीतिक पुरुष नहीं हैं।
यह पहली बात खयाल में रख लेनी जरूरी है। ऐसा सुस्पष्ट, खुले आकाश जैसा वक्तव्य, जिसमें बादल हैं ही नहीं, तुम कोई आकृति देख न पाओगे। आकृति छोड़ोगे सब, बनोगे निराकर, अरूप के साथ जोड़ोगे संबंध तो अष्टावक्र समझ में आयेंगे। अष्टावक्र को समझना चाहो तो ध्यान की गहराई में उतरना होगा, कोई व्याख्या से काम होने वाला नहीं है।
और ध्यान के लिए भी अष्टावक्र नहीं कहते कि तुम बैठ कर राम-राम जपो। अष्टावक्र कहते हैं: तुम कुछ भी करो, वह ध्यान न होगा। कर्ता जहां है वहां ध्यान कैसा? जब तक करना है तब तक भ्रांति है। जब तक करने वाला मौजूद है तब तक अहंकार मौजूद है।
अष्टावक्र कहते हैं: साक्षी हो जाना है ध्यान--जहां कर्ता छूट जाता है, तुम सिर्फ देखने वाले रह जाते हो, द्रष्टा-मात्र! द्रष्टा-मात्र हो जाने में ही दर्शन है। द्रष्टा-मात्र हो जाने में ही ध्यान है। द्रष्टा- मात्र हो जाने में ही ज्ञान है।
इसके पहले कि हम सूत्र में उतरें, अष्टावक्र के संबंध में कुछ बातें समझ लेनी जरूरी हैं। ज्यादा पता नहीं है, क्योंकि न तो वे सामाजिक पुरुष थे, न राजनीतिक, तो इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है। बस थोड़ी-सी घटनाएं ज्ञात हैं--वे भी बड़ी अजीब, भरोसा करने योग्य नहीं; लेकिन समझोगे तो बड़े गहरे अर्थ खुलेंगे।
पहली घटना--अष्टावक्र पैदा हुए उसके पहले की; पीछे का तो कुछ पता नहीं है--गर्भ की घटना। पिता--बड़े पंडित। अष्टावक्र--मां के गर्भ में। पिता रोज वेद का पाठ करते हैं और अष्टावक्र गर्भ में सुनते हैं। एक दिन अचानक गर्भ से आवाज आती है कि रुको भी! यह सब बकवास है। ज्ञान इसमें कुछ भी नहीं--बस शब्दों का संग्रह है। शास्त्र में ज्ञान कहां? ज्ञान स्वयं में है। शब्द में सत्य कहां? सत्य स्वयं में है।
पिता स्वभावतः नाराज हुए। एक तो पिता, फिर पंडित! और गर्भ में छिपा हुआ बेटा इस तरह की बात कहे! अभी पैदा भी नहीं हुआ! क्रोध में आ गए, आगबबूला हो गए। पिता का अहंकार चोट खा गया। फिर पंडित का अहंकार! बड़े पंडित थे, बड़े विवादी थे, शास्त्रार्थी थे। क्रोध में अभिशाप दे दिया कि जब पैदा होगा तो आठ अंगों से टेढ़ा होगा। इसलिए नाम--अष्टावक्र। आठ जगह से कुबड़े पैदा हुए। आठ जगह से ऊंट की भांति, इरछे-तिरछे! पिता ने क्रोध में शरीर को विक्षत कर दिया।
ऐसी और भी कथाएं हैं।
कहते हैं, बुद्ध जब पैदा हुए तो खड़े-खड़े पैदा हुए। मां खड़ी थी वृक्ष के तले। खड़े-खड़े...मां खड़ी थी...खड़े-खड़े पैदा हुए। जमीन पर गिरे नहीं कि चले, सात कदम चले। आठवें कदम पर रुक कर चार आर्य-सत्यों की घोषणा की, कि जीवन दुख है--अभी सात कदम ही चले हैं पृथ्वी पर--कि जीवन दुख है; कि दुख से मुक्त होने की संभावना है; कि दुख-मुक्ति का उपाय है; कि दुख-मुक्ति की अवस्था है, निर्वाण की अवस्था है।

लाओत्सु के संबंध में कथा है कि लाओत्सु बूढ़े पैदा हुए, अस्सी वर्ष के पैदा हुए; अस्सी वर्ष तक गर्भ में ही रहे। कुछ करने की चाह ही न थी तो गर्भ से निकलने की चाह भी न हुई। कोई वासना ही न थी तो संसार में आने की भी वासना न हुई। जब पैदा हुए तो सफेद बाल थे; अस्सी वर्ष के बूढ़े थे।
जरथुस्त्र के संबंध में कथा है कि जब जरथुस्त्र पैदा हुए तो पैदा होते से ही खिलखिला कर हंसे।
मगर इन सबको मात कर दिया अष्टावक्र ने। ये तो पैदा होने के बाद की बातें हैं। अष्टावक्र ने अपना पूरा वक्तव्य दे दिया पैदा होने के पहले। ये कथाएं महत्वपूर्ण हैं। इन कथाओं में इन व्यक्तियों के जीवन की सारी सार-संपदा है, निचोड़ है। बुद्ध ने जो जीवन भर में कहा उसका निचोड़...बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया...तो सात कदम चले, आठवें पर रुक गये। आठ अंग हैं कुल। पहुंचने की अंतिम अवस्था है सम्यक समाधि। उस समाधि की अवस्था में ही पता चलता है जीवन के पूरे सत्य का। उन चार आर्य-सत्यों की घोषणा कर दी।
लाओत्सु बूढ़ा पैदा हुआ। लोगों को अस्सी साल लगते हैं, तब भी ऐसी समझ नहीं आ पाती। बूढ़े हो कर भी लोग बुद्धिमान कहां हो पाते हैं! बूढ़ा होना और बुद्धिमान होना पर्यायवाची तो नहीं। बाल तो धूप में भी पकाये जा सकते हैं।
लाओत्सु की कथा इतना ही कहती है कि अगर जीवन में त्वरा हो, तीव्रता हो
तो जो अस्सी साल में घटता है वह एक क्षण में घट सकता है। प्रज्ञा की तीव्रता हो तो एक क्षण में घट सकता है। बुद्धि मलिन हो तो अस्सी साल में भी कहां घटता है!
जरथुस्त्र जन्म के साथ ही हंसे। जरथुस्त्र का धर्म अकेला धर्म है दुनिया में जिसको "हंसता हुआ धर्म" कह सकते हैं। अतिपार्थिव, पृथ्वी का धर्म है! इसलिए तो पारसी दूसरे धार्मिकों को धार्मिक नहीं मालूम होते। नाचते-गाते, प्रसन्न! जरथुस्त्र का धर्म हंसता हुआ धर्म है; जीवन के स्वीकार का धर्म है; निषेध नहीं है, त्याग नहीं है। तुमने कोई पारसी साधु देखा--नंग-धड़ंग खड़ा हो जाये, छोड़ दे, धूप में खड़ा हो जाये, धूनी रमा कर बैठ जाये? नहीं, पारसी-धर्म में जीवन को सताने, कष्ट देने की कोई व्यवस्था नहीं है। जरथुस्त्र का सारा संदेश यही है कि जब हंसते हुए परमात्मा को पाया जा सकता है तो रोते हुए क्यों पाना? जब नाचते हुए पहुंच सकते हैं उस मंदिर तक तो नाहक कांटे क्यों बोने? जब फूलों के साथ जाना हो सकता है तो यह दुखवाद क्यों? इसलिए ठीक है, प्रतीक ठीक है कि जरथुस्त्र पैदा होते ही हंसे।
इन कथाओं में इतिहास मत खोजना। ऐसा हुआ है--ऐसा नहीं है। लेकिन इन कथाओं में एक बड़ा गहरा अर्थ है।
तुम्हारे पास एक बीज पड़ा है। जब तुम बीज को देखते हो तो इससे पैदा होने वाले फूल की कोई भी तो खबर नहीं मिलती। यह क्या हो सकता है, इसकी भनक भी तो नहीं आती। यह कमल बनेगा, खिलेगा, जल में रहेगा और जल से अछूता रहेगा, सूरज की किरणों पर नाचेगा और सूरज भीर् ईष्यालु होगा--इसके सौंदर्य से, इसकी कोमलता से, इसकी अपूर्व गरिमा, इसके प्रसाद से; इसकी सुगंध आकाश में उड़ेगी--यह बीज को देख कर तो पता भी नहीं चलता। बीज को तो देख कर इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, अनुमान भी नहीं कर सकता। लेकिन एक दिन यह घटता है। तो दो तरह से हम सोच सकते हैं। या तो हम बीज को पकड़ लें जोर से और हम कहें, जो बीज में दिखाई नहीं पड़ा वह कमल में भी घट नहीं सकता। यह भ्रम है।
यह धोखा है। यह झूठ है।
जिनको हम तर्कनिष्ठ कहते हैं, संदेहशील कहते हैं, उनका यही आधार है।
वे कहते हैं, जो बीज में नहीं दिखायी पड़ा वह फूल में हो नहीं सकता; कहीं भ्रांति हो रही है।
इसलिए संदेहशील व्यक्ति बुद्ध को मान नहीं पाता; महावीर को स्वीकार नहीं कर पाता; जीसस को अंगीकार नहीं कर पाता। क्योंकि वे कहते हैं, हमने जाना इनको।

जीसस अपने गांव में आये, बड़े हैरान हुए: गांव के लोगों ने कोई चिंता ही
न की। जीसस का वक्तव्य है कि पैगंबर की अपने गांव में पूजा नहीं होती। कारण क्या रहा होगा? क्यों नहीं होती गांव में पूजा पैगंबर की? गांव के लोगों ने बचपन से देखा: बढ़ई जोसेफ का लड़का है! लकड़ियां ढोते देखा, रिंदा चलाते देखा, लकड़ियां चीरते देखा, पसीने से लथपथ देखा, सड़कों पर खेलते देखा, झगड़ते देखा। गांव के लोग इसे बचपन से जानते हैं--बीज की तरह देखा। आज अचानक यह हो कैसे सकता है कि यह परमात्मा का पुत्र हो गया!
नहीं, जिसने बीज को देखा है, वह फूल को मान नहीं पाता। वह कहता है, जरूर धोखा होगा, बेईमानी होगी। यह आदमी पाखंडी है।
बुद्ध अपने घर वापस लौटे, तो पिता...सारी दुनिया को जो दिखाई पड़ रहा था
वह पिता को दिखायी नहीं पड़ा! सारी दुनिया अनुभव कर रही थी एक प्रकाश, दूर-दूर तक खबरें जा रही थीं, दूर देशों से लोग आने शुरू हो गये थे; लेकिन जब बुद्ध वापस घर आये बारह साल बाद, तो पिता ने कहा: मैं तुझे अभी भी क्षमा कर सकता हूं यद्यपि तूने काम तो बुरा किया है, सताया तो तूने हमें, अपराध तो तूने किया है; लेकिन मेरे पास पिता का हृदय है। मैं माफ कर दूंगा। द्वार तेरे लिए खुले हैं। मगर फेंक यह भिक्षा का पात्र! हटा यह भिक्षु का वेश! यह सब नहीं चलेगा। तू वापस लौट आ। यह राज्य तेरा है। मैं बूढ़ा हो गया, इसको कौन सम्हालेगा? हो गया बचपना बहुत, अब बंद करो यह सब खेल!
बुद्ध ने कहा: कृपा कर मुझे देखें तो! जो गया था वह वापिस नहीं आया है।
यह कोई और ही आया है। जो आपके घर पैदा हुआ था वही वापिस नहीं आया है। यह कोई और ही आया है। बीज फूल हो कर आया है। गौर से तो देखो।
पिता ने कहा, तू मुझे सिखाने चला है? पहले दिन से, जब तू पैदा हुआ था, तबसे तुझे जानता हूं। किसी और को धोखा देना। किसी और को समझा लेना, भ्रम में डाल देना। मुझे तू भ्रम में न डाल पायेगा। मैं फिर कहता हूं। मैं तुझे भलीभांति जानता हूं। मुझे कुछ सिखाने की चेष्टा मत कर। क्षमा करने को मैं राजी हूं।
बुद्ध ने कहा: आप, और मुझे जानते हैं! मैं तो स्वयं को भी नहीं जानता था। अभी-अभी किरणें उतरी हैं और स्वयं को जाना हूं। क्षमा करें! लेकिन यह मुझे कहना ही पड़ेगा कि जिसको आपने देखा, वह मैं नहीं हूं। और जहां तक आपने देखा, वह मैं नहीं हूं। बाहर-बाहर आपने देखा, भीतर आपने कहां देखा? मैं आपसे पैदा हुआ हूं, लेकिन आपने मुझे निर्मित नहीं किया। मैं आपसे आया हूं, जैसे एक रास्ते से कोई राहगीर आता है; लेकिन रास्ता और राहगीर का क्या लेना-देना? कल रास्ता कहने लगे कि मैं तुझे पहचानता हूं, तू मेरे से ही तो होकर आया है--ऐसे ही आप कह रहे हैं। आपके पहले भी मैं था। जन्मों-जन्मों से मेरी यात्रा चल रही है। आपसे गुजरा जरूर हूं, ऐसा मैं औरों से भी गुजरा हूं। और भी मेरे पिता थे, और भी मेरी माताएं थीं। लेकिन मेरा होना बड़ा अलग-थलग है।
कठिन है बहुत, अति कठिन है! अगर बीज देखा तो फूल पर भरोसा नहीं आता।
एक तो ढंग है अश्रद्धालु का, तर्कवादी का, संदेहशील का, कि वह कहता है
कि बीज को हम पहचानते हैं, तो फूल हो नहीं सकता। हम कीचड़ को जानते हैं, उस कीचड़ से कमल हो कैसे सकता है? सब गलत! सपना होगा। भ्रांति होगी। किसी मोह-जाल में पड़ गये होओगे। किसी ने धोखा दे दिया। कोई जादू, कोई तिलिस्म...। एक तो यह रास्ता है।
एक रास्ता है श्रद्धालु का--प्रेमी का, भक्त का, सहानुभूति से भरे हृदय का--वह फूल को देखता है और फूल से पीछे की तरफ यात्रा करता है। वह कहता है, जब फूल में ऐसी सुगंध हुई, जब फूल में ऐसी विभा प्र्रगट हुई, जब फूल में ऐसी प्रतिभा, जब फूल में ऐसा कुंआरापन दिखा, तो जरूर बीज में भी रहा होगा। क्योंकि जो फूल में हुआ है वह बीज में न हो, तो हो ही नहीं सकता।
ये सारी कथाएं घटी हैं, ऐसा नहीं। जिन्होंने अष्टावक्र के फूल को देखा, उनको यह खयाल में आया कि जो आज हुआ है वह कल भी रहा होगा--छिपा था, अवगुंठित था, परदे में पड़ा था। जो आज है, अंत में है, वह प्रथम भी रहा होगा। जो मृत्यु के क्षण में दिखायी पड़ रहा है, वह जन्म के क्षण में भी मौजूद रहा होगा; अन्यथा पैदा कैसे होता!

तो एक तो ढंग है फूल से पीछे की तरफ देखना, और एक है बीज से आगे की तरफ देखना। गौर से देखो तो दोनों में सार-सूत्र एक ही है, दोनों की आधारभित्ति एक ही है; लेकिन कितना जमीन- आसमान का अंतर हो जाता है! जो बीज वाला है, वह भी यह कह रहा है कि जो बीज में नहीं है वह फूल में कैसे हो सकता है! यह उसका तर्क है। फूल वाला भी यही कह रहा है। वह कह रहा है, जो फूल में है वह बीज में भी होना ही चाहिए। दोनों का तर्क तो एक है। लेकिन दोनों के देखने के ढंग अलग हैं। बड़ी अड़चन है!
मुझसे कोई पूछता था कि आपके साथ बचपन में बहुत लोग पढ़े होंगे--स्कूल में, कालेज में--वे दिखायी नहीं पड़ते! वे कैसे दिखायी पड़ सकते हैं! उनको बड़ी अड़चन है। वे भरोसा नहीं कर सकते। अति कठिन है उन्हें।
कल ही मेरे पास रायपुर से किसी ने एक अखबार भेजा। श्री हरिशंकर परसाई
ने एक लेख मेरे खिलाफ लिखा है। वे मुझे जानते हैं, कालेज के दिनों से जानते हैं। हिंदी के मूर्धन्य व्यंग्यलेखक हैं। मेरे मन में उनकी कृतियों का आदर है। लेख में उन्होंने लिखा है कि जबलपुर की हवा में कुछ खराबी है। यहां धोखेबाज और धूर्त ही पैदा होते हैं--जैसे रजनीश, महेश योगी, मूंदड़ा। तीन नाम उन्होंने गिनाए। धन्यवाद उनका, कम से कम मेरा नाम नंबर एक तो गिनाया। इतनी याद तो रखी! एकदम बिसार नहीं दिया। बिलकुल भूल गये हों, ऐसा नहीं है।
लेकिन अड़चन स्वाभाविक है, सीधी-साफ है। मैं उनकी बात समझ सकता हूं। यह असंभव है--बीज को देखा तो फूल में भरोसा! फिर जिन्होंने फूल को देखा, उन्हें बीज में भरोसा मुश्किल हो जाता है। तो सभी महापुरुषों की जीवन-कथाएं दो ढंग से लिखी जाती हैं। जो उनके विपरीत हैं, वे बचपन से यात्रा शुरू करते हैं; जो उनके पक्ष में हैं, वे अंत से यात्रा शुरू करते हैं और बचपन की तरफ जाते हैं। दोनों एक अर्थ में सही हैं। लेकिन जो बचपन से यात्रा करके अंत की तरफ जाते हैं, वे वंचित रह जाते हैं। उनका सही होना उनके लिए आत्मघाती है, जो अंत से यात्रा करते हैं और पीछे की तरफ जाते हैं, वे धन्यभागी हैं। क्योंकि बहुत कुछ उन्हें अनायास मिल जाता है, जो कि पहले तर्कवादियों को नहीं मिल पाता।
अब न केवल मैं गलत मालूम होता हूं, मेरे कारण जबलपुर तक की हवा उनको गलत मालूम होती है: कुछ भूल हवा-पानी में होनी चाहिए! यद्यपि मैं उनको कहना चाहूंगा, जबलपुर को कोई हक नहीं है मेरे संबंध में हवा-पानी को अच्छा या खराब तय करने का। जबलपुर से मेरा कोई बहुत नाता नहीं है। थोड़े दिन वहां था। महेश योगी भी थोड़े दिन वहां थे। उनका भी कोई नाता नहीं है। हम दोनों का नाता किसी और जगह से है। उस जगह के लोग इतने सोए हैं कि उन्हें अभी खबर ही नहीं है। महेश योगी और मेरा जन्म पास ही पास हुआ। दोनों गाडरवाड़ा के आस-पास पैदा हुए। उनका जन्म चीचली में हुआ, मेरा जन्म कुछवाड़े में हुआ। अगर हवा-पानी खराब है तो वहां का होगा। इसका दुख गाडरवाड़ा को होना चाहिए--कभी होगा। या सुख...। जबलपुर को इसमें बीच में आना नहीं चाहिए।
लेकिन मन कैसे तर्क रचता है!
अब जो अष्टावक्र की कथा को देखेगा, वह सुनते से ही कह देगा: "गलत! असंभव!" यह तो कथा जिन्होंने लिखी है उनको भी पता है कि कहीं कोई गर्भ से बोलता है! वे तो केवल इतना कह रहे हैं कि जो आखिर में प्रगट हुआ वह गर्भ में मौजूद रहा होगा; जो वाणी आखिर में खिली वह किसी न किसी गहरे तल पर गर्भ में भी मौजूद रही होगी, अन्यथा खिलती कहां से, आती कहां से? शून्य से थोड़े ही कुछ आता है! हर चीज के पीछे कारण है। नहीं देख पाये हों हम, लेकिन था तो मौजूद।
ये सारी कथाएं इसी का सूचन देती हैं।
अष्टावक्र के संबंध में दूसरी बात जो ज्ञात है, वह है जब वे बारह वर्ष
के थे। बस दो ही बातें ज्ञात हैं। तीसरी उनकी अष्टावक्र-गीता है; या कुछ लोग कहते हैं "अष्टावक्र-संहिता"। जब वे बारह वर्ष के थे तो एक बड़ा विशाल शास्त्रार्थ जनक ने रचा। जनक सम्राट थे और उन्होंने सारे देश के पंडितों को निमंत्रण दिया। और उन्होंने एक हजार गायें राजमहल के द्वार पर खड़ी कर

दीं और उन गायों के सींगों पर सोना मढ़ दिया और हीरे-जवाहरात लटका दिये, और कहा, "जो भी विजेता होगा वह इन गायों को हांक कर ले जाये।"
बड़ा विवाद हुआ! अष्टावक्र के पिता भी उस विवाद में गये। खबर आई सांझ होतेऱ्होते कि पिता हार रहे हैं। सबसे तो जीत चुके थे, वंदिन नाम के एक पंडित से हारे जा रहे हैं। यह खबर सुन कर अष्टावक्र भी राजमहल पहुंच गया। सभा सजी थी। विवाद अपनी आखिरी चरम अवस्था में था। निर्णायक घड़ी करीब आती थी। पिता के हारने की स्थिति बिलकुल पूरी तय हो चुकी थी। अब हारे तब हारे की अवस्था थी।
अष्टावक्र दरबार में भीतर चला गया। पंडितों ने उसे देखा। महापंडित इकट्ठे थे! उसका आठ अंगों से टेढ़ा-मेढ़ा शरीर! वह चलता तो भी देख कर लोगों को हंसी आती। उसका चलना भी बड़ा हास्यास्पद था। सारी सभा हंसने लगी। अष्टावक्र भी खिलखिला कर हंसा। जनक ने पूछा: "और सब हंसते हैं, वह तो मैं समझ गया क्यों हंसते हैं; लेकिन बेटे, तू क्यों हंसा?"
अष्टावक्र ने कहा: "मैं इसलिए हंस रहा हूं कि इन चमारों की सभा में सत्य का निर्णय हो रहा है!"
बड़ा...आदमी अनूठा रहा होगा! "ये चमार यहां क्या कर रहे हैं?"
सन्नाटा छा गया!...चमार! सम्राट ने पूछा: "तेरा मतलब?" उसने कहा: "सीधी-
सी बात है। इनको चमड़ी ही दिखायी पड़ती है, मैं नहीं दिखायी पड़ता। मुझसे सीधा-सादा आदमी खोजना मुश्किल है, वह तो इनको दिखायी ही नहीं पड़ता; इनको आड़ा-टेढ़ा शरीर दिखायी पड़ता है। ये चमार हैं! ये चमड़ी के पारखी हैं। राजन, मंदिर के टेढ़े होने से कहीं आकाश टेढ़ा होता है? घड़े के फूटे होने से कहीं आकाश फूटता है? आकाश तो निर्विकार है। मेरा शरीर टेढ़ा-मेढ़ा है, लेकिन मैं तो नहीं। यह जो भीतर बसा है इसकी तरफ तो देखो! इससे तुम सीधा-सादा और कुछ खोज न सकोगे।"
यह बड़ी चौंकाने वाली घोषणा थी, सन्नाटा छा गया होगा। जनक प्रभावित हुआ, झटका खाया। निश्चित ही कहां चमारों की भीड़ इकट्ठी करके बैठा है! खुद पर भी पश्चात्ताप हुआ, अपराध लगा कि मैं भी हंसा। उस दिन तो कुछ न कहते बना, लेकिन दूसरे दिन सुबह जब सम्राट घूमने निकला था तो राह पर अष्टावक्र दिखायी पड़ा। उतरा घोड़े से, पैरों में गिर पड़ा। सबके सामने तो हिम्मत न जुटा पाया, एक दिन पहले। एक दिन पहले तो कहा था, "बेटे, तू क्यों हंसता है?" बारह साल का लड़का था। उम्र तौली थी। आज उम्र नहीं तौली। आज घोड़े से उतर गया, पैर पर गिर पड़ा--साष्टांग दंडवत! और कहा: पधारें राजमहल, मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करें! हे प्रभु, आयें मेरे घर! बात मेरी समझ में आ गई है! रात भर मैं सो न सका। ठीक ही कहा: शरीर को ही जो पहचानते हैं उनकी पहचान गहरी कहां! आत्मा के संबंध में विवाद कर रहे हैं, और अभी भी शरीर में रस और विरस पैदा होता है, घृणा, आकर्षण पैदा होता है! मर्त्य को देख रहे हैं, अमृत की चर्चा करते हैं! धन्यभाग मेरे कि आप आये और मुझे चौंकाया! मेरी नींद तोड़ दी! अब पधारो!
राजमहल में उसने बड़ी सजावट कर रखी थी। स्वर्ण-सिंहासन पर बिठाया था
इस बारह साल के अष्टावक्र को और उससे जिज्ञासा की। पहला सूत्र जनक की जिज्ञासा है। जनक ने पूछा है, अष्टावक्र ने समझाया है।
इससे ज्यादा अष्टावक्र के संबंध में और कुछ पता नहीं है--और कुछ पता होने की जरूरत भी नहीं है। काफी है, इतना बहुत है। हीरे बहुत होते भी नहीं, कंकड़-पत्थर ही बहुत होते हैं। हीरा एक भी काफी होता है। ये दो छोटी-सी घटनाएं हैं।
एक तो जन्म के पहले की: गर्भ से आवाज और घोषणा कि "क्या पागलपन में पड़े हो? शास्त्र में उलझे हो, शब्द में उलझे हो? जागो! यह ज्ञान नहीं है, यह सब उधार है। यह सब बुद्धि का ही जाल है, अनुभव नहीं है। इसमें रंचमात्र भी सार नहीं है। कब तक अपने को भरमाये रखोगे?"
और दूसरी घटना: राजमहल में हंसना पंडितों का और कहना अष्टावक्र का, कि जीवन में देखने की दो दृष्टियां हैं--एक आत्म-दृष्टि, एक चर्म-दृष्टि। चमार चमड़ी को देखता है। प्रज्ञावान आत्मा को देखता है।

तुमने गौर किया? चमार तुम्हारे चेहरे की तरफ देखता ही नहीं, वह जूते
को ही देखता है। असल में चमार जूते को देख कर सब पहचान लेता है तुम्हारे संबंध में कि आर्थिक हालत कैसी है; सफलता मिल रही है कि विफलता मिल रही है; भाग्य कैसा चल रहा है। वह सब जूते में लिखा है। जूते की सिलवटें कह देती हैं। जूते की दशा कह देती है। जूते में तुम्हारी आत्मकथा लिखी है। चमार पढ़ लेता है। जूते में चमक, जूते का ताजा और नया होना, चमार तुमसे प्रसन्नता से मिलता है। जूता ही उसके लिए तुम्हारी आत्मा का सबूत है।
दर्जी कपड़े देखता है। तुम्हारा कोट-कपड़ा देख कर समझ लेता है, हालत कैसी है।
सबकी अपनी बंधी हुई दृष्टियां हैं।
सिर्फ आत्मवान ही आत्मा को देखता है। उसकी कोई दृष्टि नहीं है। उसके पास दर्शन है।
एक छोटी घटना और--जो अष्टावक्र के जीवन से संबंधित नहीं, रामकृष्ण और विवेकानंद के जीवन से संबंधित है, लेकिन अष्टावक्र से उसका जोड़ है--फिर हम सूत्रों में प्रवेश करें।
विवेकानंद रामकृष्ण के पास आये, तब उनका नाम "नरेंद्रनाथ" था। "विवेकानंद" तो बाद में रामकृष्ण ने उनको पुकारा। जब आये रामकृष्ण के पास तो अति विवादी थे, नास्तिक थे, तर्कवादी थे। हर चीज के लिए प्रमाण चाहते थे।
कुछ चीजें हैं जिनके लिए कोई प्रमाण नहीं--मजबूरी है। परमात्मा के लिए कोई प्रमाण नहीं है; है और प्रमाण नहीं है। प्रेम के लिए कोई प्रमाण नहीं है; है और प्रमाण नहीं है। सौंदर्य के लिए कोई प्रमाण नहीं है; है और प्रमाण नहीं है।
अगर मैं कहूं, देखो ये खजूरिना के वृक्ष कैसे सुंदर हैं, और तुम कहो, "हमें तो कोई सौंदर्य दिखायी नहीं पड़ता। वृक्ष जैसे वृक्ष हैं। सिद्ध करें।" मुश्किल हो जायेगी। कैसे सिद्ध करें कि सुंदर हैं! सुंदर होने के लिए सौंदर्य की परख चाहिए--और तो कोई उपाय नहीं। आंख चाहिए--और तो कोई उपाय नहीं।
कहते हैं, मजनू ने कहा कि लैला को जानना हो तो मजनू की आंख चाहिए। ठीक कहा। लैला को देखने का और कोई उपाय ही नहीं।
मजनू को बुलाया था उसके गांव के राजा ने और कहा था: तू पागल है! मैं तेरी लैला को जानता हूं, साधारण-सी लड़की है, काली-कलूटी, कुछ खास नहीं। तुझ पर मुझे दया आती है। ये मेरे राजमहल की बारह लड़कियां खड़ी हैं, ये इस देश की सुंदरतम स्त्रियां हैं, इनमें से तू कोई भी चुन ले। यह तुझे रोते देख कर मेरा भी प्राण रोता है।
उसने देखा और उसने कहा: इनमें तो लैला कोई भी नहीं। ये लैला के मुकाबले तो दूर, उसके चरण की धूल भी नहीं।
सम्राट कहने लगा: मजनू, तू पागल है।
मजनू ने कहा: यह हो सकता है। लेकिन एक बात आपसे कहना चाहता हूं--लैला
को देखना हो तो मजनू की आंख चाहिए।
ठीक कहा मजनू ने।
अगर वृक्षों के सौंदर्य को देखना हो तो कला की आंख चाहिए--और कोई प्रमाण नहीं है। अगर किसी के प्रेम को पहचानना हो तो प्रेमी का हृदय चाहिए--और कोई प्रमाण नहीं है। और परमात्मा तो इस जगत के सारे सौंदर्य और सारे प्रेम और सारे सत्य का इकट्ठा नाम है। उसके लिए तो ऐसा निर्विकार चित्त चाहिए, ऐसा साक्षी-भाव चाहिए, जहां कोई शब्द न रह जाये, कोई विचार न रह जाये, कोई तरंग न उठे। वहां कोई धूल न रह जाये मन की और चित्त का दर्पण परिपूर्ण शुद्ध हो! प्रमाण कहां?
रामकृष्ण से विवेकानंद ने कहा: प्रमाण चाहिए। है परमात्मा तो प्रमाण दें।
और विवेकानंद को देखा रामकृष्ण ने। बड़ी थी संभावनाएं इस युवक की। बड़ी
थी यात्रा इसके भविष्य की। बहुत कुछ होने को पड़ा था इसके भीतर। बड़ा खजाना था, उससे यह अपरिचित है। रामकृष्ण ने देखा, इस युवक के पिछले जन्मों में

झांका। यह बड़ी संपदा, बड़े पुण्य की संपदा ले कर आ रहा है। यह ऐसे ही तर्क में दबा न रह जाये। कराह उठा होगा पीड़ा और करुणा से रामकृष्ण का हृदय। उन्होंने कहा, "छोड़, प्रमाण वगैरह बाद में सोच लेंगे। मैं जरा बूढ़ा हुआ, मुझे पढ़ने में अड़चन होती है। तू अभी जवान, तेरी आंख अभी तेज--यह किताब पड़ी है, इसे तू पढ़।" वह थी अष्टावक्र-गीता। "जरा मुझे सुना दे।"
कहते हैं, विवेकानंद को इसमें तो कुछ अड़चन न मालूम पड़ी, यह आदमी कुछ ऐसी तो कोई खास बात नहीं मांग रहा है! दो-चार सूत्र पढ़े और एक घबड़ाहट, और रोआं-रोआं कंपने लगा! और विवेकानंद ने कहा, मुझसे नहीं पढ़ा जाता। रामकृष्ण ने कहा: पढ़ भी! इसमें हर्ज क्या है? तेरा क्या बिगाड़ लेगी यह किताब? तू जवान है अभी। तेरी आंख अभी ताजी हैं। और मैं बूढ़ा हुआ, मुझे पढ़ने में दिक्कत होती है। और यह किताब मुझे पढ़नी है तो तू पढ़ कर सुना दे।
कहते हैं उस किताब को सुनाते-सुनाते ही विवेकानंद डूब गये। रामकृष्ण
ने देखा इस व्यक्ति के भीतर बड़ी संभावना है, बड़ी शुद्ध संभावना है; जैसी एक बोधिसत्व की होती है जो कभी न कभी बुद्ध होना जिसका निर्णीत है; आज नहीं कल, भटके कितना ही, बुद्धत्व जिसके पास चला आ रहा है।
क्यों अष्टावक्र की गीता रामकृष्ण ने कही कि तू पढ़ कर मुझे सुना दे? क्योंकि इससे ज्यादा शुद्धतम वक्तव्य और कोई नहीं। ये शब्द भी अगर तुम्हारे भीतर पहुंच जायें तो तुम्हारी सोयी हुई आत्मा को जगाने लगेंगे। ये शब्द तुम्हें तरंगायित करेंगे। ये शब्द तुम्हें आह्लादित करेंगे। ये शब्द तुम्हें झकझोरेंगे। इन शब्दों के साथ क्रांति घटित हो सकती है। अष्टावक्र की गीता को मैंने यूं ही नहीं चुना है। और जल्दी नहीं चुना--बहुत देर करके चुना है, सोच-विचार कर। दिन थे, जब मैं कृष्ण की गीता पर बोला, क्योंकि भीड़-भाड़ मेरे पास थी। भीड़- भाड़ के लिए अष्टावक्र-गीता का कोई अर्थ न था। बड़ी चेष्टा करके भीड़-भाड़ से छुटकारा पाया है। अब तो थोड़े-से विवेकानंद यहां हैं। अब तो उनसे बात करनी है, जिनकी बड़ी संभावना है। उन थोड़े से लोगों के साथ मेहनत करनी है, जिनके साथ मेहनत का परिणाम हो सकता है। अब हीरे तराशने हैं, कंकड़-पत्थरों पर यह छैनी खराब नहीं करनी। इसलिए चुनी है अष्टावक्र की गीता। तुम तैयार हुए हो, इसलिए चुनी है।
पहला सूत्र:
जनक ने कहा, "हे प्रभो, पुरुष ज्ञान को कैसे प्राप्त होता है। और मुक्ति कैसे होगी और वैराग्य कैसे प्राप्त होगा? यह मुझे कहिए! एतत मम ब्रूहि प्रभो! मुझे समझायें प्रभो!"
बारह साल के लड़के से सम्राट जनक का कहना है: "हे प्रभु! भगवान! मुझे समझायें! एतत मम ब्रूहि! मुझ नासमझ को कुछ समझ दें! मुझ अज्ञानी को जगायें!"
तीन प्रश्न पूछे हैं--
"कथं ज्ञानम्! कैसे होगा ज्ञान!"
साधारणतः तो हम सोचेंगे कि "यह भी कोई पूछने की बात है? किताबों में भरा पड़ा है।" जनक भी जानता था। जो किताबों में भरा पड़ा है, वह ज्ञान नहीं; वह केवल ज्ञान की धूल है, राख है! ज्ञान की ज्योति जब जलती है तो पीछे राख छूट जाती है। राख इकट्ठी होती चली जाती है, शास्त्र बन जाती है। वेद राख हैं--कभी जलते हुए अंगारे थे। ऋषियों ने उन्हें अपनी आत्मा में जलाया था। फिर राख रह गये। फिर राख संयोजित की जाती है, संगृहीत की जाती है, सुव्यवस्थित की जाती है। जैसे जब आदमी मर जाता है तो हम उसकी राख इकट्ठी कर लेते हैं--उसको फूल कहते हैं। बड़े मजेदार लोग हैं! जिंदगी में जिसको फूल नहीं कहा, उसकी हड्डियां-वड्डियां इकट्ठी कर लाते हैं--कहते हैं, "फूल संजो लाये"! फिर सम्हाल कर रखते हैं, मंजूषा बनाते हैं। जिसको जिंदगी में कभी फूल का आदर नहीं दिया, जिसको जिंदगी में कभी फूल की तरह देखा नहीं, जब मर जाता है--आदमी पागल है--तब उसकी हड्डी को, राख को फूल कहते हैं!
ऐसे ही जब कोई बुद्ध जीवित होता है, तब तुम सुनते नहीं। जब कोई महावीर तुम्हारे बीच से गुजरता है, तब तुम नाराज होते हो। लगता है, यह आदमी तुम्हारे सपने तोड़ रहा है, या तुम्हारी नींद में दखल डाल रहा है। "यह कोई जगाने का वक्त है? अभी-अभी तो सपना आना शुरू हुआ था; अभी-अभी तो जरा जीतना

शुरू किया था जिंदगी में; अभी-अभी तो दांव ठीक लगने लगे थे, तीर ठीक-ठीक जगह पड़ने लगा था--और ये सज्जन आ गये! ये कहते हैं, सब असार है! अभी-अभी तो चुनाव जीते थे, पद पर पहुंचने का रास्ता बना था--और ये महापुरुष आ गये! ये कहते हैं, यह सब सपना है, इसमें कुछ सार नहीं; मौत आयेगी, सब छीन लेगी! और छोड़ो भी, जब मौत आयेगी तब देखेंगे; बीच में तो इस तरह की बातें मत उठाओ!"
लेकिन जब महावीर मर जाते, बुद्ध मर जाते, तब उनकी राख को हम इकट्ठी कर लेते हैं। फिर हम धम्मपद बनाते हैं, वेद बनाते हैं। फिर हम पूजा के फूल चढ़ाते हैं।
जनक भी जानता था कि शास्त्रों में सूचनाएं भरी पड़ी हैं। लेकिन उसने पूछा, "कथं ज्ञानम्? कैसे होगा ज्ञान?" क्योंकि कितना ही जान लो, ज्ञान तो होता ही नहीं। जानते जाओ, जानते जाओ, शास्त्र कंठस्थ कर लो, तोते बन जाओ, एक-एक सूत्र याद हो जाये, पूरे वेद स्मृति में छप जायें--फिर भी ज्ञान तो होता नहीं।
"कथं ज्ञानम्? कैसे होगा ज्ञान? कथं मुक्ति? मुक्ति कैसे होगी?"
क्योंकि जिसको तुम ज्ञान कहते हो, वह तो बांध लेता उलटे, मुक्त कहां करता? ज्ञान तो वही है जो मुक्त करे। जीसस ने कहा है, सत्य वही है जो मुक्त करे। ज्ञान तो वही है जो मुक्त करे--यह ज्ञान की कसौटी है। पंडित मुक्त तो दिखाई नहीं पड़ता, बंधा दिखाई पड़ता है। मुक्ति की बातें करता है, मुक्त दिखाई नहीं पड़ता; हजार बंधनों में बंधा हुआ मालूम पड़ता है।
तुमने कभी गौर किया, तुम्हारे तथाकथित संत तुमसे भी ज्यादा बंधे हुए मालूम पड़ते हैं! तुम शायद थोड़े-बहुत मुक्त भी हो, तुम्हारे संत तुमसे भी ज्यादा बंधे हैं। लकीर के फकीर हैं; न उठ सकते स्वतंत्रता से, न बैठ सकते स्वतंत्रता से, न जी सकते स्वतंत्रता से।
कुछ दिनों पहले कुछ जैन साध्वियों की मेरे पास खबर आई कि वे मिलना चाहती हैं, मगर श्रावक आने नहीं देते। यह भी बड़े मजे की बात हुई! साधु का अर्थ होता है, जिसने फिक्र छोड़ी समाज की; जो चल पड़ा अरण्य की यात्रा पर; जिसने कहा, अब न तुम्हारे आदर की मुझे जरूरत है न सम्मान की। लेकिन साधु- साध्वी कहते हैं, "श्रावक आने नहीं देते! वे कहते हैं, वहां भूल कर मत जाना। वहां गये तो यह दरवाजा बंद!" यह कोई साधुता हुई? यह तो परतंत्रता हुई, गुलामी हुई। यह तो बड़ी उलटी बात हुई। यह तो ऐसा हुआ कि साधु श्रावक को बदले, उसकी जगह श्रावक साधु को बदल रहा है।
एक मित्र ने आ कर मुझे कहा कि एक जैन साध्वी आपकी किताबें पढ़ती है, लेकिन चोरी से; टेप भी सुनना चाहती है, लेकिन चोरी से। और अगर कभी किसी के सामने आपका नाम भी ले दो तो वह इस तरह हो जाती है जैसे उसने कभी आपका नाम सुना ही नहीं।
यह मुक्ति हुई?
जनक ने पूछा, "कथं मुक्ति? कैसे होती मुक्ति? क्या है मुक्ति? उस ज्ञान को मुझे समझायें, जो मुक्त कर देता है।"
स्वतंत्रता मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण आकांक्षा है। सब पा लो, लेकिन गुलामी अगर रही तो छिदती है। सब मिल जाये, स्वतंत्रता न मिले तो कुछ भी नहीं मिला। मनुष्य चाहता है खुला आकाश। कोई सीमा न हो! वह मनुष्य की अंतरतम, निगूढ़तम आकांक्षा है, जहां कोई सीमा न हो, कोई बाधा न हो। इसी को परमात्मा होने की आकांक्षा कहो, मोक्ष की आकांक्षा कहो।
हमने ठीक शब्द चुना है "मोक्ष"; दुनिया की किसी भाषा में ऐसा प्यारा शब्द नहीं है। स्वर्ग, फिरदौस--इस तरह के शब्द हैं, लेकिन उन शब्दों में मोक्ष की कोई धुन नहीं है। मोक्ष का संगीत ही अनूठा है। उसका अर्थ ही केवल इतना है: ऐसी परम स्वतंत्रता जिस पर कोई बाधा नहीं है; स्वतंत्रता इतनी शुद्ध कि जिस पर कोई सीमा नहीं है।
पूछा जनक ने, "कैसे होगी मुक्ति और कैसे होगा वैराग्य? हे प्रभु, मुझे समझा कर कहिए!"
अष्टावक्र ने गौर से देखा होगा जनक की तरफ; क्योंकि गुरु के लिए वही पहला काम है कि जब कोई जिज्ञासा करे तो वह गौर से देखे: "जिज्ञासा किस

स्रोत से आती है? पूछने वाले ने क्यों पूछा है?" उत्तर तो तभी सार्थक हो सकता है जब प्रश्न क्यों किया गया है, वह समझ में आ जाये, वह साफ हो जाए। ध्यान रखना, सदज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति, सदगुरु तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं देता--तुम्हें उत्तर देता है! तुम क्या पूछते हो, इसकी फिक्र कम है; तुमने क्यों पूछा है, तुम्हारे पूछने के पीछे अंतरचेतन में छिपा हुआ जाल क्या है, तुम्हारे प्रश्नों की आड़ में वस्तुतः कौन-सी आकांक्षा छिपी है...!
दुनिया में चार तरह के लोग हैं--ज्ञानी, मुमुक्षु, अज्ञानी, मूढ़। और दुनिया में चार ही तरह की जिज्ञासाएं होती हैं। ज्ञानी की जिज्ञासा तो निःशब्द होती है। कहना चाहिए, ज्ञानी की जिज्ञासा तो जिज्ञासा होती ही नहीं--जान लिया, जानने को कुछ बचा नहीं; पहुंच गये, चित्त निर्मल हुआ, शांत हुआ, घर लौट आये, विश्राम में आ गये! तो ज्ञानी की जिज्ञासा तो जिज्ञासा जैसी होती ही नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानी सीखने को तैयार नहीं होता। ज्ञानी तो सरल, छोटे बच्चे की भांति हो जाता है--सदा तत्पर सीखने को। जितना ज्यादा तुम सीख लेते हो, उतनी ही सीखने की तत्परता बढ़ जाती है। जितने तुम सरल और निष्कपट होते चले जाते हो, उतने ही सीखने के लिए तुम खुल जाते हो। आयें हवाएं, तुम्हारे द्वार खुले पाती हैं। आये सूरज, तुम्हारे द्वार पर दस्तक नहीं देनी पड़ती। आये परमात्मा, तुम्हें सदा तत्पर पाता है।
ज्ञानी ज्ञान को संगृहीत नहीं करता; ज्ञानी सिर्फ ज्ञान की क्षमता को उपलब्ध होता है। इस बात को ठीक से समझ लेना, क्योंकि पीछे यह काम पड़ेगी। ज्ञानी का केवल इतना ही अर्थ है कि जो जानने के लिए बिलकुल खुला है; जिसका कोई पक्षपात नहीं; जानने के लिए जिसके पास कोई परदा नहीं; जिसके पास जानने के लिए कोई पूर्व-नियोजित योजना, ढांचा नहीं। ज्ञानी का अर्थ है ध्यानी-- जो ध्यानपूर्ण है।
तो देखा होगा अष्टावक्र ने गौर से, जनक में झांक कर: यह व्यक्ति ज्ञानी तो नहीं है। यह ध्यान को तो उपलब्ध नहीं हुआ है। अन्यथा इसकी जिज्ञासा मौन होती; उसमें शब्द न होते।
बुद्ध के जीवन में उल्लेख है--एक फकीर मिलने आया। एक साधु मिलने आया।
एक परिव्राजक, घुमक्कड़। उसने आकर बुद्ध से कहा: "पूछने योग्य शब्द मेरे पास नहीं। क्या पूछना चाहता हूं, उसे शब्दों में बांधने की मेरे पास कोई कुशलता नहीं। आप तो जानते ही हैं, समझ लें। जो मेरे योग्य हो, कह दें।"
यह ज्ञानी की जिज्ञासा है।
बुद्ध चुप बैठे रहे, उन्होंने कुछ भी न कहा। घड़ी भर बाद, जैसे कुछ घटा!
वह जो आदमी चुपचाप बैठा बुद्ध की तरफ देखता रहा था, उसकी आंख से आंसुओं की धार लग गई, चरणों में झुका, नमस्कार किया और कहा, "धन्यवाद! खूब धन्यभागी हूं! जो लेने आया था, आपने दिया।" वह उठकर चला भी गया। उसके चेहरे पर अपूर्व आभा थी। वह नाचता हुआ गया।
बुद्ध के आसपास के शिष्य बड़े हैरान हुए। आनंद ने पूछा: "भंते! भगवान! पहेली हो गई। पहले तो यह आदमी कहता है कि मुझे पता नहीं कैसे पूछूं; पता नहीं किन शब्दों में पूछूं; यह भी पता नहीं क्या पूछने आया हूं; फिर आप तो जानते ही हैं सब; देख लें मुझे; जो मेरे लिए जरूरी हो, कह दें। पहले तो यह आदमी ही जरा पहेली था...यह कोई ढंग हुआ पूछने का! और जब तुम्हें यही पता नहीं कि क्या पूछना है तो पूछना ही क्यों? पूछना क्या? खूब रही! फिर यहीं बात खत्म न हुई; आप चुप बैठे सो चुप बैठे रहे! आपको ऐसा कभी मौन देखा नहीं; कोई पूछता है तो आप उत्तर देते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि कोई नहीं भी पूछता तो भी आप उत्तर देते हैं। आपकी करुणा सदा बहती रहती है। क्या हुआ अचानक कि आप चुप रह गये और आंख बंद हो गई? और फिर क्या रहस्यमय घटा कि वह आदमी रूपांतरित होने लगा। हमने उसे बदलते देखा। हमने उसे किसी और ही रंग में डूबते देखा। उसमें मस्ती आते देखी। वह नाचते हुए गया है--आंसुओं से भरा हुआ, गदगद, आह्लादित! वह चरणों में झुका। उसकी सुगंध हमें भी छुई। यह हुआ क्या? आप कुछ बोले नहीं, उसने सुना कैसे? और हम तो इतने दिनों से,

वर्षों से आपके पास हैं, हम पर आपकी कृपा कम है क्या? यह प्रसाद, जो उसे दिया, हमें क्यों नहीं मिलता?"
लेकिन ध्यान रहे, उतना ही मिलता है जितना तुम ले सकते हो।
बुद्ध ने कहा, "सुनो। घोड़े...।" आनंद से घोड़े की बात की, क्योंकि आनंद क्षत्रिय था, बुद्ध का चचेरा भाई था और बचपन से ही घोड़े का बड़ा शौक था उसे, घुड़सवार था। प्रसिद्ध घुड़सवार था, प्रतियोगी था बड़ा! उन्होंने कहा, "सुन आनंद!" बुद्ध ने कहा: "घोड़े चार प्रकार के होते हैं। एक तो मारो भी तो भी टस से मस नहीं होते। रद्दी से रद्दी घोड़े! जितना मारो उतना ही हठयोगी हो जाते हैं, बिलकुल हठ बांध कर खड़े हो जाते हैं। तुम मारो तो वे जिद्द बना लेते हैं कि देखें कौन जीतता है! फिर दूसरे तरह के घोड़े होते हैं: मारो तो चलते हैं, न मारो तो नहीं चलते। कम से कम पहले से बेहतर। फिर तीसरे तरह के घोड़े होते हैं: कोड़ा फटकारो, मारना जरूरी नहीं। सिर्फ कोड़ा फटकारो, आवाज काफी है। और भी कुलीन होते हैं--दूसरे से भी बेहतर। फिर आनंद, तुझे जरूर पता होगा ऐसे भी घोड़े होते हैं कि कोड़े की छाया देख कर भागते हैं, फटकारना भी नहीं पड़ता। यह ऐसा ही घोड़ा था। छाया काफी है।"
अष्टावक्र ने देखा होगा गौर से।
जब तुम आ कर मुझसे कुछ पूछते हो तो तुम्हारे प्रश्न से ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल तुम हो। कभी-कभी तुम्हें भी ऐसा लगता होगा कि तुमने जो नहीं पूछा था, वह मैंने उत्तर दिया है। और कभी-कभी तुम्हें ऐसा भी लगता होगा कि शायद मैं टाल गया तुम्हारे प्रश्न को, बचाव कर गया, कुछ और उत्तर दे गया हूं। लेकिन सदा तुम्हारी भीतरी जरूरत ज्यादा महत्वपूर्ण है; तुम क्या पूछते हो, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं। क्योंकि तुम्हें खुद ही ठीक पता नहीं, तुम क्या पूछते हो, क्यों पूछते हो। उत्तर वही दिया जाता है, जिसकी तुम्हें जरूरत है। तुम्हारे पूछने से कुछ तय नहीं होता।
देखा होगा अष्टावक्र ने: ज्ञानी तो नहीं है जनक। अज्ञानी है फिर क्या? अज्ञानी भी नहीं है। क्योंकि अज्ञानी तो अकड़ीला, अकड़ से भरा होता है। अज्ञानी तो झुकना जानता ही नहीं। यह तो मुझे बारह साल की उम्र के लड़के के पैरों में झुक गया, साष्टांग दंडवत की। यह अज्ञानी के लिए असंभव है। अज्ञानी तो समझता है कि मैं जानता ही हूं, मुझे कौन समझायेगा! अज्ञानी अगर कभी पूछता भी है तो तुम्हें गलत सिद्ध करने को पूछता है। क्योंकि अज्ञानी तो यह मान कर ही चलता है कि पता तो मुझे है ही; देखें इनको भी पता है या नहीं! अज्ञानी परीक्षा के लिए पूछता है। नहीं, इसकी आंखें, जनक की तो बड़ी निर्मल हैं। मुझ बारह साल के अनजान-अपरिचित लड़के को सम्राट होते हुए भी इसने कहा, "एतत मम बू्रहि प्रभो! हे प्रभु, मुझे समझा कर कहें!" नहीं, यह विनयशील है, अज्ञानी तो नहीं है। मूढ़ है क्या फिर? मूढ़ तो पूछते ही नहीं। मूढ़ों को तो पता ही नहीं है कि जीवन में कोई समस्या है।
मूढ़ और बुद्धपुरुषों में एक समानता है। बुद्धपुरुषों के लिए कोई समस्या नहीं रही; मूढ़ों के लिए अभी समस्या उठी ही नहीं। बुद्धपुरुष समस्या के पार हो गये: मूढ़ अभी समस्या के बाहर हैं। मूढ़ तो इतना मूर्च्छित है कि उसे कहां सवाल? "कथं ज्ञानम्"--मूढ़ पूछेगा? "कथं मुक्ति"--मूढ़ पूछेगा? "कैसे होगा वैराग्य"--मूढ़ पूछेगा? असंभव!
मूढ़ अगर पूछेगा भी तो पूछता है, राग में सफलता कैसे मिलेगी? मूढ़ अगर पूछता भी है तो पूछता है, संसार में और थोड़े ज्यादा दिन कैसे रहना हो जाये? मुक्ति...! नहीं, मूढ़ पूछता है बंधन सोने के कैसे बनें? बंधन में हीरे- जवाहरात कैसे जड़ें? मूढ़ पूछता भी है तो ऐसी बातें पूछता है। ज्ञान! मूढ़ तो मानता ही नहीं कि ज्ञान हो सकता है। वह तो संभावना को ही स्वीकार नहीं करता। वह तो कहता है, कैसा ज्ञान? मूढ़ तो पशुवत जीता है।
नहीं, यह जनक मूढ़ भी नहीं है--मुमुक्षु है।
"मुमुक्षु" शब्द समझना जरूरी है। मोक्ष की आकांक्षा--मुमुक्षा! अभी मोक्ष के पास नहीं पहुंचा, ज्ञानी नहीं है; मोक्ष के प्रति पीठ करके नहीं खड़ा, मूढ़ नहीं है; मोक्ष के संबंध में कोई धारणाएं पकड़ कर नहीं बैठा, आज्ञानी भी नहीं है--मुमुक्षु है। मुमुक्षु का अर्थ है, सरल है इसकी

जिज्ञासा; न मूढ़ता से अपवित्र हो रही है, न अज्ञानपूर्ण धारणाओं से विकृत हो रही है। शुद्ध है इसकी जिज्ञासा। सरल चित्त से पूछा है।
अष्टावक्र ने कहा, "हे प्रिय, यदि तू मुक्ति को चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।"
मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
शब्द "विषय" बड़ा बहुमूल्य है--वह विष से ही बना है। विष का अर्थ होता है, जिसे खाने से आदमी मर जाये। विषय का अर्थ होता है, जिसे खाने से हम बार-बार मरते हैं। बार-बार भोग, बार-बार भोजन, बार-बार महत्वाकांक्षा, र्ा, क्रोध, जलन--बार-बार इन्हीं को खा-खा कर तो हम मरे हैं! बार-बार इन्हीं के कारण तो मरे हैं! अब तक हमने जीवन में जीवन कहां जाना, मरने को ही जाना है। अब तक हमारा जीवन जीवन की प्रज्वलित ज्योति कहां, मृत्यु का ही धुआं है। जन्म से ले कर मृत्यु तक हम मरते ही तो हैं धीरे-धीरे, जीते कहां? रोज-रोज मरते हैं! जिसको हम जीवन कहते हैं, वह एक सतत मरने की प्रक्रिया है। अभी हमें जीवन का तो पता ही नहीं, तो हम जीयेंगे कैसे? यह शरीर तो रोज क्षीण होता चला जाता है। यह बल तो रोज खोता चला जाता है। ये भोग और विषय तो रोज हमें चूसते चले जाते हैं, जराजीर्ण करते चले जाते हैं। ये विषय और कामनाएं तो छेदों की तरह हैं; इनसे हमारी ऊर्जा और आत्मा रोज बहती चली जाती है। आखिर में घड़ा खाली हो जाता है, उसको हम मृत्यु कहते हैं।
तुमने कभी देखा, अगर छिद्र वाले घड़े को कुएं में डालो तो जब तक घड़ा पानी में डूबा होता है, भरा मालूम पड़ता है; उठाओ, पानी के ऊपर खींचो रस्सी, बस खाली होना शुरू हुआ! जोर का शोरगुल होता है। उसी को तुम जीवन कहते हो? जलधारें गिरने लगती हैं, उसी को तुम जीवन कहते हो? और घड़ा जैसे-जैसे पास आता हाथ के, खाली होता चला जाता है। जब हाथ में आता है, तो खाली घड़ा! जल की एक बूंद भी नहीं! ऐसा ही हमारा जीवन है।
बच्चा पैदा नहीं हुआ, भरा मालूम होता है; पैदा हुआ कि खाली होना शुरू हुआ। जन्म का पहला दिन मृत्यु का पहला दिन है। खाली होने लगा। एक दिन मरा, दो दिन मरा, तीन दिन मरा! जिनको तुम "जन्म-दिन" कहते हो, अच्छा हो, "मृत्यु- दिन" कहो तो ज्यादा सत्यतर होगा। एक साल मर जाते हो, उसको कहते हो, चलो एक जन्म-दिन आ गया! पचास साल मर गये, कहते हो, "पचास साल जी लिये, स्वर्ण-जयंती मनाएं!" पचास साल मरे। मौत करीब आ रही है, जीवन दूर जा रहा है। घड़ा खाली हो रहा है! जो दूर जा रहा है, उसके आधार पर तुम जीवन को सोचते हो या जो पास आ रहा है उसके आधार पर? यह कैसा उलटा गणित! हम रोज मर रहे हैं। मौत करीब सरकती आती है।
अष्टावक्र कहते हैं: विषय हैं विषवत, क्योंकि उन्हें खा-खा कर हम सिर्फ मरते हैं; उनसे कभी जीवन तो मिलता नहीं।
"यदि तू मुक्ति चाहता है, हे तात, हे प्रिय, तो विषयों को विष के समान छोड़ दे, और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।" अमृत का अर्थ होता है, जिससे जीवन मिले; जिससे अमरत्व मिले; जिससे उसका पता चले जो फिर कभी नहीं मरेगा।
तो क्षमा!
क्रोध विष है; क्षमा अमृत है।
आर्जव!
कुटिलता विष है; सीधा-सरलपन, आर्जव अमृत है।
दया!
कठोरता, क्रूरता विष है; दया, करुणा अमृत है।
संतोष!
असंतोष का कीड़ा खाए चला जाता है। असंतोष का कीड़ा हृदय में कैंसर की तरह है; फैलता चला जाता है; विष को फैलाए चले जाता है।
संतोष--जो है उससे तृप्ति; जो नहीं है उसकी आकांक्षा नहीं। जो है वह काफी से ज्यादा है। वह है ही काफी से ज्यादा। आंख खोलो, जरा देखो!
संतोष कोई थोपना नहीं है ऊपर जीवन के। जरा गौर से देखो, तुम्हें जो मिला है वह तुम्हारी जरूरत से सदा ज्यादा है! तुम्हें जो चाहिए वह मिलता

ही रहा है। तुमने जो चाहा है, वह सदा मिल गया है। तुमने दुख चाहा है तो दुख मिल गया है। तुमने सुख चाहा है तो सुख मिल गया है। तुमने गलत चाहा तो गलत मिल गया है। तुम्हारी चाह ने तुम्हारे जीवन को रचा है। चाह बीज है; फिर जीवन उसकी फसल है। जन्मों-जन्मों में जो तुम चाहते रहे हो वही तुम्हें मिलता रहा है। कई बार तुम सोचते हो हम कुछ और चाह रहे हैं, जब मिलता है तो कुछ और मिलता है--तो तुम्हारे चाहने में भूल नहीं हुई है; सिर्फ तुमने चाहने के लिए गलत शब्द चुन लिया था। जैसे--तुम चाहते हो सफलता, मिलती है विफलता। तुम कहते हो, विफलता मिल रही है; चाही तो सफलता थी।
लेकिन जिसने सफलता चाही उसने विफलता को स्वीकार कर ही लिया; वह विफलता से भीतर डर ही गया है। विफलता के कारण ही तो सफलता चाह रहा है। और जब-जब सफलता चाहेगा तबत्तब विफलता का खयाल आयेगा। विफलता का खयाल भी मजबूत होता चला जायेगा। सफलता तो कभी मिलेगी; लेकिन रास्ते पर यात्रा तो विफलता-विफलता में ही बीतेगी। विफलता का भाव संगृहीभूत होगा। वह इतना संगृहीभूत हो जायेगा कि वही एक दिन प्रगट हो जायेगा। तब तुम कहते हो कि हमने तो सफलता चाही थी। लेकिन सफलता के चाहने में तुमने विफलता को चाह लिया।
लाओत्सु ने कहा है: सफलता चाही, विफलता मिलेगी। अगर सचमुच सफलता चाहिए हो, सफलता चाहना ही मत; फिर तुम्हें कोई विफल नहीं कर सकता।
तुम कहते हो: हमने सम्मान चाहा था, अपमान मिल रहा है। सम्मान चाहता ही वही व्यक्ति है, जिसका अपने प्रति कोई सम्मान नहीं। वही तो दूसरों से सम्मान चाहता है। अपने प्रति जिसका अपमान है वही तो दूसरों से अपने अपमान को भर लेना चाहता है, ढांक लेना चाहता है। सम्मान की आकांक्षा इस बात की खबर है कि तुम अपने भीतर अपमानित अनुभव कर रहे हो; तुम्हें अनुभव हो रहा है कि मैं कुछ भी नहीं हूं, दूसरे मुझे कुछ बना दें, सिंहासन पर बिठा दें, पताकाएं फहरा दें, झंडे उठा लें मेरे नाम के--दूसरे कुछ कर दें!
तुम भिखमंगे हो! तुमने अपना अपमान तो खुद कर लिया जब तुमने सम्मान चाहा। और यह अपमान गहन होता जायेगा।
लाओत्सु कहता है, मेरा कोई अपमान नहीं कर सकता, क्योंकि मैं सम्मान चाहता ही नहीं। यह सम्मान को पा लेना है। लाओत्सु कहता है, मुझे कोई हरा नहीं सकता, क्योंकि जीत की हमने बात ही छोड़ दी। अब हराओगे कैसे! तुम उसी को हरा सकते हो जो जीतना चाहता है अब यह जरा उलझा हुआ हिसाब है।
इस दुनिया में सम्मान उन्हें मिलता है जिन्होंने सम्मान नहीं चाहा। सफलता उन्हें मिलती है जिन्होंने सफलता नहीं चाही। क्योंकि जिन्होंने सफलता नहीं चाही उन्होंने तो स्वीकार ही कर लिया कि सफल तो हम हैं ही, अब और चाहना क्या है? सम्मान तो हमारे भीतर आत्मा का है ही; अब और चाहना क्या है? परमात्मा ने सम्मान दे दिया तुम्हें पैदा करके; अब और किसका सम्मान चाहते हो? परमात्मा ने तुम्हें काफी गौरव दे दिया! जीवन दिया! यह सौभाग्य दिया कि आंख खोलो, देखो हरे वृक्षों को, फूलों को, पक्षियों को! कान दिए-- सुनो संगीत को, जलप्रपात के मरमर को! बोध दिया कि बुद्ध हो सको! अब और क्या चाहते हो? सम्मानित तो तुम हो गये! परमात्मा ने तुम्हें प्रमाण-पत्र दिया। तुम भिखारी की तरह किनसे प्रमाण-पत्र मांग रहे हो? उनसे, जो तुमसे प्रमाण-पत्र मांग रहे हैं?
यह बड़ा मजेदार मामला है: दो भिखारी एक-दूसरे के सामने खड़े भीख मांग रहे हैं! यह भीख मिलेगी कैसे? दोनों भिखारी हैं। तुम किससे सम्मान मांग रहे हो? किसके सामने खड़े हो? यह अपमान कर रहे हो तुम अपना। और यही अपमान गहन होता जायेगा।
संतोष का अर्थ होता है: देखो, जो तुम्हारे पास है। देखो जरा आंख खोल कर, जो तुम्हें मिला ही है।
यह अष्टावक्र की बड़ी बहुमूल्य कुंजी है। यह धीरे-धीरे तुम्हें साफ होगी। अष्टावक्र की दृष्टि बड़ी क्रांतिकारी है, बड़ी अनूठी है, जड़-मूल से क्रांति की है।
"संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।"

क्योंकि असत्य के साथ जो जीयेगा वह असत्य होता चला जायेगा। जो असत्य
को बोलेगा, असत्य को जीयेगा, स्वभावतः असत्य से घिरता चला जायेगा। उसके जीवन से संबंध विच्छिन्न हो जाएंगे, जड़ें टूट जाएंगी।
परमात्मा में जड़ें चाहते हो तो सत्य के द्वारा ही वे जड़ें हो सकती हैं। प्रामाणिकता और सत्य के द्वारा ही तुम परमात्मा से जुड़ सकते हो। परमात्मा से टूटना है तो असत्य का धुआं पैदा करो, असत्य के बादल अपने पास बनाओ। जितने तुम असत्य होते चले जाओगे उतने परमात्मा से दूर होते चले जाओगे।
"तू न पृथ्वी है, न जल है, न वायु है, न आकाश है। मुक्ति के लिए आत्मा को, अपने को इन सबका साक्षी चैतन्य जान।"
सीधी-सीधी बातें हैं; भूमिका भी नहीं है। अभी दो वचन नहीं बोले अष्टावक्र ने कि ध्यान आ गया, कि समाधि की बात आ गई। जानने वाले के पास समाधि के अतिरिक्त और कुछ जताने को है भी नहीं। वह दो वचन भी बोले, क्योंकि एकदम से अगर समाधि की बात होगी तो शायद तुम चौंक ही जाओगे, समझ ही न पाओगे। मगर दो वचन--और सीधी समाधि की बात आ गई!
अष्टावक्र सात कदम भी नहीं चलते; बुद्ध तो सात कदम चले, आठवें कदम पर समाधि है। अष्टावक्र तो पहला कदम ही समाधि का उठाते हैं।
"तू न पृथ्वी है, न जल, न वायु, न आकाश"--ऐसी प्रतीति में अपने को थिर कर। "मुक्ति के लिए आत्मा को, अपने को इन सबका साक्षी चैतन्य जान।" "साक्षी" सूत्र है। इससे महत्वपूर्ण सूत्र और कोई भी नहीं। देखने वाले बनो! जो हो रहा है उसे होने दो; उसमें बाधा डालने की जरूरत नहीं। यह देह तो जल है, मिट्टी है, अग्नि है, आकाश है। तुम इसके भीतर तो वह दीये हो जिसमें ये सब जल, अग्नि, मिट्टी, आकाश, वायु प्रकाशित हो रहे हैं। तुम द्रष्टा हो। इस बात को गहन करो।
साक्षिणां चिद्रूपं आत्मानं विद्दि...
यह इस जगत में सर्वाधिक बहुमूल्य सूत्र है। साक्षी बनो! इसी से होगा ज्ञान! इसी से होगा वैराग्य! इसी से होगी मुक्ति!
प्रश्न तीन थे, उत्तर एक है।
"यदि तू देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है तो
तू अभी ही सुखी, शांत और बंध-मुक्त हो जायेगा।"
इसलिए मैं कहता हूं, यह जड़-मूल से क्रांति है। पतंजलि इतनी हिम्मत से नहीं कहते कि "अभी ही।" पतंजलि कहते हैं, "करो अभ्यास--यम, नियम; साधो-- प्राणायाम, प्रत्याहार, आसन; शुद्ध करो। जन्म-जन्म लगेंगे, तब सिद्धि है।" महावीर कहते हैं, "पंच महाव्रत! और तब जन्म-जन्म लगेंगे, तब होगी निर्जरा; तब कटेगा जाल कर्मों का।"
सुनो अष्टावक्र को:
यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शांतः बंधमुक्तो भविष्यसि।।
"अधुनैव!" अभी, यहीं, इसी क्षण! "यदि तू देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है...!" अगर तूने एक बात देखनी शुरू कर दी कि यह देह मैं नहीं हूं; मैं कर्ता और भोक्ता नहीं हूं; यह जो देखने वाला मेरे भीतर छिपा है जो सब देखता है--बचपन था कभी तो बचपन देखा, फिर जवानी आयी तो जवानी देखी, फिर बुढ़ापा आया तो बुढ़ापा देखा; बचपन नहीं रहा तो मैं बचपन तो नहीं हो सकता--आया और गया; मैं तो हूं! जवानी नहीं रही तो मैं जवानी तो नहीं हो सकता-- आई और गई; मैं तो हूं! बुढ़ापा आया, जा रहा है, तो मैं बुढ़ापा नहीं हो सकता। क्योंकि जो आता है जाता है, वह मैं कैसे हो सकता हूं! मैं तो सदा हूं। जिस पर बचपन आया, जिस पर जवानी आई, जिस पर बुढ़ापा आया, जिस पर हजार चीजें आईं और गईं--मैं वही शाश्वत हूं।
स्टेशनों की तरह बदलती रहती है बचपन, जवानी, बुढ़ापा, जन्म--यात्री चलता जाता। तुम स्टेशन के साथ अपने को एक तो नहीं समझ लेते! पूना की स्टेशन पर तुम ऐसा तो नहीं समझ लेते कि मैं पूना हूं! फिर पहुंचे मनमाड़ तो ऐसा तो नहीं समझ लेते कि मैं मनमाड़ हूं! तुम जानते हो कि पूना आया, गया; मनमाड़ आया,

गया--तुम तो यात्री हो! तुम तो द्रष्टा हो--जिसने पूना देखा, पूना आया; जिसने मनमाड़ देखा, मनमाड़ आया! तुम तो देखने वाले हो!
तो पहली बात: जो हो रहा है उसमें से देखने वाले को अलग कर लो!
"देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम...।"
और करने योग्य कुछ भी नहीं है। जैसे लाओत्सु का सूत्र है--समर्पण, वैसे अष्टावक्र का सूत्र है--विश्राम, रेस्ट। करने को कुछ भी नहीं है। मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, ध्यान कैसे करें? वे प्रश्न ही गलत पूछ रहे हैं। गलत पूछते हैं तो मैं उनको कहता हूं, करो। अब क्या करोगे! तो उनको बता देता हूं कि करो, कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा--अभी तुम्हें करने की खुजलाहट है तो उसे तो पूरा करना होगा। खुजली है तो क्या करोगे! बिना खुजाए नहीं बनता। लेकिन धीरे-धीरे उनको करवा-करवा कर थका डालता हूं। फिर वे कहते हैं कि अब इससे छुटकारा दिलवाओ! अब कब तक यह करते रहें? मैं कहता हूं, मैं तो पहले ही राजी था; लेकिन तुम्हें समझने में जरा देर लगी। अब विश्राम करो! ध्यान का आत्यंतिक अर्थ विश्राम है।
चिति विश्राम्य तिष्ठसि
--जो विश्राम में ठहरा देता अपनी चेतना को; जो होने मात्र में ठहर जाता...!
कुछ करने को नहीं है। क्योंकि जिसे तुम खोज रहे हो, वह मिला ही हुआ है। क्योंकि जिसे तुम खोज रहे हो, उसे कभी खोया ही नहीं। उसे खोया नहीं जा सकता। वही तुम्हारा स्वभाव है। अयमात्मा ब्रह्म! तुम ब्रह्म हो! अनलहक! तुम सत्य हो! कहां खोजते हो? कहां भागे चले जाते हो? अपने को ही खोजने कहां भागे चले जाते हो? रुको, ठहरो! परमात्मा दौड़ने से नहीं मिलता, क्योंकि परमात्मा दौड़ने वाले में छिपा है। परमात्मा कुछ करने से नहीं मिलता, क्योंकि परमात्मा करने वाले में छिपा है। परमात्मा के होने के लिए कुछ करने की जरूरत ही नहीं है--तुम हो ही!
इसलिए अष्टावक्र कहते हैं: चिति विश्राम्य! विश्राम करो! ढीला छोड़ो अपने को! यह तनाव छोड़ो! कहां जाते? कहीं जाने को नहीं, कहीं पहुंचने को नहीं है।
और चैतन्य में विश्राम...तो तू अभी ही, इसी क्षण, अधुनैव, सुखी, शांत और बंध-मुक्त हो जायेगा।
अनूठा है वचन! नहीं कोई और शास्त्र इसका मुकाबला करता है।
"तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है और न तू कोई आश्रम वाला है और न आंख आदि इंद्रियों का विषय है। असंग और निराकार तू सबका, विश्व का साक्षी है। ऐसा जानकर सुखी हो।"
अब ब्राह्मण कैसे टीका लिखें!
"तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है...।"
अब हिंदू इस शास्त्र को कैसे सिर पर उठायें! क्योंकि उनका तो सारा धर्म वर्ण और आश्रम पर खड़ा है। और यह तो पहले से ही अष्टावक्र जड़ काटने लगे। वे कहते हैं, तू कोई ब्राह्मण नहीं है, न कोई शूद्र है, न कोई क्षत्रिय है। यह सब बकवास है! ये सब ऊपर के आरोपण हैं। यह सब राजनीति और समाज का खेल है। तू तो सिर्फ ब्रह्म है; ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय नहीं, शूद्र नहीं! "तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं और न तू कोई आश्रम वाला है।"
और न तो यह है कि तू कोई ब्रह्मचर्य-आश्रम में है कि गृहस्थ-आश्रम में है, कि वानप्रस्थ कि संन्यस्त, कोई आश्रम वाला नहीं है। तू तो इस सारे स्थानों के भीतर से गुजरने वाला द्रष्टा, साक्षी है।
अष्टावक्र की गीता, हिंदू दावा नहीं कर सकते, हमारी है। अष्टावक्र की गीता सबकी है। अगर अष्टावक्र के समय में मुसलमान होते, हिंदू होते, ईसाई होते, तो उन्होंने कहा होता, "न तू हिंदू है, न तू ईसाई है, न तू मुसलमान है।" अब ऐसे अष्टावक्र को...कौन मंदिर बनाये इसके लिए! कौन इसके शास्त्र को सिर पर उठाये! कौन दावेदार बने! क्योंकि ये सभी का निषेध कर रहे हैं। मगर यह सत्य की सीधी घोषणा है।
"असंग और निराकार तू सबका, विश्व का साक्षी है--ऐसा जान कर सुखी हो!"

अष्टावक्र यह नहीं कहते कि ऐसा तुम जानोगे तो फिर सुखी होओगे। वचन को ठीक से सुनना। अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा जान कर सुखी हो!
न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव।।
सुखी भव! अभी हो सुखी!
जनक पूछते हैं, "कैसे सुख होगा? कैसे बंधन-मुक्ति होगी? कैसे ज्ञान होगा?"
अष्टावक्र कहते हैं, अभी हो सकता है। क्षणमात्र की भी देर करने की कोई जरूरत नहीं है। इसे कल पर छोड़ने का कोई कारण नहीं, स्थगित करने की कोई जरूरत नहीं। यह घटना भविष्य में नहीं घटती; या तो घटती है अभी या कभी नहीं घटती। जब घटती है तब अभी घटती है। क्योंकि "अभी" के अतिरिक्त कोई समय ही नहीं है। भविष्य कहां है? जब आता है तब अभी की तरह आता है।
तो जो भी ज्ञान को उत्पन्न हुए हैं--"अभी" उत्पन्न हुए हैं। कभी पर मत छोड़ना--वह मन की चालाकी है। मन कहता है, इतने जल्दी कैसे हो सकता है; तैयारी तो कर लें!
मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, "संन्यास लेना है...लेंगे कभी।" "कभी!" कभी न लोगे! कभी पर टाला तो सदा के लिए टाला। कभी आता ही नहीं। लेना हो तो अभी। अभी के अतिरिक्त कोई समय ही नहीं है। अभी है जीवन। अभी है मुक्ति। अभी है अज्ञान, अभी है ज्ञान। अभी है निद्रा, अभी हो सकता जागरण। कभी क्यों? कठिन होता है मन को, क्योंकि मन कहता है तैयारी तो करने दो! मन कहता है, "कोई भी काम तैयारी के बिना कैसे घटता है? आदमी को विश्वविद्यालय से प्रमाण-पत्र लेना है तो वर्षों लगते हैं। डाक्टरेट करनी है तो बीस-पचीस साल लग जाते हैं, मेहनत करते-करते, फिर आदमी जाकर डाक्टर हो पाता है। अभी कैसे हो सकते हैं?"
अष्टावक्र भी जानते हैं: दुकान करनी हो तो अभी थोड़े खुल जायेगी! इकट्ठा करना पड़े, आयोजन करना पड़े, सामान लाना पड़े, दुकान बनानी पड़े, ग्राहक खोजने पड़ें, विज्ञापन भेजना पड़े--वर्षों लगते हैं! इस जगत में कोई भी चीज "अभी" तो घटती नहीं; क्रम से घटती है। ठीक है। अष्टावक्र भी जानते हैं, मैं भी जानता हूं। लेकिन एक घटना यहां ऐसी है जो अभी घटती है--वह परमात्मा है। वह तुम्हारी दुकान नहीं है, न तुम्हारा परीक्षालय है, न तुम्हारा विश्वविद्यालय है। परमात्मा क्रम से नहीं घटता। परमात्मा घट ही चुका है। आंख भर खोलने की बात है--सूरज निकल ही चुका है। सूरज तुम्हारी आंख के लिए नहीं रुका है कि तुम जब आंख खोलोगे, तब निकलेगा। सूरज निकल ही चुका है। प्रकाश सब तरफ भरा ही है। अहर्निश गूंज रहा है उसका नाद! ओंकार की ध्वनि सब तरफ गूंज रही है! सतत अनाहत चारों तरफ गूंज रहा है! खोलो कान! खोलो आंख! आंख खोलने में कितना समय लगता है? उतना समय भी परमात्मा को पाने में नहीं लगता। पल तो लगता है पलक के झपने में। पल का अर्थ होता है, जितना समय पलक को झपने में लगता, उतना पल। मगर परमात्मा को पाने में पल भी नहीं लगता। विश्वसाक्षी, असंगोऽसि निराकारो। सुखी भव!
अभी हो सुखी! उधार नहीं है अष्टावक्र का धर्म--नगद, कैश...।
"हे व्यापक, धर्म और अधर्म, सुख और दुख मन के हैं; तेरे लिए नहीं हैं।
तू न कर्ता है न भोक्ता है। तू तो सर्वदा मुक्त ही है।"
मुक्ति हमारा स्वभाव है। ज्ञान हमारा स्वभाव है। परमात्मा हमारा होने का ढंग है; हमारा केंद्र है; हमारे जीवन की सुवास है; हमारा होना है।
धर्माऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न तो विभो।
अष्टावक्र कहते हैं, "हे व्यापक, हे विभावान, हे विभूतिसंपन्न! धर्म
और अधर्म, सुख और दुख मन के हैं।" ये सब मन की ही तरंगें हैं। बुरा किया, अच्छा किया, पाप किया, पुण्य किया, मंदिर बनाया, दान दिया--सब मन के हैं।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा।
"तू तो सदा मुक्त है। तू तो सर्वदा मुक्त है।"
मुक्ति कोई घटना नहीं है जो हमें घटानी है। मुक्ति घट चुकी है हमारे होने में! मुक्ति से बना है यह अस्तित्व। इसका रोआं-रोआं, रंच-रंच मुक्ति से निर्मित है। मुक्ति है धातु, जिससे बना है सारा अस्तित्व। स्वतंत्रता

स्वभाव है। यह उदघोषणा, बस समझी कि क्रांति घट जाती है। समझने के अतिरिक्त कुछ करना नहीं है। यह बात खयाल में उतर जाये, तुम सुन लो इसे मन भर कर, बस! तो आज इतना ही कहना चाहूंगा: अष्टावक्र को समझने की चेष्टा भर करना। अष्टावक्र में "करने" का कोई इंतजाम नहीं है। इसलिए तुम यह मत सोचना कि अब कोई तरकीब निकलेगी जो हम करेंगे। अष्टावक्र कुछ करने को कहते ही नहीं। तुम विश्राम से सुन लो। करने से कुछ होने ही वाला नहीं है। इसलिए तुम कापी वगैरह, नोटबुक ले कर मत आना कि लिख लेंगे, कुछ आयेगा सूत्र तो नोट कर लेंगे, करके देख लेंगे। करने का यहां कुछ काम ही नहीं है। इसलिए तुम भविष्य की फिक्र छोड़ कर सुनना। तुम सिर्फ सुन लेना। तुम सिर्फ मेरे पास बैठ कर शांत भाव से सुन लेना, विश्राम में सुन लेना। सुनते-सुनते तुम मुक्त हो जा सकते हो।
इसलिए महावीर ने कहा है कि श्रावक मुक्त हो सकता है--सिर्फ सुनते- सुनते! श्रावक का अर्थ होता है जो सुनते-सुनते मुक्त हो जाये। साधु का तो अर्थ ही इतना है कि जो सुन-सुन कर मुक्त न हो सका, थोड़ा कमजोर बुद्धि का है। कुछ करना पड़ा। सिर्फ कोड़े की छाया काफी न थी। घोड़ा जरा कुजात है। कोड़ा फटकारा, तब थोड़ा चला; या मारा तो थोड़ा चला।
छाया काफी है। तुम सुन लेना, कोड़े की छाया दिखाई पड़ जायेगी।
तो अष्टावक्र के साथ एक बात स्मरण रखना: कुछ करने को नहीं है। इसलिए तुम आनंद-भाव से सुन सकते हो। इसमें से कुछ निकालना नहीं है कि फिर करके देखेंगे। जो घटेगा वह सुनने में घटेगा। सम्यक श्रवण सूत्र है।
अधुनैव सुखी शांतः बंधमुक्तो भविष्यसि।
अभी हो जा मुक्त! इसी क्षण हो जा मुक्त! कोई रोक नहीं रहा। कोई बाधा नहीं है। हिलने की भी जरूरत नहीं है। जहां है, वहीं हो जा मुक्त। क्योंकि मुक्त तू है ही। जाग और हो जा मुक्त!
असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव।
हो जा सुखी! एक पल की भी देर करने की कोई जरूरत नहीं है। छलांग है, क्वांटम छलांग! सीढ़ियां नहीं हैं अष्टावक्र में। क्रमिक विकास नहीं है; सडन, इसी क्षण हो सकता है!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक दूसरा प्रवचन

समाधि का सूत्र: विश्राम

पहला प्रश्न: कल प्रवचन सुनते समय ऐसा लगा कि मैं इस पृथ्वी पर नहीं हूं, वरन मुक्त और असीम आकाश में एक ज्योति-कण हूं। प्रवचन के बाद भी हलकेपन का, खालीपन का अनुभव होता रहा; उसी आकाश में भ्रमण करते रहने का जी होता रहा। ज्ञान, कर्म, भक्ति मैं नहीं जानता; लेकिन अकेला होने पर इस स्थिति में डूबे रहने का जी होता है। लेकिन कभी-कभी यह भाव भी उठता है कि कहीं यह मेरा पागलपन तो नहीं है, कहीं यह मेरे अहंकार का ही दूसरा खेल तो नहीं है! कृपापूर्वक मेरा मार्ग-दर्शन करें!

इस पृथ्वी पर हम हैं, पर इस पृथ्वी पर वस्तुतः हम न हो सकते हैं और न हम हैं। प्रतीत होता है, पृथ्वी पर हम अजनबी हैं। देह में घर किया है, लेकिन देह हमारा घर नहीं। जैसे कोई परदेस में बस जाये और भूल ही जाये स्वदेश को, फिर अचानक राह पर किसी दिन बाजार में कोई मिल जाये जो घर की याद दिला दे, जो अपनी भाषा में बोले--तो एक क्षण को परदेस मिट जायेगा, स्वदेश प्रगट हो जायेगा।
शास्त्र का यही मूल्य है। शास्ताओं के वचनों का यही अर्थ है। उनकी सुनकर क्षण भर को हम यहां नहीं रह जाते; वहां हो जाते हैं जहां हमें होना चाहिए। उनके संगीत में बहकर, जो चारों तरफ घेरे है वह दूर हो जाता है; और जो बहुत दूर है, पास आ जाता है।
अष्टावक्र के वचन बहुत अनूठे हैं। सुनोगे तो ऐसा बार-बार होगा। बार-बार लगेगा, पृथ्वी पर नहीं हो, आकाश के हो गये; क्योंकि वे वचन आकाश के हैं। वे वचन स्वदेश से आए हैं। उस स्रोत से आए हैं, जहां से हम सबका आना हुआ है; और जहां हमें जाना चाहिए, और जहां जाए बिना हम कभी चैन को उपलब्ध न हो सकेंगे।
जहां हम हैं--सराय है, घर नहीं। कितना ही मानकर बैठ जायें कि घर है, फिर
भी सराय सराय बनी रहती है। समझा लें, बुझा लें, भुला लें--भेद नहीं पड़ता; कांटा चुभता ही रहता है; याद आती ही रहती है। और कभी जब ऐसे किसी सत्य के साथ मुलाकात हो जाये, जो खींच ले, जो चुंबक की तरह किसी और दूसरी दुनिया का दर्शन करा दे तो लगेगा कि हम पृथ्वी के हिस्से नहीं रहे।
ठीक लगा।
"कल प्रवचन सुनते समय ऐसा लगा कि मैं इस पृथ्वी पर नहीं हूं।"
इस पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। इस पृथ्वी पर हम मालूम होते हैं, प्रतीति होती है, सत्यतः हम आकाश में हैं। हमारा स्वभाव आकाश का है।
आत्मा यानी भीतर का आकाश। शरीर यानी पृथ्वी। शरीर बना है पृथ्वी से।
तुम बने हो आकाश से। तुम्हारे भीतर दोनों का मिलन हुआ है।
तुम क्षितिज हो, जहां पृथ्वी आकाश से मिलती हुई मालूम पड़ती है; लेकिन मिलती थोड़े ही है कभी! दूर क्षितिज मालूम पड़ता है--मिल रहा आकाश पृथ्वी से। चल पड़ो; लगता है ऐसे घड़ी दो घड़ी में पहुंच जायेंगे। चलते रहो जन्मों- जन्मों तक, कभी भी उस जगह न पहुंचोगे जहां आकाश पृथ्वी से मिलता है। बस मालूम होता; सदा मालूम होता मिल रहा--थोड़ी दूर आगे, बस थोड़ी दूर आगे! क्षितिज कहीं है नहीं--सिर्फ दिखाई पड़ता है। जैसे बाहर क्षितिज है वैसे ही हमारी अवस्था है। यहां भीतर भी मिलन कभी हुआ नहीं। आत्मा कैसे मिले शरीर से! मर्त्य का अमृत से मिलन कैसे हो! दूध पानी में मिल जाता है-- दोनों पृथ्वी के हैं। आत्मा शरीर से कैसे मिले--दोनों का गुणधर्म भिन्न है! कितने ही पास हों, मिलन असंभव है। सनातन से पास हों तो भी मिलन असंभव है। मिलन हो नहीं सकता; सिर्फ हमारी प्रतीति है, हमारी धारणा है। क्षितिज हमारी धारणा है। हमने मान रखा है, इसलिए है।
अष्टावक्र के वचनों को अगर जाने दोगे हृदय के भीतर तीर की तरह तो वे तुम्हारी याद को जगायेंगे; तुम्हारी भूली-बिसरी स्मृति को उठायेंगे; क्षण

भर को आकाश जैसे खुल जायेगा, बादल कट जायेंगे; सूरज की किरणों से भर जायेगा प्राण।
कठिनाई होगी; क्योंकि हमारे सारे जीवन के विपरीत होगा यह अनुभव। इससे बेचैनी होगी। और ये जो घटाएं छट गई हैं, ये तुम्हारे कारण नहीं छटी हैं; ये तो किसी शास्ता के वचनों का परिणाम हैं। फिर घटाएं घिर जायेंगी। तुम घर पहुंचते-पहुंचते फिर घटाओं को घेर लोगे। तुम अपनी आदत से इतनी जल्दी बाज थोड़े आओगे--फिर घटाएं घिर जायेंगी, तब और बेचैनी होगी कि जो दिखाई पड़ा था, वह सपना तो नहीं था; जो दिखाई पड़ा था, कहीं कल्पना तो नहीं थी, कहीं अहंकार का, मन का खेल तो न था, कहीं ऐसा तो न हुआ कि हम किसी पागलपन में पड़ गये थे! स्वभावतः तुम्हारी आदतों का वजन बहुत पुराना है। अंधेरा बड?ा प्राचीन है। यद्यपि है नहीं--पर है बहुत प्राचीन। सूरज की किरण कभी फूटती है तो बड़ी नयी है--अत्यंत नयी है, सद्यःस्नात! क्षण भर को दिखाई पड़ती है, फिर तुम अपने अंधेरे में खो जाते हो। तुम्हारे अंधेरे का बड़ा लंबा इतिहास है। जब तुम दोनों को तौलोगे तो शक किरण पर पैदा होगा, अंधेरे पर पैदा नहीं होगा। होना चाहिए अंधेरे पर--होता है किरण पर; क्योंकि किरण है नयी और अंधेरा है पुराना। अंधेरा है परंपरा जैसा-- सदियों-सदियों की धारा है। किरण है अभी-अभी फूटी--ताजी, नयी, इतनी नयी कि भरोसा कैसे करें!
"...लगा कि मैं इस पृथ्वी पर नहीं हूं।"
इस पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। इस पृथ्वी पर हम हो नहीं सकते। मान्यता
है हमारी, धारणा है हमारी, लगता है--सत्य नहीं है।
"...और मुझे, असीम आकाश में एक ज्योति-कण हूं, ऐसा प्रतीत हुआ।"
यह शुरुआत है: "असीम आकाश में एक ज्योति-कण हूं।" जल्दी ही लगेगा कि असीम आकाश हूं। यह प्रारंभ है।
तो असीम आकाश में भी अभी हम पूरी तरह लीन नहीं हो पाते। अगर लगता भी है कभी, कभी वह उड़ान भी आ जाती है, वह तूफान भी आ जाता है, हवाएं हमें ले भी जाती हैं--तो भी हम अपने को अलग ही बचा लेते हैं। "ज्योति कण!" न रहे अंधेरे, हो गये ज्योति-कण; लेकिन आकाश से अभी भी भेद रहा, फर्क रहा, फासला रहा। घटना तो पूरी उस दिन घटेगी, जिस दिन तुम आकाश ही हो जाओगे--ज्योति-कण भी भिन्न है--जिस दिन तुम अभिन्न हो जाओगे; जिस दिन लगेगा मैं शून्याकाश हूं।
ऐसा तो कहते हैं भाषा में कि मैं शून्य आकाश हूं। जब तक "मैं" है, तब तक
यह कैसे हो सकेगा? मैं है तो आकाश अलग रहेगा। जब ऐसा प्रतीत होगा कि शून्याकाश है, तब मैं तो नहीं रहूंगा। शून्याकाश ही रहेगा। कहते हैं: अहं ब्रह्मास्मि--मैं ब्रह्म हूं। लेकिन जब ब्रह्म होगा तब मैं कैसे रहेगा? ब्रह्म ही रहेगा, मैं नहीं रहूंगा। पर कहने में और कोई उपाय नहीं।
भाषा तो सोए हुए लोगों की है। भाषा तो उनकी है जो परदेस में बस गए और जिन्होंने परदेस को स्वदेश मान लिया है। मौन ही ज्ञानियों का है; भाषा तो अज्ञानियों की है।
तो जैसे ही कुछ कहो, कहते ही सत्य असत्य हो जाता है। "अहं ब्रह्मास्मि! मैं ब्रह्म हूं। मैं आकाश हूं।"--कहते ही असत्य हो गया।...आकाश ही है! लेकिन यह भी कहना "आकाश ही है" पूरा सत्य नहीं है, क्योंकि "ही" बताता
है कि कुछ और भी होगा, अन्यथा "ही" पर जोर क्यों है? "आकाश है", इतने कहने में भी अड़चन है, क्योंकि जो है वह "नहीं" हो सकता है।
हम कहते हैं, मकान है; कभी मकान नहीं हो जाता है, गिर जाता है, खंडहर हो जाता है। हम कहते हैं, आदमी है; कभी आदमी मर जाता है। आकाश इस तरह तो नहीं है कि कभी है और कभी नहीं है। आकाश तो सदा है।
तो आकाश है, ऐसा कहना पुनरुक्ति है। आकाश का स्वभाव ही होना है, इसलिए "है" को क्या दोहराना? "है" कहना तो उन चीजों के लिए ठीक है जो कभी "नहीं" भी हो जाती हैं। मनुष्य है। एक दिन नहीं था, आज है, कल फिर नहीं हो जायेगा। हमारी "है" तो दो "नहीं" के बीच में है। आकाश की "है" कल भी है आज भी है, कल भी है। दो "है" के बीच में "है" का क्या अर्थ? दो "नहीं" के बीच में "है" का अर्थ होता है।

आकाश है, यह भी पुनरुक्ति है। कहें आकाश। लेकिन "आकाश" जब कहते हैं, शब्द जब बनाते हैं, तभी भूल हो जाती है। आकाश कहने का अर्थ ही हुआ कि कुछ और भी है जो आकाश से अन्यथा है, भिन्न है। अन्यथा शब्द की क्या जरूरत है? अगर एक ही है तब तो एक कहने का भी कोई प्रयोजन नहीं। एक तो तभी सार्थक है जब दो हो, तीन हो, चार हो, संख्या हो। "आकाश" भी क्या कहना?
इसलिए ज्ञान तो मौन है। परम ज्ञान को शब्दों तक लाना असंभव है।
लेकिन हम धन्यभागी हैं कि अष्टावक्र जैसे किन्हीं पुरुषों ने अथक, असंभव चेष्टा की है। जहां तक संभव हो सकता था, सत्य की सुगंध को शब्द तक लाने का प्रयास किया है।
और इतना खयाल रखना कि अष्टावक्र जैसी सफल चेतना बहुत कम है। बहुतों
ने प्रयास किया है सत्य को शब्द तक लाने का--सभी हारे हैं। हारना सुनिश्चित है। मगर अगर हारे हुओं में भी देखना हो, तो अष्टावक्र सबसे कम हारे हैं; सबसे ज्यादा जीते हैं। सुनोगे ठीक से तो घर की याद आयेगी।
शुभ है कि लगा ज्योति-कण हूं। तैयारी रखना खोने की। किसी दिन लगेगा ज्योति-कण भी खो गया, आकाश ही बचा। तब पूरा मतवालापन छायेगा। तब डूबोगे सत्य की शराब में। तब नाचोगे। तब अमृत की पूरी झलक मिलेगी।
"...प्रवचन के बाद भी हलकेपन, खालीपन का अनुभव होता रहा। उसी आकाश में भ्रमण करने का जी होता रहा।"
यहां थोड़ी भूल हो जाती है। जब भी हमें कुछ सुखद अनुभव होता है, तो हम चाहते हैं फिर-फिर हो। मनुष्य का मन है बड़ा कमजोर--आकांक्षा से भर जाता है, लोभ से भर जाता है, प्रलोभन पैदा होता है। जो भी सुखद है उसे दोहराने का मन होता है। लेकिन एक बात खयाल रखना, दोहराने में ही भूल हो जाती है। जैसे ही तुमने चाहा फिर से हो, कभी न होगा। क्योंकि जब पहली दफे हुआ था तो तुम्हारे चाहने से न हुआ था--हो गया था; घटा था; तुम्हारा कृत्य न था।
यही तो अष्टावक्र का पूरा जोर है: सत्य घटता है; कृत्य नहीं है, घटना है। सुनते-सुनते हुआ था, तुम कर क्या रहे थे? सुनने का अर्थ ही होता है कि तुम कुछ भी न कर रहे थे; तुम शून्य-भाव से बैठे थे; तुम मौन थे, तुम सजग थे; तुम जागे हुए थे, सोए नहीं थे। ठीक! लेकिन तुम कर क्या रहे थे? तुम केवल ग्राहक थे। तुम्हारी चित्त की दशा दर्पण की तरह थी: जो आ जाये, झलक जाये; जो कहा जाये, सुन लिया जाये। तुम कुछ उसमें जोड़ न रहे थे। अगर तुम जोड़ रहे होते, तो जो घटी है बात वह कभी न घटती। तुम व्याख्या भी न कर रहे थे। भीतर बैठे-बैठे तुम यह न कह रहे थे कि हां, ठीक है गलत है, मुझसे मेल खाता नहीं मेल खाता, शास्त्र में ऐसा कहा है कि नहीं कहा है। तुम तर्क न कर रहे थे। अगर तुम तर्क कर रहे थे तो यह घटना न घटती।
जिन्होंने पूछा है, स्वामी ओमप्रकाश सरस्वती ने, उन्हें मैं जानता हूं। तर्क से उनका चित्त बड़ा दूर है; संदेह-विवाद से बहुत दूर है। जा चुके वे दिन! कभी किया होगा तर्क, कभी किया होगा संदेह। जीवन के अनुभव से पक गये हैं। अब नहीं वह बचपना मन में रहा। इसीलिए घटना घट सकी। सुन रहे थे, कुछ कर न रहे थे, बैठे थे--बैठे-बैठे हो गया।
तो जब पहली दफा तुम्हारे बिना किये हुआ, तो दूसरी दफा अगर तुमने चाहा
कि हो जाये तो बाधा पड़ जायेगी। चाह तो उसके होने का कारण थी ही नहीं। इसलिए जब ऐसी अभूतपूर्व घटनाएं घटें तो चाहना मत: जब घटें, आनंद-भाव वे स्वीकार कर लेना; जब न घटें तो शिकायत मत करना, मांगना मत। मांगे कि चूके। मांग में जबरदस्ती है, आग्रह है: "घटना चाहिए! एक दफा घट गया तो अब क्यों नहीं घटता है?"
ऐसा रोज होता है। जब यहां लोग ध्यान करने आते हैं, शुरू-शुरू में ताजे
और नये होते हैं; कोई अनुभव नहीं होता, तो घट जाता है। यह बड़ी हैरानी की बात है। इसे तुम समझना। अष्टावक्र को समझने में इससे सहायता मिलेगी। यह मेरे रोज का अनुभव है: जब लोग नयेत्ताजे आते हैं और ध्यान का उन्हें कोई अनुभव नहीं होता तो घट जाता है। घट जाता है तो आह्लाद से भर जाते हैं, मगर वहीं गड़बड़ हो जाती है। फिर मांग शुरू होती है: आज जो हुआ कल हो; न केवल हो, बल्कि और ज्यादा हो। फिर नहीं घटता। फिर वे मेरे पास आ कर रोते हैं। वे कहते हैं, "हुआ क्या? कहीं भूल हो गई? पहले घटा, अब नहीं घट रहा है!" भूल यही हो गई कि

पहले जब घटा तो तुमने मांगा न था; अब तुम मांग रहे हो। अब तुम्हारा मन निर्दोष न रहा, मांग ने दूषित किया। अब तुम सरल न रहे, अब तुम खुले न रहे; मांग ने द्वार-दरवाजे बंद किये। आकांक्षा जग गई; आकांक्षा ने सब विकृत कर दिया। वासना खड़ी हो गई, लोभ पैदा हो गया।
ऐसा रोज होता है। जो लोग बहुत दिन से ध्यान कर रहे हैं, बहुत तरह की प्रक्रियाएं कर रहे हैं, उन्हें ध्यान बड़ी मुश्किल से लगता है। उनका अनुभव बाधा बनता है। कभी-कभी कोई चला आता है, ऐसे ही, तरंगों में बहता हुआ। कोई मित्र आता था--उसने कभी सोचा भी नहीं ध्यान का--कोई मित्र आता था, उसने सोचा चलो चले चलें, देखें क्या है। कुतूहलवश चला आया था, कोई वासना न थी, कोई अध्यात्म की खोज भी न थी, कोई चेष्टा भी न थी, ऐसे ही चला आया था--औरों को ध्यान करते देख तरंग आ गई, सम्मिलित हो गया--घट गया! चौंका आदमी: "मैं तो आया ही नहीं था ध्यान करने और ध्यान हो गया!" बस फिर अड़चन। अब दुबारा जब आता है तो आकांक्षा है, मन में रस है; फिर से हो। लोभ है, पुनरुक्ति का भाव है! मन आ गया। मन ने सब खेल खराब कर दिया।
जहां मन नहीं है, वहां घटता है।
ध्यान रखना, मन पुनरुक्ति की वासना है। जो हुआ सुखद, फिर से हो; जो हुआ दुखद, फिर कभी न हो--यही तो मन है। मन चुनाव करता है: यह हो और यह न हो; ऐसा बार-बार हो और ऐसा अब कभी न हो। यही तो मन है।
जब तुम जीवन के साथ बहने लगते हो--जो हो ठीक, जो न हो ठीक; दुख आये तो स्वीकार; दुख आये तो विरोध नहीं, सुख आये तो स्वीकार; सुख आये तो उन्माद नहीं। जब सुख और दुख में कोई सम होने लगता है, समता आने लगती है; जब सुख और दुख धीरे-धीरे एक ही जैसे मालूम होने लगते हैं, क्योंकि कोई चुनाव न रहा, अपने हाथ की कोई बात न रही, जो होता है होता है; हम देखते रहते हैं--इसको अष्टावक्र कहते हैं साक्षी-भाव। और वे कहते हैं, साक्षी-भाव सधा तो सब सधा: साक्षी-भाव साक्षी को जगाता है भीतर, बाहर समता ले आता है। समत्व साक्षी- भाव की छाया है।
या तुम समत्व में उपलब्ध हो जाओ तो साक्षी-भाव चला आता है। वे दोनों साथ-साथ चलते हैं। वे एक ही घटना के दो पैर या दो पंख हैं।
"...उसी आकाश में भ्रमण करने का जी होता रहता है।"
इससे सावधान होना। मन को मौका मत देना कि ध्यान की घड़ियों को खराब करे। इसी मन ने तो संसार खराब किया। इसी ने तो जीवन के सारे संबंध विकृत किये। इसी मन ने तो सारे जीवन को रेगिस्तान जैसा रूखा कर दिया; जहां बहुत फूल खिल सकते थे, वहां सिर्फ कांटे हाथ में रह गये। अब इस मन को अंतर्यात्रा पर साथ मत लाओ। इसे नमस्कार करो। इसे विदा दो। प्रेम से सही, पर इसे विदा दो। इससे कहो: बहुत हो गया, अब हम न मांगेंगे। अब जो होगा, हम जागेंगे। हम देखेंगे।
जैसे ही तुमने मांगा, फिर तुम साक्षी नहीं रह सकते, तुम भोक्ता हो गये। ध्यान के भी भोक्ता हो गये तो ध्यान गया। भोक्ता का अर्थ यह है कि तुमने कहा: इसमें मुझे रस आया, इससे मुझे सुख मिला।
"...ज्ञान, कर्म, भक्ति मैं नहीं जानता; लेकिन अकेला होने पर इसी स्थिति में डूबे रहने का जी होता है।"
छोड़ो इस जी को--और तुम डूबोगे इसी स्थिति में। अकेले ही नहीं, भीड़ में
भी रहोगे, तो डूबोगे। बाजार में भी रहोगे तो भी डूबोगे। इस स्थिति का कोई संबंध अकेले और भीड़ से नहीं है, मंदिर और बाजार से नहीं है, एकांत, समूह से नहीं है--इस स्थिति का संबंध तुम्हारे चित्त के शांत होने से है, सम होने से है। जहां भी शांति, समता होगी, यह घटना घटेगी। लेकिन तुम इसको मांगो मत, अन्यथा यही अशांति बन जायेगी, यही तनाव बन जायेगी।
अष्टावक्र कहते: "अभी और यहीं!"
मांग तो सदा कल के लिए होती है। मांग तो "अभी और यहीं" नहीं हो सकती। मांग का स्वभाव वर्तमान में नहीं ठहरता। मांग का अर्थ ही है: हो, कल हो, घड़ी भर बाद हो, क्षण भर बाद हो--हो।
मांग अभी तो नहीं हो सकती, मांग के लिए तो समय चाहिए। थोड़ा ही सही, पर समय चाहिए। और भविष्य है नहीं। जो नहीं है उसी का नाम भविष्य है। जो है

उसका नाम वर्तमान है। वर्तमान और मांग का कोई संबंध नहीं होता। जब तुम वर्तमान में होओगे तो पाओगे कोई मांग नहीं है। और तब घटेगी यह घटना। जब इसे घटाने का जी न रहेगा, तब यह खूब घटेगी।
इस पहेली को ठीक से समझ लो। इस पहेली का एक-एक कोना पहचान लो। जिस दिन तुम कुछ भी न मांगोगे, उस दिन सब घटेगा। जिस तुम परमात्मा के पीछे दीवाने हो कर न दौड़ोगे, वह तुम्हारे पीछे चला आयेगा। जिस दिन तुम ध्यान के लिए आतुरता न दिखाओगे, तुम्हारे भीतर कोई तनाव न होगा, उस दिन ध्यान ही ध्यान से भर जाओगे।
ध्यान कहीं बाहर से थोड़े ही आता है। जब तुम तनाव में नहीं हो तो तुम्हारे भीतर शेष रह जाता, उसका नाम ध्यान है।
जब तुम्हारे भीतर वासना नहीं है तो जो शेष रह जाता, उसका नाम ध्यान है।
झील है। तरंगें उठ रही हैं। हवा के झकोरे! झील की पूरी छाती तूफान से
भर गई है। आंधी है। सब उथल-पुथल हो रही है। आकाश में चांद है पूरा, लेकिन प्रतिबिंब नहीं बनता; क्योंकि झील कंप रही है, दर्पण कैसे बने? चांद का प्रतिबिंब बनता है, टूट-टूट जाता है हजार-हजार टुकड़ों में; चांदी फैल जाती है पूरी झील पर, लेकिन चांद कर प्रतिबिंब नहीं बनता है। झील शांत हो गई। लहरें कहीं चली गईं? लहरें कहीं से आई थीं? लहरें झील की थीं। फिर सो गईं; झील में वापस उतर गईं। झील अपनी थिर अवस्था में आ गई। वह जो चांदी की तरह फैल गया चांद था झील की छाती पर, सिकुड़ आया एक जगह, ठीक प्रतिबिंब बनने लगा।
जैसे ही तुम्हारे मन की झील पर तरंगें नहीं होतीं--तरंग यानी वासना, तरंग यानी मांग, तरंग यानी ऐसा हो और ऐसा न हो--जब कोई तरंग मन की झील पर नहीं होती तो सत्य जैसा है वैसा ही प्रतिबिंबित होता है। तो जो बनता है चांद तुम्हारे भीतर, उसके सौंदर्य का क्या कहना! उसके रस का क्या कहना! रसधार बरसती! मिलन होता! फिर सुहागरात ही सुहागरात है!
लेकिन तुमने मांगा कि चूक हो जायेगी।
और मैं समझता हूं, मांग बिलकुल स्वाभाविक मालूम होती है। बड़ी अड़चन है। इतना सुख मिलता है ऐसी घड़ियों में कि कैसे बचें न मांगने से! मानवीय है। मैं यह नहीं कहता कि तुमने कुछ बड़ी अमानवीय भूल की। बिलकुल मानवीय भूल है। कभी जब क्षण भर को झरोखा खुल जाता है और आकाश बहता है तुममें, कभी क्षण भर को जब अंधेरा टूटता है और किरणें उतरती हैं तो असंभव है, करीब-करीब असंभव है कि इसे न मांगो।
लेकिन यह "असंभव" सीखना पड़ेगा। आज सीखो, कल सीखो, परसों सीखो, मगर सीखना पड़ेगा। जितनी जल्दी सीखो उतना उचित। अभी तैयार हो जाओ तो अभी घटना घटने को देर नहीं है। जरा भी क्षण भर की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है। "...इसी स्थिति में डूबे रहने का जी होता है।"
यह स्थिति घटेगी। इसका तुम्हारे चित्त से कुछ लेना-देना नहीं है। इसलिए तुम अपने चित्त को पीछे छोड़ो। वह जब बीच-बीच में आये तब उसे बार-बार कह दो कि क्षमा करो, बहुत हुआ, काफी हुआ! संसार खराब किया, अब परमात्मा तो खराब मत करो! जीवन के सारे सुख विकृत कर डाले; अब ये अंतरतम के सुख आ रहे हैं, इन्हें तो विकृत मत करो!
सजग रह कर मन को नमस्कार कर लो, विदा दे दो। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे ऐसी घड़ियां आने लगेंगी--तुम्हारे अनुभव से ही आयेंगी--जब मन नहीं होगा, तत्क्षण फिर वही झरोखा खुलता है; फिर बहती रसधार; फिर उतरता प्रकाश; फिर तुम आलोकित; फिर तुम मगन; फिर तुम अमृत में डूबे! जब ऐसा बार-बार होगा तो बात साफ हो जायेगी; तो फिर मन से तुम अपने को दूर रखने में कुशल हो जाओगे। जब घटे, तब घट जाने देना; जब न घटे तब शांति से प्रतीक्षा करते रहना-- आयेगा। जो एक बार आया है, बार-बार आयेगा। तुम भर मत मांगना। तुम भर बीच में मत आना। तुम भर बाधा मत देना।
"...लेकिन कभी-कभी यह भाव भी उठता है कि कहीं यह मेरा पागलपन तो नहीं है!"

बुद्धि ऐसे भाव भी उठायेगी। क्योंकि बुद्धि यह मान ही नहीं सकती कि आनंद हो सकता है। बुद्धि दुख से बिलकुल राजी है। बुद्धि ने दुख को पूरी तरह स्वीकार किया है, क्योंकि बुद्धि दुख की जन्मदात्री है। अपनी ही संतान को कौन स्वीकार नहीं करेगा! तो बुद्धि मानती है: दुख है तो बिलकुल ठीक है। लेकिन महासुख!--जरूर कहीं कोई गड़बड़ हो गई है। ऐसा कहीं होता है? कोई कल्पना हो गई, कोई सपना देखा, किसी दिवा-स्वप्न में खो गये, किसी सम्मोहन में उतर गये? जरूर कहीं कुछ पागलपन हो गया है।
बुद्धि ऐसे बार-बार कहेगी। इसे सुनना मत। इस पर ध्यान मत देना। अगर इस
पर ध्यान दिया तो वे घटनाएं बंद हो जायेंगी, वे द्वार-झरोखे फिर कभी न खुलेंगे।
एक बात खयाल में रखना: आनंद सत्य की परिभाषा है। जहां से आनंद मिले, वहीं सत्य है। इसलिए तो हमने परमात्मा को "सच्चिदानंद" कहा है। आनंद उसकी आखिरी परिभाषा है। सत्य से भी ऊपर, चित से भी ऊपर, आनंद को रखा है, "सच्चिदानंद" कहा है। सत्य एक सीढ़ी नीचे, चित एक सीढ़ी नीचे--आनंद परम है। जहां से आनंद बहे, जहां से आनंद मिले--फिर तुम चिंता मत करना, सत्य के करीब हो। जैसे कोई बगीचे के करीब आता है तो हवाएं ठंडी हो जाती हैं, पक्षियों के गीत सुनाई पड़ने लगते हैं, शीतलता अनुभव होने लगती है--तब बगीचा दिखाई भी न पड़े तो भी अनुभव में आने लगता है कि राह ठीक है, बगीचे की तरफ पहुंच रहे हैं। ऐसे ही, जैसे ही तुम सत्य की तरफ पहुंचने लगते हो, आनंद झरता है, शीतल होने लगता मन, संतुलन आने लगता, सहिष्णुता बढ़ती है, सुख बढ़ता है! एक उमंग घेरे रहती है--अकारण! कोई कारण भी दिखाई नहीं पड़ता। न कोई लाटरी मिली है। न कोई धंधे में बड़ा लाभ हुआ है। न कोई बड़ा पद मिला है। ऐसा भी हो सकता था: पद था, वह भी गया; हाथ में जो था वह भी खो गया; धंधा भी डूब गया--लेकिन अकारण एक उमंग है कि भीतर कोई नाचे जा रहा है, कि रुकता ही नहीं! तो बुद्धि कहेगी: कहीं पागल तो नहीं हो गये हो? ये तो पागलों के लक्षण हैं। यही बड़ी अजीब दुनिया है: यहां सिर्फ पागल ही प्रसन्न दिखाई पड़ते हैं! इसलिए बुद्धि कहती है, पागल हो गये होओगे, क्योंकि यहां पागलों के सिवा किसी को प्रसन्न देखा है? यहां हजार कारण होते हैं, तब भी आदमी प्रसन्न नहीं होता। बड़ा महल हो, धन हो, संपत्ति हो, सुख-सुविधा हो, तब भी आदमी प्रसन्न नहीं होता। यह दुनिया दुखी लोगों की दुनिया है। मगर दुखी लोगों की भीड़ है। यहां अगर तुम हंसने लगो अकारण तो लोग कहेंगे पागल हो गये हो! अगर तुम कहो कि हंसी आ रही है, कोई कारण नहीं है, फैली जा रही है, भीतर से उठ रही है, लहर आ रही है--लोग कहेंगे, बस, दिमाग खराब हो गया! यहां तुम शक्ल बना कर चलो, उदास रहो, तुम्हारी शक्ल देख कर भूत-प्रेत भी डरें, तो बिलकुल ठीक हो; तो कोई अड़चन नहीं है; तो सब ठीक चल रहा है; तुम आदमी जैसे आदमी हो; जैसा आदमी होना चाहिए वैसे आदमी हो। लेकिन तुम मुस्कुराने लगो, तुम हंसने लगो, तुम गीत गुनगुनाने लगो, तुम राह के किनारे खड़े हो कर नाचने लगो--बस, तुम पागल हो गये!
परमात्मा को हमने इस भांति इनकार किया है कि अगर परमात्मा आये तो हम उसे पागलखाने में बंद कर देंगे। शायद इसी कारण नहीं आता, आने से डरता है। तुम जरा सोचो, कृष्ण अगर मिल जायें चौराहे पर बांसुरी बजाते, मोर-मुकुट बांधे, पीतांबर डाले, गोपियां नाचती हों--क्या करोगे? तत्क्षण पुलिस-थाने जाओगे कि कुछ गड़बड़ है! यह क्या हो रहा है? जो नहीं होना चाहिए वह हो रहा है--तुम इस आदमी को जेलखाने में डालोगे।
आनंद निष्कासित कर दिया गया है! हमने आनंद को जीवन के बाहर कर दिया है। हम दुख को छाती से लगा कर बैठे हैं। यहां दुखी आदमी बुद्धिमान मालूम होता है; यहां आनंदित आदमी पागल मालूम होता है। सारी सरणी उलटी है।
तो स्वाभाविक है। जीवन भर जिसको तुमने बुद्धिमानी समझा है, आज अचानक अगर खोने लगेगी, खिसकने लगेगी, अगर आज अचानक नींव उखड़ने लगेगी तुम्हारी तथाकथित बुद्धिमानी की, और अचानक झांकने लगेगी प्रसन्नता--"अकारण" खयाल रखना! पागलपन का मतलब यह होता है: अकारण प्रसन्न! कारण भी नहीं है कुछ। बैठे हैं अकेले और मुस्कुराहट आ रही है। बस, पागल हो गये! क्योंकि ऐसा तो हमने सिर्फ पागलों को ही देखा है।

ध्यान रखना: पागलों में और परमहंसों में थोड़ा-सा संबंध है। पागल भी हंसते हैं, प्रसन्न होते हैं, क्योंकि बुद्धि गंवा दी। परमहंस भी हंसते हैं, प्रसन्न होते हैं, क्योंकि बुद्धि के पार आ गये। दोनों--पागल बुद्धि से नीचे गिर जाता है, इसलिए हंस लेता है; परमहंस बुद्धि के पार चला जाता है, इसलिए हंसता है--दोनों में थोड़ी समानता है।
पागल और परमहंस में एक बात समान है कि दोनों ने बुद्धि गंवाई। एक ने होशपूर्वक गंवाई है, एक ने बेहोशी में गंवाई है--इसलिए फर्क बहुत है। जमीन-आसमान जितना फर्क है। लेकिन फिर भी एक समानता है। इसलिए कभी-कभी तुम्हें पागल में परमहंस दिखाई पड़ेगा और कभी-कभी परमहंस में पागल। तो भूल-चूक हो जाती है।
पश्चिम के पागलखानों में ऐसे बहुत-से लोग बंद हैं जो पागल नहीं हैं। अभी वहां बड़ी क्रांति चलती है इसके संबंध में। कुछ मनोवैज्ञानिक, विशेषकर आर. डी. लैंग और उनके साथी, एक बड़ा आंदोलन चलाते हैं कि बहुत-से पागल पागलखानों में बंद हैं जो पागल नहीं हैं। अगर वे पूरब में पैदा होते तो परमहंसों की तरह उनका आदर-सम्मान होता है। आर. डी. लैंग को पता नहीं है, इससे उलटी घटना पूरब में घट चुकी है: यहां कई पागल हैं जो परमहंस समझे जाते हैं। मगर आदमी आदमी है। यहां पूरब में कई पागल परमहंस समझ लिये गये हैं। मगर भूल-चूक होती है, क्योंकि दोनों की सीमाएं एक-दूसरे पर पड़ जाती हैं। तो यह शक स्वाभाविक है।
एक ही बात खयाल रखना इसमें: आनंद बढ़ रहा हो, घबड़ाना मत। मगर आनंद पागलपन के कारण भी बढ़ सकता है। तो सुरक्षा की कसौटी क्या है? सुरक्षा की कसौटी यह है: तुम्हारा आनंद बढ़ रहा हो और तुम्हारे कारण किसी का दुख न बढ़ रहा हो तो बेफिक्री से जाना। तुम्हारा आनंद किसी की हिंसा, किसी पर आक्रमण, किसी को दुख देने पर निर्भर न हो, तो फिर पागलपन से डरने की कोई वजह नहीं है। अगर पागल भी हो रहे हो तो यह पागलपन बिलकुल शुभ है, ठीक है। फिर बेझिझक इसमें प्रवेश कर जाना।
डरने का कारण तो तभी है जब तुम किसी को नुकसान पहुंचाने लगो। तुम्हारे नाच से किसी को कोई बाधा नहीं है, लेकिन कोई सो रहा है और तुम उसकी छाती पर जा कर ढोल बजा कर नाचने लगो। तुम नाचो, इससे कुछ अड़चन नहीं है। तुम गुनगुनाओ राम का नाम, यह ठीक है। लेकिन माइक लगा कर आधी रात में और तुम अखंड कीर्तन शुरू कर दो, तो तुम पागल हो। हालांकि कोई तुमको पागल नहीं कह सकता, क्योंकि तुम राम-धुन कर रहे हो। ऐसे कई पागल कर रहे हैं। वे कहते हैं, अखंड कीर्तन कर रहे हैं, चौबीस घंटे की कथा की है। सोओ न सोओ, तुम्हारी मर्जी! अगर तुम बाधा डालो तो अधार्मिक हो।
इतना ही खयाल रखना: तुम्हारा आनंद हिंसात्मक न हो। बस यह पर्याप्त है। तुम्हारा आनंद तुम्हारा निजी हो। इसके कारण किसी के जीवन में कोई बाधा न पड़े, कोई पत्थर न पड़े। तुम्हारा फूल खिले, लेकिन तुम्हारे फूल के खिलने के कारण किसी को कांटे न चुभें। इतना ही भर खयाल रहे तो तुम ठीक दिशा में जा रहे हो।
जहां तुम्हें लगे कि अब दूसरों को बाधा होने लगी, वहां थोड़े सावधान होना! वहां परमहंस की तरफ न जा कर तुमने पागलपन का रास्ता पकड़ लिया। "ओमप्रकाश" से किसी को कोई दुख नहीं है। बेझिझक, बेधड़क जा सकते हो। कल मैं एक गीत पढ़ रहा था:
जो कुछ सुंदर था, प्रेय, काम्य
जो अच्छा, मंजा, नया था, सत्य-सार
मैं बीन-बीन कर लाया
नैवेद्य चढ़ाया
पर यह क्या हुआ?
सब पड़ा-पड़ा कुम्हलाया
सूख गया, मुर्झाया
कुछ भी तो उसने हाथ बढ़ा कर नहीं लिया! यूं कहीं तो था लिखा
पर मैंने जो दिया, जो पाया,

जो पिया, जो गिराया,
जो ढाला, जो छलकाया,
जो निथारा, जो छाना
जो उतारा, जो चढ़ाया,
जो जोड़ा, जो तोड़ा, जो छोड़ा
सबका जो कुछ हिसाब रहा,
मैंने देखा कि उसी यज्ञ-ज्वाला में गिर गया
और उसी क्षण मुझे लगा कि
अरे मैं तिर गया!
ठीक है, मेरा सिर फिर गया।
तिरता है आदमी--सिर के फिरने से।
परमात्मा को तुम चढ़ाओ चुन-चुन कर चीजें, अच्छी-अच्छी चीजें--उससे कुछ
न होगा, जब तक कि सिर न चढ़े। सुनो फिर:
जो कुछ सुंदर था, प्रेय, काम्य
जो अच्छा, मंजा, नया था, सत्य-सार
मैं बीन-बीन कर लाया
नैवेद्य चढ़ाया
पर यह क्या हुआ?
सब पड़ा-पड़ा कुम्हलाया
सूख गया, मुर्झाया
कुछ भी तो उसने हाथ बढ़ा कर नहीं लिया!
तुम ले आओ सुंदरतम को खोज कर, बहुमूल्य को खोज कर, चढ़ाओ कोहिनूर-- कुम्हलायेंगे! तोड़ो फूल कमल के, गुलाब के, चढ़ाओ--कुम्हलायेंगे! एक ही चीज वहां स्वीकार है--वह तुम्हारा सिर; वह तुम्हारा अहंकार; वह तुम्हारी बुद्धि; वह तुम्हारा मन। अलग-अलग नाम हैं; बात एक ही है। वहां चढ़ाओ अपने को।
और उसी क्षण मुझे लगा कि
अरे मैं तिर गया!
ठीक है, मेरा सिर फिर गया!
लोग तो यही कहेंगे, ओमप्रकाश, कि सिर फिर गया! कहने दो लोगों को। लोगों
के कहने से कोई चिंता नहीं है। जब लोग तुमसे कहते हैं, सिर फिर गया, तो वे इतना ही कर रहे हैं कि अपने सिर की रक्षा कर रहे हैं, और कुछ नहीं। जब लोग तुमसे कहते हैं तुम्हारा सिर फिर गया, तो वे यह कह रहे हैं कि "बचाओ हमें, इधर इस तरफ मत आओ! हमें मत सुनाओ ये गीत! मत यह हंसी हमारे द्वार लाओ! मत दिखाओ हमें ये आंखें मदमस्त! ये खबरें मत कहो हमसे!" घबड़ाहट है उनकी! भीतर उनके भी यही राग है। भीतर उनके भी ऐसी ही वीणा पड़ी है, जो प्रतीक्षा करती है जन्मों-जन्मों से कि कोई छेड़ दे! मगर डर है, घबड़ाहट है। बहुत कुछ उन्होंने झूठे जगत में बनाया है, बसाया है--कहीं उखड़ न जाये!
मैं इलाहाबाद में था। एक मित्र मेरे सामने ही बैठ कर मुझे सुन रहे थे। लाखों लोगों ने मुझे मेरे सामने बैठ कर सुना है; बहुत कम ऐसे लोग हैं, जिन्होंने इतने भाव से सुना हो जैसा भाव से वे सुन रहे थे। उनकी आंखों से आंसुओं की धार बह रही थी। अचानक बीच में उठे, सभा-भवन छोड़ कर चले गये! मैं थोड़ा चौंका: यह क्या हुआ? पूछताछ की। संयोजक को कहा।
वे बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति थे, मैं तो जानता नहीं था। साहित्यकार थे, कवि थे, लेखक थे। संयोजक ने उनके घर जा कर पूछा।
उन्होंने कहा: "बाबा माफ करो! मैं घबड़ा गया। बीस मिनट के बाद मैंने कहा, अब यहां से भाग जाना उचित है। अगर थोड़ी देर और रहा तो कुछ से कुछ हो जायेगा। इस आदमी का तो सिर फिरा है, मेरा फिरा देगा। आऊंगा; अभी नहीं। जरूर आऊंगा, पर थोड़ा समय दो। और दो रात से मैं सो नहीं सका हूं। और बातें मेरे मन में गूंज रही हैं। नहीं, अभी मेरे पास बहुत काम करने को पड़े हैं। अभी बच्चे हैं छोटे। अभी घर-गृहस्थी सम्हालनी है। जरूर आऊंगा, तुम जाओ! उनसे कहना जरूर आऊंगा; लेकिन अभी नहीं।"

जब कोई तुमसे कहता है, तुम्हारा सिर फिर गया, वह सिर्फ अपनी आत्मरक्षा
कर रहा है। वह यह कह रहा है कि ऐसा मान कर कि तुम्हारा सिर फिर गया है, मैं अपने आकर्षण को रोकता हूं। उसके भीतर भी अदम्य आकांक्षा है।
कौन है ऐसा जो परमात्मा को खोजने नहीं चला है! कौन है ऐसा जो आनंद का प्यासा नहीं है! कौन है ऐसा जिसे सत्य की अभीप्सा नहीं है! ऐसा कभी कोई हुआ ही नहीं है। जिनको तुम नास्तिक कहते हो वे वे ही लोग हैं, जो घबड़ा गये हैं; वे वे ही लोग हैं जो कहते हैं, नहीं, कोई परमात्मा नहीं है। क्योंकि परमात्मा को इनकार न करें तो खोज पर जाना होगा।
मेरा अपना अनुभव यह है कि नास्तिक के भीतर तथाकथित आस्तिकों से सत्य
की खोज की ज्यादा गहरी आकांक्षा होती है। वह मंदिर जाने से डरता है; तुम डरते ही नहीं। तुम डरते नहीं, क्योंकि तुम्हारे भीतर कोई ऐसी प्रबल आकांक्षा नहीं कि तुम पगला जाओगे। तुम मंदिर हो आते हो, जैसे तुम दुकान चले जाते हो। तुम मंदिर के बाहर-भीतर हो लेते हो, तुम पर कुछ असर नहीं होता।
नास्तिक वैसा व्यक्ति है जो जानता है, अगर मंदिर गया तो वापस न लौट सकेगा; गया तो वैसा का वैसा वापस न लौट सकेगा। तो एक ही उपाय है: वह कहता है, "ईश्वर नहीं है! धर्म सब पाखंड है!" वह अपने को बचा रहा है, समझा रहा है कि ईश्वर है ही नहीं, तो मंदिर जाना क्यों? ईश्वर है ही नहीं तो क्यों उलझन में पड़ना? क्यों ध्यान, क्यों प्रार्थना?
मेरे देखे, नास्तिक के भीतर आत्मरक्षा चल रही है। मैंने अब तक कोई नास्तिक नहीं देखा, जो वस्तुतः नास्तिक हो। आदमी नास्तिक हो कैसे सकता है? नास्तिक का तो अर्थ हुआ कि कोई आदमी "नहीं" के भीतर रहने का प्रयास कर रहा है। "नहीं" के भीतर कोई रह कैसे सकता है? नास्तिकता में कोई जी कैसे सकता है? जीने के लिए "हां" चाहिए। "नहीं" में कहीं फूल खिलते हैं? "हां" चाहिए! स्वीकार चाहिए!
जीवन में जितना स्वीकार होता है, उतने ही फूल खिलते हैं; लेकिन सीमा
के बाहर फूल न खिल जायें, इससे भय होता है। कहीं फूल इतने न खिल जायें कि मैं उन्हें सम्हाल न पाऊं...!
कल रात एक युवक ने मुझे कहा कि अब मुझे बचाएं, यह जरूरत से ज्यादा हुई
जा रही है बात। मैं इतना प्रसन्न हूं कि लगता है मैं टूट जाऊंगा! इतना आनंद है कि लगता है मैं सम्हाल न पाऊंगा। यह मेरा हृदय का पात्र छोटा है। मुझे बचाएं! मैं इसके ऊपर से बहा जा रहा हूं। ये मेरी सीमाएं सब टूटी जा रही हैं। और मुझे डर है कि अगर मैं इसके साथ बह गया तो फिर लौट न पाऊंगा। नियंत्रण कहीं खो न जाये--यह भय है। अहंकार दुख के साथ भलीभांति जी लेता है, क्योंकि दुख में नियंत्रण नहीं खोता। कितने ही तुम रोओ दुख में, तुम अपने मालिक रहते हो। नियंत्रण खोता है आनंद में, सीमा टूटती है आनंद में। दुख में कभी कोई सीमा नहीं टूटती। नरक में भी सीमा नहीं टूटती। तुम नरक में भी पड़े रहो तो भी तुम अपने भीतर मजबूत रहते हो। सीमा टूटती है स्वर्ग में। वहां नियंत्रण खो जाता है। जहां नियंत्रण खोता है, वहां अहंकार खो जाता है। जहां नियंत्रण खोता है, वहां बुद्धि की पकड़ खो जाती है, तर्क का जाल खो जाता है।
वही हो रहा है। घबड़ाना मत! तिरने का क्षण करीब आ रहा है। लेकिन सिर फिरे बिना कोई कभी तिरा नहीं है।
एक धुन की तलाश है मुझे
जो ओठों पर नहीं
शिराओं में मचलती है
लावे-सी दहकती है--
पिघलने के लिए
एक आग की तलाश है मुझे
कि रोम-रोम सीझ उठे
और मैं तारत्तार हो जाऊं! कोई मुझे जाली-जाली बुन दे कि मैं पारदर्शी हो जाऊं!

एक खुशबू की तलाश है मुझे
कि भारहीन हो, हवा में तैर सकूं
हलकी बारिश की महीन बौछारों में कांप सकूं
गहराती सांझ के स्लेटी आसमान पर
चमकना चाहता हूं कुछ देर,
एक शोख रंग की तलाश है मुझे!
ओमप्रकाश! वही शोख रंग मैंने तुम्हें दे दिया है। ये गैरिक वस्त्र वही शोख रंग हैं। बहो! सीमाएं छोड़ कर बहो! बुद्धि के पार बहो! जाने दो नियंत्रण! नियंत्रण का अर्थ है: कर्ता! छोड़ो नियंत्रण! कर्ता अगर कोई है तो एक परमात्मा है। तुम परमात्मा से होड़ न करो, उससे प्रतिस्पर्धा न लो; उसके साथ संघर्ष मत करो। करो समर्पण। बहो उसकी धार के साथ। तिरोगे। जो डूब जाते हैं, वही तिरते हैं। जो तिरने की चेष्टा करते हैं डूब जाते हैं।

दूसरा प्रश्न: सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है। लेकिन आप जैसे बुद्धपुरुष सदा से इस बात पर जोर देते रहे हैं कि परमात्मा अभी और यहीं घट सकता है। क्या बार-बार यह कहना एक चुनौती और एक प्रयास करने की एक विधि है, एक उपाय है?

सत्य है यही; न तो विधि है और न उपाय है। तुम्हारा ऐसा पूछना बचने की विधि और उपाय है। यह बात हमारा मन स्वीकार करने को राजी नहीं होता कि परमात्मा अभी और यहीं मिल सकता है। क्यों नहीं राजी होता? इसलिए राजी नहीं होता कि अगर अभी और यहीं मिल सकता है, तो फिर हमें मिल नहीं रहा तो इसका कारण क्या होगा? फिर इसकी व्याख्या कैसे करें? अगर अभी और यहीं मिल सकता है, तो मिल क्यों नहीं रहा? बेचैनी खड़ी हो जाती है। अभी और यहीं मिल सकता है, मिल तो नहीं रहा! तो इसे समझायें कैसे? यह तो बड़ी अड़चन की बात हो गई। इस अड़चन को सुलझाने के लिए तुम कहते हो: मिल तो सकता है, लेकिन पात्रता चाहिए! बुद्धि रास्ते निकालती है। जहां उलझन खड़ी हो जाती है, उसे सुलझाती है: "रास्ता खोजना पड़ेगा, पात्रता खोजनी पड़ेगी, शुद्ध होना पड़ेगा--तब मिलेगा। और अगर अष्टावक्र कहते हैं अभी और यहीं मिल सकता है, तो जरूर इसमें कुछ कारण है। वे इसलिए कहते हैं ताकि तुम तीव्रता से प्रयास में लग जाओ! लेकिन लगना प्रयास में ही पड़ेगा।"
मन बड़ा होशियार है!
अष्टावक्र की बात बिलकुल सीधी-साफ है: परमात्मा अभी और यहीं मिल सकता है, क्योंकि परमात्मा कोई उपलब्धि नहीं है। परमात्मा तुम्हारा स्वभाव है। सारा जोर सीधा है। तुम परमात्मा हो; मिल सकने की बात ही गलत है। जब हम कहते हैं अभी और यहीं मिल सकता है तो इसका अर्थ इतना ही हुआ कि मिला ही हुआ है; जरा आंख खोलो और देखो! मिल सकने की भाषा ठीक नहीं है। मिल सकने में तो ऐसा लगता है कि तुम अलग हो और परमात्मा अलग है; तुम खोजने वाले हो, वह खोज का लक्ष्य है; तुम यात्री हो, वह मंजिल है। नहीं, अभी और यहीं मिल सकता है का इतना ही अर्थ है कि तुम वही हो जिसे तुम खोज रहे हो। जरा अपने को पहचानो! आंख खोलो और देखो! या आंख बंद करो और देखो--मगर देखो! थोड़ी दृष्टि की बात है, पात्रता की नहीं।
पात्रता का तो अर्थ हुआ कि परमात्मा भी सौदा है। जैसे तुम बाजार में जाते हो तो कोई चीज हजार रुपये की है, कोई लाख रुपये की है, कोई दस लाख रुपये की है--हर चीज का मूल्य है। तो पात्रता का तो अर्थ हुआ कि परमात्मा का भी मूल्य है; जो पात्रता अर्जित करेगा, मूल्य चुकायेगा, उसे मिलेगा। तुम परमात्मा को भी बाजार में एक वस्तु बना लेना चाहते हो। त्याग करोगे, तपश्चर्या करोगे, तो मिलेगा! मूल्य चुकाओगे तो मिलेगा! मुफ्त कहीं मिलता है! तुम परमात्मा को खींच कर दुकान पर रख देते हो; डब्बे में बंद कर देते हो, दाम लिख देते हो। तुम कहते हो: इतने उपवास करो; इतना ध्यान करो; इतनी तपश्चर्या करो; धूप में तपो; सर्दी, आतप सहो--तब मिलेगा!
कभी इस पर तुमने सोचा कि यह तुम क्या कह रहे हो? तुम यह कह रहे हो कि तुम्हारे कुछ करने से परमात्मा के मिलने का संबंध हो सकता है। तुम जो

करोगे, वह तुम्हारा किया ही होगा। तुम्हारा किया तुमसे बड़ा नहीं हो सकता। तुम्हारी तपश्चर्या तुम्हारी ही होगी। तुम जैसी ही दीन, तुम जैसी ही मलिन। तुम्हारी तपश्चर्या तुमसे बड़ी नहीं हो सकती। और तपश्चर्या से जो मिलेगा उसकी भी सीमा होगी; क्योंकि सीमित से सीमित ही मिल सकता है, असीम नहीं। तपश्चर्या से जो मिलेगा वह तुम्हारे ही मन की कोई धारणा होगी, परमात्मा नहीं।
अष्टावक्र कह रहे हैं कि परमात्मा तो है ही। वही तुम्हारे भीतर धड़क रहा है। वही तुम्हारे भीतर श्वास ले रहा है। वही जन्मा है। वही विदा होगा। वही अनंत काल से, अनंत-अनंत रूपों में प्रगट हो रहा है। कहीं वृक्ष है, कहीं पक्षी है, कहीं मनुष्य है।
परमात्मा है! उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस सत्य की प्रत्यभिज्ञा, इस सत्य का स्मरण...।
मैंने सुना है, एक सम्राट अपने बेटे पर नाराज हो गया, उसे देश-निकाला
दे दिया। सम्राट का बेटा था, कुछ और तो करना जानता नहीं था, क्योंकि सम्राट के बेटे ने कभी कुछ किया न था, भीख ही मांग सकता था। जब कोई सम्राट सम्राट न रह जाये तो भिखमंगे के सिवा और कोई उपाय नहीं बचता।
भीख मांगने लगा। बीस वर्ष बीत गये। भूल ही गया। अब बीस वर्ष कोई भीख मांगे तो याद रखना कि मैं सम्राट हूं, असंभव, कष्टपूर्ण होगा; भीख मांगने में कठिनाई पड़ेगी; यही उचित है कि भूल ही जाओ। वह भूल ही गया था, अन्यथा भीख कैसे मांगे! सम्राट, और भीख मांगे! द्वार-द्वार, दरवाजे-दरवाजे भिक्षापात्र ले कर खड़ा हो! होटल में, रेस्तरां के सामने भीख मांगे! जूठन मांगे! सम्राट! सम्राट को भुला ही देना पड़ा, विस्मृत ही कर देना पड़ा। वह बात ही गई। वह जैसे अध्याय समाप्त हुआ। वह जैसे कि कहीं कोई सपना देखा होगा, कि कोई कहानी पढ़ी होगी, कि फिल्म देखी होगी, अपने से क्या लेना-देना! बीस साल बाद जब सम्राट बूढ़ा हो गया, उसका बाप, तो वह घबड़ाया: एक ही बेटा था! वही मालिक था। उसने अपने वजीरों को कहा: उसे खोजो और जहां भी हो उसे ले आओ। कहना, बाप ने क्षमा किया। अब क्षमा और न क्षमा का कोई अर्थ नहीं, मैं मर रहा हूं। अब यह राज्य कौन सम्हालेगा? यह औरों के हाथ में जाये इससे बेहतर है मेरे खून के हाथ में जाये। बुरा-भला जैसा भी है, उसे ले आओ!
जब वजीर पहुंचे तो वह एक होटल के सामने पैसे-पैसे मांग रहा था--टूटा-सा पात्र लिये। नंगा था। पैरों में जूते नहीं थे। भरी दुपहरी थी। गर्मी के दिन थे। लू बहती थी। पैर जल रहे थे। और वह मांग रहा था कि मुझे जूते खरीदने हैं, इसलिए कुछ पैसे मिल जायें। कुछ पैसे उसके पात्र में पड़े थे।
रथ आ कर रुका। वजीर नीचे उतरा। वजीर ने गिर कर उसके चरण छुए--होने वाला सम्राट था! जैसे ही वजीर ने उसके चरण छुए, एक क्षण में घटना घट गई--बीस साल जिसकी याद न आई थी कि मैं सम्राट हूं! फिर ऐसा थोड़े ही लगा रहा कि वह बैठा, उसने सोचा और विचारा और तपश्चर्या की और ध्यान किया कि याद करूं--न, एक क्षण में, पल में, पल भी न लगा, एक क्षण में रूपांतरण हो गया! यह आदमी और हो गया! अभी भिखारी था दीनऱ्हीन; नग्न अब भी था; अब भी पैर में जूते न थे-- लेकिन हाथ से उसका पात्र उसने फेंक दिया और वजीरों से कहा कि जाओ और मेरे स्नान की व्यवस्था करो, ठीक वस्त्र जुटाओ! वह जा कर रथ पर बैठ गया। उसकी महिमा देखने जैसी थी। अभी भी वही का वही था, लेकिन उसके चेहरे पर अब एक गरिमा थी; आंखों में एक दीप्ति थी; चारों तरफ एक आभामंडल था! सम्राट था! याद आ गई। बाप ने बुलावा भेज दिया।
ठीक ऐसा ही है।
अष्टावक्र जब कहते कि अभी और यहीं तो वे यही कहते हैं: कितने चलो, बीस साल नहीं बीस जन्म सही, देश-निकाले पर रहे, भीख मांगी बहुत, भूल गये बिलकुल, याद को बिलकुल सुला दिया--सुलाना ही पड़ा; न सुलाते तो भीख मांगनी मुश्किल हो जाती; द्वार-द्वार दरवाजे-दरवाजे भिक्षापात्र ले कर घूमे...। अष्टावक्र यह कह रहे हैं: आ गया बुलावा! जागो! भिखमंगे तुम नहीं हो! सम्राट के बेटे हो!
अगर कोई ठीक से सुन लेगा, तो घटना सुनने में ही घट जायेगी। यही अष्टावक्र-गीता का महात्म्य है, महिमा है। कोई आग्रह नहीं है कि कुछ करो।

सिर्फ सुन लो, सिर्फ सत्य को पहुंचने दो तुम्हारे हृदय तक, बाधा मत बनो, ग्राहक रहो, सिर्फ सुन लो, पहुंच जाये यह तीर तुम्हारे हृदय में, इसकी चोट-- बस पर्याप्त है! जन्मों-जन्मों की विस्मृति टूट जायेगी, स्मरण लौट आयेगा। तुम परमात्मा हो। इसलिए वे कहते हैं: अभी और यहीं!
अब तुम तरकीबें मत खोजो। तुम कहते हो, शायद यह विधि होगी, उपाय होगा कि लोगों की त्वरा बढ़े, तीव्रता बढ़े।
"स्वामी योग चिन्मय" ने पूछा है। चिन्मय के पास, चिन्मय की बुद्धि में "चेष्टा", "प्रयास", "तप" जरूरत से ज्यादा है--साधारण योगी की जो पकड़ होती है वैसी पकड़ है।
ये अष्टावक्र के वचन साधारण योगी के लिए नहीं हैं; असाधारण, प्रज्ञावान...जो सुन कर ही जाग जाये। चिन्मय थोड़े हठयोगी हैं। काफी पिटाई हो तो थोड़े-बहुत चलेंगे। कोड़े को देख कर, उसकी छाया को देख कर नहीं चल सकते।
हंसना मत, क्योंकि चिन्मय जैसे ही अधिक लोग हैं। हंस कर तुम यह मत सोचना कि तुमने हंस लिया तो तुम चिन्मय से भिन्न हो कि देखो तुम तो हंसे। चिन्मय ने कम से कम हिम्मत करके पूछा, तुमने पूछा नहीं--बस इतना ही फर्क है। हो तुम भी वही। यह अष्टावक्र की गीता पूरी हो जायेगी और अगर तुम परमात्मा न हो गये तो समझ लेना कि वहीं हो, कोई फर्क नहीं है। अगर इस सुनने- सुनने में तुम जाग जाओ और परमात्मा हो जाओ तो ही कोड़े की छाया ने काम किया। "सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है।"
खोजी शुरू से ही भ्रांत है। खोजी का अर्थ ही यह है कि वह मान लिया है
कि परमात्मा को खोजना है, कि परमात्मा को खो दिया है। उसने एक बात तो मान ही ली कि खो दिया परमात्मा को। यह भी कोई बात हुई कि खो दिया परमात्मा को? परमात्मा को खो कैसे सकते हो?
मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, परमात्मा को खोजना है! मैं कहता हूं, "चलो ठीक! खोजो! लेकिन खोया कहां? कब खोया?" वे कहते हैं, "इसका तो कुछ पता नहीं है।" पहले इसका तो तुम ठीक से पता कर लो, कहीं ऐसा न हो कि खोया ही न हो!
कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि चश्मा नाक पर चढ़ा है और उसी चश्मे से देख कर चश्मा खोज रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि परमात्मा नाक पर चढ़ा हो और तुम उसी परमात्मा से खोज रहे हो! ऐसा ही है। खोजी बुनियादी रूप से भ्रांत है। उसने एक बात तो मान ही ली कि परमात्मा खो दिया है; या परमात्मा को अब तक खोजा नहीं, पाया नहीं; वह कहीं दूर है, उसे खोजना है।
खोज से कभी परमात्मा नहीं मिलता। खोज-खोज कर तो इतना ही पता चलता है: खोजने में कुछ भी नहीं है। एक दिन खोजते-खोजते खोज ही गिर जाती है; खोज के गिरते ही परमात्मा मिलता है।
बुद्ध ने छह वर्ष तक खोजा। खूब खोजा! उन से बड़ा खोजी और कहां खोजोगे? जहां-जहां खबर मिली कि कोई ज्ञान को उपलब्ध है, वहां-वहां गये। सभी चरणों में सिर रखा। जो गुरुओं ने कहा वही किया। गुरु भी थक गये उनसे। क्योंकि गुरु उन शिष्यों से कभी नहीं थकते जो आज्ञा का उल्लंघन करते हैं। उनसे कभी नहीं थकते! क्योंकि उनके पास सदा कहने को है कि तुम आज्ञा मान ही नहीं रहे, इसलिए कुछ नहीं घट रहा है, हम क्या करें? गुरु को बड़ी सुविधा है, अगर तुम गुरु की न मानो। वह सदा कह सकता है कि तुमने माना ही नहीं, मानते तो घट जाता। मगर बुद्ध के साथ गुरु मुश्किल में पड़ गये। जो गुरुओं ने कहा, बुद्ध ने वही किया। उन्होंने एक सेर कहा तो बुद्ध ने सवा सेर किया। गुरु ने आखिर उनसे हाथ जोड़ लिये कि तू भई कहीं और जा; जो हम बता सकते थे बता दिया। बुद्ध ने कहा, इससे तो कुछ घट नहीं रहा है। उन्होंने कहा, इससे ज्यादा हमें भी नहीं घटा है; तेरे से क्या छिपाना। तू कहीं और जा!
इतने प्रामाणिक व्यक्ति के सामने गुरु भी धोखा न दे पाए। सब तरफ खोज
कर बुद्ध ने आखिर पाया कि नहीं, खोजने से मिलता ही नहीं। संसार तो व्यर्थ था ही, अध्यात्म भी व्यर्थ हुआ। भोग तो व्यर्थ हो ही चुका था, जिस दिन महल छोड़ा उस दिन व्यर्थ हो चुका था, इसलिए छोड़ा; योग भी व्यर्थ हुआ। न भोग में

कुछ है, न योग में कुछ है--अब क्या करें? अब तो करने को ही कुछ न बचा। अब तो कर्ता होने के लिए कोई सुविधा न रही।
इस सूत्र को ठीक से समझना। न भोग बचा न योग बचा, न संसार बचा न स्वर्ग बचा--तो अब कर्ता होने के लिए जगह ही न बची। कुछ करने को बचे तो कर्ता बच सकता है। कुछ करने को न बचा। उसी रात घटना घटी। उस सांझ बोधि-वृक्ष के नीचे वे बैठे तो करने को कुछ भी न था। बड़ी हैरानी में पड़े। संसार छोड़ दिया था तो योग पकड़ लिया था। भोग छोड़ दिया था तो अध्यात्म पकड़ लिया था। कुछ तो करने को था! तो मन उलझा था। अब मन को कोई जगह न बची। मन का पक्षी तड़फड़ाने लगा: कोई जगह नहीं! मन के लिए जगह चाहिए। अहंकार के लिए कर्ता का रस चाहिए, कर्तव्य चाहिए। कुछ करने को हो तो अहंकार बचे। कुछ था ही नहीं करने को।
जरा थोड़ा सोचो! एक गहन उदासीनता, जिसको अष्टावक्र वैराग्य कहते हैं,
वह उदय हुआ।
योगी विरागी नहीं है, क्योंकि योगी नये भोग खोज रहा है। योगी आध्यात्मिक भोग खोज रहा है, विरागी नहीं है। अभी भोग की आकांक्षा है। संसार में नहीं मिला तो परमात्मा में खोज रहा है; लेकिन खोज जारी है। यहां नहीं मिला तो वहां खोज रहा है; बाहर नहीं मिला तो भीतर खोज रहा है--लेकिन खोज जारी है।
भोगी विरागी नहीं है; योगी भी विरागी नहीं है। हां, उनकी खोज राग की अलग-अलग है। एक बाहर की तरफ जाता है, एक भीतर की तरफ जाता है; लेकिन जाते दोनों हैं।
उस रात बुद्ध को जाने को कुछ न बचा--न बाहर न भीतर। उस रात की तुम जरा कल्पना करो! उस रात को जरा जगाओ और सोचो कि कैसी वह रात रही होगी! उस दिन पहली दफा विश्राम उपलब्ध हुआ, जिसको अष्टावक्र कहते हैं: जो चित्त में विश्राम को उपलब्ध हो जाये तो सत्य उपलब्ध हो जाता है। उस दिन विश्राम उपलब्ध हुआ।
जब तक कुछ करने को शेष है तब तक श्रम जारी रहता है। जब तक कुछ करने को शेष है, तनाव जारी रहता है। अब तनाव करके भी क्या करना? शरीर भी ढीला छूट गया, मन भी ढीला छूट गया। वे उस वृक्ष के नीचे पड़ गये और सो गये। सुबह जब उनकी आंख खुली तो ऐसी खुली जैसी सबकी खुलनी चाहिए। सुबह जब आंख खुली तो पहली दफा खुली। सदियों-सदियों से बंद थी, वह आंख खुली। सुबह जब आंख खुली तो भोर का आखिरी तारा डूबता था। उस भोर के आखिरी तारे को उन्होंने डूबते हुए देखा। इधर बाहर भोर का आखिरी तारा डूब गया, उधर भीतर भी मन की आखिरी रेखा विसर्जित हो गई। कुछ भी न था। भीतर कोई भी न बचा। सन्नाटा था, शून्य था, विराट शून्य था, आकाश था।
कहते हैं, बुद्ध सात दिन वैसे ही बैठे रहे--मूर्तिवत; हिले नहीं, डुले नहीं। कहते हैं, देवता घबड़ा गये। आकाश से देवता उतरे। ब्रह्मा उतरे। चरणों में पड़े और कहा: आप कुछ बोलें! ऐसी घटना सदियों में घटती है, बड़ी मुश्किल से घटती है। आप कुछ कहें, हम आतुर हैं सुनने को कि क्या हुआ है! हिंदू बहुत नाराज हैं इस बात से कि बौद्ध कथाओं में ब्रह्मा को उतार कर, और बुद्ध के चरणों में गिरा दिया। लेकिन कथा बिलकुल ठीक है। क्योंकि देवता भला स्वर्ग में हों, आकांक्षा के बाहर थोड़े ही हैं! आज एक घटना घटी है कि एक व्यक्ति आकांक्षा के बाहर चला गया है।
तो बुद्ध के ऊपर कोई भी नहीं है। बुद्धत्व आखिरी बात है। देवता भी नीचे हैं; अभी उनकी भी स्वर्ग की, भोग की आकांक्षा है।
इसलिए तो कथाएं हैं कि इंद्र का आसन डोलने लगता है जब भी लगता है कि कोई प्रतियोगी आ रहा, कोई ऋषि-मुनि तपश्चर्या में गहरा उतर रहा है--इंद्र घबड़ाता; आसन कंपने लगता! यह तो आसन इंद्र का क्या हुआ, दिल्ली का हुआ! इंद्र का कहो कि इंदिरा का कहो--एक ही बात है! इसमें कुछ बहुत फर्क न हुआ। यह तो कोई आने लगा! तो प्रतिस्पर्धा, घबड़ाहट, बेचैनी!
बुद्ध ना-कुछ करके उपलब्ध हुए। जो बुद्ध के जीवन में घटा; वही अष्टावक्र के जीवन में घटा होगा। कोई कथा हमारे पास नहीं है; किसी ने लिखी नहीं है। लेकिन निश्चित घटा होगा। क्योंकि अष्टावक्र जो कह रहे हैं, वह इतना ही कह रहे हैं कि तुम दौड़ चुके खूब, अब रुको! दौड़ कर नहीं मिलता

परमात्मा, रुक कर मिलता है। खोज चुके खूब, अब खोज छोड़ो। खोज कर नहीं मिलता सत्य; क्योंकि सत्य खोजी में छिपा है, खोजने वाले में छिपा है। कहां भागते फिरते हो?
कस्तूरी कुंडल बसै! लेकिन जब कस्तूरी का नाफा फूटता है तो मृग पागल हो जाता है, कस्तूरी-मृग पागल हो जाता है। भागता है। इधर भागता, उधर भागता, खोजता है: "कहां से आती है यह गंध? कौन खींचे ले आता है इस सुवास को? कहां से आती है?" क्योंकि उसने जब भी गंध आती देखी तो कहीं बाहर से आती देखी। कभी फूल की गंध थी, कभी कोई और गंध थी; लेकिन सदा बाहर से आती थी। आज जब गंध भीतर से आ रही है, तब भी वह सोचता है बाहर से ही आती होगी। भागता है। और कस्तूरी उसके ही कुंडल में बसी है। कस्तूरी कुंडल बसै!
परमात्मा तुम्हारे भीतर बसा है। तुम जब तक बाहर खोजते रहोगे--योग में, भोग में--व्यर्थ!
साधारण योगी भोग के बाहर ले जाता है; अष्टावक्र योग और भोग दोनों के बाहर ले जाते हैं--योगातीत, भोगातीत! इसलिए तुम पाओगे: सांसारिक का अहंकार होता है। तुमने योगी का अहंकार देखा या नहीं? सांसारिक का क्रोध होता है; तुमने दुर्वासाओं का क्रोध देखा या नहीं? सांसारिक आदमी दंभ से अकड़ कर चलता है, पताकाएं ले कर चलता है; तुमने योगियों की पताकाएं, हाथी-घोड़े देखे या नहीं? साधारण आदमी घोषणा करता है: इतना धन है मेरे पास, इतना पद है मेरे पास! तुमने योगियों को देखा घोषणा करते या नहीं कि इतनी सिद्धि है, इतनी रिद्धि है! लेकिन ये सारी बातें वही की वही हैं; कोई फर्क नहीं हुआ।
जब तक योग योगातीत न हो जाये, जब तक व्यक्ति "मैं कर्ता हूं", इस भाव से समग्रतया मुक्त न हो जाये, तब तक कुछ भी नहीं हुआ। तब तक तुमने सिर्फ रंग बदले। तब तक तुम गिरगिट हो: जैसा देखा वैसा रंग बदल लिया। लेकिन तुम नहीं बदले, रंग ही बदला।
"सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है।"
यह बात एक अर्थ में सच है। अगर तुम बहुत दौड़ कर ही आना चाहते हो तो कोई क्या करे? अगर तुम अपने कान को उलटे तरफ से पकड़ना चाहते हो, मजे से पकड़ो। निश्चित ही तुम जब उलटी तरफ से कान को पकड़ोगे तो तुमको लगेगा: कान को पकड़ना बहुत दुःसाध्य घटना है। यह तुम्हारे कारण; यह कान के कारण नहीं। अब अगर तुम सिर के बल खड़े हो कर चलने की कोशिश करो और दस-पांच कदम चलना भी बहुत कठिन हो जाये और तुम कहो कि चलना बहुत दुःसाध्य घटना है, तो तुम गलत भी नहीं कह रहे; तुम ठीक ही कह रहे हो। लेकिन सिर के बल तुम खड़े हो। जो पैर के बल चल रहे हैं, उनके लिए चलने में कोई दुःसाध्य घटना नहीं है। अब तुम उपवास करो, आग में तपाओ, धूनी रमाओ, नाहक शरीर को कष्ट दो, सताओ, हजार तरह के पागलपन करो-- और फिर तुम कहो कि परमात्मा को पाना बड़ी दुःसाध्य घटना है, तो ठीक ही कह रहे हो।
जहां तुम सहज पहुंच सकते थे, वहां तुम असहज हो कर पहुंच रहे हो तो दुःसाध्य मालूम होता है। तुम्हारे पहुंचने में भूल हो रही है।
लेकिन असाध्य को आदमी क्यों चुनता है? यह भी समझ लेना चाहिए। सिर के
बल चलने का मजा क्या है, जब कि तुम्हारे पास पैर हैं? सिर के बल चलने का एक मजा है, और वह मजा यह है...मजा है अहंकार का मजा!
मुल्ला नसरुद्दीन एक झील में मछलियां मार रहा था। घड़ी दो घड़ी मैं देखता रहा, देखता रहा: उसकी मछलियां पकड़ में कुछ आती नहीं; झील में मछलियां हैं भी नहीं, ऐसा मालूम होता है। मैंने उससे पूछा: "नसरुद्दीन! इस झील में मछलियां मालूम नहीं होतीं, तुम कब तक बैठे रहोगे? वह पास ही दूसरी झील है, वहां क्यों नहीं मछलियां मारते? यहां कोई दूसरा मछुआ दिखाई भी नहीं पड़ता; वहीं सब मछुए हैं।"
नसरुद्दीन ने कहा: "वहां मारने से सार ही क्या! अरे वहां इतनी मछलियां हैं कि मछलियों को तैरने के लिए जगह भी नहीं है। वहां मारी तो क्या मारी! यहां मछली मारो तो कोई बात।"
असाध्य में भी आकर्षण है। जितना असाध्य काम हो उतना अहंकार मजबूत होता है। यहां मछली मारो तो कुछ है। जो सभी कर रहे हैं, वही तुमने किया तो

क्या सार है? सभी पैर के बल चल रहे हैं, तुम भी चले, तो क्या मजा? सिर के बल चलो!
मेरे देखे, परमात्मा से कोई संबंध नहीं है कठिनाइयों का; कठिनाइयों
का संबंध अहंकार से है। अहंकार कठिन को करने में मजा लेता है। क्योंकि सरल तो सभी करते, उसमें क्या सार है? अगर तुम किसी से कहो कि हम पैर के बल चलते हैं तो लोग कहेंगे, "तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है? सभी चलते हैं।" लेकिन अगर तुम सिर के बल चलो तो अखबारों में नाम छपेगा; तो लोग तुम्हारे पास आने लगेंगे; लोग तुम्हारे चरणों में सिर झुकायेंगे कि तुम्हें कोई सिद्धि मिल गई है कि तुम सिर के बल चलते हो।
अहंकार की पूजा तभी हो सकती है जब तुम कुछ असाध्य करो।
जैसे हिलेरी चढ़ गया एवरेस्ट पर, तो सारी दुनिया में खबर हुई। अब तुम जाओ और पूना की छोटी-मोटी पहाड़ी पर चढ़ कर खड़े हो जाओ, और झंडा लगाने लगो और तुम कहो कि "कोई अखबार वाला भी नहीं आ रहा है, कोई फोटोग्राफर भी नहीं आ रहा है--मामला क्या है? आखिर यह भेदभाव क्यों हो रहा है? हिलेरी के साथ इतना शोरगुल मचाया--इतिहास में नाम अमर रहेगा सदा के लिए! और हमारा कुछ भी नहीं हो रहा। हम भी वही कर रहे हैं; उसने भी झंडा ही गाड़ा।"
लेकिन एवरेस्ट पर चढ़ना कठिन है। पचास-साठ साल से लोग चढ़ने की कोशिश कर रहे थे, तब एक आदमी चढ़ पाया, इसलिए। धीरे-धीरे वहां रास्ता बन जायेगा, बस जाने लगेगी, कभी न कभी जायेगी, सदा इतनी देर तक एवरेस्ट अपने को बचा नहीं सकता आदमी से। जब एक आदमी पहुंच गया तो सिलसिला शुरू हो गया।
अभी कुछ देर पहले औरतें भी पहुंच गईं। जब औरतें भी पहुंच गईं तो अब और पहुंचने को क्या बाकी रहा! अब सब धीरे-धीरे पहुंच रहे हैं। थोड़े दिन में वहां होटलें और बसें और सब पहुंच जायेंगी। फिर तुम फिर जा कर फिर झंडा गाड़ना, जब बस वगैरह सब चलने लगे वहां--तुम कहोगे: यह वही जगह है जहां हिलेरी ने झंडा गाड़ा, बड़ा भेदभाव हो रहा है, बड़ा पक्षपात हो रहा है!
कठिन में अहंकार को मजा है। आदमी कई चीजों को कठिन कर लेता है ताकि अहंकार को भरने में रस आ सके। हम बहुत-सी चीजों को कठिन कर लेते हैं। जितनी कठिन कर लेते हैं, उतना ही रस आने लगता है। कठिनाई परमात्मा को पाने में नहीं है; कठिनाई अहंकार का रस है।
तो तुम जो कहते हो कि "सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है", यह ठीक है। वे जो खोजी हैं, अहंकारी हैं। और परमात्मा को खोजियों ने कब पाया? जब खोज छूट गई, तब पाया। खोज छूटने पर ही मिलता है परमात्मा। जब तुम कहीं भी नहीं जा रहे, सिर्फ बैठे हो--विश्राम में, परम विराम में; यात्रा शून्य जहां हो जाती है!
साधारणतः लोग सोचते हैं कि परमात्मा को पा लेंगे तो फिर यात्रा नहीं होगी। बात बिलकुल उलटी है: यात्रा अगर तुम अभी छोड़ दो तो अभी परमात्मा मिल जाये। लोग सोचते हैं: मंजिल मिल जायेगी तो फिर हम विश्राम करेंगे। हालत उलटी है: तुम विश्राम करो तो मंजिल मिल जाये।
विश्राम, ध्यान और समाधि का सूत्र है; श्रम, अहंकार का सूत्र है।
इसलिए तुम पाओगे कि जितना जिस धर्म के भीतर श्रम की व्यवस्था है साधु
के लिए, उतना ही अहंकारी साधु होगा। जैनियों का साधु जितना अहंकारी है उतना हिंदुओं का नहीं। क्योंकि जैन साधु कहेगा: "हिंदू साधु, इसमें रखा ही क्या है, कोई भी हो जाये!" जैन साधु! कठिन मामला है। एक बार भोजन! अनेक-अनेक उपवास! सब तरह की कठिनाइयां!
फिर जैनों में भी दिगंबरों और श्वेतांबरों के साधु हैं। दिगंबर साधु कहते हैं: "श्वेतांबरों में क्या रखा है? कपड़े पहने बैठे हैं! साधु तो दिगंबर का है!" इसलिए दिगंबर साधु में तुम जैसे अहंकार को चमकता हुआ पाओगे, कहीं भी न पाओगे। देह तो सूखी होगी, हड्डी-हड्डी होगी--क्योंकि बहुत उपवास, नग्न रहना, धूपत्ताप सहना--लेकिन अहंकार बड़ा प्रज्वलित होगा। अकड़ उसकी वैसी है जैसी हिलेरी की।
हिंदुस्तान में मुश्किल से बीस दिगंबर मुनि हैं; श्वेतांबर मुनि तो पांच-सात हजार हैं। हिंदुओं के तो संन्यासी पचास लाख हैं। और अगर मेरी चले तो सारी दुनिया को संन्यासी कर दूं। इसलिए मेरे संन्यासी होने में तो

अहंकार हो ही नहीं सकता। क्योंकि कोई मैं कह ही नहीं रहा हूं कि तुम ऐसा करो, वैसा करो। एक बहुत ही सरल मामला है: तुम गेरुए कपड़े पहन लो, संन्यासी हो गये!
संन्यास सरल हो तो अहंकार को मजा कहां?
मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि संन्यास आप देते हैं तो इसके लिए कोई विशेष आयोजन करना चाहिए। विशेष आयोजन संन्यास के लिए! वे ठीक कहते हैं, क्योंकि ऐसा होता है: अगर जैन दीक्षा होती है तो देखा, कैसा घोड़ा, बैंडबाजा इत्यादि बजता है और सब मजा आता है और लगता है कोई बड़ी घटना घट रही है; कोई सिंहासन पर चढ़ाया जा रहा है! संन्यास भी सिंहासन जैसा हो गया! लोग जय-जयकार करते हैं कि कोई बड़ी घटना घट रही है। और मैं संन्यास ऐसा चुपचाप दे देता हूं, किसी को पता ही नहीं चलता--पोस्ट से भी दे देता हूं। मुझे भी पता नहीं चलता कौन सज्जन हैं, उनको भी पता नहीं चलता। ठीक है!
मेरे देखे, संन्यास सरल होना चाहिए। मेरे देखे परमात्मा विश्राम में मिलता है; अहंकार में नहीं। कृत्य नहीं है, खोज नहीं है। परमात्मा मिला ही हुआ है--तुम जरा हलके हो जाओ; तुम जरा शांत हो जाओ; तुम जरा रुको। अचानक तुम पाओगे वह सदा से था!

आखिरी प्रश्न: हमारे शरीर में कोई बीस अरब कोशिकाएं हैं और शरीर में प्रतिक्षण रासायनिक प्रतिक्रिया होती रहती है। आप या अष्टावक्र जब कहते हैं कि द्रष्टा बनो, तब यह बात आप किससे कहते हैं?

यह कौन है जो कह रहा है कि शरीर में बीस अरब कोशिकाएं हैं? निश्चित ही कोशिकाएं नहीं कह रही हैं। एक कोशिका बाकी कोशिकाओं का हिसाब भी नहीं लगा सकती। ये बीस अरब कोशिकाएं हैं शरीर में, अरबों-खरबों सेल हैं शरीर में--यह कौन कह रहा है? यह किसने पूछा? यह किसको पता चला? जरूर तुम्हारे भीतर कोशिकाओं से भिन्न कोई है, जो गिनती कर लेता है कि बीस अरब कोशिकाएं हैं। "हमारे शरीर में कोई बीस अरब कोशिकाएं हैं और शरीर में प्रतिक्षण रासायनिक प्रतिक्रिया होती रहती है। आप या अष्टावक्र जब कहते हैं कि द्रष्टा बनो, तब यह बात आप किससे कहते हैं?"
उसी से जो कह रहा है कि बीस अरब कोशिकाएं हैं।
"यदि मस्तिष्क की कोशिकाओं से कहते हैं तो बात व्यर्थ है; क्योंकि बुद्धि नश्वर है।"
नहीं, हम कह भी नहीं रहे मस्तिष्क की कोशिकाओं से। हम तुमसे कह रहे हैं। अष्टावक्र भी तुमसे बोल रहे हैं। अष्टावक्र इतने बुद्धू नहीं कि तुम्हारे मस्तिष्क की कोशिकाओं से बोल रहे हों। तुमसे बोल रहे हैं! तुम्हारा होना तुम्हारी कोशिकाओं के पार है। तुम कोशिकाओं का उपयोग कर रहे हो, सच है। जैसे एक कार में बैठा हुआ ड्राइवर कार चला रहा है, दौड़ा जा रहा है कार की गति से दौड़ा जा रहा है, सौ मील प्रति घंटे चला जा रहा है; लेकिन फिर भी वह जो ड्राइवर भीतर है, वह कार नहीं है। और अगर एक सिपाही सीटी बजाये कि रुको और वह पूछे कि "किससे कह रहे हैं?--कार के इंजिन से?" क्योंकि चल तो इंजिन रहा है। "किससे कह रहे हैं?--पेट्रोल से?" क्योंकि चला तो पेट्रोल रहा है। "किससे कह रहे हैं?--पहियों से?" क्योंकि दौड़ तो पहिये रहे हैं। तो क्या कहेगा पुलिस का सिपाही? वही मैं तुमसे कहता हूं कि सीटी तुम्हारे लिए बजा रहे हैं।
"यदि आप आत्मा को जगा रहे हैं तो भी बात व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा तो जागी ही हुई है। उसको जगाना और पहचानो कहना तो बेवकूफी है।"
बिलकुल ठीक बात है। आत्मा तो जागी ही हुई रही है; उसको जगाने का कोई उपाय नहीं है। और हम उसको जगा भी नहीं रहे।
मामला कुछ ऐसा है कि तुम बने हुए पड़े हो, जागे हुए पड़े हो और आंखें बंद किये। सोये को जगाना तो बहुत आसान है; हिलाओ-डुलाओ, पानी छिड़को--जागेगा। जागा हुआ अगर कोई आदमी पड़ा हो, आंखें बंद करके, ढोंग करता हो सोने का--इसको कैसे जगाओ? छिड़को पानी, कोई फर्क नहीं पड़ता। हिलाओ-डुलाओ, वह हिल-डुल कर

फिर करवट ले कर सो जाता है। पुकारो नाम, सुन लेता है, बोलता नहीं। ऐसी तुम्हारी हालत है।
जागे हुए को जगाना, कोई अर्थ नहीं रखता; लेकिन जागा हुआ सोने का बहाना
कर रहा है। इसलिए जगाने की जरूरत है।
सोये हुए को जगा नहीं रहे हैं, क्योंकि आत्मा सो नहीं सकती। जो सोया
है वह शरीर है। जो शरीर है उसे जगाया नहीं जा सकता और जो आत्मा जागी हुई है, उसे जगाने का कोई अर्थ नहीं है। बिलकुल ठीक कहते हो। बड़े ज्ञान की बात कर रहे हो; मगर उधार होगी, क्योंकि खुद की समझ से आई होती तो पूछते ही नहीं। अष्टावक्र या मैं उसको जगा रहे हैं जो जागा हुआ है और भूल गया कि हम जागे हुए हैं; जो जागा हुआ है और सोने के बहाने में पड़ गया है, सोने का खेल खेल रहा है। इसलिए तो कठिनाई है जगाने में, बड़ी कठिनाई है।
"आप लोगों को भ्रम में तो नहीं डाल रहे हैं?"
तुम सोचते हो लोग भ्रम में हैं नहीं? अगर लोग भ्रम में नहीं हैं तो निश्चित ही मैं भ्रम में डाल रहा हूं। मगर, अगर लोग भ्रम में नहीं हैं तो भ्रम में डाले कैसे जा सकेंगे? इतने बुद्धपुरुष भ्रम में डाले जा सकते हैं? और अगर लोग भ्रम में हैं तो मैं जो कर रहा हूं वह भ्रम के बाहर लाने की चेष्टा है। जो भी तुम हो, उससे उलटा मैं कर रहा हूं। अगर तुम सोचते हो तुम भ्रम में हो, तो यह चेष्टा है जगाने की। अगर तुम सोचते हो तुम जागे हुए हो तो यह चेष्टा तुम्हें भ्रम में डालने की। लेकिन अगर तुम जागे हुए हो तो कौन तुम्हें भ्रम में डाल देगा?
खयाल रखना, तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हें भ्रम में कोई भी नहीं डाल सकता, और तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हें कोई जगा भी नहीं सकता। जगाने की चेष्टा कोई कर सकता है; लेकिन जब तक तुम सहयोग न करोगे, तुम जागोगे नहीं। क्योंकि यह नींद थोड़े ही है कि कोई तोड़ दे; तुम बने हुए पड़े हो!
तुम्हारा सहयोग जरूरी है। सहयोग का अर्थ ही शिष्यत्व है। सहयोग का अर्थ ही है कि कोई जगाने वाले के पास तुम जाते हो, तुम कहते हो: मेरी पुरानी आदत हो गई है अपने को धोखा देने की, जरा मुझे साथ दें, जरा मुझे सहारा दें कि इस आदत के बाहर निकाल लें।
एक युवती मेरे पास आई और उसने कहा कि उसे कुछ मादक द्रव्य लेने की आदत
हो गई है; बाहर आना चाहती है। बड़ी आकांक्षा है बाहर निकल आने की। बड़ी आतुर है कि किस तरह बाहर निकल आये। लेकिन वह जो आदत पड़ गई है मादक द्रव्यों की वह इतनी गहरी हो गई है, वह शरीर की कोशिकाओं में पहुंच गई है। अगर न ले मादक द्रव्य तो ऐसी पीड़ा और बेचैनी सारे शरीर में होती है कि न तो सो सकती, न उठ सकती, न बैठ सकती, तो लेना ही पड़ता है। और लेती है तो पीड़ा होती है मन को कि यह क्या जाल हो गया! अब वह मेरे पास आई कि मुझे बाहर निकाल लें, आपके हाथ का सहारा चाहिए! बस ऐसी ही अवस्था है।
जन्मों-जन्मों तक सोने के अभ्यास को तुमने बहुत गहरा कर लिया है। जागे हुए को सोने के भ्रम में डाल दिया है। सम्राट को भिखारी मान लिया है। लेकिन इतने जन्मों तक माना है कि आज अपने ही अभ्यास के कारण...। सिर्फ सुन लेने से कुछ नहीं होता। तुम मेरी बात सुन ले सकते हो, उससे कुछ भी न होगा-- जब तक कि तुम उसे गुनो न; जब तक कि तुम राजी न हो जाओ। तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हें कोई जगा न सकेगा। नहीं तो एक बुद्धपुरुष काफी था; शोरगुल मचा कर सबको जगा देता; ढोल-ढमास पीट देता और सबको जगा देता।
इधर सौ आदमी सो रहे हों तो एक आदमी जगाने के लिए काफी है। वस्तुतः आदमी की भी जरूरत नहीं है, अलार्म घड़ी भी जगा देती है। एक आदमी आ जाये और ढोल पीट दे, सब उठ जाएंगे; घंटा बजा दे, सब उठ जाएंगे। लेकिन यह क्यों नहीं हो सका कि बुद्ध हुए, महावीर हुए, अष्टावक्र हुए, कृष्ण हुए, क्राइस्ट हुए, जरथुस्त्र, लाओत्सु--इन लोगों ने ऐसा क्यों न किया कि जोर से घंटा बजा देते, सारी पृथ्वी जाग जाती? घंटा खूब बजाया, मगर कोई सो रहा हो तो जागे; यहां बने हुए लोग पड़े हैं! वे आंखें बंद किये पड़े हैं। वे सुन लेते हैं घंटे को। वे कहते हैं: बजाते रहो, देखें कौन हमको जगाता है!
जब तुम जागना चाहोगे तो जागोगे। भ्रम में मैं तुम्हें डाल नहीं सकता। भ्रम में तो तुम हो; अब और भ्रम में तुम्हें क्या डाला जा सकता है? तुम्हें

और भी भटकाया जा सकता है तुम सोचते हो? तुम सोचते हो और कुछ भटकने को बचा है? इससे नीचे तुम और गिर सकते हो, गिरने की कोई और जगह है? लोभ जितना तुम्हारे भीतर है, इससे थोड़ा इंच भर और ज्यादा हो सकता है? क्रोध तुम्हारे भीतर है, इससे थोड़ा और ज्यादा हो सकता है, एक रत्ती-माशा? वासना ने जैसा तुम्हें घेरा है, और वासना बढ़ सकती है? तुम आखिरी जगह खड़े हो। जो प्रथम होना चाहिए वह आखिर में खड़ा है। जो सम्राट होना चाहिए वह भिखमंगा हो कर खड़ा है। इससे पीछे अब तुम जा भी नहीं सकते। इसके पार गिरने का उपाय भी नहीं है।
तुम्हें भ्रम में डालने की कोई सुविधा नहीं है। कोई डालना भी चाहे तो डाल नहीं सकता। हां, कोई इतना ही कर सकता है ज्यादा से ज्यादा: तुम्हारे भ्रम बदल दे; एक भ्रम से तुम ऊब जाओ तो दूसरा भ्रम दे दे। यही साधु- संन्यासी करते रहते हैं। संसार का भ्रम उखड़ने लगा, ऊब पैदा होने लगी, खूब जी लिए, अब कुछ सार नहीं, देख लिया--तो अध्यात्म का भ्रम पैदा करते हैं। कहते हैं कि "चलो अब स्वर्ग का मजा लो! थोड़ा पुण्य करो; त्याग, तपश्चर्या करो; स्वर्ग में अप्सराएं भोगो! यहां बहुत भोग लीं, कुछ पाया नहीं। यहां चुल्लू-चुल्लू शराब पीते रहे; वहां बहिश्त में, फिरदौस में झरने बह रहे हैं शराब के, डुबकियां लगाना! यहां क्या रखा है? स्वर्ग में स्वर्ण के महल हैं; हीरे-जवाहरातों के वृक्ष हैं--वहां मजा लो! कल्पवृक्ष हैं, उनके नीचे बैठो! यहां तो रोना-धोना खूब कर लिया!" लेकिन यह नया भ्रम है।
मैं तुम्हें कोई नया भ्रम नहीं दे रहा। मैं तुमसे सिर्फ इतना कह रहा हूं: काफी भ्रम देख लिए, अब थोड़ा जागो!
साक्षी-भाव कैसे भ्रम हो सकता है, थोड़ा सोचो। सिर्फ साक्षी होने को कह रहा हूं: जो भी है, उसे देखने को कह रहा हूं। कुछ करने को कहता तो भ्रम पैदा होता। तुमसे कहता कि यह छोड़ कर यह करो तो भ्रम पैदा होता। तुमसे सिर्फ इतना ही कह रहा हूं: जो भी कर रहे हो, जहां भी हो, भोगी हो योगी हो, जो भी हो, हिंदू हो मुसलमान हो, मस्जिद में हो, मंदिर में हो, जहां भी हो--जागो! जाग कर देखो। जागने में कैसे भ्रम हो सकता है? जागे हुए आदमी को भ्रम की कोई संभावना नहीं रह जाती। नींद में सपने होते हैं; जागने में कैसे सपना हो सकता है?
"और यदि लोग सुख-दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ दें तो वे पशु या पेड़-पौधे जैसे तो नहीं हो जायेंगे?"
पहली तो बात, तुमसे किसने कहा कि पशु और पेड़-पौधे तुमसे खराब हालत में हैं? तुमने ही मान लिया, पेड़-पौधों से भी तो पूछो! पशुओं से भी तो पूछो! थोड़ा पशुओं की आंख में भी तो झांक कर देखो!
यह भी आदमी का अहंकार है कि वह सोचता है कि वह पशुओं से ऊपर है। और पशुओं की इसमें कोई गवाही भी नहीं ली गई है, यह भी बड़े मजे की बात है। एकतरफा निर्णय कर लिया है। अपने-आप ही निर्णय कर लिया है।
अगर पशुओं में भी इस तरह की किताबें लिखी जाती होंगी, शास्त्र रचे जाते होंगे, तो उनमें भी लिखा होगा कि आदमी बहुत गया-बीता जानवर है।
मैंने तो सुना है कि बंदर एक-दूसरे से कहते हैं कि आदमी पतित बंदर है।
डार्विन कहता है कि आदमी बंदर का विकास है, लेकिन डार्विन कौन-सी कसौटी है? बंदरों से भी तो पूछो! दोनों ही पार्टियों से भी तो पूछ लेना चाहिए। बंदर कहते हैं, आदमी पतित है। और उनकी बात समझ में आती है। बंदर वृक्षों पर हैं और तुम जमीन पर हो--पतित हो ही! बंदर ऊपर हैं, तुम नीचे हो। किसी बंदर से टक्कर ले कर तो देखो, तो शक्ति बढ़ी कि खोई? जरा एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर छलांग ले कर तो देखो, हड्डी-पसली टूट जायेंगी! तो कला आई कि गई? वह तुमसे किसने कह दिया? कि खुद ही मान लिया?
यह बड़े मजे की बात है। आदमी की बीमारियों में एक बीमारी है कि आदमी मानता है कि वह सबसे ऊपर है। फिर पुरुषों से पूछो तो वे मानते हैं, वे स्त्रियों से ऊपर हैं। स्त्रियों से बिना ही पूछे! स्त्रियों की इसमें कोई गवाही नहीं ली गई। इस पर कोई वोट नहीं हुआ कभी। क्योंकि पुरुषों ने शास्त्र लिखे, जो मन में था लिख लिया। और स्त्रियों को तो पढ़ने पर भी रोक लगा रखी थी कि कहीं वे पढ़ भी लें तो बाधा डालेंगी। क्योंकि जो पंडित लिख

रहा था, उसकी पत्नी ही उसको कष्ट में डाल देती, अगर पढ़ना आता होता। तो पढ़ने पर बाधा लगा दी कि वेद पढ़ नहीं सकतीं स्त्रियां, यह नहीं कर सकतीं...। हद कर दी पुरुषों ने: स्त्रियां मोक्ष भी नहीं जा सकतीं! मोक्ष जाने के पहले उनको पुरुष होना पड़ेगा, पुरुष पर्याय में आना पड़ेगा।
फिर पुरुषों में भी पूछो। गोरा समझता है कि वह ऊंचा है काले से। काले
से भी तो पूछो!
मैंने सुना है कि अफ्रीका के एक जंगल में एक अंग्रेज शिकार के लिए गया
और उसने अपने साथ एक नीग्रो को गाइड की तरह लिया। जंगल में दोनों भटक गये। और देखा कि कोई सौ आदमियों का, भाले लिए हुए जंगलियों का एक नीग्रो दस्ता चला आ रहा है। वह अंग्रेज बहुत घबड़ाया। उसने अपने गाइड से, नीग्रो से कहा कि हम लोगों की जान खतरे में है। उसने कहा, "हम लोगों की! तुम मुझे छोड़ो, तुम अपनी सोचो। मेरी क्यों खतरे में होगी?"
सफेद आदमी सोचता है, वह श्रेष्ठ है; काला सोचता है, वह श्रेष्ठ है। चीनियों से पूछो। चीनियों की किताबों में लिखा है कि अंग्रेज बंदर हैं। आदमी में भी गिनती नहीं करते वे उनकी।
सारी दुनिया में यह रोग है। आदमी का यह रोग बड़ा गहरा है। वह बिना ही दूसरी पार्टी के पूछे निर्णय करता चला जाता है। ये सब अहंकार के खेल हैं। अगर तुम थोड़े अहंकार को छोड़ कर देखोगे, तो तुम पाओगे परमात्मा के ही सब रूप हैं--जानवर भी, पशु-पक्षी भी, पौधे भी, मनुष्य भी। परमात्मा ने कहीं चाहा है हरा हो जाना तो हरा है; कहीं चाहा है पक्षियों के गीत से प्रगट होना तो वैसा हो रहा है; कहीं चाहा है आदमी होना तो आदमी हो गया है। इनमें कोई तारतम्यता नहीं है, हायरेरकी नहीं है, कोई ऊपर-नीचे नहीं है। ये सब एक साथ परमात्मा की अनंत लहरें हैं। छोटी लहर में भी वही, बड़ी लहर में भी वही; सफेद लहर में भी वही, काली लहर में भी वही। घास में भी वही, आकाश छूते हुए वृक्षों में भी वही।
आध्यात्मिक दृष्टि तो यह कहती है कि इसी क्षण जो भी है वही परमात्मा है। फिर परमात्मा में कोई आगे-पीछे कैसे हो सकता है? यह तो बड़ा मुश्किल हो जायेगा। यह तो परमात्मा में भी कुछ नीचे, कुछ ऊपर करना कठिन हो जायेगा। एक ही है! साक्षी-भाव से देखोगे तो पाओगे सब एक है।
इसलिए पहले तो यह पूछो ही मत कि "यदि लोग सुख-दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ दें तो वे पशु या पौधे जैसे तो नहीं हो जायेंगे?" हो जायेंगे तो कुछ हर्जा नहीं होगा। हिटलर अगर पशु हो जाये, पौधा हो जाये तो कोई हर्जा है? हां, दुनिया में करोड़ों लोग मरने से बच जायेंगे, और तो कुछ हर्जा नहीं हो जायेगा। नादिरशाह अगर शेर होता तो कोई हर्जा होता? दस-पांच आदमियों को मार कर तृप्त हो जाता। भोजन के लिए ही मारता; ऐसे अकारण लाशों से तो नहीं भर देता दुनिया को। इतना तो पक्का है कि पशुओं ने अभी तक एटम बम जैसी कोई चीज नहीं खोजी; नाखून से काम लेते हैं, बड़े पुराने ढंग से काम चलता है। भोजन के लिए मारते हैं।
आदमी अकेला जानवर है जो बिना भोजन की इच्छा के भी मारता है। आदमी जाता
है जंगल में शिकार करने; पशुओं-पक्षियों को मारता है और कहता है, आखेट के लिए आये, खेल के लिए आये! और अगर सिंह उस पर हमला कर दे, तो वह आखेट नहीं है! फिर नहीं कहता कि सिंह खेल कर रहा है--करने दो, आखेट हो रही है।
खेल के लिए मारते हो? कोई पशु नहीं मारता खेल के लिए।
और एक और बड़े मजे की बात है कि कोई पशु अपने वर्ग में नहीं मारता। कोई सिंह किसी दूसरे सिंह को मारता नहीं। कोई बंदर किसी दूसरे बंदर की हत्या नहीं करता। सिर्फ आदमी अकेला जानवर है जो आदमियों को मारता है। चींटी चींटी को नहीं मारती। हाथी हाथी को नहीं मारता। कुत्ता कुत्ते को नहीं मारता। लड़-झगड़ लें, मारने वगैरह की बात नहीं करते, हत्या नहीं करते। आदमी अकेला जानवर है जो एक-दूसरे की हत्या करता है।
आदमी में ऐसा है क्या जिसके लिए तुम इतने परेशान हो रहे हो? खो भी जायेगा तो क्या खो जायेगा? पेड़-पौधे बहुत सुंदर हैं। पशु बड़े निर्दोष हैं। मगर मैं यह नहीं कह रहा कि तुम पेड़-पौधे या पशु हो जाओ। मैं सिर्फ यह कह रहा हूं कि अहंकार छोड़ो।

और दूसरी बात यह मैंने कहा भी नहीं कि सुख और दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ दें। यह अष्टावक्र ने भी कहा नहीं। सुख-दुख में समता रखने का अर्थ सुख-दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ देना नहीं है। सुख-दुख में समता रखने का अर्थ केवल इतना ही है कि "मैं साक्षी रहूंगा; दुख होगा तो दुख को देखूंगा, सुख होगा तो सुख को देखूंगा।" इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि जब तुम बुद्ध को कांटे चुभाओगे तो उनको दुख नहीं होता। बुद्ध को कांटे चुभाओगे तो तुमसे ज्यादा दुख होता है; क्योंकि बुद्ध तुमसे ज्यादा संवेदनशील हैं; तुम तो पथरीले हो, बुद्ध तो कोमल कमल की तरह हैं! तुम जब बुद्ध को कांटे चुभाओगे तो बुद्ध को पीड़ा तुमसे ज्यादा होती है; लेकिन पीड़ा हो रही है शरीर में, बुद्ध ऐसा जान कर दूर खड़े रहते हैं। देखते हैं, पीड़ा हो रही है; जानते हैं, पीड़ा हो रही है--फिर भी अपना तादात्म्य पीड़ा से नहीं करते। जानते हैं: मैं जानने वाला हूं, ज्ञाता-स्वरूप हूं।
प्रतिक्रिया छोड़ने को नहीं कह रहे हैं। यह नहीं कह रहे हैं कि घर में
आग लग जाये तो तुम बैठे रहना तो तुम बुद्ध हो गये, भागना मत बाहर! भागते समय भी जानना कि घर जल रहा है, वह मैं नहीं जल रहा। और अगर शरीर भी जल रहा हो तो जानना कि शरीर जल रहा है, मैं नहीं जल रहा। इसका यह मतलब नहीं कि शरीर को जलने देना। शरीर को बाहर निकाल लाना। शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं कह रहे हैं।
प्रतिक्रिया-शून्य करने का तो अर्थ हुआ कि तुम पत्थर हो गये, जड़ हो गये। तो बुद्ध पत्थर नहीं हैं। बुद्ध से बड़ा करुणावान कहां पाया तुमने? अष्टावक्र पत्थर नहीं हो गये होंगे। प्रेम की धारा बही। तो जिनसे प्रेम का झरना बहा, उनकी संवेदनशीलता बढ़ गई होगी, घट नहीं गई होगी। उनके पास महाकरुणा उतरी।
लेकिन तुम गलत व्याख्या कर ले सकते हो।
और जिन्होंने पूछा है, थोड़े शास्त्रीय बुद्धि के मालूम होते हैं; थोड़ा बुद्धि में कचरा ज्यादा है। कुछ पढ़ लिया, सुन लिया, इकट्ठा कर लिया-- वह काफी चक्कर मार रहा है! वह सुनने नहीं देता, वह देखने भी नहीं देता। वह चीजों को विकृत करता चला जाता है।
राही रुके हुए सब
भीतर का पानी अधहंसा
बाहर जमी बरफ है
एक तरफ छाती तक दल-दल अगम
बाढ़ का दरिया एक तरफ है।
मनमानी बह रही हवाएं
जंगल झुके हुए सब
राही रुके हुए सब।
बंद द्वार, अधखुली खिड़कियां झांक रहीं कुछ आंखें
सूरज के मुंह पर संध्या की काली अनगिन तीर सरीखी-सी चुभती हुई सलाखें
अपने चेहरे के पीछे चुप
सहमे लुके हुए सब
राही रुके हुए सब!
अपने चेहरे के पीछे चुप
सहमे लुके हुए सब
राही रुके हुए सब!
ये जो चेहरे हैं, मुखौटे हैं--बुद्धिमानी के, पांडित्य के, शास्त्रीयता के--इनके पीछे कब तक छुपे रहोगे? ये जो विचारों की परतें हैं, इनके पीछे कब तक छुपे रहोगे? इन्हें हटाओ! भीतर के शुद्ध चैतन्य को जगाओ। द्रष्टा की तरह देखो, विचारक की तरह नहीं। विचारक का तो अर्थ हुआ मन
की क्रिया शुरू हो गई।

तो अगर अष्टावक्र को समझना हो तो चैतन्य, शुद्ध चैतन्य की तरह ही समझ पाओगे। अगर तुम सोच-विचार में पड़े तो अष्टावक्र को तुम नहीं समझ पाओगे, चूक जाओगे।
अष्टावक्र कोई दार्शनिक नहीं हैं, और अष्टावक्र कोई विचारक नहीं हैं। अष्टावक्र तो एक संदेशवाहक हैं--चैतन्य के, साक्षी के। शुद्ध साक्षी! सिर्फ देखो! दुख हो दुख को देखो, सुख हो सुख को देखो! दुख के साथ यह मत कहो कि मैं दुख हो गया; सुख के साथ यह मत कहो कि मैं सुख हो गया। दोनों को आने दो, जाने दो। रात आये तो रात देखो, दिन आये तो दिन देखो। रात में मत कहो कि मैं रात हो गया। दिन में मत कहो कि मैं दिन हो गया। रहो अलग-थलग, पार, अतीत, ऊपर, दूर! एक ही बात के साथ तादात्म्य रहे कि मैं द्रष्टा हूं, साक्षी हूं।

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
तीसरा प्रवचन

जैसी मति वैसी गति

अष्टावक्र उवाच।

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बंधो द्रष्टारं पश्यसीतरम्।। ७।।
अहं कतेत्यहंमानमहाकृष्णहि दंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव।। ८।।
एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव।। ९।।
यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनंदपरमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर।। १०।।
मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदंतीह सत्येयं या मतिः स गतिर्भवेत।। ११।।
आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिद् क्रियः।
असंगो निस्पृहः शांतो भ्रमात संसारवानिव।। १२।।
कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथांतरम्।। १३।।

पहला सूत्र:
"अष्टावक्र ने कहा, तू सबका एक द्रष्टा है और सदा सचमुच मुक्त है। तेरा बंधन तो यही है कि तू अपने को छोड़ दूसरे को द्रष्टा देखता है।"
यह सूत्र अत्यंत बहुमूल्य है। एक-एक शब्द इसका ठीक से समझें!
"तू सबका एक द्रष्टा है। एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य! और सदा सचमुच मुक्त है।"
साधारणतः हमें अपने जीवन का बोध दूसरों की आंखों से मिलता है। हम दूसरों की आंखों का दर्पण की तरह उपयोग करते हैं। इसलिए हम द्रष्टा को भूल जाते हैं, और दृश्य बन जाते हैं। स्वाभाविक भी है।
छोटा बच्चा पैदा हुआ। उसे अभी अपना कोई पता नहीं। वह दूसरों की आंखों में झांककर ही देखेगा कि मैं कौन हूं।
अपना चेहरा तो दिखायी पड़ता नहीं; दर्पण खोजना होगा। जब तुम दर्पण में अपने को देखते हो तो तुम दृश्य हो गये, द्रष्टा न रहे। तुम्हारी अपने से पहचान ही कितनी है? उतनी जितना दर्पण ने कहा।
मां कहती है बेटा सुंदर है, तो बेटा अपने को सुंदर मानता है। शिक्षक कहते हैं स्कूल में, बुद्धिमान हो, तो व्यक्ति अपने को बुद्धिमान मानता है। कोई अपमान कर देता है, कोई निंदा कर देता है, तो निंदा का स्वर भीतर समा जाता है। इसलिए तो हमें अपना बोध बड़ा भ्रामक मालूम होता है, क्योंकि अनेक स्वरों से मिलकर बना है; विरोधी स्वरों से मिलकर बना है। किसी ने कहा सुंदर हो; और किसी ने कहा, "तुम, और सुंदर! शक्ल तो देखो आईने में!" दोनों स्वर भीतर चले गये, द्वंद्व पैदा हो गया। किसी ने कहा, बड़े बुद्धिमान हो; और किसी ने कहा, तुम जैसा बुद्धू आदमी नहीं देखा--दोनों स्वर भीतर चले गये, दोनों भीतर जुड़ गये। बड़ी बेचैनी पैदा हो गयी, बड़ा द्वंद्व पैदा हो गया। इसीलिए तो तुम निश्चित नहीं हो कि तुम कौन हो। इतनी भीड़ तुमने इकट्ठी
कर ली है मतों की! इतने दर्पणों में झांका है, और सभी दर्पणों ने अलग-अलग खबर दी! दर्पण तुम्हारे संबंध में थोड़े ही खबर देते हैं, दर्पण अपने संबंध में खबर देते हैं।
तुमने दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम लंबे हो जाते हो; दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम मोटे हो जाते। दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम अति सुंदर दिखने लगते। दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम अति कुरूप हो जाते, अष्टावक्र हो जाते।

दर्पण में जो झलक मिलती है वह तुम्हारी नहीं है, दर्पण के अपने स्वभाव
की है। विरोधी बातें इकट्ठी होती चली जाती हैं। इन्हीं विरोधी बातों के संग्रह का नाम तुम समझ लेते हो, मैं हूं! इसलिए तुम सदा कंपते रहते हो, डरते रहते हो।
लोकमत का कितना भय होता है! कहीं लोग बुरा न सोचें। कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि मैं मूढ़ हूं! कहीं ऐसा न समझ लें कि मैं असाधु हूं! लोग कहीं ऐसा न समझ लें; क्योंकि लोगों के द्वारा ही हमने अपनी आत्मा निर्मित की है। गुरजिएफ अपने शिष्यों से कहता था: अगर तुम्हें आत्मा को जानना हो तो तुम्हें लोगों को छोड़ना होगा। ठीक कहता था। सदियों से यही सदगुरुओं ने कहा है। अगर तुम्हें स्वयं को पहचानना हो तो तुम्हें दूसरों की आंखों में देखना बंद कर देना होगा।
मेरे देखे, बहुत-से खोजी, सत्य के अन्वेषक समाज को छोड़ कर चले गये-- उसका कारण यह नहीं था कि समाज में रह कर सत्य को पाना असंभव है; उसका कारण इतना ही था कि समाज में रह कर स्वयं की ठीक-ठीक छवि जाननी बहुत कठिन है। यहां लोग खबर दिये ही चले जाते हैं कि तुम कौन हो। तुम पूछो न पूछो, सब तरफ से झलकें आती ही रहती हैं कि तुम कौन हो। और हम धीरे-धीरे इन्हीं झलकों के लिए जीने लगते हैं।
मैंने सुना, एक राजनेता मरा। उसकी पत्नी दो वर्ष पहले मर गयी थी। जैसे
ही राजनेता मरा, उसकी पत्नी ने उस दूसरे लोक के द्वार पर उसका स्वागत किया। लेकिन राजनेता ने कहा: अभी मैं भीतर न आऊंगा। जरा मुझे मेरी अर्थी के साथ राजघाट तक हो आने दो।
पत्नी ने कहा: अब क्या सार है? वहां तो देह पड़ी रह गयी, मिट्टी है।
उसने कहा: मिट्टी नहीं; इतना तो देख लेने दो, कितने लोग विदा करने आये! राजनेता और उसकी पत्नी भी अर्थी के साथ-साथ--किसी को तो दिखाई न पड़ते थे, पर उनको अर्थी दिखाई पड़ती थी--चले...। बड़ी भीड़ थी! अखबारनवीस थे, फोटोग्राफर थे। झंडे झुकाए गये थे। फूल सजाये गये थे। मिलिट्री के ट्रक पर अर्थी रखी थी। बड़ा सम्मान दिया जा रहा था। तोपें आगे-पीछे थीं। सैनिक चल रहे थे। गदगद हो उठा राजनेता।
पत्नी ने कहा, इतने प्रसन्न क्या हो रहे हो?
उसने कहा, अगर मुझे पता होता कि मरने पर इतनी भीड़ आयेगी तो मैं पहले कभी का मर गया होता। तो हम पहले ही न मर गये होते, इतने दिन क्यों राह देखते! इतनी भीड़ मरने पर आये इसी के लिए तो जीये!
भीड़ के लिए लोग जीते हैं, भीड़ के लिए लोग मरते हैं।
दूसरे क्या कहते हैं, यह इतना मूल्यवान हो गया है कि तुम पूछते ही नहीं कि तुम कौन हो। दूसरे क्या कहते हैं, उन्हीं की कतरन छांट-छांटकर इकट्ठी अपनी तस्वीर बना लेते हो। वह तस्वीर बड़ी डांवांडोल रहती है, क्योंकि लोगों के मन बदलते रहते हैं। और फिर लोगों के मन ही नहीं बदलते रहते, लोगों के कारण भी बदलते रहते हैं।
कोई आकर तुमसे कह गया कि आप बड़े साधु-पुरुष हैं, उसका कुछ कारण है-- खुशामद कर गया। साधु-पुरुष तुम्हें मानता कौन है! अपने को छोड़कर इस संसार में कोई किसी को साधु-पुरुष नहीं मानता।
तुम अपनी ही सोचो न! तुम अपने को छोड़कर किसको साधु-पुरुष मानते हो? कभी-कभी कहना पड़ता है। जरूरतें हैं, जिंदगी है, अड़चनें हैं--झूठे को सच्चा कहना पड़ता है; दुर्जन को सज्जन कहना पड़ता है; कुरूप को सुंदर की तरह प्रशंसा करनी पड़ती है, स्तुति करनी पड़ती है, खुशामद करनी पड़ती है। खुशामद इसीलिए तो इतनी बहुमूल्य है।
खुशामद के चक्कर में लोग क्यों आ जाते हैं? मूढ़ से मूढ़ आदमी से भी कहो
कि तुम महाबुद्धिमान हो तो वह भी इनकार नहीं करता, क्योंकि उसको अपना तो कुछ पता नहीं है; तुम जो कहते हो वही सुनता है; तुम जो कहते हो वही हो जाता है।
तो उनके कारण बदल जाते हैं। कोई कहता है, सुंदर हो; कोई कहता है, असुंदर हो; कोई कहता है, भले हो; कोई कहता है, बुरे हो--यह सब इकट्ठा होता चला जाता है। और इन विपरीत मतों के आधार पर तुम अपनी आत्मा का निर्माण कर

लेते हो। तुम ऐसी बैलगाड़ी पर सवार हो जिसमें सब तरफ बैल जुते हैं; जो सब दिशाओं में एक साथ जा रही है: तुम्हारे अस्थिपंजर ढीले हुए जा रहे हैं। तुम सिर्फ घसिटते हो, कहीं पहुंचते नहीं--पहुंच सकते नहीं!
पहला सूत्र है आज का: "तू सबका एक द्रष्टा है। और तू सदा सचमुच मुक्त है।"
व्यक्ति दृश्य नहीं है, द्रष्टा है।
दुनिया में तीन तरह के व्यक्ति हैं; वे, जो दृश्य बन गये--वे सबसे ज्यादा अंधेरे में हैं; दूसरे वे, जो दर्शक बन गये--वे पहले से थोड़े ठीक हैं, लेकिन कुछ बहुत ज्यादा अंतर नहीं है; तीसरे वे, जो द्रष्टा बन गए। तीनों को अलग-अलग समझ लेना जरूरी है।
जब तुम दृश्य बन जाते हो तो तुम वस्तु हो गये, तुमने आत्मा खो दी। इसलिए राजनेता में आत्मा को पाना मुश्किल है; अभिनेता में आत्मा को पाना मुश्किल है। वह दृश्य बन गया है। वह दृश्य बनने के लिए ही जीता है। उसकी सारी कोशिश यह है कि मैं लोगों को भला कैसे लगूं, सुंदर कैसे लगूं, श्रेष्ठ कैसे लगूं? श्रेष्ठ होने की चेष्टा नहीं है, श्रेष्ठ लगने की चेष्टा है। कैसे श्रेष्ठ दिखायी पडूं!
तो जो दृश्य बन रहा है, वह पाखंडी हो जाता है। वह ऊपर से मुखौटे ओढ़ लेता है, ऊपर से सब आयोजन कर लेता है--भीतर सड़ता जाता है।
फिर दूसरे वे लोग हैं, जो दर्शक बन गए। उनकी बड़ी भीड़ है। स्वभावतः पहले तरह के लोगों के लिए दूसरे तरह के लोगों की जरूरत है; नहीं तो दृश्य बनेंगे लोग कैसे? कोई राजनेता बन जाता है, फिर ताली बजाने वाली भीड़ मिल जाती है। तो दोनों में बड़ा मेल बैठ जाता है। नेता हो तो अनुयायी भी चाहिए। कोई नाच रहा हो तो दर्शक भी चाहिए। कोई गीत गा रहा हो तो सुनने वाले भी चाहिए।
तो कोई दृश्य बनने में लगा है, कुछ दर्शक बनकर रह गये हैं। दर्शकों की बड़ी भीड़ है।
पश्चिम के मनोवैज्ञानिक बड़े चिंतित हैं, क्योंकि लोग बिलकुल ही दर्शक होकर रह गए हैं। फिल्म देख आते हैं, रेडिओ खोल लेते हैं, टेलिविजन के सामने बैठ जाते हैं घंटों! अमरीका में करीब-करीब औसत आदमी छह घंटे रोज टेलिविजन देख रहा है। फुटबाल का मैच हो, देख आते हैं। कुश्ती हो रही हो तो देख आते हैं। क्रिकेट हो तो देख आते हैं। ओलंपिक हो तो देख आते हैं। बस सिर्फ देखने वाले रह गए हैं। खड़े हैं दर्शक की तरह राह के किनारे राहगीर। जीवन का जुलूस निकल रहा है, तुम देख रहे हो।
कुछ हैं जो जीवन के जुलूस में सम्मिलित हो गये हैं; वह जरा कठिन धंधा है; वहां बड़ी प्रतियोगिता है। जुलूस में सम्मिलित होना जरा मुश्किल है। बड़े संघर्ष और बड़े आक्रमण की जरूरत है। लेकिन जुलूस को देखने वालों की भी जरूरत है। वे किनारे खड़े देख रहे हैं। अगर वे न हों तो जुलूस भी विदा हो जाये।
तुम थोड़ा सोचो, अगर अनुयायी न चलें पीछे तो नेताओं का क्या हो! अकेले--"झंडा ऊंचा रहे हमारा"--बड़े बुद्धू मालूम पड़ें! बड़े पागल मालूम पड़ें! राह-किनारे लोग चाहिए, भीड़ चाहिए। तो पागलपन भी ठीक मालूम पड़ता है। तुम थोड़ा सोचो, कोई देखने न आये और क्रिकेट का मैच होता रहे--मैच के प्राण निकल गए! मैच के प्राण मैच में थोड़े ही हैं: देखने जो लाखों लोग इकट्ठे होते हैं, उनमें हैं।
और आदमी अदभुत है! आदमी तो घुड़दौड़ देखने भी जाते हैं। यह पूरा कोरेगांव पार्क घुड़दौड़ देखने वालों की बस्ती है। यह बड़ी हैरानी की बात है: आदमी को दौड़ाओ कोई घोड़ा देखने नहीं आता! घोड़े दौड़ते हैं, आदमी देखने जाते हैं। यह घोड़ों से भी गयी-बीती स्थिति हो गई।
देखते ही देखते जिंदगी बीत जाती है। दर्शक...!
प्रेम करते नहीं तुम; फिल्म में प्रेम चलता है, वह देखते हो। नाचते नहीं तुम; कोई नाचता है, तुम देखते हो। गीत तुम नहीं गुनगुनाते; कोई गुनगुनाता है, तुम सुनते हो। तुम्हारा जीवन अगर नपुंसक हो जाये, अगर उसमें से सब जीवन ऊर्जा खो जाये तो आश्चर्य क्या? तुम्हारे जीवन में कोई गति

नहीं है, कोई ऊर्जा का प्रवाह नहीं है। तुम मुर्दे की भांति बैठे हो। बस तुम्हारा कुल काम इतना है कि देखते रहो; कोई दिखाता रहे, तुम देखते रहो।
ये दो ही की बड़ी संख्या है दुनिया में। दोनों एक-दूसरे से बंधे हैं।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं, दुनिया में हर बीमारी के दो पहलू होते हैं।
दुनिया में कुछ लोग हैं, जिनको मनोवैज्ञानिक कहते हैं: मैसोचिस्ट; स्व-दुखवादी! वे अपने को सताते हैं। और दुनिया में दूसरा एक वर्ग है, जिसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं: सैडिस्ट; पर-दुखवादी। वे दूसरे को सताते हैं। दोनों की जरूरत है। इसलिए दोनों जब मिल जाते हैं तो बड़ा राग-रंग चलता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अगर पति दूसरों को सताने वाला हो और स्त्री खुद को सताने वाली हो तो इससे बढ़िया जोड़ा और दूसरा नहीं होता। स्त्री अपने को सताने में मजा लेती है; पति दूसरे को सताने में मजा लेता है--राम मिलायी जोड़ी, कोई अंधा कोई कोढ़ी! मिल गये, बिलकुल मिल गये, बिलकुल ठीक बैठ गये!
हर बीमारी के दो पहलू होते हैं। दृश्य और दर्शक एक ही बीमारी के दो पहलू हैं। स्त्रियां आमतौर से दृश्य बनना पसंद करती हैं; पुरुष आमतौर से दर्शक बनना पसंद करते हैं। मनोवैज्ञानिकों की भाषा में स्त्रियों को वे कहते हैं: एग्जीबीशनिस्ट; नुमाइशी। उनका सारा रस नुमाइश बनने में है। मुल्ला नसरुद्दीन मक्खियां मार रहा था। बहुत मक्खियां हो गयी थीं तो पत्नी ने कहा, इनको हटाओ। आईने के पास मक्खियां मार रहा था; बोला कि एक जोड़ा, दो मादाएं बैठी हैं। पत्नी ने कहा, हद हो गई! तुमने पता कैसे चलाया कि नर हैं कि मादा हैं?
उसने कहा, घंटे भर से आईने पर बैठी हैं--मादाएं होनी चाहिए। नर को आईने
के पास क्या करना?
स्त्रियां आईने से छूट ही नहीं पातीं। आईना मिल जाये तो चुंबक की तरह खींच लेता है। सारी जिंदगी आईने के सामने बीत रही है--कपड़ों में, वस्त्रों में, सजावट में, शृंगार में! और बड़ी हैरानी की बात है, इतनी सज-धजकर निकलती हैं, फिर कोई धक्का दे तो नाराज होती हैं! कोई धक्का न दे तो भी दुखी होंगी, क्योंकि धक्का देने के लिए इतना सज-धजने का इंतजाम था; नहीं तो प्रयोजन क्या था? पति के सामने स्त्रियां नहीं सजतीं। पति के सामने तो वे भैरवी बनी बैठी हैं। क्योंकि वहां धक्का- मुक्का समाप्त हो चुका है। लेकिन घर के बाहर जाएं, तब बड़ी तैयारी करती हैं। वहां दर्शक मिलेंगे। वहां दृश्य बनना है।
मनुष्य को, पुरुष को मनोवैज्ञानिक कहते हैं: वोयूर। उसकी सारी नजर देखने में है। उसका सारा रस देखने में है।
स्त्रियों को देखने में रस नहीं है, दिखाने में रस है। इसलिए तो स्त्री-पुरुषों का जोड़ा बैठ जाता है। बीमारी के दो पहलू बिलकुल एक साथ बैठ जाते हैं। और ये दोनों ही अवस्थाएं रुग्ण हैं।
अष्टावक्र कहते हैं: मनुष्य का स्वभाव द्रष्टा का है। न तो दृश्य बनना है और न दर्शक।
अब कभी तुम यह भूल मत कर लेना...। कई बार मैंने देखा है, कुछ लोग यह भूल
कर लेते हैं, वे समझते हैं दर्शक हो गए तो द्रष्टा हो गये। इन दोनों शब्दों में बड़ा बुनियादी फर्क है। भाषा-कोश में शायद फर्क न हो--वहां दर्शक और द्रष्टा का एक ही अर्थ होगा; लेकिन जीवन के कोश में बड़ा फर्क है।
दर्शक का अर्थ है: दृष्टि दूसरे पर है। और द्रष्टा का अर्थ है: दृष्टि अपने पर है। दृष्टि देखने वाले पर है, तो द्रष्टा। और दृष्टि दृश्य पर है, तो दर्शक। बड़ा क्रांतिकारी भेद है, बड़ा बुनियादी भेद है! जब तुम्हारी नजर दृश्य पर अटक जाती है और तुम अपने को भूल जाते हो तो दर्शक। जब तुम्हारी दृष्टि से सब दृश्य विदा हो जाते हैं; तुम ही तुम रह जाते हो; जागरण-मात्र रह जाता है; होश-मात्र रह जाता है--तो द्रष्टा।
तो दर्शक तो तुम तब हो जब तुम बिलकुल विस्मृत हो गए; तुम अपने को भूल
ही गए; नजर लग गयी वहां। सिनेमाऱ्हाल में बैठे हो: तीन घंटे के लिए अपने को भूल जाते हो, याद ही नहीं रहती कि तुम कौन हो। दुख-सुख, चिंताएं सब भूल जाती हैं। इसीलिए तो भीड़ वहां पहुंचती है। जिंदगी में बड़ा दुख है, चिंता है, परेशानी है--कहीं चाहिए भूलने का उपाय! लोग बिलकुल एकाग्र चित्त हो जाते

हैं। बस ध्यान उनका लगता ही फिल्म में है। वहां देखते हैं...पर्दे पर कुछ भी नहीं है, छायाएं डोल रही हैं; मगर लोग बिलकुल एकाग्र चित्त हैं। बीमारी भूल जाती, चिंता भूल जाती, बुढ़ापा भूल जाता, मौत भी आती हो तो भूल जाती है-- लेकिन द्रष्टा नहीं हो गए हो तुम फिल्म में बैठकर; दर्शक हो गए; भूल ही गए अपने को; स्मरण ही न रहा कि मैं कौन हूं। यह जो देखने की ऊर्जा है भीतर, इसकी तो स्मृति ही खो गयी; बस सामने दृश्य है, उसी पर अटक गए, उसी में सब भांति डूब गए।
दर्शक होना एक तरह का आत्म-विस्मरण है। और द्रष्टा होने का अर्थ है:
सब दृश्य विदा हो गए, पर्दा खाली हो गया; अब कोई फिल्म नहीं चलती वहां; न कोई विचार रहे, न कोई शब्द रहे; पर्दा बिलकुल शून्य हो गया--कोरा और शुभ्र, सफेद! देखने को कुछ भी न बचा; सिर्फ देखने वाला बचा। और अब देखने वाले में डुबकी लगी, तो द्रष्टा!
दृश्य और दर्शक, मनुष्यता इनमें बंटी है। कभी-कभी कोई द्रष्टा होता है--कोई अष्टावक्र, कोई कृष्ण, कोई महावीर, कोई बुद्ध। कभी-कभी कोई जागता और द्रष्टा होता है।
"तू सबका एक द्रष्टा है।"
और इस सूत्र की खूबियां ये हैं कि जैसे ही तुम द्रष्टा हुए, तुम्हें पता चलता है: द्रष्टा तो एक ही है संसार में, बहुत नहीं हैं। दृश्य बहुत हैं, दर्शक बहुत हैं। अनेकता का अस्तित्व ही दृश्य और दर्शक के बीच है। वह झूठ का जाल है। द्रष्टा तो एक ही है।
ऐसा समझो कि चांद निकला, पूर्णिमा का चांद निकला। नदी-पोखर में, तालाब-सरोवर में, सागर में, सरिताओं में, सब जगह प्रतिबिंब बने। अगर तुम पृथ्वी पर घूमो और सारे प्रतिबिंबों का अंकन करो तो करोड़ों, अरबों, खरबों प्रतिबिंब मिलेंगे--लेकिन चांद एक है; प्रतिबिंब अनेक हैं। द्रष्टा एक है; दृश्य अनेक हैं, दर्शक अनेक हैं। वे सिर्फ प्रतिबिंब हैं, वे छायाएं हैं। तो जैसे ही कोई व्यक्ति दृश्य और दर्शक से मुक्त होता है--न तो दिखाने
की इच्छा रही कि कोई देखे, न देखने की इच्छा रही; देखने और दिखाने का जाल छूटा; वह रस न रहा--तो वैराग्य। अब कोई इच्छा नहीं होती कि कोई देखे और कहे कि सुंदर हो, सज्जन हो, संत हो, साधु हो। अगर इतनी भी इच्छा भीतर रह गयी कि लोग तुम्हें साधु समझें तो अभी तुम पुराने जाल में पड़े हो। अगर इतनी भी आकांक्षा रह गयी मन में कि लोग तुम्हें संत पुरुष समझें तो तुम अभी पुराने जाल में पड़े हो; अभी संसार नहीं छूटा। संसार ने नया रूप लिया, नया ढंग पकड़ा; लेकिन यात्रा पुरानी ही जारी है; सातत्य पुराना ही जारी है।
क्या करोगे देखकर? खूब देखा, क्या पाया? क्या करोगे दिखाकर? कौन है यहां, जिसको दिखाकर कुछ मिलेगा?
इन दोनों से पार हट कर, द्वंद्व से हट कर जो द्रष्टा में डूबता है, तो पाता है कि एक ही है। यह पूर्णिमा का चांद तो एक ही है। यह सरोवरों, पोखरों, तालाबों, सागरों में अलग-अलग दिखायी पड़ता था; अलग-अलग दर्पण थे, इसलिए दिखायी पड़ता था।
मैंने सुना है, एक राजमहल था। सम्राट ने महल बनाया था सिर्फ दर्पणों से। दर्पण ही दर्र्पण थे अंदर। कांच-महल था। एक कुत्ता, सम्राट का खुद का कुत्ता, रात बंद हो गया, भूल से अंदर रह गया। उस कुत्ते की अवस्था तुम समझ सकते हो क्या हुई होगी। वही आदमी की अवस्था है। उसने चारों तरफ देखा, कुत्ते ही कुत्ते थे! हर दर्पण में कुत्ता था। वह घबड़ा गया। वह भौंका।
जब आदमी भयभीत होता है तो दूसरे को भयभीत करना चाहता है। शायद दूसरा भयभीत हो जाये तो अपना भय कम हो जाये।
वह भौंका, लेकिन स्वभावतः वहां तो दर्पण ही थे; दर्पण-दर्पण से कुत्ते भौंके। आवाज उसी पर लौट आयी; अपनी ही प्रतिध्वनि थी। वह रात भर भौंकता रहा और भागता और दर्पणों से जूझता, लहूलुहान हो गया। वहां कोई भी न था, अकेला था। सुबह मरा हुआ पाया गया। सारे भवन में खून के चिह्न थे। उसकी कथा आदमी की कथा है।
यहां दूसरा नहीं है। यहां अन्य है ही नहीं। जो है, अनन्य है। यहां एक है। लेकिन उस एक को जब तक तुम भीतर से न पकड़ लोगे, खयाल में न आयेगा।

"तू सबका एक द्रष्टा है, और सदा सचमुच मुक्त है।"
अष्टावक्र कहते हैं: सचमुच मुक्त है। इसे कल्पना मत समझना।
आदमी बहुत अदभुत है! आदमी सोचता है कि संसार तो सत्य है और ये सत्य की बातें सब कल्पना हैं। दुख तो सत्य मानता है; सुख की कोई किरण उतरे तो मानता है कोई सपना है, कोई धोखा है।
मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, बड़ा आनंद मालूम हो रहा है; शक होता
है यह कहीं भ्रम तो नहीं! दुख में इतने जन्मों-जन्मों तक रहे हैं कि भरोसा ही खो गया कि आनंद हो भी सकता है। आनंद असंभव मालूम होने लगा है। रोने का अभ्यास ऐसा हो गया है, दुख का ऐसा अभ्यास हो गया है, कांटों से ऐसी पहचान हो गयी है कि फूल अगर दिखायी भी पड़े तो भरोसा नहीं आता; लगता है सपना है, आकाश-कुसुम है; होगा नहीं, हो नहीं सकता!
इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, सचमुच मुक्त है! व्यक्ति बंधा नहीं है। बंधन असंभव है; क्योंकि केवल परमात्मा है, केवल एक है। न तो बांधने को कुछ है, न बंधने को कुछ है।
"तू सदा सचमुच मुक्त है!"
इसलिए अष्टावक्र जैसे व्यक्ति कहते हैं कि इसी क्षण चाहे तो मुक्त हो सकता है--क्योंकि मुक्त है ही। मुक्ति में कोई बाधा नहीं है। बंधन कभी पड़ा नहीं; बंधन केवल माना हुआ है।
"तेरा बंधन तो यही है कि तू अपने को छोड़, दूसरे को द्रष्टा देखता है।"
एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बंधो द्रष्टारं पश्यसीतरम्।।
एक ही बंधन है कि तू अपने को छोड़ दूसरे को द्रष्टा देखता है। और एक ही मुक्ति है कि तू अपने को द्रष्टा जान ले। तो इस प्रयोग को थोड़ा करना शुरू करें।
देखते हैं...। वृक्ष के पास बैठे हैं, वृक्ष दिखायी पड़ रहा है, तो धीरे- धीरे वृक्ष को देखते-देखते, उसको देखना शुरू करें जो वृक्ष को देख रहा है। जरा से हेर-फेर की बात है। साधारणतः चेतना का तीर वृक्ष की तरफ जा रहा है। इस तीर को दोनों तरफ जाने दें। इसका फल दोनों तरफ कर लें--वृक्ष को भी देखें और साथ ही चेष्टा करें उसको भी देखने की, जो देख रहा है। देखने वाले को न भूलें। देखने वाले को पकड़-पकड़ लें। बार-बार भूलेगा--पुरानी आदत है; जन्मों की आदत है। भूलेगा, लेकिन बार-बार देखने वाले को पकड़ लें। जैसे- जैसे देखने वाला पकड़ में आने लगेगा, कभी-कभी क्षण भर को ही आयेगा; लेकिन क्षण भर को ही पायेंगे कि एक अपूर्व शांति का उदय हुआ! एक आशीष बरसा!! एक सौभाग्य की किरण उतरी!!! एक क्षण को भी अगर ऐसा होगा तो एक क्षण को भी मुक्ति का आनंद मिलेगा। और वह आनंद तुम्हारे जीवन के स्वाद को और जीवन की धारा को बदल देगा। शब्द नहीं बदलेंगे तुम्हारे जीवन की धारा को, शास्त्र नहीं बदलेंगे--अनुभव बदलेगा, स्वाद बदलेगा!
यहां मुझे सुन रहे हैं--दो तरह से सुना जा सकता है। सुनते वक्त मैं जो बोल रहा हूं, अगर उस पर ही ध्यान रहे और तुम अपने को भूल जाओ तो फिर तुम द्रष्टा न रहे, श्रोता न रहे, श्रावक न रहे। तुम्हारा ध्यान मुझ पर अटक गया, तो तुम दर्शक हो गए। आंख से ही दर्शक नहीं हुआ जाता, कान से भी दर्शक हुआ जाता है। जब भी ध्यान आब्जेक्ट पर, विषय पर अटक जाये तो तुम दर्शक हो गये।
सुनते वक्त, सुनो मुझे; साथ में उसको भी देखते रहो, पकड़ते रहो, टटोलते रहो--जो सुन रहा है। निश्चित ही तुम सुन रहे हो, मैं बोल रहा हूं: बोलने वाले पर ही नजर न रहे, सुनने वाले को भी पकड़ते रहो, बीच-बीच में उसका खयाल लेते रहो। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि जिस घड़ी में तुमने सुनने वाले को पकड़ा, उसी घड़ी में तुमने मुझे सुना; शेष सब व्यर्थ गया। जब तुम सुनने वाले को पकड़ कर सुनोगे तब जो मैं कह रहा हूं वही तुम्हें सुनायी पड़ेगा। और अगर तुमने सुनने वाले को नहीं पकड़ा है तो तुम न मालूम क्या-क्या सुन लोगे, जो न तो मैंने कहा, न अष्टावक्र ने कहा। तब तुम्हारा मन बहुत से जाल बुन लेगा। तुम बेहोश हो! बेहोशी में तुम कैसे होश की बातें समझ सकते हो? ये बातें होश की हैं। ये बातें किसी और दुनिया की हैं। तुमने अगर नींद में

सुना तो तुम इन बातों के आसपास अपने सपने गूंथ लोगे। तुम इन बातों का रंग खराब कर दोगे। तुम इनको पोत लोगे। तुम अपने ढंग से इनका अर्थ निकाल लोगे। तुम इनकी व्याख्या कर लोगे, तुम्हारी व्याख्या में ही ये अदभुत वचन मुर्दा हो जाएंगे। तुम्हारे हाथ लाश लगेगी अष्टावक्र की; जीवित अष्टावक्र से तुम चूक जाओगे। क्योंकि जीवित अष्टावक्र को पकड़ने के लिए तो तुम्हें अपने द्रष्टा को पकड़ना होगा--वहां है जीवित अष्टावक्र।
इसे खयाल में लो।
सुनते हो मुझे, सुनते-सुनते उसको भी सुनने लगो जो सुन रहा है। तीर दोहरा हो जाये: मेरी तरफ और तुम्हारी तरफ भी हो। अगर मैं भूल जाऊं तो कोई हर्जा नहीं, लेकिन तुम नहीं भूलने चाहिए। और एक ऐसी घड़ी आती है, जब न तो तुम रह जाते हो, न मैं रह जाता हूं। एक ऐसी परम शांति की घड़ी आती है, जब दो नहीं रह जाते, एक ही बचता है; तुम ही बोल रहे हो, तुम ही सुन रहे हो; तुम ही देख रहे हो, तुम ही दिखायी पड़ रहे हो। उस घड़ी के लिए ही इशारा अष्टावक्र कर रहे हैं कि वह एक है द्रष्टा, और सदा सचमुच मुक्त है!
बंधन स्वप्न जैसा है।
आज रात तुम पूना में सोओगे, लेकिन नींद में तुम कलकत्ते में हो सकते हो, दिल्ली में हो सकते हो, काठमांडू में हो सकते हो, कहीं भी हो सकते हो। सुबह जागकर फिर तुम अपने को पूना में पाओगे। सपने में अगर काठमांडू चले गये, तो लौटने के लिए कोई हवाई जहाज से यात्रा नहीं करनी पड़ेगी, न टे्रन पकड़नी पड़ेगी, न पैदल यात्रा करनी पड़ेगी। यात्रा करनी ही नहीं पड़ेगी। सुबह आंख खुलेगी और तुम पाओगे कि पूना में हो। सुबह तुम पाओगे, तुम कहीं गये ही नहीं। सपने में गये थे। सपने में जाना कोई जाना है?
"बंधन तो एक ही है तेरा कि तू अपने को छोड़, दूसरे को द्रष्टा देखता है।"
एक ही बंधन है कि हमें अपना होश नहीं, अपने द्रष्टा का होश नहीं।
एक तो यह अर्थ है इस सूत्र का। एक और भी अर्थ है, वह भी खयाल में ले लेना चाहिए।
साधारणतः अष्टावक्र के ऊपर जिन्होंने भी कुछ लिखा है, उन्होंने दूसरा
ही अर्थ किया है। इसलिए वह दूसरा अर्थ भी समझ लेना जरूरी है। वह दूसरा अर्थ भी ठीक है। दोनों अर्थ साथ-साथ ठीक हैं।
"तेरा बंधन तो यही है कि तू अपने को छोड़, दूसरे को द्रष्टा देखता है।"
तुम मुझे सुन रहे हो, तुम सोचते हो: कान सुन रहा है। तुम मुझे देख रहे हो, तुम सोचते हो: आंख देख रही है। आंख क्या देखेगी? आंख को द्रष्टा समझ रहे हो तो भूल हो गयी। देखने वाला तो आंख के पीछे है। सुनने वाला तो कान के पीछे है। तुम मेरे हाथ को छुओ, तो तुम सोचोगे: तुम्हारे हाथ ने मेरे हाथ को छुआ। गलती हो रही है। छूने वाला तो हाथ के भीतर छिपा है, हाथ क्या छुएगा? कल मर जाओगे, लाश पड़ी रह जायेगी; लोग हाथ पकड़े बैठे रहेंगे, कुछ भी न छुएगा। लाश पड़ी रह जायेगी, आंख खुली पड़ी रहेगी, सब दिखायी पड़ेगा और कुछ भी दिखायी न पड़ेगा। लाश पड़ी रह जायेगी, संगीत होगा, बैंड-बाजे बजेंगे, कान पर चोट भी लगेगी, झंकार भी आयेगी; लेकिन कुछ भी सुनायी न पड़ेगा। जिसे सुनायी पड़ता था, जिसे दिखायी पड़ता था, जिसे स्पर्श होता था, स्वाद होता था--वह जा चुका। इंद्रियां नहीं अनुभव लातीं; इंद्रियों के पीछे छिपा हुआ कोई...।
तो दूसरा अर्थ इस सूत्र का है कि तुम अपने को ही द्रष्टा जानना, शरीर
को मत जान लेना; आंख को, कान को, इंद्रियों को मत जान लेना। भीतर की चेतना को ही द्रष्टा जानना।
"मैं कर्ता हूं", ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू, "मैं कर्ता नहीं हूं", ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पीकर सुखी हो।"
"अहं कर्ता इति--मैं कर्ता हूं, ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू...।"
हमारी मान्यता ही सब कुछ है। हम मान्यता के सपने में पड़े हैं। हम अपने
को जो मान लेते हैं, वही हो जाते हैं। यह बड़ी विचार की बात है। यह पूरब के अनुभव का सार-निचोड़ है। हमने जो मान लिया है अपने को, वही हम हो जाते हैं।

तुमने अगर कभी किसी सम्मोहनविद को, हिप्नोटिस्ट को प्रयोग करते देखा हो, तो तुम चौंके होओगे। अगर वह किसी व्यक्ति को सम्मोहित करके कह देता है, पुरुष को, कि तुम स्त्री हो और फिर कहता है, उठो चलो, तो वह आदमी स्त्री की तरह चलने लगता है। बहुत कठिन है स्त्री की तरह चलना। उसके लिए खास तरह का शरीर का ढांचा चाहिए। स्त्री की तरह चलने के लिए गर्भ की खाली जगह चाहिए पेट में, अन्यथा कोई स्त्री की तरह चल नहीं सकता। या बहुत अभ्यास करे तो चल सकता है। लेकिन कोई सम्मोहनविद किसी को सुला देता है बेहोशी में और कहता है, "उठो, तुम स्त्री हो, पुरुष नहीं, चलो!" वह स्त्री की तरह चलने लगता है। वह उसे प्याज पकड़ा देता है और कहता है, "यह सेब है, नाश्ता कर लो", वह प्याज का नाश्ता कर लेता है। और उससे पूछो कैसा स्वाद, वह कहता है बड़ा स्वादिष्ट! उसे पता भी नहीं चलता कि यह प्याज है। उसे बास भी नहीं आती। सम्मोहनविदों ने अनुभव किया है और अब तो यह वैज्ञानिक तथ्य है, इस पर बहुत प्रयोग हुए हैं: सम्मोहन में मूर्च्छित व्यक्ति के हाथ में उठाकर एक साधारण कंकड़ रख दो और कह दो अंगारा रख दिया है, वह झटककर फेंक देता है, चीख मारता है कि जल गया! इतने तक भी बात होती तो ठीक था, लेकिन हाथ पर फफोला आ जाता है!
तुमने खबर सुनी होगी लोगों की कि जो आग पर चल लेते हैं! वह भी सम्मोहन
की गहरी अवस्था है। अगर तुमने ऐसा मान लिया कि नहीं जलूंगा तो आग भी नहीं जलाती। मानने की बात है। अगर जरा भी संदेह रहा तो मुश्किल हो जायेगी, तो जल जाओगे।
ऐसा बहुत बार हुआ है कि कुछ लोग सिर्फ हिम्मत करके चले गये, कि जब इतने लोग चल रहे हैं तो हम भी चल लेंगे; लेकिन भीतर संदेह का कीड़ा था, वे जल गये। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में इस पर प्रयोग किया गया। लंका से कुछ बौद्ध भिक्षु बुलाये गये थे--चलने के लिए। वे बुद्ध-पूर्णिमा को हर वर्ष बुद्ध की स्मृति में आग पर चलते हैं। वह बात बिलकुल ठीक है। बुद्ध की स्मृति में आग पर चलना चाहिए, क्योंकि बुद्ध की कुल स्मृति इतनी है कि तुम देह नहीं हो। तो जब हम देह ही नहीं हैं तो आग हमें कैसे जलायेगी?
कृष्ण ने गीता में कहा है: न आग तुझे जला सकती है, न शस्त्र तुझे छेद सकते हैं। नैनं छिन्दंति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः। नहीं आग तुझे जलाएगी, नहीं शस्त्र तुझे छेद सकते हैं।
तो बुद्ध-पूर्णिमा के दिन श्रीलंका में बौद्ध भिक्षु आग पर चलते हैं। उन्हें निमंत्रित किया गया। वे आक्सफोर्ड में भी चले। जब वे आक्सफोर्ड में चल रहे थे तो एक भिक्षु जल गया। कोई बीस भिक्षु चले, एक भिक्षु जल गया।
खोज-बीन की गयी कि बात क्या हुई! वह भिक्षु सिर्फ इंग्लैंड देखने आया था।
उसे कोई भरोसा नहीं था कि वह चल पायेगा। उसकी मर्जी कुछ और थी। वह तो सिर्फ यात्रा करने आया था। उसकी तो आकांक्षा इतनी ही थी कि इंग्लैंड देख लेंगे। और उसने सोचा कि ये जब उन्नीस लोग नहीं जलते तो मैं क्यों जलूंगा! मगर भीतर संदेह का कीड़ा था, वह जल गया।
और वहीं उसी रात दूसरी घटना घटी कि एक प्रोफेसर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर जिसने कभी यह घटना न देखी थी न सुनी थी, वह सिर्फ बैठकर देख रहा था; उसे देखकर इतना भरोसा आ गया कि वह उठा और चलने लगा और चल गया। न तो वह बौद्ध था, न धार्मिक था। उसे तो कुछ पता ही नहीं था। उसे तो सिर्फ इतने लोगों का चलना देखकर यह लगा, यह भाव इतनी गहनता से उठा, यह श्रद्धा इतनी सघन हो गयी कि वह उठा एक गहन आनंद-भाव में और नाचने लगा आग पर! भिक्षु भी चौंके, क्योंकि भिक्षुओं को तो यह खयाल था कि बुद्ध भगवान उन्हें बचा रहे हैं। यह आदमी तो कोई बौद्ध नहीं है, यह तो अंग्रेज था और धार्मिक भी नहीं था। चर्च भी नहीं जाता था, तो क्राइस्ट भी इसकी फिक्र नहीं करेंगे। बुद्ध से तो कुछ लेना-देना है नहीं। इसका तो कोई भी मालिक नहीं था। सिर्फ श्रद्धा!
हम जो मानते हैं गहन श्रद्धा में, वही हो जाता है।
"मैं कर्ता हूं, ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू, मैं कर्ता नहीं हूं, ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"

यह वचन खयाल रखना, बार-बार अष्टावक्र कहते हैं: सुखी हो। वह कहते हैं, इसी क्षण घट सकती है बात।
अहं कर्ता इति--मैं कर्ता हूं, ऐसी हमारी धारणा है। उस धारणा के अनुसार हमारा अहंकार निर्मित होता है। कर्ता यानी अस्मिता। मैं कर्ता हूं, उसी से हमारा अहंकार निर्मित होता है। इसलिए जितना बड़ा कर्ता हो उतना बड़ा अहंकार होता है। तुमने अगर कुछ खास नहीं किया तो तुम क्या अहंकार रखोगे? तुमने एक बड़ा मकान बनाया, उतना ही बड़ा तुम्हारा अहंकार हो जाता है। तुमने एक बड़ा साम्राज्य रचाया, तो उतनी ही सीमा तुम्हारे अहंकार की हो जाती है।
इसीलिए तो दुनिया को जीतने के लिए पागल लोग निकलते हैं। दुनिया को जीतने थोड़े ही निकलते हैं! दुनिया किसने कब जीती? लोग आते हैं, चले जाते हैं--दुनिया को कौन जीत पाता है! लेकिन दुनिया को जीतने निकलते हैं--घोषणा करने कि मेरा अहंकार इतना विराट है कि सारी दुनिया को छोटा कर दूंगा, घेर लूंगा, सीमा बना दूंगा; मैं ही परिभाषा बनूंगा सारे जगत की! सिकंदर और नेपोलियन और तैमूर और नादिर और सारे पागल दुनिया को घेरने चलते हैं। यह दुनिया को घेरने के लिए जो आकांक्षा है, यह अहंकार की आकांक्षा है।
किसी को तुमने देखा? मंत्री हो गया या मुख्यमंत्री हो गया, तब उसकी चाल देखी! फिर पद पर नहीं रहा, तब उसको देखा! ऐसी खराब हालत हो जाती है पद से उतरकर! आदमी वही है, बल खो जाता है। वह जो अहंकार का विष था, जो गति दे रहा था, नशा दे रहा था, वह चाल में जो मस्ती आ गयी थी, सिर ऊंचा उठ गया था, रीढ़ सीधी हो गयी थी--वह सब खो जाता है। क्या हो गया? एक क्षण पहले इतना बल मालूम होता था, एक क्षण बाद ऐसा निर्बल हो गया!
राजनीतिज्ञ पदों से उतरकर ज्यादा दिन जिंदा नहीं रहते। राजनीतिज्ञ
जब तक जीतते हैं तब तक बलशाली रहते हैं; जैसे ही हारने लगते हैं, वैसे ही बल खो जाता है।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि लोग रिटायर होकर जल्दी मर जाते हैं। दस साल
का फर्क पड़ता है, थोड़ा-बहुत फर्क नहीं। जो आदमी अस्सी साल जीता है, वह जब साठ साल में रिटायर हो जाता है तो सत्तर में मर जाता है। वह आदमी अस्सी साल जी सकता था, कोई और कारण न था मरने का; लेकिन मरने का एक कारण मिल गया कि जब तुम कलेक्टर थे, कमिश्नर थे, पुलिस-इंस्पेक्टर थे, या कांस्टेबल ही सही, स्कूल के मास्टर ही सही...। स्कूल के मास्टर की भी अकड़ होती है। उसकी भी एक दुनिया होती है। तीस-चालीस लड़कों पर तो रोब बांधे ही रखता है। उनको तो दबाये ही रखता है। वहां तो सम्राट ही होता है।
कहते हैं, जब औरंगजेब ने अपने बाप को कारागृह में बंद कर दिया, तो उसके बाप ने कहा कि मुझे यहां मन नहीं लगता। तू एक काम कर, तीस-चालीस छोटे-छोटे लड़के भेज दे, तो मैं एक मदरसा खोल दूं।
कहते हैं कि औरगंजेब ने कहा कि बाप जेल में तो पड़ गया है, लेकिन पुरानी सम्राट होने की अकड़ नहीं जाती। तो तीस-चालीस लड़कों पर ही अब मालकियत करेगा। उसने इंतजाम कर दिया।
छोटा-छोटा स्कूल का मास्टर भी तीस-चालीस लड़कों की दुनिया में तो राजा है। बड़े से बड़े राजा को भी इतना बल कहां होता है! कहो उठो, तो उठते हैं लोग; कहो बैठो तो बैठते हैं लोग। सब उसके हाथ में है। स्कूल का मास्टर ही सही, कलेक्टर हो, डिप्टी कलेक्टर हो, मिनिस्टर हो, कोई भी हो, जैसे ही रिटायर होता है वैसे ही बल खो जाता है; अब कोई रास्ते पर नमस्कार नहीं करता। अब कहीं भी कोई उसकी सार्थकता नहीं मालूम होती; वह फिजूल मालूम पड़ता है, जैसे कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया, या कबाड़खाने में डाल दिया गया। अब उसकी कहीं कोई जरूरत नहीं; जहां भी जाता है, लोग उसको सहते हैं; मगर उनके भाव से पता चलता है कि "अब जाओ भी क्षमा करो, अब यहां किसलिए चले आए? अब दूसरे काम करने दो!" वे ही लोग जो उसकी खुशामद करते थे, रास्ते से कन्नी काट जाते हैं। वे ही लोग जो उसके पैर दाबते थे, अब दिखायी नहीं पड़ते। अचानक उसके अहंकार का गुब्बारा सिकुड़ जाता है; जैसे गुब्बारा फूट गया, हवा निकलने लगी, पंचर हो गया! सिकुड़ने लगता है। जीने में कोई अर्थ नहीं मालूम होता। मरने की

आकांक्षा पैदा होने लगती है। वह सोचने लगता है, अब मर ही जाऊं, क्योंकि अब क्या सार है!
रिटायर होकर लोग जल्दी मर जाते हैं। क्योंकि उनके जीवन का सारा बल तो उनके साम्राज्यों में था। कोई हेड क्लर्क था तो दस-पांच क्लर्कों को ही सता रहा था। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम कौन हो--तुम चपरासी सही, मगर चपरासी की भी अकड़ होती है! जब जाओ दफ्तर में अंदर तो चपरासी को देखो, स्टूल पर ही बैठा है बाहर, लेकिन उसकी अकड़ देखो! वह कहता है, ठहरो!
मुल्ला नसरुद्दीन कांस्टेबल का काम करता था। एक महिला को तेजी से कार चलाते हुए पकड़ लिया। जल्दी से निकाली नोट-बुक, लिखने लगा। महिला ने कहा, "सुनो! बेकार लिखा-पढ़ी मत करो। मेयर मुझे जानते हैं।" मगर वह लिखता ही रहा। महिला ने कहा कि "सुनते हो कि नहीं, चीफ मिनिस्टर भी मुझे जानते हैं!" मगर वह लिखता ही रहा। आखिर महिला ने आखिरी दांव मारा, उसने कहा, "सुनते हो कि नहीं? इंदिरा गांधी भी मुझे जानती हैं!"
मुल्ला ने कहा, "बकवास बंद करो! मुल्ला नसरुद्दीन तुम्हें जानता है?"
उस महिला ने कहा, "कौन मुल्ला नसरुद्दीन? मतलब?"
उसने कहा, "मेरा नाम मुल्ला नसरुद्दीन है। अगर मैं जानता हूं तो कुछ
हो सकता है, बाकी कोई भी जानता रहे, भगवान भी तुम्हें जानता हो, यह रिपोर्ट लिखी जायेगी, यह मुकदमा चलेगा।"
हर आदमी की अपनी अकड़ है! कांस्टेबल की भी अपनी अकड़ है; उसकी भी अपनी दुनिया है, अपना राज्य है; उसके भीतर फंसे कि वह सतायेगा।
अहंकार जीता है उस सीमा पर, जो तुम कर सकते हो। इसलिए तुम देखना, अहंकारी आदमी "हां" कहने में बड़ी मजबूरी अनुभव करता है।
तुम अपने में ही निरीक्षण करना। यह मैं कोई दूसरों को जांचने के लिए तुम्हें मापदंड नहीं दे रहा हूं, तुम अपना ही आत्मविश्लेषण करना। "नहीं" कहने में मजा आता है, क्योंकि "नहीं" कहने में बल मालूम पड़ता है। बेटा पूछता है मां से कि जरा बाहर खेल आऊं, वह कहती है कि नहीं! नहीं! अभी बाहर खेलने में कोई हर्जा भी नहीं है। बाहर नहीं खेलेगा बेटा तो कहां खेलेगा। और मां भी जानती है कि जायेगा ही वह; थोड़ा शोरगुल मचायेगा, वह भी अपना बल दिखलायेगा। बलों की टक्कर होगी। थोड़ी राजनीति चलेगी। वह चीख-पुकार मचायेगा, बर्तन पटकेगा, तब वह कहेगी, "अच्छा जा, बाहर खेल!" लेकिन वह जब कहेगी, "जा, बाहर खेल", तब ठीक है; तब उसकी आज्ञा से जा रहा है!
मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा बहुत ऊधम कर रहा था। वह उससे बार-बार कर रहा था, "शांत होकर बैठ! देख मेरी आज्ञा मान, शांत होकर बैठ!" मगर वह सुन नहीं रहा था। कौन बेटा सुनता है! आखिर भन्ना कर मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, "अच्छा अब कर जितना ऊधम करना है। अब देखूं, कैसे मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता है! अब मेरी आज्ञा है, कर जितना ऊधम करना है। अब देखें कैसे मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता है।"
"नहीं" जल्दी आती है; जबान पर रखी है।
तुम जरा गौर करना। सौ में नब्बे मौकों पर जहां "नहीं" कहने की कोई भी जरूरत न थी, वहां भी तुम "नहीं" कहते हो। "नहीं" कहने का मौका तुम चूकते नहीं। "नहीं" कहने का मौका मिले तो झपटकर लेते हो। "हां" कहने में बड़ी मजबूरी लगती है। "हां" कहने में बड़ी दयनीयता मालूम होती है। "हां" कहने का मतलब होता है: तुम्हारा कोई बल नहीं।
इसलिए जो बहुत अहंकारी हैं वे नास्तिक हो जाते हैं। नास्तिक का मतलब, उन्होंने आखिरी "नहीं" कह दी। उन्होंने कह दिया, ईश्वर भी नहीं; और की तो बात छोड़ो।
नास्तिक का अर्थ है कि उसने आखिरी, अल्टीमेट, परम इनकार कर दिया। आस्तिक का अर्थ है: उसने परम स्वीकार कर लिया, उसने "हां" कह दिया, ईश्वर है। ईश्वर को "हां" कहने का मतलब है: मैं न रहा। ईश्वर को "ना" कहने का मतलब है, बस मैं ही रहा: अब मेरे ऊपर कोई भी नहीं; मेरे पार कोई भी नहीं; मेरी सीमा बांधने वाला कोई भी नहीं।

हमारा कर्तव्य हमारे अहंकार को भरता है। इसलिए अष्टावक्र के इस सूत्र
को खयाल करना: "मैं कर्ता हूं--अहं कर्ता इति--ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू व्यर्थ ही पीड़ित और परेशान हो रहा है।"
यह पीड़ा कोई बाहर से नहीं आती। यह दुख जो हम झेलते हैं, अपना निर्मित किया हुआ है। जितना बड़ा अहंकार उतनी पीड़ा होगी। अहंकार घाव है। जरा-सी हवा का झोंका भी दर्द दे जाता है।
निरहंकारी व्यक्ति को दुखी करना असंभव है। अहंकारी व्यक्ति को सुखी करना असंभव है। अहंकारी व्यक्ति ने तय ही कर लिया है कि अब सुखी नहीं होना है। क्योंकि सुख आता है "हां"-भाव से, स्वीकार-भाव से। सुख आता है यह बात जानने से कि मैं क्या हूं? एक बूंद हूं सागर में! सागर की एक बूंद हूं! सागर ही है, मेरा होना क्या है?
जिस व्यक्ति को अपने न होने की प्रतीति सघन होने लगती है, उतने ही सुख
के अंबार उस पर बरसने लगते हैं। जो मिटा, वह भर दिया जाता है। जिसने अकड़ दिखायी, वह मिट जाता है।
"...मैं कर्ता नहीं हूं, ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर तू सुखी हो।"
"मैं कर्ता नहीं हूं", ऐसे भाव को अष्टावक्र अमृत कहते हैं। "अहं न कर्ता इति"--यही अमृत है।
इसका एक अर्थ और भी समझ लेना चाहिए। सिर्फ अहंकार मरता है, तुम कभी नहीं मरते। इसलिए अहंकार मृत्यु है, विष है। जिस दिन तुमने जान लिया कि अहंकार है ही नहीं, बस मेरे भीतर परमात्मा ही है, उसका ही एक फैलाव, उसकी ही एक किरण, उसकी ही एक बूंद--फिर तुम्हारी कोई मृत्यु नहीं; फिर तुम अमृत हो। परमात्मा के साथ तुम अमृत हो; अपने साथ तुम मरणधर्मा हो। अपने साथ तुम अकेले हो, संसार के विपरीत हो, अस्तित्व के विपरीत हो--तुम असंभव युद्ध में लगे हो, जिसमें हार सुनिश्चित है। परमात्मा के साथ सब तुम्हारे साथ है: जिसमें हार असंभव, जीत सुनिश्चित है। सबको साथ लेकर चल पड़ो। जहां सहयोग से घट सकता हो, वहां संघर्ष क्यों करते हो? जहां झुक कर मिल सकता हो, वहां लड़ कर लेने की चेष्टा क्यों करते हो? जहां सरलता से, विनम्रता से मिल जाता हो, वहां तुम व्यर्थ ही ऊधम क्यों मचाते हो, व्यर्थ का उत्पात क्यों करते हो? "मैं कर्ता नहीं हूं, ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"
जनक ने पूछा है: कैसे हम सुखी हों? कैसे सुख हो? कैसे मुक्ति मिले?
कोई विधि नहीं बता रहे हैं अष्टावक्र। वे यह नहीं कह रहे हैं कि साधो
इस तरह। वे कहते हैं, देखो इस तरह। दृष्टि ऐसी हो, बस! यह सारा दृष्टि का ही उपद्रव है। दुखी हो तो गलत दृष्टि आधार है। सुखी होना है तो ठीक दृष्टि...। "...विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"
इसमें विश्वास की भी परिभाषा समझने जैसी है। अविश्वास का अर्थ होता है: तुम अपने को समग्र के साथ एक नहीं मानते। उसी से संदेह उठता है। अगर तुम समग्र के साथ अपने को एक मानते हो तो कैसा अविश्वास! जहां ले जाएगा अस्तित्व, वहीं शुभ है। न हम अपनी मर्जी आये, न अपनी मर्जी जाते हैं। न तो हमें जन्म का कोई पता है--क्यों जन्मे? न हमें मृत्यु का कोई पता है--क्यों मरेंगे? न हमसे किसी ने पूछा जन्म के पहले कि "जन्मना चाहते हो?" न कोई हमसे मरने के पहले पूछेगा कि "मरोगे, मरने की इच्छा है?" सब यहां हो रहा है। हमसे कौन पूछता है? हम व्यर्थ ही बीच में क्यों अपने को लाएं?
जिससे जीवन निकला है, उसी में हम विसर्जित होंगे। और जिसने जीवन दिया है, उस पर अविश्वास कैसा? जहां से इस सुंदर जीवन का आविर्भाव हुआ है, उस स्रोत पर अविश्वास कैसा? जहां से ये फूल खिले हैं, जहां ये कमल खिले हैं, जहां ये चांदत्तारे हैं, जहां ये मनुष्य हैं, पशु-पक्षी हैं, जहां इतना गीत है, जहां इतना संगीत है, जहां इतना प्रेम है--उस पर अविश्वास क्यों? विश्वास का अर्थ है: हम अपने को विजातीय नहीं मानते, परदेसी नहीं मानते; हम अपने को इस अस्तित्व के साथ एक मानते हैं। इस एक की उदघोषणा के होते ही जीवन में सुख की वर्षा हो जाती है।
"...ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"
विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव।
अभी हो जा सुखी! पीत्वा सुखी भव! इसी क्षण हो जा सुखी!

"मैं एक विशुद्ध बोध हूं, ऐसी निश्चय-रूपी अग्नि से अज्ञान-रूपी वन को जला कर तू वीतशोक हुआ सुखी हो।"
अभी हो जा दुख के पार!
एक छोटी-सी बात को जान लेने से दुख विसर्जित हो जाता है कि मैं विशुद्ध बोध हूं, कि मैं मात्र साक्षी-भाव हूं, कि मैं केवल द्रष्टा हूं। अहंकार का रोग एकमात्र रोग है।
मैंने सुना है, दिल्ली के एक कवि-सम्मेलन में मुल्ला नसरुद्दीन भी सम्मिलित हुआ। जब कवि- सम्मेलन समाप्त हुआ और संयोजक पारिश्रमिक बांटने लगे तो वह तृप्त न हुआ। पारिश्रमिक जितना वह सोचता था उतना उसे मिला नहीं। वह बड़ा नाराज हुआ। उसने कहा, "जानते हो, मैं कौन हूं? मैं पूना का कालीदास हूं!" संयोजक भी छंटे लोग रहे होंगे। उन्होंने कहा, "ठीक है, लेकिन यह तो बताइये पूना के किस मोहल्ले के कालीदास हैं?"
मोहल्ले-मोहल्ले में कालीदास हैं, मोहल्ले-मोहल्ले में टैगोर हैं।
हर आदमी यही सोचता है कि अनूठी, अद्वितीय प्रतिभा है उसकी!
अरब में कहावत है कि परमात्मा जब किसी आदमी को बनाता है तो उसके कान में कह देता है, तुमसे बेहतर आदमी कभी बनाया ही नहीं। और यह सभी से कहता है। यह मजाक बड़ी गहरी है। और हर आदमी मन में यही खयाल लिए जीता है कि मुझसे बेहतर आदमी कोई बनाया ही नहीं। मैं सर्वोत्कृष्ट कृति हूं। कोई माने न माने, तो वह उसकी नासमझी है। ऐसे मैं सर्वोत्कृष्ट कृति हूं!
इस दंभ में जीता आदमी बड़े दुख पाता है। क्योंकि इस दंभ के कारण वह बड़ी अपेक्षाएं करता है जो कभी पूरी नहीं होंगी। उसकी अपेक्षाएं अनंत हैं; जीवन बहुत छोटा है। जिसने भी अपेक्षा बांधी वह दुखी होगा।
इस जीवन को एक और ढंग से भी जीने की कला है--अपेक्षा-शून्य; बिना कुछ मांगे; जो मिल जाये, उसके प्रति धन्यवाद से भरे हुए; कृतज्ञ-भाव से! वही आस्तिक की प्रक्रिया है।
जो तुम्हें मिला है वह इतना है! मगर तुम उसे देखो तब न!
मैंने सुना है, एक आदमी मरने जा रहा था। जिस नदी के किनारे वह मरने गया, एक सूफी फकीर बैठा हुआ था। उसने कहा, "क्या कर रहे हो?" वह कूदने को ही था, उसने कहा: "अब रोको मत, बहुत हो गया! जिंदगी में कुछ भी नहीं, सब बेकार है! जो चाहा, नहीं मिला। जो नहीं चाहा, वही मिला। परमात्मा मेरे खिलाफ है। तो मैं भी क्यों स्वीकार करूं यह जीवन?"
उस फकीर ने कहा, "ऐसा करो, एक दिन के लिए रुक जाओ, फिर मर जाना। इतनी जल्दी क्या? तुम कहते हो, तुम्हारे पास कुछ भी नहीं?"
उसने कहा, "कुछ भी नहीं! कुछ होता तो मरने क्यों आता?"
उस फकीर ने कहा, "तुम मेरे साथ आओ। इस गांव का राजा मेरा मित्र है।"
फकीर उसे ले गया। उसने सम्राट के कान में कुछ कहा। सम्राट ने कहा, "एक लाख रुपये दूंगा।" उस आदमी ने इतना ही सुना; फकीर ने क्या कहा कान में, वह नहीं सुना। सम्राट ने कहा, "एक लाख रुपये दूंगा।" फकीर आया और उस आदमी के कान में बोला कि सम्राट तुम्हारी दोनों आंखें एक लाख रुपये में खरीदने को तैयार है। बेचते हो?
उसने कहा, "क्या मतलब? आंख, और बेच दूं! लाख रुपये में! दस लाख दे तो भी नहीं देने वाला।"
तो वह सम्राट के पास फिर गया। उसने कहा, "अच्छा ग्यारह लाख देंगे।"
उस आदमी ने कहा, "छोड़ो भी, यह धंधा करना ही नहीं। आंख बेचेंगे क्यों?" फकीर ने कहा, "कान बेचोगे? नाक बेचोगे? यह सम्राट हर चीज खरीदने को तैयार है। और जो दाम मांगो देने को तैयार है।"
उसने कहा, "नहीं, यह धंधा हमें करना ही नहीं, बेचेंगे क्यों?"
उस फकीर ने कहा, "जरा देख, आंख तू ग्यारह लाख में भी बेचने को तैयार नहीं, और रात तू मरने जा रहा था और कह रहा था कि मेरे पास कुछ भी नहीं है!" जो मिला है वह हमें दिखायी नहीं पड़ता। जरा इन आंखों का तो खयाल करो, यह कैसा चमत्कार है! आंख चमड़ी से बनी है, चमड़ी का ही अंग है; लेकिन आंख देख पाती है, कैसी पारदर्शी है! असंभव संभव हुआ है। ये कान सुन पाते संगीत को,

पक्षियों के कलरव को, हवाओं के मरमर को, सागर के शोर को! ये कान सिर्फ चमड़ी और हड्डी से बने हैं, यह चमत्कार तो देखो!
तुम हो, यह इतना बड़ा चमत्कार है कि इससे बड़ा और कोई चमत्कार क्या तुम सोच सकते हो। इस हड्डी, मांस-मज्जा की देह में चैतन्य का दीया जल रहा है, जरा इस चैतन्य के दीये का मूल्य तो आंको!
नहीं, लेकिन तुम्हारी इस पर कोई दृष्टि नहीं! तुम कहते हो, हमें सौ रुपये की नौकरी मिलनी चाहिए थी, नब्बे रुपये की मिली--मरेंगे, आत्महत्या कर लेंगे! कि होना चाहिए था मिनिस्टर, केवल डिप्टी मिनिस्टर हो पाये--नहीं जीयेंगे! कि मकान बड़ा चाहिए था, छोटा मिला--अब कोई सार रहने का नहीं है! कि दिवाला निकल गया, कि बैंक में खाता खाली हो गया--अब जीने में सार क्या है! कि एक स्त्री चाही थी, वह न मिली; कि एक पुरुष चाहा था, वह न मिला--बस अब मरेंगे!
जितना तुम चाहोगे उतना ही तुम्हारे जीवन में दुख होगा। जितना तुम देखोगे कि बिना चाहे कितना मिला है! अपूर्व तुम्हारे ऊपर बरसा है! अकारण! तुमने कमाया क्या है? क्या थी कमाई तुम्हारी, जिसके कारण तुम्हें जीवन मिले? क्या है तुम्हारा अर्जन, जिसके कारण क्षण भर तुम सूरज की किरणों में नाचो, चांदत्तारों से बात करो? क्या है कारण? क्या है तुम्हारा बल? क्या है प्रमाण तुम्हारे बल का, कि हवाएं तुम्हें छुएं और तुम गुनगुनाओ, आनंदमग्न हो, कि ध्यान संभव हो सके? इसके लिए तुमने क्या किया है? यहां सब तुम्हें मिला है--प्रसादरूप! फिर भी तुम परेशान हो। फिर भी तुम कहे चले जाते हो। फिर भी तुम उदास हो। जरूर अहंकार का रोग खाये चला जा रहा है। वही सबको पकड़े हुए है।
मैंने सुना है, एक परिवार के सभी सदस्य फिल्मों में काम करते थे। एक बार परिवार का मुखिया अपने पारिवारिक डाक्टर के पास आया और बोला, "डाक्टर साहब, मेरे बेटे को छूत की बीमारी है--स्कारलेट फीवर। और वह मानता है कि उसने घर की नौकरानी को चूमा है।"
"आप घबड़ाइये नहीं," डाक्टर ने सलाह दी, "जवानी में खून जोश मारता ही है।"
"आप समझे नहीं डाक्टर," वह आदमी बोला और थोड़ा बेचैन होकर, "सच बात यह है
कि उसके बाद मैं भी उस लड़की को चूम चुका हूं।"
"तब तो मामला कुछ गड़बड़ नजर आता है," डाक्टर ने स्वीकार किया।
"अभी क्या गड़बड़ है, डाक्टर साहब! उसके बाद मैं अपनी पत्नी को भी दो बार चूम चुका हूं।"
इतना सुनते ही डाक्टर अपनी कुर्सी से उछलकर चिल्लाया, "तब तो मारे गए!
तब तो यह वाहियात बीमारी मुझे भी लग चुकी होगी!"
वे उनकी पत्नी को चूम चुके हैं। ऐसे बीमारी फैलती चली जाती है!
अहंकार छूत की बीमारी है।
जब बच्चा पैदा होता है तो कोई अहंकार नहीं होता; बिलकुल निरहंकार, निर्दोष होता है; खुली किताब होता है; कुछ भी लिखावट नहीं होती; खाली किताब होता है! फिर धीरे-धीरे अक्षर लिखे जाते हैं। फिर धीरे-धीरे अहंकार निर्मित किया जाता है। मां-बाप, परिवार, समाज, स्कूल, विश्वविद्यालय, फिर उसके अहंकार को मजबूत करते चले जाते हैं। यह सारी प्रक्रिया हमारे शिक्षण की और संस्कार की, सभ्यता और संस्कृति की, बस एक बीमारी को पैदा करती है-- अहंकार को जन्माती है। यह अहंकार फिर जीवन भर हमारे पीछे प्रेत की तरह लगा रहता है।
अगर तुम धर्म का ठीक अर्थ समझना चाहो तो इतना ही है: समाज, संस्कृति, सभ्यता तुम्हें जो बीमारी दे देते हैं, धर्म उस बीमारी की औषधि है, और कुछ भी नहीं। धर्म समाज-विरोधी है, सभ्यता- विरोधी है, संस्कृति-विरोधी है। धर्म बगावत है। धर्म क्रांति है।
धर्म की क्रांति का कुल अर्थ इतना ही है कि तुम्हें जो दे दिया है दूसरों ने उसे किस भांति तुम्हें सिखाया जाये कि तुम उसे छोड़ दो। उसे पकड़ कर मत चलो--वही तुम्हारी पीड़ा है; वही तुम्हारा नर्क है। अहंकार के

अतिरिक्त जीवन में और कोई बोझ नहीं है। अहंकार के अतिरिक्त जीवन में और कोई बंधन जंजीर नहीं है।
"मैं एक विशुद्ध बोध हूं, ऐसी निश्चय रूपी अग्नि से अज्ञान-रूपी वन को जला कर तू वीतशोक हो, सुखी हो!"
अहंकार का अर्थ है: अपने चैतन्य को किसी और चीज से जोड़ लेना।
एक आदमी कहता है कि मैं बुद्धिमान हूं, तो उसने बुद्धिमानी से अपने अहंकार को जोड़ लिया; तो उसकी चेतना अशुद्ध हो गयी।
तुमने देखा, दूध में कोई पानी मिला देता है तो हम कहते हैं, दूध अशुद्ध
हो गया। लेकिन अगर पानी मिलाने वाला कहे कि हमने बिलकुल शुद्ध पानी मिलाया है, फिर? तब भी तुम कहोगे, अशुद्ध हो गया। शुद्ध पानी मिलाओ या अशुद्ध, यह थोड़े ही सवाल है--पानी मिलाया! इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुमने शुद्ध पानी मिलाया, तो भी दूध तो अशुद्ध हो गया! और अगर गौर करो तो दूध ही अशुद्ध नहीं हुआ, पानी भी अशुद्ध हो गया। पानी और दूध दोनों शुद्ध थे अलग-अलग, मिलकर अशुद्ध हो गये।
विपरीत और विजातीय और अन्य से मिलकर उपद्रव होता है। चैतन्य जैसे ही अपने से भिन्न से मिल जाता है। तुमने कहा, मैं बुद्धिमान...। बुद्धि यंत्र है; उसका उपयोग करो। बुद्धिमान मत बनो। यही बुद्धिमानी है--बुद्धिमान मत बनो! तुमने कहा, मैं बुद्धिमान--उपद्रव शुरू हुआ! दूध पानी से मिल गया। फिर तुम्हारी बुद्धि कितनी ही शुद्ध हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुमने कहा, मैं चरित्रवान--दूध पानी से मिल गया। अब तुम्हारा चरित्र कितना ही शुद्ध हो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। दुश्चरित्र और सच्चरित्र दोनों के अहंकार होते हैं।
मैंने सुना है, एक पुरानी कहानी कि जार के जमाने में, रूस में, साइबेरिया में तीन कैदी बंद थे। और तीनों में सदा विवाद हुआ करता था कि कौन बड़ा अपराधी है। और तीनों में सदा विवाद हुआ करता था कि कौन ज्यादा दिन से जेल भोग रहा है। जेल में अक्सर यह होता है। लोग वहां भी बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं। ऐसा नहीं कि तुम अपना बैंक-बैलेंस बढ़ा-चढ़ा कर बताते हो और मेहमान आ जाते हैं तो घर में पड़ोस से फर्नीचर मांगकर और गलीचे बिछा देते हो। तुम्हीं धोखा देते हो, ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं है कि तुम्हीं दूसरों को देखकर खूब जोर-जोर से हरे राम, हरे राम करने लगते हो, कि कोई आ जाये तो प्रार्थना लंबी हो जाती है, पूजा की घंटियां जोर से बजने लगती हैं; कोई न आये, जल्दी निपटा लेते हो। ऐसा तुम ही करते हो, ऐसा नहीं है। मेहमान घर में हों तो तुम मंदिर चले जाते हो, क्योंकि मेहमानों पर धार्मिक होने का प्रभाव डालना है। कैदी भी कारागृह में इसी तरह करते हैं।
उन तीन कैदियों में विवाद होता था। एक दिन पहले कैदी ने कहा, "मैं जब जेल में आया था, जब मुझे साइबेरिया की जेल में डाला गया, तब मोटर गाड़ी नहीं चलती थी।"
दूसरे ने कहा, "इसमें क्या रखा है? अरे, मैं जब डाला गया तब बैलगाड़ी तक नहीं चलती थी।"
तीसरे ने कहा, "बैलगाड़ी! बैलगाड़ी क्या होती है?"
वे यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि कौन कितने प्राचीन समय से इस जेल में पड़ा हुआ है। इसमें भी अहंकार है।
मैंने सुना है, एक जेल में एक नया अपराधी आया। जिस कोठरी में उस भेजा गया था, उसे कोठरी में एक दादा पहले से ही जमे थे। उस दादा ने पूछा कि कितने दिन रहेगा? उसने कहा कि यही कोई बीस साल की सजा हुई है। उसने कहा, "तू दरवाजे पर ही रह! तुझे जल्दी निकलना पड़ेगा। तू दरवाजे के पास ही अपना बिस्तरा लगा ले।"
अपराधी का भी अहंकार है। बुरे के साथ भी आदमी अपने अहंकार को भरता है, भले के साथ भी भरता है! लेकिन दोनों स्थितियों में चैतन्य अशुद्ध हो जाता है।
अष्टावक्र कहते हैं, "मैं एक विशुद्ध बोध हूं।" न तो मैं बुद्धिमान हूं, न मैं चरित्रवान हूं न मैं चरित्रहीन हूं, न मैं सुंदर हूं न मैं असुंदर हूं, न मैं जवान हूं न मैं बूढ़ा हूं, न गोरा न काला, न हिंदू न

मुसलमान, न ब्राह्मण न शूद्र--मेरा कोई तादात्म्य नहीं है। मैं इन सबको देखने वाला हूं।
जैसे तुमने दीया जलाया अपने घर में, तो दीये की रोशनी टेबिल पर भी पड़ती है, कुर्सी पर भी पड़ती है, दीवाल पर भी पड़ती है, दीवाल-घड़ी पर भी पड़ती है, फर्नीचर पर, अलमारी पर, कालीन पर, फर्श पर, छप्पर पर--सब पर पड़ती है। तुम बैठे, तुम पर भी पड़ती है। लेकिन ज्योति न तो दीवाल है, न छप्पर है, न फर्श है, न टेबिल है, न कुर्सी है। सब रोशन है उस रोशनी में; लेकिन रोशनी अलग है। शुद्ध चैतन्य तुम्हारी रोशनी है, तुम्हारा बोध है। वह बोध तुम्हारी बुद्धि पर भी पड़ता, तुम्हारी देह पर भी पड़ता, तुम्हारे कृत्य पर भी पड़ता; लेकिन तुम उनमें से कोई भी नहीं हो।
जब तक तुम अपने को किसी से जोड़कर जानोगे, तब तक अहंकार पैदा होगा। अहंकार है: चेतना का किसी अन्य वस्तु से तादात्म्य। जैसे ही तुमने सारे तादात्म्य छोड़ दिये--तुमने कहा, मैं तो बस शुद्ध बोध हूं, मैं तो शुद्ध बोध हूं, शुद्ध बुद्ध हूं--वैसे ही तुम घर लौटने लगे; मुक्ति का क्षण करीब आने लगा।
अष्टावक्र कहते हैं, "विशुद्ध बोध हूं, ऐसी धारणा...।"
अहं एका विशुद्ध बोधः इति।
"ऐसे निश्चय-रूपी अग्नि से...।"
यह क्या है निश्चय-रूपी बात? सुनकर यह निश्चय न होगा। केवल बुद्धि से समझकर यह निश्चय न होगा। ऐसा तो बहुत बार तुमने समझ लिया है, फिर-फिर भूल जाते हो। अनुभव से यह निश्चय होगा। थोड़े प्रयोग करोगे तो निश्चय होगा। प्रतीति होगी तो निश्चय होगा। और निश्चय होगा तो क्रांति घटित होगी। "...अज्ञान-रूपी वन को जला कर तू वीतशोक हुआ सुख को प्राप्त हो, सुखी हो।"
"जिसमें यह कल्पित संसार रस्सी में सांप जैसा भासता है, तू वही आनंद परमानंद बोध है। अतएव तू सुखपूर्वक विचर।"
यहां दुख का कोई कारण ही नहीं है। तुम नाहक एक दुख-स्वप्न में दबे और परेशान हुए जा रहे हो।
दुख-स्वप्न तुमने देखा? अपने ही हाथ छाती पर रखकर आदमी सो जाता है, हाथ के वजन से रात नींद में लगता है कि छाती पर कोई भूत-प्रेत चढ़ा है! अपने ही हाथ रखे हैं छाती पर, उनका ही वजन पड़ रहा है; लेकिन निद्रा में वही वजन भ्रांति बन जाता है। या अपना ही तकिया रख लिया अपनी छाती पर, लगता है पहाड़ गिर गया! चीखता है, चिल्लाता है। चीख भी नहीं निकलती। हाथ-पैर हिलाना चाहता है। हाथ-पैर भी नहीं हिलते--ऐसी घबड़ाहट बैठ जाती है। फिर जब नींद भी टूट जाती है तो भी पाता है पसीना-पसीना है। नींद भी टूट जाती है, जाग भी जाता है, समझ भी लेता है--कोई दुश्मन नहीं, कोई पहाड़ नहीं गिरा, अपना ही तकिया अपनी छाती पर रख लिया, कि अपने ही हाथ अपनी छाती पर रख लिए थे--तो भी सांस धक-धक चल रही है; जैसे मीलों दौड़कर आया हो। सपना टूट गया, फिर भी अभी तक परिणाम जारी है।
जिनको हम यह संसार के दुख कह रहे हैं, वे हमारे ही बोध की भ्रांतियां हैं।
"जिसमें यह कल्पित संसार रस्सी में सांप जैसा भासता है...।"
तुमने देखा कभी, रस्सी पड़ी हो रास्ते पर अंधेरे में, बस सांप का खयाल आ जाता है! खयाल आ गया तो रस्सी पर सांप आरोपित हो गया। भागे! चीख-पुकार मचा दी! हो सकता है दौड़ने में गिर पड़ो, हाथ-पैर तोड़ लो, तब बाद में पता चले कि सिर्फ रस्सी थी, नाहक दौड़े! लेकिन फिर क्या होता है? हाथ-पैर तोड़ चुके! लेकिन अगर तुम्हारे पास थोड़ा-सा भी बोध का दीया हो, प्रकाश हो थोड़ा, तो अंधेरी से अधेरी रात में भी तुम बोध के दीये से देख पाओगे कि रस्सी रस्सी है, सर्प नहीं है। इस बोध में ही आनंद और परमानंद का जन्म होता है।
"...अतएव तू सुखपूर्वक विचर!"
तेरे पास सूत्र है। तेरे पास ज्योति है। ज्योति को तूने नाहक के परदों में ढांका। परदे हटा। घूंघट के पट खोल! विचार के, वासना के, अपेक्षा

के, कल्पनाओं के, सपनों के परदे हटाओ। वे ही हैं घूंघट। घूंघट को हटाओ।
खुली आंख से देखो।
लोग बुर्के ओढ़े बैठे हैं। उन बुर्कों के कारण कुछ दिखायी नहीं पड़ता।
धक्के खा रहे हैं, गङ्ढों में गिर रहे हैं।
"...वही आनंद परमानंद बोध है। अतएव तू सुखपूर्वक विचर।"
यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनंद परमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर।।
आनंद परमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर।
इस थोड़े-से बोध को समझ लो, पकड़ लो, पहचान लो--फिर विचरण करो सुख में। यह अस्तित्व परम आनंद है। इस अस्तित्व ने दुख जाना नहीं। दुख तुम्हारा निर्मित किया हुआ है।
कठिन है समझना यह बात, क्योंकि हम इतने दुख में जी रहे हैं, हम कैसे मानें कि दुख नहीं है। वह जो रस्सी को देखकर भाग गया है, वह भी नहीं मानता की सर्प नहीं है। वह जो हाथ रखकर छाती पर पड़ा है और सोचता है पहाड़ गिर गया, वह भी उस क्षण में तो नहीं मान सकता कि पहाड़ नहीं गिर गया है। वैसी ही हमारी दशा है।
क्या करें?
थोड़े दृश्य से द्रष्टा की तरफ चलें! देखें सब, लेकिन देखने वाले को न भूलें। सुनें सब, सुनने वाले को न भूलें। करें सब, लेकिन स्मरण रखें कि कर्ता नहीं हैं।
बुद्ध कहते थे: चलो राह पर और स्मरण रखो कि भीतर कोई चल नहीं रहा है।
भीतर सब अचल है।
ऐसा ही है भी।
गाड़ी के चाक को चलते देखा है? कील तो ठहरी रहती है, चाक चलता जाता है।
ऐसे ही जीवन का चाक चलता है, कील तो ठहरी हुई है। कील हो तुम।
"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है और बद्ध का अभिमानी बद्ध है। क्योंकि इस संसार में यह लोकोक्ति सच है कि जैसी मति वैसी गति।"
यह सूत्र मूल्यवान है।
"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है।"
जिसने जान लिया कि मैं मुक्त हूं वह मुक्त है। मुक्ति के लिए कुछ और करना नहीं; इतना जानना ही है कि मैं मुक्त हूं! तुम्हारे करने से मुक्ति न आयेगी, तुम्हारे जानने से मुक्ति आयेगी। मुक्ति कृत्य का परिणाम नहीं, ज्ञान का फल है।
"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है, और बद्ध का अभिमानी बद्ध है।"
जो सोचता है मैं बंधा हूं, वह बंधा है। जो सोचता है मैं मुक्त हूं, वह मुक्त है।
तुम जरा करके भी देखो! एक चौबीस घंटे ऐसा सोचकर देखो कि चलो चौबीस घंटे यही सही: मुक्त हूं! चौबीस घंटे मुक्त रहकर देख लो। तुम बड़े चकित होओगे, तुम्हें खुद ही भरोसा न आयेगा। कि अगर तुम सोच लो मुक्त हो तो कोई नहीं बांधने वाला है। तो तुम मुक्त हो। तुम सोच लो कि बंधा हूं तो हर चीज बांधने वाली है।
मेरे एक मित्र थे, मेरे साथ प्रोफेसर थे। होली के दिन थे, भांग पी ली। रास्ते पर शोरगुल मचा दिया। हुल्लड़ कर दी। बड़े सीधे आदमी थे। सीधे आदमी के साथ खतरा है। उसके भीतर काफी दबा पड़ा रहता है। उपद्रवी नहीं थे। नाम भी उनका भोलाराम था। भोले-भाले आदमी थे। भोले-भाले आदमी के साथ एक खतरा है: भांग वगैरह से बचना चाहिए। क्योंकि वह भोला-भालापन जो ऊपर-ऊपर है, भांग ने तो डुबा दिया, भीतर जो दबा पड़ा था, जिंदगी भर में जो नहीं किया था, वह सब निकल आया। वे सड़क पर गये, शोरगुल मचाया, उपद्रव कर दिया, किसी स्त्री के साथ छेड़-छाड़ कर दी। पकड़ लिए गए। थाने में बंद कर दिये गये। अंग्रेजी के प्रोफेसर थे।
रात कोई दो बजे आदमी मेरे पास आया और उसने कहा कि आपके मित्र पकड़ गये हैं और उन्होंने खबर भेजी है कि निकालो; सुबह के पहले निकालो, नहीं तो मुश्किल हो जायेगी! बामुश्किल उनको निकाल पाये सुबह होतेऱ्होते। निकाल

तो लाये, लेकिन वे ऐसे घबड़ा गये--सीधे-साधे आदमी थे--वे ऐसे घबड़ा गये कि बस मुश्किल खड़ी हो गयी। तीन महीने उन्होंने ऐसा कष्ट भोगा...सड़क से पुलिस वाला निकले कि वे छिप जाएं, कि वह आ रहा है पकड़ने! मेरे साथ एक ही कमरे में रहते थे। रात पुलिस वाला सीटी बजाये, वे बिस्तर के नीचे हो जाएं। मैं कहूं, "तुम कर क्या रहे हो?"
"आ रहे हैं वे लोग!"
फिर तो हालत ऐसी बिगड़ गयी कि वे न मुझे सोने दें न खुद सोयें। वे कहें
कि जगो, सुना तुमने? वे लोग...! हवा में खबर है, आवाज आ रही है। रेडियो पर वे लोग यहां-वहां से खबर भेज रहे हैं कि भोलाराम कहां है!
मैंने कहा, "भोलाराम, तुम सो जाओ!"
"अरे, सो कैसे जाएं, जीवन खतरे में है। वे पकड़ेंगे! फाइल है मेरे खिलाफ।"
आखिर मैं इतना परेशान हो गया कि कोई रास्ता न देखकर...। कालेज भी जाना उन्होंने बंद कर दिया, छुट्टी लेकर घर बैठ गये। वह चौबीस घंटे एक ही रंग चलने लगा, जिसको मनोवैज्ञानिक पैरानायड कहते हैं, वे पैरानायड हो गये-- अपने भय से ही रचना करने लगे। भले आदमी थे, कभी सोचा भी नहीं था मैंने। लेकिन एक अनुभव हुआ कि आदमी क्या-क्या कल्पना नहीं कर ले सकता है! "दीवालों के", वे कहें, "कान हैं। सब तरफ लोग सुन रहे हैं।" कोई भी रास्ते पर चल रहा है तो वह उन्हीं को देखता हुआ चल रहा है। कोई किनारे पर खड़े हो कर हंस रहा है तो वह भोलाराम को देख कर हंस रहा है। कोई बात कर रहा है तो वह उनके खिलाफ षडयंत्र रच रहा है। सारी दुनिया उनके खिलाफ है।
फिर कोई उपाय न देख कर मुझे एक ही रास्ता दिखायी पड़ा। एक परिचित मित्र थे, इंस्पेक्टर थे। उनको समझाया कि तुम आ जाओ एक दिन फाइल ले कर। "उन्होंने कहा, फाइल हो तो हम ले आयें। न कोई फाइल है, न कुछ हिसाब है।
इस आदमी ने कभी कुछ किया ही नहीं; सिर्फ एक दफा भंग पी, थोड़ा ऊधम मचाया, खतम हो गयी बात। अब इसमें कोई इतना शोरगुल नहीं।"
"कोई भी फाइल ले लाओ। कागज कोरे रखकर आ जाना। मगर फाइल बड़ी होनी चाहिए, क्योंकि वे कहते हैं कि फाइल बड़ी है। और भोलाराम का नाम लिखी होनी चाहिए। और तुम चिंता मत करना, दो-चार हाथ इनको रसीद कर देना और बांध भी देना हथकड़ी इनके हाथ में और जब तक मैं तुमको दस हजार रुपया रिश्वत न दूं, इनको छोड़ने के लिए राजी मत होना। तब ही शायद ये छूटें।"
लाना पड़ा। उन्होंने दो-चार हाथ उनको लगाये। जब उनको हाथ लगाए, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। वे कहने लगे मुझसे, "अब देखो! जो मैं कहता था, अब हुआ कि नहीं? यह रही फाइल। बड़े-बड़े अक्षरों में भोलाराम लिखा है। अब बोलो, वे सब समझदारी की बातें कहां गयीं? अब यह हो रहा है: चले भोलाराम! हथकड़ी भी डाल दी!"
मगर एक तरह से वे प्रसन्न थे; एक तरह से दुखी थे, रो रहे थे; मगर एक तरह
से प्रसन्न थे कि उनकी धारणा सही सिद्ध हुई। आदमी ऐसा पागल है! तुम्हारे दुख की धारणा भी सही सिद्ध हो तो तुम्हारे अहंकार को तृप्ति मिलती है कि देखो, मैं सही सिद्ध हुआ!
उनका पूरा भाव यह था कि सब को गलत सिद्ध कर दिया, सब समझाने वाले, कोई सही सिद्ध नहीं हुआ, आखिर मैं ही सही सिद्ध हुआ।
बामुश्किल समझाया-बुझाया इंस्पेक्टर को। उसको कह रखा था, जल्दी मत मान जाना; नहीं तो वे फिर सोचेंगे कि कोई जालसाजी है। उसने कहा, "यह हो ही नहीं सकता। इनको तो आजन्म सजा होगी।" बस वह जब इस तरह की बातें कहे, वे मेरी तरफ देखें कि कहो!
बहुत मुश्किल से समझा-बुझा कर, हाथ पैर जोड़ कर नोट की गड्डियां उनको दीं, फाइल जलायी सामने। उस दिन से भोलाराम मुक्त हो गये, ठीक हो गये! सब खतम हो गया मामला!
करीब-करीब ऐसी अवस्था है।
"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है और बद्ध का अभिमानी बद्ध। क्योंकि इस संसार में यह लोकोक्ति सच है कि जैसी मति वैसी गति।"

तुम जैसा सोचते हो वैसा ही हो गया है। तुम्हारे सोचने ने तुम्हारा संसार निर्मित कर दिया है। सोच को बदलो। जागो! और ढंग से देखो।
सब यही रहेगा; सिर्फ तुम्हारे देखने, सोचने, जानने के ढंग बदल जायेंगे--और सब बदल जायेगा।
मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदंतीह सत्येयं या मतिः स गतिर्भवेत।।
या मतिः स गतिर्भवेत!
जैसा सोचो, जैसी मति वैसी गति हो जाती है।
"आत्मा साक्षी है, व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चेतन है, क्रिया-रहित है, असंग है, निस्पृह है, शांत है। वह भ्रम के कारण संसार जैसा भासता है।"
साक्षी, व्यापक, पूर्ण--सुनो इस शब्द को!
अष्टावक्र कहते हैं, तुम पूर्ण हो! पूर्ण होना नहीं है। तुममें कुछ भी जोड़ा नहीं जा सकता। तुम जैसे हो, परिपूर्ण हो। तुममें कुछ विकास नहीं करना है। तुम्हें कुछ सोपान नहीं चढ़ने हैं। तुम्हारे आगे कुछ भी नहीं है। तुम पूर्ण हो, तुम परमात्मा हो, व्यापक हो, साक्षी हो, एक हो, मुक्त हो, चेतन हो, क्रिया-रहित हो, असंग हो। किसी ने तुम्हें बांधा नहीं, कोई संग-साथी नहीं है। अकेले हो! परम एकांत में हो! निस्पृह हो!
ऐसा होना नहीं है। यही फर्क है अष्टावक्र के संदेश का। अगर तुम महावीर को सुनो तो महावीर कहते हैं, ऐसा होना है। अष्टावक्र कहते हैं, ऐसे तुम हो!
यह बड़ा फर्क है। यह छोटा फर्क नहीं है। महावीर कहते हैं: असंग होना है, निस्पृह होना है, पूर्ण होना है, व्यापक होना है, साक्षी होना है। अष्टावक्र कहते हैं: तुम ऐसे हो; बस जागना है! ऐसा आंख खोलकर देखना है। अष्टावक्र का योग बड़ा सहजयोग है।
साधो सहज समाधि भली!
"मैं आभास-रूप अहंकारी जीव हूं, ऐसे भ्रम को और बाहर-भीतर के भाव को छोड़ कर तू कूटस्थ बोध-रूप अद्वैत आत्मा का विचार कर।"
"अहं आभासः इति--मैं आभास-रूप अहंकारी जीव हूं!"
यह तुमने जो अब तक मान रखा है, यह सिर्फ आभास है। यह तुमने जो मान रखा है, यह तुम्हारी मान्यता है, मति है। यद्यपि तुम्हारे आसपास भी ऐसा ही मानने वाले लोग हैं, इसलिए तुम्हारी मति को बल भी मिलता है। आखिर आदमी अपनी मति उधार लेता है। तुम दूसरों से सीखते हो। आदमी अनुकरण करता है। यहां सभी दुखी हैं, तुम भी दुखी हो गये हो।
जापान में एक अदभुत संत हुआ: "होतेई"। जैसे ही वह ज्ञान को उपलब्ध हुआ,
या कहना चाहिए जैसे ही वह जागा, वह हंसने लगा। फिर वह जीवन भर हंसता ही रहा। वह गांव-गांव जाता। होतेई को जापान में लोग "हंसता हुआ बुद्ध" कहते हैं। वह बीच बाजार में खड़ा हो जाता और हंसने लगता। फिर तो उसका नाम दूर-दूर तक फैल गया। लोग उसकी प्रतीक्षा करते कि होतेई कब आएगा। उसका कोई और उपदेश न था, वह बस बीच बाजार में खड़े हो कर हंसता, धीरे-धीरे भीड़ इकट्ठी हो जाती, और लोग भी हंसने लगते।
होतेई से लोग पूछते, "आप कुछ और कहो।" वह कहता, "और क्या कहें? नाहक रो रहे हो, कोई हंसने वाला चाहिए जो तुम्हें हंसा दे! इतनी ही खबर लाता हूं कि हंस लो। कोई कमी नहीं है! दिल खोल कर हंसो। सारा अस्तित्व हंस रहा है, तुम नाहक रो रहे हो! तुम्हारा रोना बिलकुल निजी, प्राईवेट है। पूरा अस्तित्व हंस रहा है। चांदत्तारे, फूल-पक्षी सब हंस रहे हैं; तुम नाहक रो रहे हो। खोलो आंख, हंस लो! मेरा कोई और संदेश नहीं है।"
वह हंसता, एक गांव से दूसरे गांव घूमता रहता। कहते हैं उसने पूरे जापान को हंसाया! और उसके पास लोगों को धीरे-धीरे, धीरे-धीरे, हंसतेऱ्हंसते झलकें मिलतीं। वह उसका ध्यान था, वही उसकी समाधि थी। लोग हंसतेऱ्हंसते धीरे-धीरे अनुभव करते कि हम हंस सकते हैं, हम प्रसन्न हो सकते हैं! अकारण!

कारण की खोज ही गलत है। तुम जब तक कारण खोजोगे कि जब कारण होगा तब हंसेंगे तो तुम कभी हंसोगे ही नहीं। तुमने अगर सोचा कि कारण होगा तब सुखी होंगे, तो तुम कभी सुखी न होओगे। कारण खोजने वाला और-और दुखी होता जाता है। कारण दुख के हैं। सुख स्वभाव है। कारण को निर्मित करना पड़ता है। दुख को भी निर्मित करना पड़ता है। सुख है। सुख मौजूद है। सुख को प्रगट करो। यही अष्टावक्र का बार-बार कहना है।
"बोधस्त्वं सुखं चर!"
"वीतशोकः सुखी भव!"
"विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव!"
पी ले अमृत, हो जा सुखी!
मनुष्य पूर्ण है, एक है, मुक्त है। सिर्फ आभास बाधा डाल रहा है।
"मैं आभास-रूप अहंकारी जीव हूं, ऐसे भ्रम को और बाहर-भीतर के भाव को छोड़ कर तू कूटस्थ बोध-रूप अद्वैत आत्मा का विचार कर।"
अहं आभासः इति बाह्यं अंतरम् मुक्त्वा
"बाहर और भीतर के भाव से मुक्त हो जा।"
आत्मा न तो बाहर है और न भीतर। बाहर और भीतर भी सब मन के ही भेद हैं। आत्मा तो बाहर भी है, भीतर भी है। आत्मा में सब बाहर-भीतर है। आत्मा ही है। बाहर-भीतर के सब भाव को छोड़ कर तू कूटस्थ बोध-रूप अद्वैत आत्मा का विचार कर।
यह अनुवाद ठीक नहीं है। मूल सूत्र है:
बाह्यं अंतरम् भावं मुक्त्वा!
--मुक्त होकर अंतर-बाहर से।
त्वं कूटस्थ बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
--परिभाव कर!
विचार कर, यह ठीक नहीं है। "परिभाव कर" कि तू कूटस्थ आत्मा है। ऐसा बोध कर, ऐसा भाव। भाव! ऐसी भावना में जग। विचार तो फिर बुद्धि की बात हो जाती है। विचार तो फिर ऊपर-ऊपर की बात हो जाती है। सिर से नहीं होगा, यह हृदय से होगा। यह भाव प्रेम जैसा होगा, गणित जैसा नहीं। यह तर्क जैसा नहीं होगा, गीत जैसा होगा--जिसकी गुनगुनाहट डूबती चली जाती है गहराई तक और प्राणों के अंतरतम को छू लेती है, स्पंदित कर देती है।
परिभाव कर कि मैं कूटस्थ आत्मा हूं। यह घूमता हुआ चाक नहीं, बीच की कील हूं। कील यानी कूटस्थ।
तुम जब तक सोचते हो पृथ्वी पर हो, पृथ्वी पर हो। जिस क्षण तुमने तैयारी दिखायी, जिस क्षण तुमने हिम्मत की, उसी क्षण आकाश में उड़ना शुरू हो सकता है।
दल के दल तैर रहे मेघ मगन भू पर
उड़ता जाता हूं मैं मेघों के ऊपर!
एक अजब लोक खुला है मेरे आगे
कोई सपना विराट सोये में जागे
कहां उड़ जाता है समय-सिंधु घर-घर!
गाड़ी जो अंधी घाटी में बर्फीली ऊर्मिल धाराओं में मछली चमकीली धंसता जाता हूं फेनिल तम के भीतर! कोसों तक लाल परिधि सूरज को घेरे छलक रहा इंद्रधनुष पंखों पर मेरे यहां-वहां फूट रहे रंगों के निर्झर! ठहरी-सी नदी कहीं उड़ते-से पुल हैं धाराओं पर धाराएं आकुल-व्याकुल हैं गल-गल कर बहे जा रहे नभ में भूधर! गांवों पर गांव धवल जंगल कासों के उगते ये तरु अनंत किसकी सांसों के! एक दूसरी धरती बना हुआ है अंबर
दल के दल तैर रहे मेघ मगन भू पर!

उड़ता जाता हूं मैं मेघों के ऊपर!
एक अजब लोक खुला है मेरे आगे!
कोई सपना विराट सोये में जागे!
जागो! सपना खूब देखा, अब जागो! बस जागना कुंजी है। कुछ और करना नहीं--न कोई साधना, न कोई योग, न आसन--बस जागना!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक चौथा प्रवचन

कर्म, विचार, भाव--और साक्षी

पहला प्रश्न: ध्यान और साक्षित्व में क्या संबंध है? उनसे चित्तवृत्तियां और अहंकार किस प्रकार विसर्जित होता है? पूर्ण निरहंकार को उपलब्ध हुए बिना क्या समर्पण संभव है? गैरिक वस्त्र और माला, ध्यान और साक्षी- साधना में कहां तक सहयोगी हैं? और कृपया यह भी समझाएं कि साक्षित्व, जागरूकता और सम्यक स्मृति में क्या अंतर है?

मनुष्य के जीवन को हम चार हिस्सों में बांट सकते हैं। सबसे पहली परिधि तो कर्म की है। करने का जगत है सबसे बाहर। थोड़े भीतर चलें तो फिर विचार का जगत है। और थोड़े भीतर चलें तो फिर भाव का जगत है, भक्ति का, प्रेम का। और थोड़े भीतर चलें, केंद्र पर पहुंचें, तो साक्षी का।
साक्षी हमारा स्वभाव है, क्योंकि उसके पार जाने का कोई उपाय नहीं--कभी कोई नहीं गया; कभी कोई जा भी नहीं सकता। साक्षी का साक्षी होना असंभव है। साक्षी तो बस साक्षी है। उससे पीछे नहीं हटा जा सकता। वहां हमारी बुनियाद आ गयी। साक्षी की बुनियाद पर यह हमारा भवन है--भाव का, विचार का, कर्म का।
इसलिए तीन योग हैं: कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग। वे तीनों ही ध्यान
की पद्धतियां हैं। उन तीनों से ही साक्षी पर पहुंचने की चेष्टा होती है।
कर्मयोग का अर्थ है: कर्म + ध्यान। सीधे कर्म से साक्षी पर जाने की जो चेष्टा है, वही कर्मयोग है।
तो ध्यान पद्धति हुई, और साक्षी-भाव लक्ष्य हुआ।
पूछा है, "ध्यान और साक्षित्व में क्या संबंध है?"
ध्यान मार्ग हुआ, साक्षित्व मंजिल हुई। ध्यान की परिपूर्णता है साक्षित्व। और साक्षी-भाव का प्रारंभ है ध्यान।
तो जो कर्म के ऊपर ध्यान को आरोपित करेगा, जो कर्म के जगत में ध्यान को जोड़ेगा--कर्म + ध्यान--वह कर्मयोगी है।
फिर ज्ञानयोगी है, वह विचार के ऊपर ध्यान को आरोपित करता है। वह विचार
के जगत में ध्यान को जोड़ता है। वह ध्यानपूर्वक विचार करने लगता है। एक नयी प्रक्रिया जोड़ देता है कि जो भी करेगा होशपूर्वक करेगा।
जब "विचार + ध्यान" की स्थिति बनती है तो फिर साक्षी की तरफ यात्रा शुरू हुई।
ध्यान है दिशा-परिवर्तन। जिस चीज के साथ भी ध्यान जोड़ दोगे वही चीज साक्षी की तरफ ले जाने का वाहन बन जाएगी।
फिर, तीसरा मार्ग है भक्तियोग--भाव के साथ ध्यान का जोड़; भाव के साथ ध्यान का गठबंधन; भाव के साथ ध्यान की भांवर! तो भाव के साथ ध्यानपूर्ण हो जाओ।
इन तीन मार्गों से व्यक्ति साक्षी की तरफ आ सकता है। लेकिन लाने वाली विधि ध्यान है। मौलिक बात ध्यान है।
जैसे कोई वैद्य तुम्हें औषधि दे और कहे, शहद में मिलाकर ले लेना; और तुम कहो, शहद मैं लेता नहीं, मैं जैन-धर्म का पालन करता हूं--तो वह कहे, दूध में मिलाकर ले लेना; और तुम कहो, दूध मैं ले नहीं सकता, क्योंकि दूध तो रक्त का ही हिस्सा है; मैं क्वेकर ईसाई हूं, मैं दूध नहीं पी सकता, दूध तो मांसाहार है। तो वैद्य कहे पानी में मिलाकर ले लेना। लेकिन औषधि एक ही है-- मधु, दूध या जल, कोई फर्क नहीं पड़ता, वह तो सिर्फ औषधि को गटकने के उपाय हैं, गले से उतर जाये, औषधि अकेली न उतरेगी।
ध्यान औषधि है।
तीन तरह के लोग हैं जगत में। कुछ लोग हैं जो बिना कर्म के जी नहीं सकते; उनके सारे जीवन का प्रवाह कर्मठता का है। खाली बैठाओ, बैठ न सकेंगे, कुछ न कुछ करेंगे। ऊर्जा है, बहती हुई ऊर्जा है--कुछ हर्ज नहीं।
तो सदगुरु कहते हैं कि फिर तुम कर्म के साथ ही ध्यान की औषधि को गटक लो। चलो यही सही। तुमसे कर्म छोड़ते नहीं बनता; ध्यान तो जोड़ सकते हो कर्म

में। तुम कहते हो, "कर्म छोड़कर तो मैं क्षण भर नहीं बैठ सकता। बैठ मैं सकता ही नहीं। बैठना मेरे बस में नहीं, मेरा स्वभाव नहीं।"
मनोवैज्ञानिक जिनको एक्स्ट्रोवर्ट कहते हैं--बहिर्मुखी--सदा संलग्न हैं, कुछ न कुछ काम चाहिए; जब तक थककर गिर न जायें, सो न जायें, तब तक कर्म को छोड़ना उन्हें संभव नहीं। कर्म उन्हें स्वाभाविक है।
तो सदगुरु कहते हैं, ठीक है, कर्म पर ही सवारी कर लो, इसी का घोड़ा बना लो! इसी में मिला लो औषधि को और गटक जाओ। असली सवाल औषधि का है। तुम ध्यानपूर्वक कर्म करने लगो। जो भी करो, मूर्च्छा में मत करो, होशपूर्वक करो। करते समय जागे रहो।
फिर कुछ हैं, जो कहते हैं कर्म का तो हम पर कोई प्रभाव नहीं; लेकिन विचार की बड़ी तरंगें उठती हैं। विचारक हैं। कर्म में उन्हें कोई रस नहीं। बाहर में उन्हें कोई उत्सुकता नहीं; मगर भीतर बड़ी तरंगें उठती हैं, बड़ा कोलाहल है। और भीतर वह क्षण भर को निर्विचार नहीं हो पाते। वे कहते हैं कि हम बैठें शांत होकर तो और विचार आते हैं। इतने वैसे नहीं आते जितने शांत होकर बैठकर आते हैं। पूजा, प्रार्थना, ध्यान का नाम ही लेते हैं कि बस विचारों का बड़ा आक्रमण, सेनाओं पर सेनाएं चली आती हैं, डुबा लेती हैं, क्या करें? तो सदगुरु कहते हैं, तुम विचार में ही मिलाकर ध्यान को पी जाओ। विचार को रोको मत; विचार आए तो उसे देखो। उसमें खोओ मत; थोड़े दूर खड़े रहो, थोड़े फासले पर। शांत भाव से देखते हुए विचार को ही धीरे-धीरे तुम साक्षी- भाव को उपलब्ध हो जाओगे। विचार से ही ध्यान को जोड़ दो।
फिर कुछ हैं, वे कहते हैं: न हमें विचार की कोई झंझट है, न हमें कर्म की कोई झंझट है; भाव का उद्रेक होता है, आंसू बहते हैं, हृदय गदगद हो आता है, डुबकी लग जाती है--प्रेम में, स्नेह में, श्रद्धा में, भक्ति में। सदगुरु कहते हैं, इसी को औषधि बना लो; इसी में ध्यान को जोड़ दो। आंसू तो बहें-- ध्यानपूर्वक बहें। रोमांच तो हो, लेकिन ध्यानपूर्वक हो। लेकिन सार-सूत्र ध्यान है।
ये जो भक्ति, कर्म और ज्ञान के भेद हैं, ये औषधि के भेद नहीं हैं। औषधि
तो एक ही है। और यहीं तुम्हें अष्टावक्र को समझना होगा।
अष्टावक्र कहते हैं, सीधे ही छलांग लगा जाओ। औषधि सीधी ही गटकी जा सकती है। वे कहते हैं, इन साधनों की भी जरूरत नहीं है।
इसलिए अष्टावक्र न तो ज्ञानयोगी हैं, न भक्तियोगी, न कर्मयोगी। वे कहते हैं, सीधे ही साक्षी में उतर जाओ; इन बहानों की कोई जरूरत नहीं है। यह औषधि सीधी ही गटकी जा सकती है। छोड़ो बहाने, वाहन छोड़ो; सीधे ही दौड़ सकते हो, साक्षी सीधे ही हो सकते हो।
इसलिए जहां तक अष्टावक्र का संबंध है, साक्षी और ध्यान में कोई फर्क नहीं; लेकिन जहां तक और पद्धतियों का संबंध है, साक्षी और ध्यान में फर्क है। ध्यान है विधि, साक्षी है मंजिल।
अष्टावक्र के लिए तो मार्ग और मंजिल एक हैं। इसलिए तो वे कहते हैं, अभी हो जाओ आनंदित। जिसकी मंजिल और मार्ग अलग हैं, वह कभी नहीं कह सकता, अभी हो जाओ। वह कहेगा, चलो, लंबी यात्रा है; चढ़ो, तब पहुंचोगे पहाड़ पर। अष्टावक्र कहते हैं, आंख खोलो--पहाड़ पर बैठे हो। कहां जाना, कैसा जाना? इसलिए अष्टावक्र के सूत्र तो अति क्रांतिकारी हैं। न तो ज्ञान, न भक्ति, न कर्म, तीनों ही इस ऊंचाई पर नहीं पहुंचते हैं; शुद्ध साक्षी की बात है। ऐसा समझो कि दवाई गटकनी तक नहीं है; समझ लेना काफी है। बोध मात्र काफी है। सहारे की कोई जरूरत ही नहीं है। तुम वहां हो ही। लेकिन ऐसा होता है कि कुछ लोग असमर्थ हैं इस बात को मानने में।
एक सूफी कहानी है। एक फकीर सत्य को खोजने निकला। अपने ही गांव के बाहर, जो पहला ही संत उसे मिला, एक वृक्ष के नीचे बैठे, उससे उसने पूछा कि मैं सदगुरु को खोजने निकला हूं, आप बताएंगे कि सदगुरु के लक्षण क्या हैं? उस फकीर ने लक्षण बता दिये। लक्षण बड़े सरल थे। उसने कहा, ऐसे-ऐसे वृक्ष के नीचे बैठा मिले, इस-इस आसन में बैठा हो, ऐसी-ऐसी मुद्रा हो--बस समझ लेना कि यही सदगुरु है।

चला खोजने साधक। कहते हैं तीस साल बीत गये, सारी पृथ्वी पर चक्कर मार चुका। बहुत जगह गया, लेकिन सदगुरु न मिला। बहुत मिले, मगर कोई सदगुरु न था। थका-मांदा अपने गांव वापिस लौटा। लौट रहा था तो हैरान हो गया, भरोसा न आया। वह बूढ़ा बैठा था उसी वृक्ष के नीचे। अब उसको दिखायी पड़ा कि यह तो वृक्ष वही है जो इस बूढ़े ने कहा था, "ऐसे-ऐसे वृक्ष के नीचे बैठा हो।" और यह आसन भी वही लगाये है, लेकिन यह आसन वह तीस साल पहले भी लगाये था। क्या मैं अंधा था? इसके चेहरे पर भाव भी वही, मुद्रा भी वही।
वह उसके चरणों में गिर पड़ा। कहा कि आपने पहले ही मुझे क्यों न कहा? तीस साल मुझे भटकाया क्यों? यह क्यों न कहा कि मैं ही सदगुरु हूं?
उस बूढ़े ने कहा, मैंने तो कहा था, लेकिन तुम तब सुनने को तैयार न थे। तुम बिना भटके घर भी नहीं आ सकते। अपने घर आने के लिए भी तुम्हें हजार घरों पर दस्तक मारनी पड़ेगी, तभी तुम आओगे। कह तो दिया था मैंने, सब बता दिया था कि ऐसे-ऐसे वृक्ष के नीचे, यही वृक्ष की व्याख्या कर रहा था, यही मुद्रा में बैठा था; लेकिन तुम भागे-भागे थे, तुम ठीक से सुन न सके; तुम जल्दी में थे। तुम कहीं खोजने जा रहे थे। खोज बड़ी महत्वपूर्ण थी, सत्य महत्वपूर्ण नहीं था तुम्हें। लेकिन आ गये तुम! मैं थका जा रहा था तुम्हारे लिए बैठा- बैठा इसी मुद्रा में! तीस साल तुम तो भटक रहे थे, मेरी तो सोचो, इसी झाड़ के नीचे बैठा कि किसी दिन तुम आओगे तो कहीं ऐसा न हो कि तब तक मैं विदा हो जाऊं! तुम्हारे लिए रुका था, आ गये तुम! तीस साल तुम्हें भटकना पड़ा--अपने कारण। सदगुरु मौजूद था।
बहुत बार जीवन में ऐसा होता है, जो पास है वह दिखायी नहीं पड़ता; जो दूर
है वह आकर्षक मालूम होता है। दूर के ढोल सुहावने मालूम होते हैं। दूर खींचते हैं सपने हमें।
अष्टावक्र कहते हैं कि तुम ही हो वही जिसकी तुम खोज कर रहे हो। और अभी
और यहीं तुम वही हो।
कृष्णमूर्ति जो कह रहे हैं लोगों से वह शुद्ध अष्टावक्र का संदेश है।
न अष्टावक्र को किसी ने समझा, न कृष्णमूर्ति को कोई समझता है। और तथाकथित साधु-संन्यासी तो बहुत नाराज होते हैं, क्योंकि कृष्णमूर्ति कहते हैं, ध्यान की कोई जरूरत नहीं। बिलकुल ठीक कहते हैं। न भक्ति की कोई जरूरत है, न कर्म की कोई जरूरत है, न ज्ञान की कोई जरूरत है। साधारण साधु-संत बड़े विचलित हो जाते हैं कि कुछ भी जरूरत नहीं! भटका दोगे लोगों को!
भटका ये साधु-संत रहे हैं। कृष्णमूर्ति तो सीधा अष्टावक्र का संदेश
ही दे रहे हैं। वे इतना ही कह रहे हैं कि कुछ जरूरत नहीं, क्योंकि जरूरत तो तब होती है जब तुमने खोया होता है। जरा झटकारो धूल, उठो! ठंडे पानी के छींटे आंख पर मार लो, और क्या करना है!
तो अष्टावक्र के दर्शन में तो साक्षी और ध्यान एक ही है, क्योंकि मंजिल और मार्ग एक ही है। लेकिन और सभी मार्गों और प्रणालियों में ध्यान विधि है, साक्षी उसका अंतिम फल है।
"उनसे चित्त-वृत्तियां और अहंकार किस प्रकार विसर्जित होते हैं?" साक्षी-भाव से चित्त-वृत्तियां और अहंकार विसर्जित नहीं होते; साक्षी-भाव में पता चलता है कि वे कभी थे ही नहीं। विसर्जित तो तब हों जब रहे हों।
तुम ऐसा समझो कि तुम एक अंधेरे कमरे में बैठे हो, समझ रहे हो कि भूत है। तुम्हारा ही कुर्ता टंगा है; मगर भय में और घबड़ाहट में और कल्पना के जाल में तुमने उसमें हाथ भी जोड़ लिए, पैर भी जोड़ लिए, वह खड़ा तुम्हें डरा रहा है! अब कोई कहे कि दीया जला लो तो तुम पूछोगे, दीये के जलने से भूत कैसे दूर होता है? लेकिन दीये के जलने से भूत दूर हो जाता है, क्योंकि भूत है नहीं। होता तब तो दीये के जलने से दूर नहीं होता। दीये के जलने से भूत के दूर होने का क्या लेना-देना? अगर भूत होता ही तो दीये के जलने से दूर न होता। नहीं है; आभास होता है, इसलिए दूर भी हो जाता है।
तुम हजारों ऐसी बीमारियों से पीड़ित रहते हो जो नहीं हैं। इसलिए किसी साधु-संत की राख भी काम कर जाती है। इसलिए नहीं कि तुम्हारी बीमारी का राख से दूर होने का कोई संबंध है। पागल हुए हो? राख से कहीं बीमारियां दूर हुई

हैं? नहीं तो सब औषधि-शास्त्र व्यर्थ हो जायें। राख से बीमारी दूर नहीं होती; सिर्फ बीमारी थी, यह खयाल दूर होता है।
मैंने सुना है एक वैद्य के संबंध में। खुद उन्होंने मुझसे कहा। एक आदिवासी क्षेत्र में बस्तर के पास वह रहते हैं। तो बस्तर से दूर देहात से एक आदिवासी आया। वे एक गांव में गये हुए थे-- आदिवासियों का गांव था। वह बीमार था। तो वैद्य के पास लिखने को भी कोई उपाय न था, गांव में न तो फाउंटेन पेन था, न कलम थी, न कागज था। तो पास में पड़े हुए एक खपड़े पर पत्थर के एक टुकड़े से उन्होंने औषधि का नाम लिख दिया और कहा कि बस इसको तू एक महीने भर घोंटकर दूध में मिलाकर पी लेना, सब ठीक हो जायेगा। वह आदमी महीने भर बाद आया, बिलकुल ठीक होकर--स्वस्थ, चंगा! वैद्य ने कहा, दवा काम कर गयी? उसने कहा, गजब की काम कर गयी। अब फिर एक और खपड़े पर लिखकर दे दें। उन्होंने कहा, तेरा मतलब?
उसने कहा, खपड़ा तो खतम हो गया, घोलकर पी गये! मगर गजब की दवा थी!
अब वह ठीक भी होकर आ गया है! अब वैद्य भी कुछ कहे तो ठीक नहीं। अब कुछ कहना उचित ही नहीं। वे मुझसे कहने लगे, फिर मैंने कुछ नहीं कहा कि जब ठीक ही हो गया, तो जो ठीक कर दे वह दवा। अब इसको और भटकाने में क्या सार है--यह कहना कि पागल, हमने दवा का नाम लिखा था, वह तो तूने खरीदी नहीं! वह प्रिसक्रिप्शन को ही पी गये। मगर काम कर गयी बात। बीमारी झूठी रही होगी। मनोकल्पित रही होगी।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं, हमारी सौ में से नब्बे बीमारियां मनोकल्पित हैं। और जैसे-जैसे समझ बढ़ती है, ऐसी संभावना है कि निन्यानबे प्रतिशत मनोकल्पित हो सकती हैं। और एक दिन ऐसी भी घटना घट सकती है कि सौ प्रतिशत बीमारियां मनोकल्पित हों।
इसलिए तो दुनिया में इतने चिकित्सा-शास्त्र काम करते हैं। एलोपैथी लो, उससे भी मरीज ठीक हो जाता है; आयुर्वेदिक लो, उससे भी ठीक हो जाता है; होमियोपैथी, उससे भी ठीक हो जाता है; यूनानी, उससे भी ठीक हो जाता है; नेचरोपैथी से भी ठीक हो जाता है; और गंडेत्ताबीज भी काम करते हैं।
आश्चर्यजनक है, अगर बीमारी वस्तुतः है तो फिर बीमारी को दूर करने का
एक विशिष्ट उपाय ही हो सकता है, सब उपाय काम नहीं करेंगे। बीमारी है नहीं। तुम्हें जिस पर भरोसा है, किसी को एलोपैथी पर भरोसा है, काम हो जाता है। बीमारी से ज्यादा डाक्टर का नाम काम करता है।
तुमने कभी खयाल किया, जब भी तुम बड़े डाक्टर को दिखाकर लौटते हो, जेब खाली करके, काफी फीस देकर, आधे तो तुम वैसे ही ठीक हो जाते हो। अगर वही डाक्टर मुफ्त प्रिसक्रिप्शन लिख दे तो तुम्हें असर न होगा। डाक्टर की दवा कम काम करती है, चुकायी गयी फीस ज्यादा काम करती है। एक दफा खयाल आ जाये कि डाक्टर बहुत बड़ा, सबसे बड़ा डाक्टर, बस काफी है।
तुम पूछते हो, "अहंकार और चित्त-वृत्तियां साक्षी-भाव में कैसे विसर्जित होती हैं?"
विसर्जित नहीं होती हैं। होतीं, तो विसर्जित होतीं। साक्षी-भाव में पता चलता है कि अरे पागल, नाहक भटकता था! अपने ही कल्पना के मृगजाल बिछाए, मृगत्तृष्णाएं बनायीं--सब कल्पना थी। विसर्जित नहीं होती हैं; साक्षी में जागकर पता चलता है, थीं ही नहीं।
"पूर्ण निरहंकार को उपलब्ध हुए बिना क्या समर्पण संभव है?"
यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। पूछने वाला कह रहा है, "पूर्ण निरहंकार को उपलब्ध हुए बिना क्या समर्पण संभव है?" लेकिन पूछने वाले का मन शायद अनजाने में चालाकी कर गया है। निरहंकार में तो पूर्ण जोड़ा है, समर्पण में पूर्ण नहीं जोड़ा। पूर्ण निरहंकार के बिना पूर्ण समर्पण संभव नहीं है। जितना अहंकार छोड़ोगे उतना ही समर्पण संभव है। पचास प्रतिशत अहंकार छोड़ोगे तो पचास प्रतिशत समर्पण संभव है। अहंकार का छोड़ना और समर्पण दो बातें थोड़े ही हैं; एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं।
तो तुम कहो कि पूर्ण अहंकार को छोड़े बिना तो समर्पण संभव नहीं है-- पूर्ण समर्पण संभव नहीं है। धोखा मत दे लेना अपने को। तो सोचो कि समर्पण

की क्या जरूरत है, जब पूर्ण अहंकार छूटेगा...! और वह तो कब छूटेगा, कैसे छूटेगा?
जितना अहंकार छूटेगा, उतना समर्पण संभव है। अब पूर्ण की प्रतीक्षा मत करो; जितना बने उतना करो। उतना कर लोगे तो और आगे कदम उठाने की सुविधा हो जायेगी।
जैसे कोई आदमी अंधेरी रात में यात्रा पर जाता है, हाथ में उसके छोटी-
सी कंदील है, चार कदम तक रोशनी पड़ती है। वह आदमी कहे कि इससे तो दस मील की यात्रा कैसे हो सकती है? चार कदम तक रोशनी पड़ती है, दस मील तक अंधेरा है-- भटक जायेंगे! तो हम उससे कहेंगे, तुम घबड़ाओ मत, चार कदम चलो। जब तुम चार कदम चल चुके होओगे, रोशनी चार कदम आगे बढ़ने लगेगी। कोई दस मील तक रोशनी की थोड़े ही जरूरत है, तब तुम चलोगे। चार कदम काफी हैं। तो जितना अहंकार...रत्ती भर छूटता है, रत्ती भर छोड़ो। रत्ती भर छोड़ने पर फिर रत्ती भर छोड़ने की संभावना आ जायेगी। चार कदम चले, फिर चार कदम तक रोशनी पड़ने लगी।
ऐसी तरकीब खोजकर मत बैठ जाना कि जब पूर्ण अहंकार छूटेगा तब समर्पण करेंगे। फिर तुम कभी न करोगे। तुमने बड़ी कुशलता से बचाव कर लिया। उतना ही समर्पण होगा--यह बात सच है--जितना अहंकार छूटेगा। तो जितना छूटता हो उतना तो कर लो। जितना कमा सको समर्पण, उतना तो कमा लो। शायद उसका स्वाद तुम्हें और तैयार कर दे; उसका आनंद, अहोभाव तुम्हें और हिम्मत दे दे! हिम्मत स्वाद से आती है।
कोई आदमी कहे कि जब तक हम पूरा तैरना न सीख लेंगे तब तक पानी में न उतरेंगे--ठीक कह रहा है; गणित की बात कह रहा है; तर्क की बात कह रहा है। ऐसे बिना सीखे पानी में उतर गये और खा गये डुबकी--ऐसी झंझट न करेंगे! पहले तैरना सीख लेंगे पूरा, फिर उतरेंगे! लेकिन पूरा सीखोगे कहां? गद्दी पर? पूरा तैरना सीखोगे कहां? पानी में तो उतरना ही पड़ेगा। मगर तुमसे कोई नहीं कह रहा है कि तुम सागर में उतर जाओ। किनारे पर उतरो, गले-गले तक उतरो, जहां तक हिम्मत हो वहां तक उतरो। वहां तैरना सीखो। धीरे-धीरे हिम्मत बढ़ेगी। दो- दो हाथ आगे बढ़ोगे--सागर की पूरी गहराई भी फिर तैरी जा सकती है। तैरना आ जाये एक बार! और तैरना आने के लिए उतरना तो पड़ेगा ही। किनारे पर ही उतरो, मैं नहीं कह रहा हूं कि तुम सीधे किसी पहाड़ से और किसी गहरी नदी में उतरो, छलांग लगा लो। किनारे पर ही उतरो। जल के साथ थोड़ी दोस्ती बनाओ। जल को जरा पहचानो। हाथ-पैर तड़फड़ाओ।
तैरना है क्या? कुशलतापूर्वक हाथ-पैर तड़फड़ाना है। तड़फड़ाना सभी को आता है। किसी आदमी को, जो कभी नहीं तैरा उसे भी पानी में फेंक दो तो वह भी तड़फड़ाता है। उसमें और तैरनेवाले में फर्क थोड़ी-सी कुशलता का है, क्रिया का कोई फर्क नहीं है। हाथ-पैर वह भी फेंक रहा है; लेकिन उसका पानी पर भरोसा नहीं है, अपने पर भरोसा नहीं है। वह डर रहा है कि कहीं डूब न जाऊं। वह डर ही उसे डुबा देगा। जल ने थोड़े ही किसी को कभी डुबाया है।
तुमने देखा मुर्दे ऊपर तैर जाते हैं, मुर्दे पानी पर तैरने लगते हैं! पूछो मुर्दों से, तुम्हें क्या तरकीब आती है? जिंदा थे, डूब गये। मुर्दा होकर तैर रहे हो! मुर्दा डरता नहीं, अब नदी कैसे डुबाए? पानी का स्वभाव डुबाना नहीं है; पानी उठाता है। इसीलिए तो पानी में वजन कम हो जाता है। तुम पानी में अपने से वजनी आदमी को उठा ले सकते हो। बड़ी चट्टान उठा ले सकते हो, पानी में। पानी में चीजों का वजन कम हो जाता है। जैसे जमीन का गुरुत्वाकर्षण है; जमीन नीचे खींचती है, पानी ऊपर उछालता है। पानी का उछालना स्वभाव है। अगर डूबते हो तो तुम अपने ही कारण डूबते हो; पानी ने कभी किसी को नहीं डुबाया। भूलकर भी पानी को दोष मत देना। पानी ने अब तक किसी को नहीं डुबाया।
तुम वैज्ञानिक से पूछ लो; वह भी कहता है यह चमत्कार है कि आदमी डूब कैसे जाते हैं, क्योंकि पानी तो उबारता है। तुम्हारी घबड़ाहट में डूब जाते हो। चीख-पुकार मचा देते हो, मुंह खोल देते हो, पानी पी जाते हो, भीतर वजन हो जाता है--डुबकी खा जाते हो। मरते तुम अपने कारण हो।

तैरने वाला इतना ही सीख लेता है कि अरे, पानी तो उठाता है! उसकी श्रद्धा पानी पर बढ़ जाती है। वह समझ लेता है कि पानी तो वजन कम कर देता है। जितने वजनी हम जमीन पर थे उससे बहुत कम वजनी पानी में रह जाते हैं।
तुमने देखा होगा, कभी तुम बालटी कुएं में डालते हो; जब बालटी भर जाती
है और पानी में डूबी होती है तो कोई वजन नहीं होता। खींचो पानी के ऊपर और वजन शुरू हुआ। पानी तो निर्भार करता है, डुबाएगा कैसे? सीखने वाला धीरे- धीरे इस बात को पहचान लेता है। श्रद्धा का जन्म होता है। पानी पर भरोसा आ जाता है कि यह दुश्मन नहीं है, मित्र है। यह डुबाता ही नहीं।
फिर तो कुशल तैराक बिना हाथ-पैर फैलाए, बिना हाथ-पैर चलाए, पड़ा रहता है
जल पर-- कमलवत। यह वही आदमी है जैसे तुम हो, कोई फर्क नहीं है; सिर्फ इसमें श्रद्धा का जन्म हुआ! और इसे अपने पर भरोसा आ गया, जल पर भरोसा आ गया--दोनों की मित्रता सध गयी।
ठीक ऐसा ही समर्पण में घटता है। समर्पण में डर यही है कि कहीं हम डूब न जायें, तो किनारे पर उतरो। तुमसे कोई सौ डिग्री समर्पण करने को कह भी नहीं रहा है--एक डिग्री सही। उतर-उतरकर पहचान आएगी, स्वाद बढ़ेगा, रस जगेगा, प्राण पुलकित होंगे, तुम चकित होओगे कि कितना गंवाया अहंकार के साथ! जरा- से समर्पण से कितना पाया! नये द्वार खुले, प्रकाश-द्वार! नयी हवाएं बहीं प्राणों में। नयी पुलक, नयी उमंग! सब ताजात्ताजा है! तुम पहली दफे जीवन को देखोगे। तुम्हें पहली दफा आंखों से धुंध हटेगी; प्रभु का रूप थोड़ा-थोड़ा प्रगट होना शुरू होगा। इधर समर्पण, उधर प्रभु पास आया। क्योंकि इधर तुम मिटना शुरू हुए, उधर प्रभु प्रगट होना शुरू हुआ।
प्रभु दूर थोड़े ही है; तुम्हारे वजनी अहंकार के कारण तुम्हें दिखायी नहीं पड़ता। तुम्हारी आंखें अहंकार से भरी हैं; इसलिए दिखायी नहीं पड़ता। खाली आंखें देखने में समर्थ हो जाती हैं। फिर धीरे-धीरे हिम्मत बढ़ती जाती है--श्रद्धा, आत्म-विश्वास। तुम और-और समर्पण करते हो। एक दिन तुम पूरी छलांग ले लेते हो। एक दिन तुम कहते हो, अब बस बहुत हो गया। अपने को बचाने में ही अपने को गंवाया अब तक, एक दिन समझ में आ जाती है बात; अब डुबा देंगे और डुबाकर बचा लेंगे!
धन्य हैं वे जो डूबने को राजी हैं क्योंकि उनको फिर कोई डुबा नहीं सकता। अभागे हैं वे जो बच रहे हैं, क्योंकि वे डूबे ही हुए हैं; उनकी नाव आज नहीं कल टकराकर डूब जायेगी।
फिर अहंकार और समर्पण की बात में एक बात और खयाल कर लेनी जरूरी है। मन बड़ा चालाक है। वह तरकीबें खोजता है। मन कहता है, "तो पहले कौन? अहंकार का छोड़ना पहले कि समर्पण पहले? पहले समर्पण करें तो अहंकार छूटेगा, कि अहंकार छोड़ें तो समर्पण होगा?"
तुम इस तरह की बातें, बाजार जाते हो अंडा खरीदने, तब तुम नहीं पूछते कि पहले कौन, अंडा कि मुर्गी? अगर तुम यह पूछो तो तुम अंडा खरीदकर कभी घर न आ सकोगे। तुम बस खरीदकर चले आते हो, पूछते नहीं कि पहले कौन, पहले पक्का तो कर लें कि अंडा पहले कि मुर्गी पहले? अंडा या मुर्गी?
बहुत लोगों ने विवाद किये हैं। अंडा-मुर्गी का प्रश्न बड़ा प्राचीन है। पहले कौन आता है? बड़ा कठिन है उत्तर खोज पाना। क्योंकि जैसे ही तुम कहो, अंडा पहले आता है, कठिनाई शुरू हो जाती है, क्योंकि अंडा आया होगा मुर्गी से--तो मुर्गी पहले आ गयी। जैसे ही कहो, मुर्गी आती पहले, वैसे ही मुश्किल फिर खड़ी हो जाती है, क्योंकि मुर्गी आयेगी कैसे बिना अंडे के? यह तो एक वर्तुलाकार चक्कर है।
प्रश्न भूल-भरा है। प्र्रश्न भूल-भरा इसलिए है कि मुर्गी और अंडा दो नहीं हैं। मुर्गी और अंडा एक ही चीज की दो अवस्थाएं हैं। आगे-पीछे रखने में, दो कर लेने में तुम प्रश्न को उठा रहे हो। मुर्गी अंडे का एक रूप है-- पूरा प्रगट रूप; अंडा मुर्गी का एक रूप है--अप्रगट रूप। जैसे बीज और वृक्ष। ऐसा ही निरहंकार और समर्पण है। कौन पहले--इस विवाद में पड़कर समय मत गंवाना। अगर मुर्गी ले आए तो अंडा भी ले आए। अगर अंडा ले आए तो मुर्गी भी ले आए। एक आ गया तो दूसरा आ ही गया। कहीं से भी शुरू करो। अगर अहंकार छोड़ सकते हो, अहंकार छोड़ने से शुरू करो। अगर अहंकार नहीं छोड़ सकते तो समर्पण

करने से शुरू करो। समर्पण किया तो अहंकार छूटा। पूर्ण छूटा, ऐसा मैं कह नहीं रहा हूं। जितना समर्पण किया, उतना छूटा! अगर समर्पण करना मुश्किल मालूम पड़ता है तो अहंकार छोड़ो। जितना छूटेगा अहंकार, उतना समर्पण हो जायेगा।
दुनिया में दो तरह के धर्म हैं। एक हैं निरहंकारिता के धर्म, और एक हैं समर्पण के धर्म। एक हैं मुर्गी पर जोर देने वाले धर्म, एक हैं अंडे पर जोर देने वाले धर्म। दोनों सही हैं, क्योंकि एक आ गया तो दूसरा अपने-आप आ जाता है। जैसे महावीर का धर्म है--जैन धर्म; बुद्ध का धर्म है--बौद्ध धर्म; उनमें समर्पण के लिए कोई जगह नहीं है, सिर्फ अहंकार छोड़ो। समर्पण करोगे कहां? कोई परमात्मा नहीं है, जिसके सामने समर्पण हो सके। महावीर कहते हैं: अशरण! शरण जाने की कोई जगह ही नहीं है। किसकी शरण जाओगे? अशरण में हो जाओ, लेकिन अहंकार छोड़ो।
हिंदू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं--वे धर्म समर्पण के धर्म हैं। वे अहंकार छोड़ने की इतनी बात नहीं कहते; वे कहते हैं, परमात्मा पर समर्पण करो। कोई चरण खोज लो--कोई चरण, जहां तुम अपने सिर को झुका सको! अहंकार अपने से चला जायेगा।
दोनों सही हैं, क्योंकि दोनों घटनाएं एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तुम सिक्के का सीधा हिस्सा घर ले आओ कि उलटा हिस्सा घर ले आओ, इससे क्या फर्क पड़ता है, सिक्का घर आ जाएगा! दोनों ही एक सिक्के के पहलू हैं। पर कहीं से शुरू करना पड़ेगा। बैठकर सिर्फ गणित मत बिठाते रहना।
"गैरिक वस्त्र और माला, ध्यान और साक्षी-साधना में कहां तक सहयोगी हैं?
चाहो तो हर चीज सहयोगी है। चाहो तो छोटी-छोटी चीजों से रास्ता बना ले सकते हो।
कहते हैं, राम ने जब पुल बनाया लंका को जोड़ने को, जब सागर-सेतु बनाया
तो छोटी-छोटी गिलहरियां रेत के कण और कंकड़ ले आयीं। उनका भी हाथ हुआ। उन्होंने भी सेतु को बनने में सहायता दी। बड़ी-बड़ी चट्टानें लाने वाले लोग भी थे। छोटी-छोटी गिलहरियां भी थीं; जो उनसे बन सका, उन्होंने किया।
कपड़े के बदल लेने से बहुत आशा मत करना, क्योंकि कपड़े के बदल लेने से अगर सब बदलता होता तो बात बड़ी आसान हो जाती। माला के गले में डाल लेने से ही मत समझ लेना कि बहुत कुछ हो जायेगा, क्रांति घट जाएगी। इतनी सस्ती क्रांति नहीं है। लेकिन इससे यह भी मत सोच लेना कि यह गिलहरी का उपाय है, इससे क्या होगा? राम ने गिलहरियों को भी धन्यवाद दिया।
ये छोटे-छोटे उपाय भी कारगर हैं। कारगर इस तरह हैं--अचानक तुम अपने गांव वापिस जाओगे गैरिक वस्त्रों में, सारा गांव चौंककर तुम्हें देखेगा। तुम उस गांव में फिर ठीक उसी तरह से न बैठ पाओगे जिस तरह से पहले बैठते थे। तुम उस गांव में उसी तरह से छिप न जाओगे जैसे पहले छिप जाते थे। तुम उस गांव में एक पृथकता लेकर आ गये। हर एक पूछेगा, क्या हुआ है? हर एक तुम्हें याद दिलाएगा कि कुछ हुआ है। हर एक तुमसे प्रश्न करेगा। हर एक तुम्हारी स्मृति को जगायेगा। हर एक तुम्हें मौका देगा पुनः पुनः स्मरण का, साक्षी बनने का।
एक मित्र ने संन्यास लिया। संन्यास लेते वक्त वे रोने लगे। सरल व्यक्ति! और कहा कि बस एक अड़चन है, मुझे शराब पीने की आदत है और आप जरूर कहेंगे कि छोड़ो। मैंने कहा, मैं किसी को कुछ छोड़ने को कहता ही नहीं। पीते हो--ध्यानपूर्वक पीयो!
उन्होंने कहा, क्या मतलब? संन्यासी होकर भी मैं शराब पीऊं?
"तुम्हारी मर्जी! संन्यास मैंने दे दिया, अब तुम समझो।"
वे कोई महीने भर बाद आए। कहने लगे, आपने चालबाजी की। शराब-घर में खड़ा था, एक आदमी आकर मेरे पैर पड़ लिया। कहा, "स्वामी जी कहां से आये?" मैं भागा वहां से--मैंने कहा कि ये स्वामी जी और शराब-घर में!
वह आदमी कहने लगा, आपने चालबाजी की। अब शराब-घर की तरफ जाने में डरता हूं कि कोई पैर वगैरह छू ले या कोई नमस्कार वगैरह कर ले। आज पंद्रह दिन से नहीं गया हूं।

एक स्मृति बनी! एक याददाश्त जगी!
तुम इन गैरिक वस्त्रों में उसी भांति क्रोध न कर पाओगे जैसा कल तक करते रहे थे। कोई चीज चोट करेगी। कोई चीज कहेगी, अब तो छोड़ो! अब ये गैरिक वस्त्रों में बड़ा बेहूदा लगता है।
मैं तुम्हारे लिए गैरिक वस्त्र देकर सिर्फ थोड़ी अड़चन पैदा कर रहा हूं, और कुछ भी नहीं। तुम अगर चोर हो तो उसी आसानी से चोर न रह सकोगे। तुम अगर धन के पागल हो, दीवाने हो, लोभी हो, तो तुम्हारे लोभ में वही बल न रह जायेगा। तुम अगर राजनीति में दौड़ रहे हो, पद की प्रतिष्ठा में लगे थे, अचानक तुम पाओगे कुछ सार नहीं!
ये छोटे-से वस्त्र बड़े प्रतीकात्मक हो जायेंगे। अपने-आप में इनका मूल्य नहीं है, लेकिन इनके साथ जुड़ जाने में तुम धीरे-धीरे पाओगे, बात तो बड़ी छोटी थी, बीज तो बड़ा छोटा था, धीरे-धीरे बड़ा हो गया। धीरे-धीरे उसने सब बदल डाला। तुम्हारे कृत्य बदलेंगे, तुम्हारी आदतें बदलेंगी, तुम्हारे उठने-बैठने का ढंग बदलेगा। तुम्हारे जीवन में एक नया प्रसाद...। लोगों की अपेक्षाएं तुम्हारे प्रति बदलेंगी। लोगों की आंखें तुम्हारे प्रति बदलेंगी।
नाम का परिवर्तन--पुराने नाम से संबंध-विच्छेद हो जायेगा। वस्त्र का परिवर्तन--पुरानी तुम्हारी रूपरेखा से मुक्ति हो जायेगी। यह गले में तुम्हारी माला तुम्हें मेरी याद दिलाती रहेगी। यह मेरे और तुम्हारे बीच एक सेतु बन जायेगी। तुम मुझे भूल न पाओगे इतनी आसानी से। और लोग तुम्हें पृथक करने लगेंगे। और उनका पृथक करना तुम्हारे लिए साक्षी होने में बड़ा सहयोगी हो जायेगा।
लेकिन मैं यह नहीं कह रहा हूं कि इतना कर लेने से सब हो जायेगा, कि बस पहन लिए वस्त्र और माला डाल ली--समझा कि खतम! यात्रा पूरी! तुम पर निर्भर है। ये संकेत जैसे हैं। जैसे मील के किनारे पत्थर लगा होता है, लिखा रहता है कि बारह मील, पचास मील, सौ मील दिल्ली। उस पत्थर से कुछ बड़ा मतलब नहीं है। पत्थर हो या न हो, दिल्ली सौ मील है तो सौ मील है। लेकिन पत्थर पर लिखी हुई लकीर, तीर का चिह्न राही को हलका करता है। वह कहता है, चलो सौ मील ही बचा, पच्चीस मील बचा, पचास मील बचा।
स्विटजरलैंड में मील के पत्थर की जगह मिनिटों के पत्थर हैं। अगर गाड़ी तुम्हारी रुक जाए कहीं किसी पहाड़ी जगह पर तो तुम चकित होकर देखोगे कि बाहर खंभे पर पिछली स्टेशन कितनी दूर है--तीस मिनिट दूर; अगली स्टेशन कितनी दूर--पंद्रह मिनिट दूर! बड़ा महत्वपूर्ण प्रतीक है।
तो अगर स्विस लोग अच्छी घड़ियां बनाने में कुशल हैं तो कुछ आश्चर्य नहीं। समय का उनका बोध बड़ा प्रगाढ़ है। मील नहीं लिखते, समय लिखते हैं। पंद्रह मिनिट दूर! खबर मिलती है कि समय का बोध प्रगाढ़ है इस जाति का।
तुम गैरिक वस्त्र पहने हो, कुछ खबर मिलती है तुम्हारे बाबत। हर चीज खबर देती है। कैसे तुम बैठते हो, कैसे तुम उठते हो, कैसे तुम देखते हो--हर चीज खबर देती है।
सैनिकों को हम ढीले वस्त्र नहीं पहनाते; दुनिया में कोई जाति नहीं पहनाती--पहनाएगी तो हार खाएगी। सैनिक को ढीले वस्त्र पहनाना खतरनाक सिद्ध हो सकता है। सैनिक को हम चुस्त वस्त्र पहनाते हैं--इतने चुस्त वस्त्र, जिनमें वह हमेशा अड़चन अनुभव करता है। और इच्छा होती है कि कब वह इनके बाहर कूद कर निकल जाये। चुस्त वस्त्र झगड़ालू आदत पैदा करते हैं। चुस्त वस्त्र में बैठा आदमी लड़ने को तत्पर रहता है। ढीले वस्त्र का आदमी थोड़ा विश्राम में होता है। सिर्फ सम्राट ढीले वस्त्र पहनते थे, या संन्यासी, या फकीर। तुमने कभी देखा कि ढीले वस्त्र पहनकर अगर तुम सीढ़ियां चढ़ो तो तुम एक-
एक सीढ़ी चढ़ोगे; चुस्त वस्त्र पहनकर चढ़ो, दो-दो एक साथ चढ़ जाओगे। चुस्त वस्त्र पहने हो तो तुम क्रोध से भरे हो; कोई जरा-सी बात कहेगा और बेचैनी खड़ी हो जायेगी। ढीले वस्त्र पहने हो, तुम थोड़े विश्राम में रहोगे। छोटी-छोटी चीजें फर्क लाती हैं। जीवन छोटी-छोटी चीजों से बनता है। गिलहरियों के द्वारा लाए गए छोटे-छोटे कंकड़-पत्थर जीवन के सेतु को

निर्मित करते हैं। क्या तुम खाते हो, क्या तुम पहनते हो, कैसे उठते-बैठते हो, सबका अंतिम परिणाम है। सबका जोड़ हो तुम।
अब एक आदमी चला जा रहा है--चमकीले, भड़कीले, रंगीले वस्त्र पहने--तो कुछ खबर देता है। एक स्त्री चली जा रही है--बेहूदे, अश्लील, शरीर को उभारने वाले वस्त्र पहने--कुछ खबर देती है। एक आदमी ने सीधे-सादे वस्त्र पहने हैं, ढीले, विश्राम से भरे--कुछ खबर मिलती है उस आदमी के संबंध में। मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अगर तुम एक आदमी को आधा घंटा तक चुपचाप देखते रहो--कैसे वस्त्र पहने है, कैसा उठता, कैसा बैठता, कैसा देखता--तो तुम उस आदमी के संबंध में इतनी बातें जान लोगे कि तुम भरोसा न कर सकोगे।
हमारी हर गतिविधि, हर भाव-भंगिमा "हमारी" है। भाव-भंगिमा के बदलने से
हम बदलते हैं, हमारे बदलने से भाव-भंगिमा बदलती है।
तो यह तो केवल प्रतीक है। ये तुम्हें साथ देंगे। ये तुम्हारे लिए इशारे बने रहेंगे। ये तुम्हें जागरूक रखने के लिए थोड़ा-सा सहारा हैं।
"और कृपया यह भी समझाएं कि साक्षित्व, जागरूकता और सम्यक स्मृति में क्या अंतर है?"
कोई भी अंतर नहीं है। वे सब पर्यायवाची शब्द हैं। अलग-अलग परंपराओं
ने उनका उपयोग किया है। जागरूकता कृष्णमूर्ति उपयोग करते हैं। सम्यक स्मृति, माइंडफुलनेस बुद्ध ने उपयोग किया है। साक्षित्व अष्टावक्र ने, उपनिषदों ने, गीता ने उपयोग किया है। सिर्फ भेद अलग-अलग परंपराओं का है। लेकिन उनके पीछे जिसकी तरफ इशारा है वह एक ही है।

दूसरा प्रश्न: आपके महागीता पर हुए पहले प्रवचन के समय अनेक लोग आंसू बहाकर रो रहे थे। उसका क्या मतलब है? क्या रोने वाले कमजोर मन के लोग हैं या आपकी वाणी का यह प्रभाव है? कृपया इस पर थोड़ा प्रकाश डालें!

एक बात पक्की है कि पूछने वाले कठोर मन के आदमी हैं। आंसुओं में उन्हें सिर्फ कमजोरी दिखायी पड़ी। एक बात पक्की है पूछने वाले व्यक्ति के आंख के आंसू सूख गये हैं, आंखें बंजर हो गयी हैं, मरुस्थल जैसी; उनमें फूल नहीं खिलते। आंसू तो आंख के फूल हैं। पूछने वाले का भाव मर गया है। पूछने वाले का हृदय अवरुद्ध हो गया है। पूछने वाला सिर्फ बुद्धि से जी रहा होगा; उसने भाव की तिलांजलि दे दी। सोच-विचार से जी रहा होगा। प्रेम और करुणा और जीवन की तरफ जो लगाव की, चाहत की, आनंद की संभावना है--उसे इनकार कर दिया होगा। कोई रसधार नहीं बहती होगी। सूखा-साखा मरुस्थल जैसा मन हो गया होगा। इसीलिए पहली बात यह खयाल में आयी कि जो लोग रोते हैं, कमजोर मन के होंगे। किसने कहा तुम्हें कि रोना कमजोरी का लक्षण है? मीरा खूब रोयी है! चैतन्य की आंखों से झर-झर आंसू बहे! नहीं, कमजोरी के लक्षण नहीं हैं--भाव के लक्षण हैं; भाव की शक्ति के लक्षण हैं। और ध्यान रखना, भाव विचार से गहरी बात है।
मैंने कहा: पहले कर्म की रेखा, फिर विचार की रेखा, फिर भाव की रेखा, फिर साक्षी का केंद्र। भाव साक्षी के निकटतम है। भक्ति भगवान के निकटतम है। कर्म बहुत दूर है। वहां से यात्रा बड़ी लंबी है। विचार भी काफी दूर है।
वहां से भी यात्रा काफी लंबी है। भक्ति बिलकुल पास है।
खयाल रखना, आंसू जरूरी रूप से दुख के कारण नहीं होते। हालांकि लोग एक
ही तरह के आंसुओं से परिचित हैं जो दुख के होते हैं। करुणा में भी आंसू बहते हैं। आनंद में भी आंसू बहते हैं। अहोभाव में भी आंसू बहते हैं। कृतज्ञता में भी आंसू बहते हैं। आंसू तो सिर्फ प्रतीक हैं कि कोई ऐसी घटना भीतर घट रही है जिसको सम्हालना मुश्किल है--दुख या सुख; कोई ऐसी घटना भीतर घट रही है जो इतनी ज्यादा है कि ऊपर से बहने लगी। फिर वह दुख हो, इतना ज्यादा दुख हो कि भीतर सम्हालना मुश्किल हो जाये तो आंसुओं से बहेगा।
आंसू निकास हैं। या आनंद घना हो जाये तो आनंद भी आंसुओं से बहेगा। आंसू निकास हैं।
आंसू जरूरी रूप से दुख या सुख से जुड़े नहीं हैं--अतिरेक से जुड़े हैं।
जिस चीज का भी अतिरेक हो जायेगा, आंसू उसी को लेकर बहने लगेंगे।

तो जो रोये, उनके भीतर कुछ अतिरेक हुआ होगा; उनके हृदय पर कोई चोट पड़ी होगी; उन्होंने कोई मर्मर सुना होगा अज्ञात का; दूर अज्ञात की किरण ने उनके हृदय को स्पर्श किया होगा; उनके अंधेरे में कुछ उतरा होगा; कोई तीर उनके हृदय को पीड़ा और आह्लाद से भर गया--रोक न पाये वे अपने आंसू।
मेरे बोलने के प्रभाव से इसका कोई संबंध नहीं, क्योंकि तुम भी सुन रहे थे। अगर मेरे बोलने का ही प्रभाव होता तो तुम भी रोये होते, सभी रोये होते। नहीं! मेरे बोलने से ज्यादा सुनने वाले की हार्दिकता का संबंध है। जो रो सकते थे वे रोए।
और रोना बड़ी शक्ति है। एक बहुत अनूठी दिशा को मनुष्य-जाति ने खो दिया है--विशेषकर मनुष्यों ने खो दिया है, पुरुषों ने; स्त्रियों ने थोड़ा बचा रखा है, स्त्रियां धन्यभागी हैं। मनुष्य की आंख में, पुरुष हो कि स्त्री, एक-सी ही आंसुओं की ग्रंथियां हैं। प्रकृति ने आंसुओं की ग्रंथियां बराबर बनायी हैं। इसलिए प्रकृति का तो निर्देश स्पष्ट है कि दोनों की आंखें रोने के लिए बनी हैं। लेकिन पुरुष के अहंकार ने धीरे-धीरे अपने को नियंत्रण में कर लिया है। धीरे-धीरे पुरुष सोचने लगा है कि रोना स्त्रैण है; सिर्फ स्त्रियां रोती हैं। इस कारण पुरुष ने बहुत कुछ खोया है--भक्ति खोयी, भाव खोया। इस कारण पुरुष ने आनंद खोया, अहोभाव खोया। इस कारण पुरुष ने दुख की भी महिमा खोयी; क्योंकि दुख भी निखारता है, साफ करता है। इस कारण पुरुष के जीवन में एक बड़ी दुर्घटना घटी है।
तुम चकित होओगे, दुनिया में स्त्रियों की बजाय दुगुने पुरुष पागल होते हैं! और यह संख्या बहुत बढ़ जाये, अगर युद्ध बंद हो जायें; क्योंकि युद्ध में पुरुषों का पागलपन काफी निकल जाता है, बड़ी मात्रा में निकल जाता है। अगर युद्ध बिलकुल बंद हो जाएं सौ साल के लिए, तो डर है कि पुरुषों में से नब्बे प्रतिशत पुरुष पागल हो जायेंगे।
पुरुष स्त्रियों से ज्यादा आत्मघात करते हैं--दो गुना। आमतौर से तुम्हारी धारणा और होगी। तुम सोचते होओगे, स्त्रियां ज्यादा आत्मघात करती हैं। बातें करती हैं स्त्रियां, करतीं नहीं आत्मघात। ऐसे गोली वगैरह खाकर लेट जाती हैं, मगर गोली भी हिसाब से खाती हैं। तो स्त्रियां प्रयास ज्यादा करती हैं आत्मघात का, लेकिन सफल नहीं होतीं। उस प्रयास में भी हिसाब होता है। वस्तुतः स्त्रियां आत्मघात करना नहीं चाहतीं--आत्मघात तो उनका केवल निवेदन है शिकायत का। वे यह कह रही हैं कि ऐसा जीवन जीने योग्य नहीं; कुछ और जीवन चाहिए था। वे तो सिर्फ तुम्हें खबर दे रही हैं कि तुम इतने वज्र-हृदय हो गये हो कि जब तक हम मरने को तैयार न हों शायद तुम हमारी तरफ ध्यान ही न दोगे। वे सिर्फ तुम्हारा ध्यान आकर्षित कर रही हैं।
यह बड़ी अशोभन बात है कि ध्यान आकर्षित करने के लिए मरने का उपाय करना पड़ता है। आदमी जरूर खूब कठोर हो गया होगा, पथरीला हो गया होगा।
स्त्रियां मरना नहीं चाहतीं, जीना चाहती हैं। जीने के मार्ग पर जब इतनी अड़चन पाती हैं--कोई सुनने वाला नहीं, कोई ध्यान देने वाला नहीं--तब सिर्फ तुम ध्यान दे सको, इसलिए मरने का उपाय करती हैं।
लेकिन पुरुष जब आत्महत्या करते हैं तो सफल हो जाते हैं। पुरुष पागलपन में आत्महत्या करते हैं। ज्यादा पुरुष मानसिक रूप से रुग्ण होते हैं। कारण क्या होगा? बहुत कारण हैं। मगर एक कारण उनमें आंसू भी हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं, पुरुषों को फिर से रोना सीखना होगा। यह बल नहीं है, जिसको तुम बल कह रहे हो--यह बड़ी कठोरता है। बल इतना कठोर नहीं होता; बल तो कोमल का है।
तुमने देखा पहाड़ से झरना गिरता है, जलप्रपात गिरता है--कोमल जल! चट्टानें बड़ी सख्त! चट्टानें जरूर सोचती होंगी, हम मजबूत हैं, यह जलधार कमजोर है। लेकिन अंततः जलधार जीत जाती है; चट्टान रेत होकर बह जाती है। परमात्मा कोमल के साथ है। निर्बल के बल राम!
एक फूल खिला है। पास में पड़ी है एक चट्टान। चट्टान जरूर दिखती है मजबूत; फूल कमजोर। लेकिन तुमने कभी फूल की शक्ति देखी--जीवन की शक्ति! कौन चट्टान को सिर झुकाता है। तुम पत्थर को लेकर तो भगवान के चरणों में चढ़ाने नहीं जाते। तुम चट्टान, सोचकर कि बड़ी मजबूत है, चलो अपनी प्रेयसी को भेंट

कर दें, ऐसा तो नहीं करते। फूल तोड़कर ले जाते हो। फूल का बल है! फूल की गरिमा है! उसकी कोमलता उसका बल है। उसका खिलाव उसका बल है। उसका संगीत, उसकी सुगंध उसका बल है। उसकी निर्बलता में उसका बल है। सुबह खिला है, सांझ मुरझा जायेगा--यही उसका बल है। लेकिन खिला है। चट्टान कभी नहीं खिलती--बस है। चट्टान मुर्दा है। फूल जीवंत है; मरेगा, क्योंकि जीया है। चट्टान कभी नहीं मरती, क्योंकि मरी ही है।
कोमल बनो! आंसुओं को फिर से पुकारो! तुम्हारी आंखों को गीत और कविता
से भरने दो। अन्यथा तुम वंचित रहोगे बहुत-सी बातों से। फिर तुम्हारा परमात्मा भी एक तर्कजाल रहेगा, हृदय की अनुभूति नहीं; एक सिद्धांत-मात्र रहेगा, एक सत्य का स्वाद और सत्य की प्रतीति नहीं।
जो आंसू बहाकर रोये, वे सौभाग्यशाली हैं, वे बलशाली हैं। उन्होंने फिक्र न की कि तुम क्या कहोगे। उनको भी फिक्र तो लगती है कि लोग क्या कहेंगे। जब कोई आदमी जार-जार रोने लगता है तो उसे भी फिक्र लगती है कि लोग क्या कहेंगे। बल चाहिए रोने को कि फिक्र छोड़े कि लोग क्या कहेंगे। कहने दो। होंगे बदनाम तो हो लेने दो! हमको जी खोलकर रो लेने दो!
जब कोई आदमी रोता है, छोटे बच्चे की तरह बिसूरता है, तो थोड़ा सोचो उसका बल! तुम सबकी फिक्र नहीं की उसने। उसने यह फिक्र नहीं की कि लोग क्या कहेंगे कि मैं यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हूं और रो रहा हूं, कोई विद्यार्थी देख ले! कि मैं इतना बड़ा दुकानदार और रो रहा हूं, कोई ग्राहक देख ले! कि मैं इतना बलशाली पति और रो रहा हूं, और पत्नी पास बैठी है, घर जाकर झंझट खड़ी होगी। कि मैं बाप हूं और रो रहा हूं, और बेटा देख ले! छोटे बच्चे देख लें! सम्हाल लो अपने को।
अहंकार सम्हाले रखता है। यह निरहंकार रोया। अहंकार अपने को सदा नियंत्रण में रखता है। निरहंकार बहता है; उसमें बहाव है।
जे सुलगे ते बुझि गये, बुझे ते सुलगे नाहिं।
रहिमन दाहे प्रेम के, बुझि बुझि के सुलगाहिं।।
अंगारे जलते हैं--जे सुलगे ते बुझि गये--लेकिन एक घड़ी आती है, बुझ जाते हैं, फिर तुम दुबारा उन्हें नहीं जला सकते। राख को किसी ने कभी दुबारा अंगारा बनाने में सफलता पायी?
जे सुलगे ते बुझि गये, बुझे ते सुलगे नाहिं।
फिर एक दफे बुझकर वे कभी नहीं सुलगते। रहिमन दाहे प्रेम के--लेकिन जिनके हृदय में प्रेम का तीर लगा, उनका क्या कहना रहीम!
रहिमन दाहे प्रेम के, बुझि-बुझि के सुलगाहिं।
बार-बार जलते हैं! बार-बार बुझते हैं! फिर-फिर सुलग जाते हैं।
प्रेम की अग्नि शाश्वत है, सनातन है।
जिन्होंने मुझे प्रेम से सुना, वे रो पायेंगे। जिन्होंने मुझे सिर्फ बुद्धि से सुना वे कुछ निष्कर्ष, ज्ञान लेकर जायेंगे। वे राख लेकर जायेंगे--प्रेम का अंगारा नहीं। वे ऐसी राख लेकर जायेंगे जो फिर कभी नहीं सुलगेगी। याद रखना! वह बुझ गयी! वह तो मैंने तुमसे जब कही तब ही बुझ गयी। अगर तुमने बुद्धि में ली तो राख, अगर तुमने हृदय में ले ली तो अंगारा। इसलिए प्रेम का अंगारा जिनके भीतर पैदा हो जायेगा, वह तो फिर जलेगा, फिर बुझेगा, फिर जलेगा। वह तो तुम्हें खूब तड़फायेगा। वह तो तुम्हें निखारेगा। वह तो तुम्हारे जीवन में सारा रूपांतरण ले आयेगा। दिल खोलकर अगर तुम रो सके तो अंगारा हृदय में पहुंच गया, इसकी खबर थी। अगर न रो सके तो बुद्धि तक पहुंचा। थोड़ी राख इकट्ठी हो जायेगी। तुम थोड़े जानकार हो जाओगे। तुम दूसरों को समझाने में थोड़े कुशल हो जाओगे। वाद-विवाद, तर्क करने में तुम थोड़े निपुण हो जाओगे। बाकी मूल बात चूक गयी। जहां से अंगारा ला सकते थे, वहां से सिर्फ राख लेकर लौट आये। फिर तुम उस राख को चाहे विभूति कहो, कुछ फर्क नहीं पड़ता। राख राख है।
लगी आग, उठे दर्द के राग दिल से
तेरे गम में आतशबयां हो गये हम।
खिरद की बदौलत रहे रास्ते में
गुबारे-पसे-कारवां हो गये हम।

लगी आग, उठे दर्द के राग दिल से--वे आंसू आग लग जाने के आंसू थे।
जब किसी को रोते देखो, उसके पास बैठ जाना! वह घड़ी सत्संग की है, वह घड़ी छोड़ने जैसी नहीं। तुम नहीं रो पा रहे तो कम से कम रोते हुए व्यक्ति के पास बैठ जाना। उसका हाथ हाथ में ले लेना, शायद बीमारी तुम्हें भी लग जाये।
लगी आग, उठे दर्द के राग दिल से
आग लग जाये! ये गैरिक वस्त्र आग के प्रतीक हैं--ये प्रेम की आग के प्रतीक हैं।
तेरे गम में आतशबयां हो गये हम।
और जब तुम्हारे भीतर हृदय में पीड़ा उठेगी, विरह का भाव उठेगा, तुम्हारी श्वास-श्वास में जब अग्नि प्रगट होने लगेगी, आतशबयां...!
तेरे गम में आतशबयां हो गए हम।
खिरद की बदौलत रहे रास्ते में,
बुद्धि की बदौलत तो रास्ते में भटकते रहे!
खिरद की बदौलत रहे रास्ते में
गुबारे-पसे-कारवां हो गये हम।
और बुद्धि के कारण धीरे-धीरे हमारी हालत ऐसी हो गयी, जैसे कारवां गुजरता है, उसके पीछे धूल उड़ती रहती है। हम धूल हो गए।
धूल के अतिरिक्त बुद्धि के हाथ में कभी कुछ लगा नहीं है।
खिरद की बदौलत रहे रास्ते में,
गुबारे-पसे-कारवां हो गये हम।
जो दिल अपना रोशन हुआ कृष्णमोहन
हदें मिट गयीं बेकरां हो गए हम।
जो दिल अपना रोशन हुआ कृष्णमोहन--अगर प्रेम में पड़ जाये चोट, हृदय पर
लग जाये चोट, खिल जाये वहां आग का अंगारा...
जो दिल अपना रोशन हुआ कृष्णमोहन
हदें मिट गयीं बेकरां हो गए हम।
उस घड़ी फिर सीमाएं टूट जाती हैं--असीम हो जाते हैं। आंसू असीम की तरफ तुम्हारा पहला कदम है। आंसू इस बात की खबर है कि तुम पिघले, तुम्हारी सख्त सीमाएं थोड़ी पिघलीं, तुम थोड़े नरम हुए, तुम थोड़े गरम हुए, तुमने ठंडी बुद्धि थोड़ी छोड़ी, थोड़ी आग जली, थोड़ा ताप पैदा हुआ! ये आंसू ठंडे नहीं हैं। ये आंसू बड़े गर्म हैं। और ये आंसू तुम्हारे पिघलने की खबर लाते हैं। जैसे बरफ पिघलती है, ऐसे जब तुम्हारे भीतर की अस्मिता पिघलने लगती है तो आंसू बहते हैं।
कतीले-हवस थे तो आतशनफस थे
मुहब्बत हुई, बेजुबां हो गये हम।
जब बुद्धि से भरे थे, वासनाओं से भरे थे, विचारों से भरे थे तो लाख बातें कीं, जबान बड़ी तेज थी...!
कतीले-हवस थे तो आतशनफस थे
मुहब्बत हुई, बेजुबां हो गये हम।
वे आंसू बेजुबान अवस्था की सूचनाएं हैं। जब कुछ ऐसी घटना घटती है कि कहने का उपाय नहीं रह जाता तो न रोओ तो क्या करो? जब जबान कहने में असमर्थ हो जाये तो आंखें आंसुओं से कहती हैं। जब बुद्धि कहने में असमर्थ हो जाये तो कोई नाचकर कहता है। मीरा नाची। कुछ ऐसा हुआ कि कहने को शब्द ने मिले। पद घुंघरू बांध मीरा नाची रे! रोई! जार-जार रोयी! कुछ ऐसा हो गया कि शब्दों में कहना संभव न रहा, शब्द बड़े संकीर्ण मालूम हुए। आंसू ही कह सकते थे-- आंसुओं से ही कहा।
नहीं, इस तरह के भाव मन में मत लेना कि वे लोग कमजोर हैं। वे लोग शक्तिशाली हैं। उनकी शक्ति कोमलता की है। उनकी शक्ति संघर्ष की और हिंसा की नहीं है, उनकी शक्ति हार्दिकता की है। क्योंकि अगर तुमने सोचा कि ये लोग कमजोर हैं तो फिर तुम कभी भी न रोओगे। इसलिए तुमसे बार-बार जोर देकर कह रहा हूं, उनको कमजोर मत समझना। उनसेर् ईष्या करो। बार-बार सोचो कि क्या हुआ कि मैं नहीं रो पा रहा हूं।

भाव से भरा व्यक्ति स्वयं के केंद्र के सर्वाधिक निकट है। और जितना
ही भाव से भरा व्यक्ति स्वयं के निकट होता है उतनी ही ज्यादा पीड़ा को अनुभव करता है। तुम जितने घर से ज्यादा दूर हो उतने ही घर को भूलने की सुगमता है; जैसे-जैसे घर करीब आने लगता है वैसे-वैसे घर की याद भी आने लगती है। तुम परमात्मा को भूलकर बैठे हो। परमात्मा शब्द तुम्हारे कानों में पड़ता है, लेकिन कोई हलचल नहीं होती है। सुन लेते हो, एक शब्द मात्र है। परमात्मा शब्द मात्र नहीं है। उसे सुन लेने भर की बात नहीं है। जिसके भीतर कुछ थोड़ी-सी अभी भी जीवन की आग है उसे "परमात्मा" झकझोर देगा--शब्द मात्र झकझोर देगा।
चाहते हो अगर मुझे दिल से
फिर भला किसलिए रुलाते हो?
भक्त सदा परमात्मा से कहते रहे हैं:
चाहते हो अगर मुझे दिल से
फिर भला किसलिए रुलाते हो?
रोशनी के घने अंधेरों में
क्यों नज़र से नज़र चुराते हो?
पास आये न पास आकर भी
पास मुझको नहीं बुलाते हो?
किसलिए आसपास रहते हो?
किसलिए आसपास आते हो?
अगर तुमने मुझे ठीक से सुना तो तुम्हें परमात्मा बहुत बार, बहुत पास मालूम पड़ेगा।
किसलिए आसपास रहते हो?
किसलिए आसपास आते हो?
पास आये न पास आकर भी
पास मुझको नहीं बुलाते हो?
चाहते हो अगर मुझे दिल से
फिर भला किसलिए रुलाते हो?
रोशनी के घने अंधेरों में
क्यों नज़र से नज़र चुराते हो?
जो व्यक्ति भाव में उतर रहा है वह बिलकुल इतने करीब है परमात्मा के कि परमात्मा की आंच उसे अनुभव होने लगती है; नजर में नजर पड़ने लगती है; सीमाएं एक-दूसरे के ऊपर उतरने लगती हैं; एक-दूसरे की सीमा में अतिक्रमण होने लगता है।
यहां जो कहा जा रहा है, वह सिर्फ कहने को नहीं है; वह तुम्हें रूपांतरित करने को है। वह सिर्फ बात की बात नहीं है, वह तुम्हें संपूर्ण रूप से, जड़-मूल से बदल देने की बात है।

तीसरा प्रश्न: धर्म + धारणा या धारणा + धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है। और संस्कृति से समाज और उसकी परंपराएं बनती हैं। पूज्यपाद ने बताया कि धर्म सबके खिलाफ है। अगर धर्म सभी के विरोध में रहेगा तो किसी प्रकार की अराजकता होना असंभव है क्या? हमें समझाने की कृपा करें!

धर्म से जो तुम अर्थ समझ रहे हो धारणा का, वैसा अर्थ नहीं है। धारणा, कनसेप्ट धर्म नहीं है। धर्म शब्द बना है जिस धातु से, उसका अर्थ है: जिसने सबको धारण किया है; जो सबका धारक है; जिसने सबको धारा है। धारणा नहीं-- जिसने सबको धारण किया है।
यह जो विराट, ये जो चांदत्तारे, यह जो सूरज, ये जो वृक्ष और पक्षी और मनुष्य, और अनंत- अनंत तक फैला हुआ अस्तित्व है--इसको जो धारे हुए है, वही धर्म है।
धर्म का कोई संबंध धारणा से नहीं है। तुम्हारी धारणा हिंदू की है, किसी की मुसलमान की है, किसी की ईसाई की है--इससे धर्म का कोई संबंध नहीं। ये धारणाएं हैं, ये बुद्धि की धारणाएं हैं। धर्म तो उस मौलिक सत्य का नाम

है, जिसने सबको सम्हाला है; जिसके बिना सब बिखर जायेगा; जो सबको जोड़े हुए है; जो सबकी समग्रता है; जो सबका सेतु है--वही!
जैसे हम फूल की माला बनाते हैं। ऐसे फूल का ढेर लगा हो और फूल की माला रखी हो--फर्क क्या है? ढेर अराजक है। उसमें कोई एक फूल का दूसरे फूल से संबंध नहीं है, सब फूल असंबंधित हैं। माला में एक धागा पिरोया। वह धागा दिखायी नहीं पड़ता; वह फूलों में छिपा है। लेकिन एक फूल दूसरे फूल से जुड़ गया।
इस सारे अस्तित्व में जो धागे की तरह पिरोया हुआ है, उसका नाम धर्म है। जो हमें वृक्षों से जोड़े है, चांदत्तारों से जोड़े है, जो कंकड़-पत्थरों को सूरज से जोड़े है, जो सबको जोड़े है, जो सबका जोड़ है--वही धर्म है।
धर्म से संस्कृति का निर्माण नहीं होता। संस्कृति तो संस्कार से बनती है। धर्म तो तब पता चलता है जब हम सारे संस्कारों का त्याग कर देते हैं। संन्यास का अर्थ है: संस्कार-त्याग।
हिंदू की संस्कृति अलग है, मुसलमान की संस्कृति अलग है, बौद्ध की संस्कृति अलग है, जैन की संस्कृति अलग है। दुनिया में हजारों संस्कृतियां हैं, क्योंकि हजारों ढंग के संस्कार हैं। कोई पूरब की तरफ बैठकर प्रार्थना करता है, कोई पश्चिम की तरफ मुंह करके प्रार्थना करता है--यह संस्कार है। कोई ऐसे कपड़े पहनता, कोई वैसे कपड़े पहनता; कोई इस तरह का खाना खाता, कोई उस तरह का खाना खाता--ये सब संस्कार हैं।
दुनिया में संस्कृतियां तो रहेंगी--रहनी चाहिए। क्योंकि जितनी विविधता हो उतनी दुनिया सुंदर है। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में बस एक संस्कृति हो--बड़ी बेहूदी, बेरौनक, उबाने वाली होगी। दुनिया में हिंदुओं की संस्कृति होनी चाहिए, मुसलमानों की, ईसाइयों की, बौद्धों की, जैनों की, चीनियों की, रूसियों की--हजारों संस्कृतियां होनी चाहिए। क्योंकि वैविध्य जीवन को सुंदर बनाता है। बगीचे में बहुत तरह के फूल होने चाहिए। एक ही तरह के फूल बगीचे को ऊब से भर देंगे।
संस्कृतियां तो अनेक होनी चाहिए--अनेक हैं, अनेक रहेंगी। लेकिन धर्म
एक होना चाहिए, क्योंकि धर्म एक है। और कोई उपाय नहीं है।
तो मैं हिंदू को संस्कृति कहता हूं, मुसलमान को संस्कृति कहता हूं; धर्म नहीं कहता। ठीक है। संस्कृतियां तो सुंदर हैं। बनाओ अलग ढंग की मस्जिद, अलग ढंग के मंदिर। मंदिर सुंदर हैं, मस्जिदें सुंदर हैं। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में सिर्फ मंदिर रह जायें और मस्जिदें मिट जायें--बड़ा सौंदर्य कम हो जायेगा। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में संस्कृत ही रह जाये, अरबी मिट जाये--बड़ा सौंदर्य कम हो जायेगा। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में सिर्फ कुरान रह जाये, वेद मिट जायें, गीता-उपनिषद मिट जायें-- दुनिया बड़ी गरीब हो जायेगी।
कुरान सुंदर है; साहित्य की अनूठी कृति है, काव्य की बड़ी गहन ऊंचाई है--लेकिन धर्म से कुछ लेना-देना नहीं। वेद प्रिय हैं; अनूठे उदघोष हैं; पृथ्वी की आकांक्षाएं हैं आकाश को छू लेने की। उपनिषद अति मधुर हैं। उनसे ज्यादा मधुर वक्तव्य कभी भी नहीं दिए गये। वे नहीं खोने चाहिए। वे सब रहने चाहिए--पर संस्कृति की तरह।
धर्म तो एक है। धर्म तो वह है जिसने हम सबको धारण किया--हिंदू को भी, मुसलमान को भी, ईसाई को भी। धर्म तो वह है जिसने पशुओं को, मनुष्यों को, पौधों को, सबको धारण किया है; जो पौधों में हरे धार की तरह बह रहा है; जो मनुष्यों में रक्त की धार की तरह बह रहा है; जो तुम्हारे भीतर श्वास की तरह चल रहा है; जो तुम्हारे भीतर साक्षी की तरह मौजूद है। धर्म ने तो सबको धारण किया है।
इसलिए धर्म को संस्कृति का पर्याय मत समझना। धर्म से संस्कृति का कोई लेना-देना नहीं। इसलिए तो रूस की संस्कृति हो सकती है; वहां कोई धर्म नहीं है। चीन की संस्कृति है; वहां अब कोई धर्म नहीं है। नास्तिक की संस्कृति हो सकती है, आस्तिक की हो सकती है। धर्म से संस्कृति का कोई लेना-देना नहीं है। धर्म तो तुम्हारे रहने-सहने से कुछ वास्ता नहीं रखता, धर्म तो तुम्हारे होने से वास्ता रखता है। धर्म तो तुम्हारा शुद्ध स्वरूप है,

स्वभाव है। संस्कृति तो तुम्हारे बाहर के आवरण में, आचरण में, व्यवहार में, इन सब चीजों से संबंध रखती है--कैसे उठना, कैसे बोलना, क्या कहना, क्या नहीं कहना...।
धर्म से कोई परंपरा नहीं बनती। धर्म परंपरा नहीं है। धर्म तो सनातन, शाश्वत सत्य है। परंपराएं तो आदमी बनाता है--धर्म तो है। परंपराएं आदमी से निर्मित हैं; आदमी के द्वारा बनायी गयी हैं। धर्म, आदमी से पूर्व है। धर्म के द्वारा आदमी बनाया गया है। इस फर्क को खयाल में ले लेना।
इसलिए परंपरा को भूल कर भी धर्म मत समझना और धार्मिक व्यक्ति कभी पारंपरिक नहीं होता, ट्रेडीशनल नहीं होता। इसलिए तो जीसस को सूली देनी पड़ी, मंसूर को मार डालना पड़ा, सुकरात को जहर देना पड़ा--क्योंकि धार्मिक व्यक्ति कभी भी परंपरागत नहीं होता। धार्मिक व्यक्ति तो एक महाक्रांति है। वह तो बार-बार सनातन और शाश्वत का उदघोष है। जब भी सनातन और शाश्वत का कोई उदघोष करता है तो परंपरा से बंधे, लकीर के फकीर बहुत घबड़ा जाते हैं। उनको बहुत बेचैनी होने लगती है। वे कहते हैं, इससे तो अराजकता हो जाएगी। अराजकता अभी है। जिसको तुम कहते हो व्यवस्था, राजकता, वह क्या खाक व्यवस्था है? सारा जीवन कलह से भरा है। सारा जीवन न-मालूम कितने अपराधों से भरा है। और सारा जीवन दुख से भरा है। फिर भी तुम घबड़ाते हो, अराजकता हो जाएगी।
तुम्हारे जीवन में क्या है सिवाय नर्क के? कौन-से सुख की सुरभि है? कौन-से आनंद के फूल खिलते हैं? कौन-सी बांसुरी बजती है तुम्हारे जीवन में? राख ही राख का ढेर है! फिर भी कहते हो, अराजकता हो जायेगी!
धार्मिक व्यक्ति विद्रोही तो होता है, अराजक नहीं। इसे समझना।
धार्मिक व्यक्ति ही वस्तुतः राजक व्यक्ति होता है, क्योंकि उसने संबंध जोड़ लिया अनंत से। उसने जीवन के परम मूल से संबंध जोड़ लिया, अराजक तो वह कैसे होगा? हां, तुमसे संबंध टूट गया, तुम्हारे ढांचे, व्यवस्था से वह थोड़ा बाहर हो गया। उसने परम से नाता जोड़ लिया। उसने उधार से नाता तोड़ दिया, उसने नगद से नाता जोड़ लिया। उसने बासे से नाता तोड़ दिया, उसने ताजे से, नित-नूतन से, नित-नवीन से नाता जोड़ लिया।
तुम्हारी संस्कृति और सभ्यता तो प्लास्टिक के फूलों जैसी है। धार्मिक व्यक्ति का जीवन वास्तविक फूलों जैसा है। प्लास्टिक के फूल फूल जैसे दिखाई पड़ते हैं, वस्तुतः फूल नहीं हैं; मालूम होते हैं; बस दूर से दिखायी पड़ते हैं; धोखा हैं।
तुम अगर इसलिए सत्य बोलते हो क्योंकि तुम्हें संस्कार डाल दिया गया
है सत्य बोलने का, तो तुम्हारा सत्य दो कौड़ी का है। तुम अगर इसलिए मांसाहार नहीं करते क्योंकि तुम जैन घर में पैदा हुए और संस्कार डाल दिया गया कि मांसाहार पाप है, इतना लंबा संस्कार डाला गया कि आज मांस को देखकर ही तुम्हें मतली आने लगती है, तो तुम यह मत सोचना कि तुम धार्मिक हो गए। यह केवल संस्कार है। यह व्यक्ति जो जैन घर में पैदा हुआ है और मांसाहार से घबड़ाता है, इसे देखकर मतली आती है, देखने की तो बात, "मांसाहार" शब्द से इसे घबड़ाहट होती है, मांसाहार से मिलती-जुलती कोई चीज देख ले तो इसको मतली आ जाती है, टमाटर देखकर यह घबड़ाता है--यह सिर्फ संस्कार है। अगर यह व्यक्ति किसी मांसाहारी घर में पैदा हुआ होता तो बराबर मांसाहार करता; क्योंकि वहां मांसाहार का संस्कार होता, यहां मांसाहार का संस्कार नहीं है। संस्कार, कंडीशनिंग तो तुम्हारा बंधन है। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा
कि मांसाहार करने लगो। मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम्हारे भीतर वैसा आविर्भाव हो चैतन्य का, जैसा महावीर के भीतर हुआ! वह संस्कार नहीं था। वह उनका अपना अनुभव था कि किसी को दुख देना अंततः अपने को ही दुख देना है; क्योंकि हम सब एक हैं, जुड़े हैं। यह ऐसे ही है जैसे कोई अपने ही गाल पर चांटा मार ले! देर-अबेर जो हमने दूसरे के साथ किया है, वह हम पर ही लौट आयेगा। महावीर को यह प्रतीति इतनी गहरी हो गयी, यह बोध इतना साकार हो गया कि उन्होंने दूसरे को दुख देना बंद कर दिया। मांसाहार छूटा, इसलिए नहीं कि बचपन से उन्हें सिखाया गया कि मांसाहार पाप है; मांसाहार छूटा उनके साक्षी-भाव में। यह धर्म है।

तुम अगर जैन घर में पैदा हुए और मांसाहार नहीं करते, यह सिर्फ संस्कार है। यह प्लास्टिक का फूल है, असली फूल नहीं। यह जैन को तुम भेज दो अमरीका, यह दो-चार साल में मांसाहार करने लगता है। चारों तरफ मांसाहार देखता है, पहले घबड़ाता है, पहले नाक-भौं सिकोड़ता है, फिर धीरे-धीरे अभ्यस्त होता चला जाता है। फिर उसी टेबल पर दूसरों को मांसाहार करते-करते देखकर धीरे-धीरे इसकी नाक, इसके नासारंध्र मांस की गंध से राजी होने लगते हैं। फिर दूसरी संस्कृति का प्रभाव! वहां हरेक व्यक्ति का कहना कि बिना मांसाहार के कमजोर हो जाओगे। देखो ओलंपिक में तुम्हारी क्या गति होती है बिना मांसाहार के! एक स्वर्णपदक भी नहीं ला पाते। स्वर्णपदक तो दूर, तांबे का पदक भी नहीं मिलता। तुम अपनी हालत तो देखो! हजार साल तक गुलाम रहे, बल क्या है तुममें? तुम्हारी औसत उम्र कितनी है? कितनी हजारों बीमारियां तुम्हें पकड़े हुए हैं!
निश्चित ही मांसाहारी मुल्कों की उम्र अस्सी साल के ऊपर पहुंच गयी है--औसत उम्र, अस्सी- पचासी। जल्दी ही सौ साल औसत उम्र हो जायेगी। यहां तीस-पैंतीस के आसपास हम अटके हुए हैं।
कितनी नोबल प्राइज तुम्हें मिलती हैं? अगर शुद्ध शाकाहार बुद्धि को शुद्ध करता है तो सब नोबल प्राइज तुम्हीं को मिल जानी चाहिए थीं। बुद्धि तो कुछ बढ़ती विकसित होती दिखती नहीं। और जिन रवींद्रनाथ को मिली भी नोबल-प्राइज वे शाकाहारी नहीं हैं, खयाल रखना! एकाध जैन को नोबल प्राइज मिली? क्या, मामला क्या है? तुम दो हजार साल से शाकाहारी हो, दो हजार साल में तुम्हारी बुद्धि अभी तक शुद्ध नहीं हो पायी?
तो मांसाहारी के पास दलीलें हैं। वह कहता है, "तुम्हारी बुद्धि कमजोर
हो जाती है, क्योंकि ठीक-ठीक प्रोटीन, ठीक-ठीक विटामिन, ठीक-ठीक शक्ति तुम्हें नहीं मिलती। तुम्हारी देह कमजोर हो जाती है। तुम्हारी उम्र कम हो जाती है। तुम्हारा बल कम हो जाता है।"
अमरीका में तुम रोज देखते हो, खबरें सुनते हो अखबार में कि किसी नब्बे साल के आदमी ने शादी की! तुम हैरान होते हो। तुम कहते हो, यह मामला क्या पागलपन का है! लेकिन नब्बे साल का आदमी भी शादी कर लेता है, क्योंकि अभी भी कामवासना में समर्थ है। यह बल का सबूत है। नब्बे साल के आदमी का भी बच्चा पैदा हो जाता है। यह बल का सबूत है।
तो जैसे ही कोई जाकर पश्चिम की संस्कृति में रहता है, वहां ये सब दलीलें सुनता है और प्रमाण देखता है और उनकी विराट संस्कृति का वैभव देखता है। धीरे-धीरे भूल जाता है...।
महावीर को अगर पश्चिम जाना पड़ता तो वह मांसाहार नहीं करते। वह फूल स्वाभाविक था। वे कहते, ठीक! दो-चार-दस साल कम जीयेंगे, इससे हर्ज क्या! ज्यादा जीने का फायदा क्या है? ज्यादा जीकर तुम करोगे क्या? और थोड़े जानवरों को खा जाओगे, और क्या करोगे! महावीर से अगर किसी ने कहा होता तो वे कहते, जरा लौटकर तो देखो, अगर तुम सौ साल जीये और तुमने जितने जानवर, पशु- पक्षी खाये, उनकी जरा तुम कतार रखकर तो देखो! एक मरघट पूरा का पूरा तुम खा गये! एक पूरी बस्ती की बस्ती तुम खा गये! हड्डियों के ढेर तुमने लगा दिये अपने चारों तरफ! एक आदमी जिंदगी में जितना मांसाहार करता है--हजारों-लाखों पशु-पक्षियों का ढेर लग जायेगा! अगर जरा तुम सोचो कि इतना तुम...इतने प्राण तुमने मिटाये! किसलिए? सिर्फ जीने के लिए? और जीना किसलिए? और पशुओं को मिटाने के लिए?
अगर महावीर से कोई यह कहेगा कि तुम निर्बल हो जाते हो, तो वे कहते, "बल
का हम करेंगे क्या? किसी की हिंसा करनी है? किसी को मारना है? कोई युद्ध लड़ना है?" अगर महावीर को कोई कहता कि देखो तुम एक हजार साल गुलाम रहे, तो महावीर कहते हैं: दो स्थितियां हैं, या तो मालिक बनो किसी के या गुलाम। महावीर कहेंगे, मालिक बनने से गुलाम बनना बेहतर--कम से कम तुमने किसी को सताया तो नहीं, सताए गये! बेईमान बनने से बेईमानी झेल लेना बेहतर--कम से कम तुमने किसी के साथ बेईमानी तो न की। चोर बनने से चोरी का शिकार बन जाना बेहतर।

अगर महावीर को कोई कहता कि देखो तुम्हें नोबल प्राइज नहीं मिलती, वे कहते: नोबल प्राइज का करेंगे क्या? ये खेल-खिलौने हैं, बच्चों के खेलने- कूदने के लिए अच्छे हैं। इनका करेंगे क्या? हम कुछ और ही पुरस्कार पाने चले हैं। वह पुरस्कार सिर्फ परमात्मा से मिलता है, और किसी से भी नहीं मिलता। वह पुरस्कार साक्षी के आनंद का है। वह सच्चिदानंद का है! नोबल प्राइज तुम अपनी सम्हालो। तुम बच्चों को दो, खेलने दो। ये खिलौने हैं।
इस संसार का कोई पुरस्कार उस पुरस्कार का मुकाबला नहीं करता जो भीतर
के आनंद का है। शरीर जाये, उम्र जाये, धन जाये, सब जाये--भीतर का रस बच जाये बस, सब बच गया! जिसने भीतर का खोया, सब खोया। जिसने भीतर का बचा लिया, सब बचा लिया।
लेकिन जैन साधारणतः जाता है, वह भ्रष्ट होकर आ जाता है। कारण? वह भ्रष्ट था ही! भ्रष्ट होकर आ गया, ऐसा नहीं--कागजी फूल था, झूठी बात थी, संस्कार था।
संस्कृति और धर्म में अंतर समझ लेना। धर्म तुम्हारा स्वानुभव है, और संस्कृति दूसरों के द्वारा सिखायी गयी बातें हैं। लाख कोई कितनी ही व्यवस्था से सिखा दे, दूसरे की सिखायी बात तुम्हें मुक्त नहीं करती, बंधन में डालती है।
तो जब मैं कहता हूं धर्म बगावत है, विद्रोह है, तो मेरा अर्थ है--बगावत परंपरा से, बगावत संस्कार से, बगावत आध्यात्मिक गुलामी से।
लेकिन धार्मिक व्यक्ति अराजक नहीं हो जाता। धार्मिक व्यक्ति अगर अराजक हो जाता है तो इस संसार में फिर कौन लाएगा अनुशासन? धार्मिक व्यक्ति तो परम अनुशासनबद्ध हो जाता है। लेकिन उसका अनुशासन दूसरे ढंग का है। वह भीतर से बाहर की तरफ आता है। वह किसी के द्वारा आरोपित नहीं है। वह स्वस्फूर्त है। वह ऐसा है जैसे झरना फूटता है भीतर की ऊर्जा से। वह ऐसा है जैसे नदी बहती है जल की ऊर्जा से; कोई धक्के नहीं दे रहा है।
तुम ऐसे हो जैसे गले में किसी ने रस्सी बांधी और घसीटे जा रहे हो, और पीछे से कोई कोड़े मार रहा है तो चलना पड़ रहा है।
संस्कार से जीने वाला आदमी जबरदस्ती घसीटा जा रहा है, बे-मन से घसीटा
जा रहा है। धार्मिक व्यक्ति नाचता हुआ जाता है। वह मृत्यु की तरफ भी जाता है तो नाचता हुआ जाता है। तुम जीवन में भी घसीटे जा रहे हो। तुम हमेशा अनुभव करते रहते हो, जबरदस्ती हो रही है। तुम हमेशा अनुभव करते रहते हो, कुछ चूक रहे हैं; दूसरे मजा ले रहे हैं, दूसरे मजा भोग रहे हैं।
मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: हम साधु-संत, सीधे-सादे आदमी हैं। बड़ा अन्याय हो रहा है दुनिया में! बेईमान मजा लूट रहे हैं। चोर-बदमाश मजा लूट रहे हैं।
मैं उनसे कहता हूं कि तुम्हें यह खयाल ही उठता है कि वे मजा लूट रहे हैं, यह बात बताती है कि तुम साधु भी नहीं, संत भी नहीं, सरल भी नहीं। तुम हो तो उन्हीं जैसे लोग, सिर्फ तुम्हारी हिम्मत कमजोर है। चाहते तो तुम भी उन्हीं जैसा मजा हो, लेकिन उस मजे के लिए जो कीमत चुकानी पड़ती है वह चुकाने में तुम डरते हो। हो तो तुम भी चोर, लेकिन चोरी करने के लिए हिम्मत चाहिए, वह हिम्मत तुम्हारी खो गयी है। चाहते तो तुम भी हो कि बेईमानी करके धन का अंबार लगा लें, लेकिन बेईमानी करने में कहीं फंस न जाएं, पकड़े न जाएं, इसलिए तुम रुके हो। अगर तुम्हें पक्का आश्वासन दे दिया जाये कि कोई तुम्हें पकड़ेगा नहीं, कोई तुम्हें पकड़ने वाला नहीं है, कोई पकड़ने का डर नहीं है--तुम तत्क्षण चोर हो जाओगे।
धार्मिक व्यक्ति तो दया खाता है उन पर जो बेईमानी कर रहे हैं। क्योंकि वह कहता है: ये बेचारे कैसे परम आनंद से वंचित हो रहे हैं! जो हमें मिल रहा है, वह इन्हें नहीं मिल रहा!
धार्मिक व्यक्तिर् ईष्या नहीं करता अधार्मिक से--दया खाता है। मन ही
मन में रोता है कि इन बेचारों का सिर्फ चांदी-सोने के ठीकरे ही जुटाने में सब खो जायेगा। ये मिट्टी के, रेत के घर बना-बनाकर समाप्त हो जाएंगे। जहां अमृत का अनुभव हो सकता था, वहां ये व्यर्थ में ही भटक जायेंगे। उसे दया आती है।र् ईष्या का तो सवाल ही नहीं, क्योंकि उसके पास कुछ विराटतर है। और उसी

विराट के कारण उसके जीवन में एक अनुशासन होता है। उस अनुशासन के ऊपर कोई अनुशासन नहीं है।
धार्मिक व्यक्ति विद्रोही है, लेकिन अनुशासनहीन नहीं है। उसका अनुशासन आत्मिक है, आंतरिक है। आत्मानुशासन है उसका अनुशासन।
और जिसको तुम राजकता कहते हो, जिसको तुम व्यवस्था कहते हो, इस व्यवस्था ने दिया क्या है? युद्ध दिये, हिंसा दी, पाप दिये, घृणा दी, वैमनस्य दिया। दिया क्या है?
एक धरती जली है घनों के लिए
प्यार पैदा हुआ तड़पनों के लिए
मित्र मांगे अगर प्राण तो गम नहीं
प्राण हमने दिये दुश्मनों के लिए।
पापियों ने तो हमको बचाया सदा
पाप हमने किए सज्जनों के लिए। प्रश्न जब भी मिले, सब मुखौटे लगा उम्र हमको मिली उलझनों के लिए।
भीड़ सपनों की हमने उगायी सदा
बंजरों के नगर निर्जनों के लिए।
किन लुटेरों की दुनिया में हम आ गए
हाथ कटते यहां कंगनों के लिए।
जिंदगी ने निचोड़ा है इतना हमें
बेच डाले नयन दर्शनों के लिए।
यहां है क्या? आंखें तक बिक गयी हैं--इस आशा में कि कभी दर्शन होंगे! आत्मा तक बिक गयी है--इस आशा में कि कभी परमात्मा मिलेगा! यहां पाया क्या है? यहां व्यवस्था है कहां? इससे ज्यादा और अव्यवस्था क्या होगी? सब तरफ घृणा है, सब तरफ वैमनस्य है, सब तरफ गलाघोंट प्रतियोगिता है, सब तरफर् ईष्या है, जलन है। कोई किसी का मित्र नहीं; सब शत्रु ही शत्रु मालूम होते हैं। यहां मिलता तो कुछ भी नहीं, किस बात को तुम व्यवस्था कहते हो? व्यवस्था तो तभी हो सकती है, जब जीवन में आनंद हो। आनंद एक व्यवस्था लाता है। आनंद के पीछे छाया की तरह आती है व्यवस्था।
स्मरण रखना, दुखी आदमी अराजक होता है। सुखी आदमी अराजक नहीं हो सकता। दुखी आदमी अराजक हो ही जाता है, उसे मिला क्या है? तो वह तोड़ने-फोड़ने में उत्सुक हो जाता है। जिसके जीवन में कुछ भी नहीं मिला, वह नाराजगी में तोड़ने-फोड़ने लगता है। जिसके जीवन में कुछ मिला है, वह इतना धन्यभागी होता है जीवन के प्रति कि तोड़ेगा-फोड़ेगा कैसे?
इस व्यवस्था को, इस धोखे की व्यवस्था को तुम व्यवस्था मत समझ लेना। यह राजनीतिज्ञों की चालबाजी है। और जिन्हें तुम समझते हो कि वे तुम्हारे नेता हैं, जिन्हें तुम समझते हो तुम्हारे राहबर हैं, वे राहजन हैं! वही तुम्हें लूटते हैं।
चलो अब किसी और के सहारे लोगो
बड़े खुदगर्ज हो गए थे किनारे लोगो।
अब तो किनारे का भी सहारा रखना ठीक नहीं मालूम पड़ता।
चलो अब किसी और के सहारे लोगो
बड़े खुदगर्ज हो गये थे किनारे लोगो।
सहारा समझ कर खड़े हो साये में जिनके
ढह पड़ेंगी अचानक वे दीवारें लोगो।
जरूर कुछ करिश्मा हुआ है आज
खंडहर से ही आ रही हैं झंकारें लोगो।
उम्मीद की हदें टूटीं तो ताज्जुब नहीं म्यान से बाहर हैं तलवारें लोगो।
क्या गुजरेगी सफीने पे, खबर नहीं अंधड़ से मिल गयी हैं पतवारें लोगो।
क्या गुजरेगी सफीने पे खबर नहीं अंधड़ से मिल गयी हैं पतवारें लोगो।

हजारों बेबस आहें दफन हैं यहां
महज पत्थरों के ढेर नहीं हैं ये मजारें लोगो।
यहां अंधड़ से मिल गयी हैं पतवारें! यहां जिन्हें तुम समझते हो तुम्हारे सहारे हैं, वे तुम्हारे शोषक हैं। और जिन्हें तुम समझते हो कि व्यवस्थापक हैं, वे केवल तुम्हारी छाती पर सवार हैं।
तुमने कभी खयाल किया, जो भी आदमी पद पर होता है वह व्यवस्था की बात करने लगता है! और जो आदमी पद के बाहर होता है राजनीति में, वह बगावत की बात करने लगता है। पद के बाहर होते ही से बगावत की बात! तब सब गलत है, सब बदला जाना चाहिए। और पद पर होते से ही व्यवस्था की बात! सब ठीक है; बदलाहट खतरनाक है; अनुशासन-पर्व की जरूरत है।
यह सारी दुनिया में सदा से ऐसा होता रहा है। राजनीतिज्ञ को सिर्फ पद
का मोह है; न व्यवस्था से मतलब है, न अव्यवस्था से। हां, जब वह व्यवस्था का मालिक नहीं होता, जब खुद के हाथ में ताकत नहीं होती, तब वह कहता है, सब गलत है। तब क्रांति की जरूरत है। और जैसे ही वह पद पर आता है, फिर क्रांति की बिलकुल जरूरत नहीं। क्योंकि क्रांति का काम पूरा हो गया। वह काम इतना था-- उसको पद पर लाना--वह काम पूरा हो गया। फिर जो क्रांति की बात करे, वह दुश्मन है।
और वह जो क्रांति की बात कर रहा है, उसको भी क्रांति से कुछ लेना-देना नहीं है। यह बड़ी अदभुत घटना है--दुनिया में रोज घटती है, फिर भी आदमी सम्हलता नहीं।
सब क्रांतिकारी क्रांति-विरोधी हो जाते हैं--पद पर पहुंचते ही। और सब पदच्युत राजनीतिज्ञ क्रांतिकारी हो जाते हैं--पद से उतरते ही। पद में भी बड़ा जादू है। कुर्सी पर बैठे कि व्यवस्था। क्योंकि अब व्यवस्था तुम्हारे हित में है। कुर्सी से उतरे, क्रांति! अब क्रांति तुम्हारे हित में है। धार्मिक व्यक्ति को न तो व्यवस्था से मतलब है, न क्रांति से। धार्मिक व्यक्ति को आत्मानुशासन से मतलब है। धार्मिक व्यक्ति चाहता है--बाहर के सहारे बहुत खोज लिए, कोई व्यवस्था न आ सकी दुनिया में--अब जागो! अपना सहारा खोजो! अपनी ज्योति जलाओ! बाहर के दीयों के सहारे बहुत चले और भटके--सिर्फ भटके; खाई-खंडहरों में गिरे, लहूलुहान हुए। अब अपनी ज्योति जलाओ और अपने सहारे चलो! नहीं कोई बाहर तुम्हें व्यवस्था दे सकता है। अपनी व्यवस्था तुम स्वयं दो। तुम्हारा जीवन तुम्हारे भीतर के अनुशासन से भरे!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
पांचवां प्रवचन

साधना नहीं -- निष्ठा, श्रद्धा

अष्टावक्र उवाच।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखंगेन तन्निष्कृत्य सुखी भव।। १४।।
निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः।
अयमेव हि ते बंधः समाधिमनुतिष्ठसि।। १५।।
त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।
शुद्धबुद्ध स्वरूपस्त्वं मागमः क्षुद्रचित्तताम्।। १६।।
निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाध बुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः।। १७।।
साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः।। १८।।
यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेन्तः परितस्तुसः।
यथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः।। १९।।
एकं सर्वगतं व्योम बहिरंतर्यथा घटे।
नित्यं निरंतरं ब्रह्म सर्व भूतगणे तथा।। २०।।

पहला सूत्र:
अष्टावक्र ने कहा, "हे पुत्र! तू बहुत काल से देहाभिमान के पाश में बंधा हुआ है। उस पाश को मैं बोध हूं, इस ज्ञान की तलवार से काट कर तू सुखी हो!"
अष्टावक्र की दृष्टि में--और वही शुद्धतम दृष्टि है, आत्यंतिक दृष्टि है--बंधन केवल मान्यता का है। बंधन वास्तविक नहीं है।
रामकृष्ण के जीवन में ऐसा उल्लेख है कि जीवन भर तो उन्होंने मां काली
की पूजा-अर्चना की, लेकिन अंततः अंततः उन्हें लगने लगा कि यह तो द्वैत ही है; अभी एक का अनुभव नहीं हुआ। प्रीतिकर है, सुखद है; लेकिन अभी दो तो दो ही बने हैं। कोई स्त्री को प्रेम करता, कोई धन को प्रेम करता, कोई पद को, उन्होंने मां काली को प्रेम किया--लेकिन प्रेम अभी भी दो में बंटा है; अभी परम अद्वैत नहीं घटा। पीड़ा होने लगी। तो वे प्रतीक्षा करने लगे कि कोई अद्वैतवादी, कोई वेदांती, कोई ऐसा व्यक्ति आ जाये जिससे राह मिल सके।
एक परमहंस, "तोतापुरी" गुजरते थे, रामकृष्ण ने उन्हें रोक लिया और कहा, मुझे एक के दर्शन करा दें। तोतापुरी ने कहा, यह कौन-सी कठिन बात है? दो मानते हो, इसलिए दो हैं। मान्यता छोड़ दो!
पर रामकृष्ण ने कहा, मान्यता छोड़नी बड़ी कठिन है। जन्म भर उसे साधा। आंख बंद करता हूं, काली की प्रतिमा खड़ी हो जाती है। रस में डूब जाता हूं। भूल ही जाता हूं कि एक होना है। आंख बंद करते ही दो हो जाता हूं। ध्यान करने की चेष्टा करता हूं, द्वैत हो जाता है। मुझे उबारो!
तो तोतापुरी ने कहा, ऐसा करो जब काली की प्रतिमा बने तो उठाना एक तलवार और दो टुकड़े कर देना। रामकृष्ण ने कहा, तलवार वहां कहां से लाऊंगा? तो जो तोतापुरी ने कहा, वही अष्टावक्र का वचन है। तोतापुरी ने कहा, यह काली की प्रतिमा कहां से ले आये हो? वहीं से तलवार भी ले आना। यह भी कल्पना है। इसे भी कल्पना से सजाया- संवारा है। जीवन भर साधा है। जीवन भर पुनरुक्त किया है, तो प्रगाढ़ हो गई है। यह कल्पना ही है। सभी को आंख बंद करके काली तो नहीं आती।
ईसाई आंख बंद करता है, वर्षों की चेष्टा के बाद, तो क्राइस्ट आते हैं। कृष्ण का भक्त आंख बंद करता है तो कृष्ण आते हैं। बुद्ध का भक्त आंख बंद करता है तो बुद्ध आते हैं। महावीर का भक्त आंख बंद करता है तो महावीर आते हैं। जैन को तो क्राइस्ट नहीं आते। क्रिश्चियन को तो महावीर नहीं आते। जो तुम कल्पना साधते हो वही आ जाती है।

रामकृष्ण ने काली को साधा है तो कल्पना प्रगाढ़ हो गई है। बार-बार पुनरुक्ति से, निरंतर-निरंतर स्मरण से कल्पना इतनी यथार्थ हो गई है कि अब लगता है काली सामने खड़ी है। कोई वहां खड़ा नहीं। चैतन्य अकेला है। यहां कोई दूजा नहीं है, दूसरा नहीं है।
तुम आंख करो बंद--तोतापुरी ने कहा--उठाओ तलवार और तोड़ दो।
रामकृष्ण आंख बंद करते, लेकिन आंख बंद करते ही हिम्मत खो जाती: तलवार उठायें, काली को तोड़ने को! भक्त भगवान को काटने को तलवार उठाये, यह बड़ी कठिन बात है!
संसार छोड़ना बड़ा सरल है। संसार में पकड़ने योग्य ही क्या है? लेकिन जब
मन की किसी गहन कल्पना को खड़ाकर लिया हो, मन का कोई काव्य जब निर्मित हो गया हो, मन का स्वप्न जब साकार हो गया हो, तो छोड़ना बड़ा कठिन है। संसार तो दुख-स्वप्न जैसा है। भक्ति के स्वप्न, भाव के स्वप्न दुख-स्वप्न नहीं हैं, बड़े सुखद स्वप्न हैं। उन्हें छोड़ें कैसे, तोड़ें कैसे?
आंख से आंसू बहने लगते। गदगद हो जाते। शरीर कंपने लगता। मगर वह तलवार
न उठती। तलवार की याद ही भूल जाती। आखिर तोतापुरी ने कहा, बहुत हो गया कई दिन बैठकर। ऐसे न चलेगा। या तो तुम करो या मैं जाता हूं। मेरा समय खराब मत करो। यह खेल बहुत हो गया।
तोतापुरी उस दिन एक कांच का टुकड़ा ले आया। और उसने कहा कि जब तुम मगन होने लगोगे, तब मैं तुम्हारे माथे को कांच के टुकड़े से काट दूंगा। जब मैं यहां तुम्हारा माथा काटूं तो भीतर एक दफा हिम्मत करके उठा लेना तलवार और कर देना दो टुकड़े। बस यह आखिरी है, फिर मैं न रुकूंगा।
तोतापुरी की धमकी जाने की, और फिर वैसा गुरु खोजना मुश्किल होता! तोतापुरी अष्टावक्र जैसा आदमी रहा होगा। जब रामकृष्ण आंख बंद किये, काली की प्रतिमा उभरी और वे मगन होने को ही थे, आंख से आंसू बहने को ही थे, उद्रेक हो रहा था, उमंग आ रही थी, रोमांच होने को ही था, कि तोतापुरी ने लिया माथे पर जहां आज्ञा-चक्र है, वहां लेकर ऊपर से नीचे तक कांच के टुकड़े से माथा काट दिया। खून की धार बह गई। हिम्मत उस वक्त भीतर रामकृष्ण ने भी जुटा ली। उठा ली तलवार, दो टुकड़े कर दिये काली के। काली वहां गिरी कि अद्वैत हो गया, कि लहर खो गई सागर में, कि सरिता उतर गई सागर में। फिर तो कहते हैं, छह दिन उस परम शून्य में डूबे रहे। न भूख रही न प्यास; न बाहर की सुध रही न बुध, सब भूल गये। और जब छह दिन के बाद आंख खोली तो जो पहला वचन कहा वह यही--आखिरी बाधा गिर गई! द लास्ट बैरियर हैज़ फालन।
यह पहला सूत्र कहता है: हे पुत्र! तू बहुत काल से देहाभिमान के पाश में बंधा हुआ, उस पाश को ही अपना अस्तित्व मानने लगा है।
मैं देह हूं! मैं देह हूं!! मैं देह हूं!!!--ऐसा जन्मों-जन्मों तक दोहराया है; दोहराने के कारण हम देह हो गये हैं। देह हम हैं नहीं; यह हमारा अभ्यास है। यह हमारा अभ्यास है, यह हमारा आत्म- सम्मोहन है। हमने इतनी प्रगाढ़ता से माना है कि हम हो गये हैं।
रामकृष्ण के जीवन में एक और उल्लेख है। उन्होंने सभी धर्मों की साधनाएं की हैं। वे अकेले व्यक्ति थे मनुष्य-जाति के इतिहास में जिन्होंने सभी धर्मों के मार्ग से सत्य तक जाने की चेष्टा की। साधारणतः व्यक्ति पहुंच जाता है एक मार्ग से; फिर कौन फिक्र करता है दूसरे मार्गों की! तुम पहाड़ की चोटी पर पहुंच गये; फिर दूसरी पगडंडियां भी लाती हैं या नहीं लाती हैं, कौन फिक्र करता है-- पहुंच ही गये। जो पगडंडी ले आई, ले आई; बाकी लाती हों न लाती हों, प्रयोजन किसे है! लेकिन रामकृष्ण बार-बार पहाड़ की चोटी पर पहुंचे, फिर-फिर नीचे उतर आये। फिर दूसरे मार्ग से चढ़े। फिर तीसरे मार्ग से चढ़े। वे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी धर्मों की साधना की और सभी धर्मों से उसी शिखर को पा लिया।
समन्वय की बात बहुतों ने की थी--रामकृष्ण ने पहली दफा समन्वय का विज्ञान निर्मित किया। बहुत लोगों ने कहा था, सभी धर्म सच हैं; लेकिन वह बात की बात थी--रामकृष्ण ने उसे तथ्य बनाया; उसे अनुभव का बल दिया; अपने जीवन से प्रमाणित किया। जब वे इस्लाम की साधना करते थे तो वे ठीक मुसलमान फकीर हो गये। वे भूल गये राम-कृष्ण, "अल्लाहू-अल्लाहू" की आवाज लगाने लगे;

कुरान की आयतें सुनने लगे। एक मस्जिद के द्वार पर ही पड़े रहते थे। मंदिर के पास से निकल जाते, आंख भी न उठाते, नमस्कार तो दूर रही। भूल गये काली को। बंगाल में एक संप्रदाय है: सखी-संप्रदाय। जब रामकृष्ण सखी-संप्रदाय
की साधना करते... सखी-संप्रदाय की मान्यता है कि परमेश्वर ही पुरुष है, बाकी सब स्त्रियां; परमेश्वर कृष्ण है, बाकी सब उसकी सखियां हैं। तो सखी- संप्रदाय का पुरुष भी अपने को स्त्री ही मान कर चलता है। लेकिन जो घटना रामकृष्ण के जीवन में घटी वह किसी सखी-संप्रदाय की मान्यता वाले व्यक्ति को कभी नहीं घटी थी। पुरुष मान ले अपने को ऊपर-ऊपर से स्त्री हूं, भीतर तो पुरुष ही बना रहता है, जानता तो है कि मैं पुरुष ही हूं। तो सखी-संप्रदाय के लोग कृष्ण की मूर्ति को लेकर रात बिस्तर पर सो जाते। वही पति हैं। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है?
लेकिन जब रामकृष्ण ने साधना की तो अभूतपूर्व घटना घटी। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को भी चकित कर दे, ऐसी घटना घटी। छह महीने तक उन्होंने सखी- संप्रदाय की साधना की। तीन महीने के बाद उनके स्तन उभर आये; उनकी आवाज बदल गई; वे स्त्रियों जैसे चलने लगे, स्त्रियों जैसी उनकी मधुर वाणी हो गई। स्तन उभर आये, स्त्रियों जैसे स्तन हो गये! शरीर का पुरुष-ढांचा बदलने लगा।
मगर इतना भी संभव है, क्योंकि स्तन होते तो पुरुष को भी हैं; अविकसित होते हैं। स्त्री के विकसित होते हैं। तो हो सकता है, अविकसित स्तन विकसित हो गये हों। बीज तो है ही। यहां तक कोई बहुत बड़ी घटना नहीं घटी। बहुत पुरुषों के स्तन बढ़ जाते हैं। यह कोई बहुत आश्चर्यजनक बात नहीं। लेकिन छह महीने पूरे होतेऱ्होते उनको मासिक-धर्म शुरू हो गया। तब चमत्कार की बात थी! मासिक-धर्म का शुरू हो जाना तो शरीर के पूरे शास्त्र के प्रतिकूल है। ऐसा तो कभी किसी पुरुष को न हुआ था।
यह छह महीने में क्या हुआ? एक मान्यता कि मैं स्त्री हूं--यह मान्यता इतनी प्रगाढ़ता से की गई, यह भाव इतने गहरे तक गुंजाया गया, यह रोएं-रोएं में, कण-कण में शरीर के गूंजने लगा कि मैं स्त्री हूं! इसका विपरीत भाव न रहा। पुरुष की बात ही भूल गई। तो घटना घट गई।
अष्टावक्र कह रहे हैं: हम देह नहीं हैं; हमने माना तो हम देह हो गये हैं। हमने जो मान लिया, हम वही हो गये हैं। संसार हमारी मान्यता है। और मान्यता छोड़ दी तो हम तत्क्षण रूपांतरित हो सकते हैं। छोड़ने के लिए किसी यथार्थ को बदलना नहीं है; सिर्फ एक धारणा को छोड़ देना है। हम वस्तुतः अगर शरीर होते तो बदलाहट बड़ी मुश्किल थी। हम वस्तुतः शरीर नहीं हैं। हम वस्तुतः तो शरीर के भीतर छिपा जो चैतन्य है, वही हैं--वह जो साक्षी, द्रष्टा है।
देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखंगेन तन्निष्कृत्य सुखी भव।।
उठा बोध की तलवार! "मैं बोध-रूप हूं"--उठा ऐसे भाव की तलवार और काट डाल
इस धारणा को कि मैं देह हूं! फिर तू सुखी है।
सारे दुख देह के हैं। जन्म है, बीमारी है, बुढ़ापा है, मृत्यु है--सभी देह के हैं। देह के साथ तादात्म्य है तो देह की सारी पीड़ाओं के साथ भी तादात्म्य है। जब देह जराजीर्ण होती है तो हम सोचते हैं, मैं जराजीर्ण हो गया। जब देह बीमार होती है तो हम सोचते हैं, मैं बीमार हो गया। जब देह मरण के निकट पहुंचती है तो हम घबड़ाते हैं कि मैं मरा। मान्यता--सिर्फ मान्यता! मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक रात सोया अपनी पत्नी के साथ। तब
तक उसे कोई बेटा-बेटी न हुए थे। और पत्नी को बड़ी आतुरता थी कि कोई बच्चा हो जाये। सोने ही जा रहे थे कि पत्नी ने कहा कि सुनो तो, अगर हमारे घर बेटा हो जाये तो सुलायेंगे कहां? क्योंकि एक ही बिस्तर है।
तो मुल्ला थोड़ा किनारे सरक गया। उसने कहा कि हम बीच में सुला लेंगे।
और पत्नी ने कहा कि अगर दूसरा और हो जाए? तो मुल्ला थोड़ा और सरक गया, उसने कहा उसको भी यहीं सुला लेंगे। कंजूस आदमी! पत्नी ने कहा, अगर तीसरा हो जाये? तो मुल्ला और सरका और कहने ही जा रहा था कि यहां सुला लेंगे कि धड़ाम से नीचे गिरा। उसकी टांग टूट गई। पड़ोस के लोग इकट्ठे हो गये शोरगुल सुनकर।

वह चिल्लाया, रोने लगा। पड़ोस के लोगों ने पूछा, क्या हुआ? उसने कहा, जो बेटा अभी हुआ ही नहीं उसने टांग तोड़ दी। और जब मिथ्या बेटा इतना नुकसान कर सकता है तो सच्चे बेटे का क्या कहना! क्षमा मांगता हूं, बेटा-वेटा चाहिए ही नहीं। इतना अनुभव बहुत है।
कभी-कभी, कभी-कभी क्या, अक्सर हम ऐसे ही जीते हैं--मान लेते हैं, फिर मान कर चलने लगते हैं। मान कर चलने लगते हैं तो जीवन में वास्तविक परिणाम होने लगते हैं, मान्यता चाहे झूठी हो। बेटे वहां थे नहीं, लेकिन टांग असली टूट गई। झूठ का भी परिणाम सच हो सकता है। अगर झूठ भी प्रगाढ़ता से मान लिया जाये तो उसके परिणाम यथार्थ में घटित होने लगते हैं।
मनस्विद कहते हैं कि इस जगत में जितनी भिन्नताएं दिखाई पड़ती हैं, ये भिन्नताएं यथार्थ की कम हैं, मान्यता की ज्यादा हैं।
एक मनोवैज्ञानिक हारवर्ड विश्वविद्यालय में प्रयोग कर रहा था। वह एक बड़ी बोतल ठीक से बंद की हुई, सब तरह से पैक की हुई लेकर कमरे में आया, अपनी क्लास में। कोई पचास विद्यार्थी हैं। उसने वह बोतल टेबल पर रखी और उसने विद्यार्थियों को कहा कि इस बोतल में अमोनिया गैस है। मैं एक प्रयोग करना चाहता हूं कि अमोनिया गैस का जैसे ही मैं ढक्कन खोलूंगा तो उस गैस की सुगंध कितना समय लेती है पहुंचने में लोगों तक। तो जिसके पास पहुंचने लगे सुगंध वह हाथ ऊपर ऊठा दे। जैसे ही सुगंध का उसे पता चले, हाथ ऊपर उठा दे। तो मैं जानना चाहता हूं कि कितने सेकेंड लगते हैं कमरे की आखिरी पंक्ति तक पहुंचने में।
विद्यार्थी सजग होकर बैठ गये। उसने बोतल खोली। बोतल खोलते ही उसने जल्दी से अपनी नाक पर रुमाल रख लिया। अमोनिया गैस! पीछे हटकर खड़ा हो गया। दो सेकेंड नहीं बीते होंगे कि पहली पंक्ति में एक आदमी ने हाथ उठाया, फिर दूसरे ने, फिर तीसरे ने; फिर दूसरी पंक्ति में हाथ उठे, फिर तीसरी पंक्ति में। पंद्रह सेकेंड में पूरी क्लास में अमोनिया गैस पहुंच गई। और अमोनिया गैस उस बोतल में थी ही नहीं; वह खाली बोतल थी।
धारणा--तो परिणाम हो जाता है। मान लिया तो हो गया! जब उसने कहा, अमोनिया गैस इसमें है ही नहीं, तब भी विद्यार्थियों ने कहा कि हो या न हो, हमें गंध आई। गंध मान्यता की आई। गंध जैसे भीतर से ही आई, बाहर तो कुछ था ही नहीं। सोचा तो आई।
मैंने सुना है, एक अस्पताल में एक आदमी बीमार है। एक नर्स उसके लिए रस लेकर आई-- संतरे का रस। उस रस लाने वाली नर्स के पहले ही दूसरी नर्स उसे एक बोतल दे गई थी कि इसमें अपनी पेशाब भरकर रख दो--परीक्षण के लिए। वह थोड़ा मजाकिया आदमी था। उसने उस बोतल में संतरे का रस डाल कर रख दिया। जब वह नर्स लेने आई बोतल तो वह जरा चौंकी, क्योंकि यह रंग कुछ अजीब-सा था। तो उस आदमी ने कहा, तुम्हें भी हैरानी होती है, रंग कुछ अजीब-सा है। चलो मैं इसे एक दफा और शरीर में से गुजार देता हूं, रंग ठीक हो जायेगा--वह उठाकर बोतल और पी गया। कहते हैं, वह नर्स बेहोश होकर गिर पड़ी। क्योंकि उसने तो यही सोचा कि यह आदमी पेशाब पीये जा रहा है! फिर से कहता है कि एक दफा और निकाल देते हैं शरीर से तो रंग सुधर जायेगा, ढंग का हो जायेगा। यह आदमी कैसा है! लेकिन वहां केवल संतरे का रस था। अगर पता हो कि संतरे का ही रस है तो कोई बेहोश न हो जायेगा; लेकिन यह बेहोशी वास्तविक है। यह मान्यता की है।
तुम जीवन में चारों तरफ ऐसी हजारों घटनाएं खोज ले सकते हो, जब मान्यता काम कर जाती है, मान्यता वास्तविक हो जाती है।
मैं शरीर हूं, यह जन्मों-जन्मों से मानी हुई बात है; मान ली तो हम शरीर
हो गये। मान ली तो हम क्षुद्र हो गये। मान ली तो हम सीमित हो गये। अष्टावक्र का मौलिक आधार यही है कि यह आत्म-सम्मोहन है, आटो- हिप्नोसिस है। तुम शरीर हो नहीं गये हो, तुम शरीर हो नहीं सकते हो। इसका कोई उपाय ही नहीं है। जो तुम नहीं हो, वह कैसे हो सकते हो? जो तुम हो, तुम अभी भी वही हो। सिर्फ झूठी मान्यता को काट डालना है।
"उस पाश को, मैं बोध हूं, इस ज्ञान की तलवार से काटकर तू अभी सुखी हो जा।"
ज्ञानखंगेन तत् निष्कृत्य त्वं सुखी भव!

अभी सुख को जगा ले, क्योंकि सारे दुख हमारे उस मान्यता के पिछलग्गू हैं कि हम देह हैं।
बुद्ध भी मरते हैं, लेकिन मृत्यु की कोई पीड़ा नहीं है। रामकृष्ण भी मरते हैं, लेकिन मृत्यु की कोई पीड़ा नहीं है। रमण भी मरते हैं, लेकिन मृत्यु की कोई पीड़ा नहीं है।
रमण जब मरे तो उन्हें कैंसर था। चिकित्सक बहुत चकित थे। बड़ी कठिन बीमारी थी। बड़ी पीड़ादायी बीमारी थी। लेकिन रमण वैसे ही थे जैसे थे; जैसे बीमारी ने कोई भेद ही नहीं लाया; कहीं कोई अंतर ही नहीं पड़ा। चिकित्सक परेशान थे कि यह असंभव है। यह हो कैसे सकता है! मौत द्वार पर खड़ी है और आदमी अविचलित है। चिकित्सकों की बेचैनी हम समझ सकते हैं। इतनी पीड़ा हो रही है और आदमी अविचलित है, निस्तरंग है! उनकी बेचैनी, उनका तर्क हम समझ सकते हैं; क्योंकि शरीर ही हमारे लिए सब कुछ मालूम होता है। जिसको पता चल गया कि मैं शरीर नहीं हूं...मौत आ रही है लेकिन शरीर को आ रही है। और पीड़ा हो रही है, वह भी शरीर में हो रही है। एक नये चैतन्य का आविर्भाव हुआ है जो दूर खड़े होकर देख रहा है। और दूरी शरीर की और चेतना की इतनी है जैसे जमीन और आसमान की दूरी। इससे बड़ी कोई दूरी नहीं है। तुम्हारे भीतर दुनिया में अस्तित्व की सबसे दूर की चीजें मिल रही हैं। तुम क्षितिज हो, जहां जमीन और आसमान मिल रहे हैं।
जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।
"जो उत्पन्न होता है, स्थित है, बढ़ता है, बदलता है, क्षीण होता है और नाश हो जाता है, वह तू नहीं है।"
जो इन सबको देखता है...बचपन देखा तुमने; फिर बचपन को जाते भी देखा! अगर तुम बचपन ही होते तो आज याद भी कौन करता कि बचपन था? तुम बचपन के साथ ही चले गये होते। जवानी देखी। जवानी आते देखी, जाते देखी। अगर तुम जवानी ही होते तो आज कौन याद करता? तुम जवानी के साथ ही चले गये होते। तुमने जवानी आते देखी, जाते देखी--स्वभावतः तुम जवानी से भिन्न हो।
इतनी सीधी-सी बात है, इतनी साफ-सुथरी बात है! तुमने पीड़ा देखी, दर्द उठते देखा, दर्द के बादल घिरते देखे अपने चारों तरफ--फिर पीड़ा को जाते भी देखा; दर्द को विसर्जित होते देखा। तुमने दुख देखा, सुख देखा। कांटा चुभा-- पीड़ा देखी। कांटा निकला--निष्पीड़ा हुए, वह भी देखा। तुम देखने वाले हो। तुम पार खड़े हो। तुम अछूते हो। कोई भी घटना तुम्हें छू नहीं पाती। तुम जल में कमलवत हो।
"तू असंग है, क्रियाशून्य है, स्वयं-प्रकाश है और निर्दोष है। तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।"
यह अदभुत क्रांतिकारी वचन है। ऐसा क्रांतिकारी वचन दुनिया के किसी शास्त्र में खोजना असंभव है। इसका पूरा अर्थ समझोगे तो गहन अहोभाव पैदा होगा।
पतंजलि ने कहा है, चित्त-वृत्ति का निरोध योग है। यह योग की मान्य धारणा है कि जब तक चित्त-वृत्तियों का निरोध न हो जाये तब तक व्यक्ति स्वयं को नहीं जान पाता। जब चित्त की सारी वृत्तियां शांत हो जाती हैं तो व्यक्ति अपने को जान पाता है।
अष्टावक्र पतंजलि के सूत्र के विरोध में कह रहे हैं।
अष्टावक्र कह रहे हैं, "तू असंग है, क्रिया-शून्य है, स्वयं-प्रकाश है
और निर्दोष है। तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।" समाधि का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। समाधि का आयोजन हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाधि तेरा स्वभाव है। चित्त-वृति तो जड़ स्थितियां हैं। चित्त-वृत्तियों का निरोध तो ऐसे ही है जैसे किसी आदमी के घर में अंधेरा भरा हो, वह अंधेरे से लड़ने लगे।
इसे थोड़ा समझना! ले आये तलवारें, भाले, लट्ठ और लड़ने लगे अंधेरे से; बुला लिया जवानों को, मजबूत आदमियों को, धक्के देने लगे अंधेरे को--क्या वह जीतेगा कभी? यद्यपि यह परिभाषा सही है कि अंधेरे का न हो जाना प्रकाश है। लेकिन इस परिभाषा में थोड?ा समझ लेना, अंधेरे का न हो जाना प्रकाश है यह सच है; चित्त-वृत्तियों का शून्य हो जाना योग है यह सच है; लेकिन बात को उलटी

तरफ से मत पकड़ लेना। अंधेरे का न हो जाना प्रकाश है, इसलिए अंधेरे को न करने में मत लग जाना। वस्तुतः स्थिति दूसरी तरफ से है। प्रकाश का हो जाना अंधेरे का न हो जाना है। तुम प्रकाश जला लेना, अंधेरा अपने-आप चला जायेगा। अंधेरा है ही नहीं। अंधेरा केवल अभाव है। पतंजलि कहते हैं, चित्त-वृत्तियों को शांत करो तो तुम आत्मा को जान लोगे। अष्टावक्र कहते हैं, आत्मा को जान लो, चित्त-वृत्तियां शांत हो जायेंगी। आत्मा को जाने बिना तुम चित्त-वृत्तियों को शांत कर भी न सकोगे। आत्मा को न जानने के कारण ही तो चित्त-वृत्तियां उठ रही हैं। समझा अपने को कि मैं शरीर हूं तो शरीर की वासनाएं उठती हैं। समझा अपने को कि मैं मन हूं तो मन की वासनाएं उठती हैं। जिसके साथ तुम जुड़ जाते हो उसी की वासनाएं तुममें प्रतिछायित होती हैं, प्रतिबिंबित होती हैं। तुम जिसके पास बैठ जाते हो, उसी का रंग तुम पर चढ़ जाता है।
जैसे स्फटिक मणि को कोई रंगीन पत्थर के पास रख दे, तो रंगीन पत्थर का रंग मणि पर झलकने लगता है। लाल पत्थर के पास रख दो, मणि लाल मालूम होने लगती है। नीले पत्थर के पास रख दो, मणि नीली मालूम होने लगती है। यह सान्निध्य-दोष है। मणि नीली हो नहीं जाती, सिर्फ प्रतीत होती है।
अंधेरा केवल प्रतीत होता है, है नहीं। प्रकाश के न होने का नाम अंधेरा है। अंधेरे की अपनी कोई सत्ता नहीं, अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। तो तुम अंधेरे से मत लड़ने लगना।
योग और अष्टावक्र की दृष्टि बड़ी विपरीत है। इसलिए मैंने कहा, अगर अष्टावक्र को समझना हो तो कृष्णमूर्ति को समझने की कोशिश करना। कृष्णमूर्ति अष्टावक्र का आधुनिक संस्करण हैं। ठीक आधुनिक भाषा में, आज की भाषा में कृष्णमूर्ति जो कह रहे हैं, वह शुद्ध अष्टावक्र का सार है। कृष्णमूर्ति के मानने वाले ऐसा सोचते हैं कि कृष्णमूर्ति कोई नयी बात कह रहे हैं। नयी बात कहने को है ही नहीं। जो भी कहा जा सकता है, कहा जा चुका है। जितने जीवन के पहलू हो सकते हैं, सब छाने जा चुके हैं। अनंत काल से आदमी खोज कर रहा है। इस सूरज के नीचे नया कहने को कुछ है ही नहीं। केवल भाषा बदलती है, आवरण बदलते हैं, वस्त्र बदलते हैं! समय के अनुसार नयी धारणाओं का प्रयोग बदलता है। लेकिन जो कहा जा रहा है, वह ठीक वही है। अष्टावक्र की भाषा अति प्राचीन है। कृष्णमूर्ति की भाषा अति नवीन है। लेकिन जो थोड़ा भी समझ सकता है, उसे दिखाई पड़ जायेगा कि बात तो वही है। कृष्णमूर्ति कहते हैं, योग की कोई जरूरत नहीं, ध्यान की कोई जरूरत नहीं, जपत्तप की कोई जरूरत नहीं। ये सब अनुष्ठान हैं। अनुष्ठान उसके लिए करना होता है, जो हमारा स्वभाव नहीं है, स्वभाव को पाने के लिए क्या अनुष्ठान करना है? सब अनुष्ठान छोड़ कर अपने में झांक लो, स्वभाव प्रगट हो जायेगा।
"तू असंग है, क्रिया-शून्य है, स्वयं-प्रकाश और निर्दोष है!" --यह घोषणा तो देखो!
अष्टावक्र कहते हैं, तू निर्दोष है, इसलिए तू भूलकर भी यह मत समझना कि मैं पापी हूं। लाख तुम्हारे साधु-संत कहे चले जायें कि तुम पापी हो, पाप का प्रक्षालन करो, पश्चात्ताप करो, बुरे कर्म किये हैं उनको छुड़ाओ-- अष्टावक्र का वचन ध्यान में रखना: तू क्रिया-शून्य है, इसलिए कर्म तो तू करेगा कैसे?
अष्टावक्र कहते हैं: जीवन में छह लहरें हैं, षट ऊर्मियां। भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्म-मरण ये छह तरंगें हैं। भूख-प्यास शरीर की तरंगें हैं। अगर शरीर न हो तो न तो भूख होगी न प्यास होगी। ये शरीर की जरूरतें हैं। जब शरीर स्वस्थ होता है तो ज्यादा भूख लगती है, जब शरीर बीमार होता है तो ज्यादा भूख नहीं लगती। अगर शरीर को धूप में खड़ा करोगे, ज्यादा प्यास लगेगी क्योंकि पसीना उड़ जायेगा। गरमी में ज्यादा प्यास लगेगी, सर्दियों में कम प्यास लगेगी। ये शरीर की जरूरतें हैं, ये शरीर की तरंगें हैं। भूख-प्यास-- शरीर की। शोक-मोह--मन की।
कोई छूट जाता है तो दुख होता, क्योंकि मन पकड़ लेता है, राग बना लेता है। कोई मिल जाता, प्रियजन, तो सुख होता। कोई प्रियजन छूट जाता तो दुख

होता। कोई अप्रियजन मिल जाता है तो दुख होता है; अप्रियजन छूट जाता है तो सुख होता है। लेकिन ये मन के खेल हैं; आसक्ति और विरक्ति के खेल हैं; आकर्षण और विकर्षण के खेल हैं। जिस आदमी के भीतर मन न रहा, उसके भीतर फिर कोई शोक नहीं, कोई मोह नहीं। ये तरंगें मन की हैं।
और जन्म-मरण...जन्म-मरण तरंगें प्राण की हैं। जन्म होता श्वास के साथ; मृत्यु होती श्वास के विदा होने के साथ। इसलिए जैसे ही बच्चा पैदा होता है, डाक्टर फिक्र करता है कि बच्चा जल्दी श्वास ले, रोये। रोने का अर्थ केवल इतना ही है कि रोयेगा तो श्वास ले लेगा। रोने के झटके में श्वास का द्वार खुल जायेगा। रोने के झटके में बंद फेफड़ा काम करने लगेगा। अगर बच्चा नहीं रोता कुछ सेकेंड के भीतर तो डाक्टर उसे उलटा लटका कर उस पर चोट करता है, बच्चे के ऊपर, ताकि धक्के में श्वास चल पड़े। श्वास जन्म है। श्वास यानी प्राण की प्रक्रिया। जब आदमी मरता है तो श्वास समाप्त हो जाती है। प्राण की प्रक्रिया बंद हो गई। प्रतिपल यही हो रहा है। श्वास भीतर आती है तो जीवन भीतर आता है। श्वास बाहर जाती है तो जीवन बाहर जाता है।
प्रतिपल जन्म और मृत्यु घट रही है। हर आती श्वास जीवन है। हर जाती श्वास मौत है। तो मौत और जन्म तो प्रतिपल घट रहे हैं। ये प्राण की तरंगें हैं।
अष्टावक्र कहते हैं, ये षट ऊर्मियां हैं; तुम इन छहों के पार हो, इनके द्रष्टा हो।
इसलिए बुद्ध ने तो श्वास पर ही सारी की सारी अपनी साधना की व्यवस्था खड़ी की। बुद्ध ने कहा, एक ही काम पर्याप्त है कि तुम आती-जाती श्वास को देखते रहो। क्या होगा आती-जाती श्वास को देखने से? धीरे-धीरे अगर तुम जाती श्वास को देखो कि श्वास बाहर गई, आती श्वास को देखो श्वास भीतर आई, तो बीच में तुम थोड़े समय ऐसे भी पाओगे जब श्वास थिर हो जाती है; न तो बाहर जाती न भीतर आती। हर आती-जाती श्वास के बीच में क्षण भर को अंतराल है--जब श्वास न चलती, न हिलती, न डुलती। बाहर जाती, फिर क्षण भर को रुकती, फिर भीतर आती। भीतर आती, फिर क्षण भर को रुकती, फिर बाहर जाती। तो अंतराल तुम्हें दिखाई पड़ने लगेंगे। उन्हीं अंतराल में तुम पाओगे कि तुम हो; श्वास का आना-जाना तो प्राण का खेल है। और अगर तुम श्वास को देखने में समर्थ हो गये तो वह जो देखने वाला है वह श्वास से पृथक हो गया। वह श्वास से अलग हो गया।
शरीर हमारी बाहर की परिधि है; मन उसके भीतर की परिधि है; प्राण उसके और
भी भीतर की परिधि है। तो ऐसा भी हो सकता है, शरीर अपंग हो जाये, टूट-फूट जाये तो भी आदमी जीता है। मन खंडित हो जाये, विक्षिप्त हो जाये, जड़ हो जाये, तो भी आदमी जीता है। लेकिन बिना श्वास के आदमी नहीं जीता। मस्तिष्क भी निकाल लो आदमी का पूरा का पूरा, तो भी आदमी जीये चला जाता है। पड़ा रहेगा, मगर जीवन रहेगा। शरीर के अंग-अंग काट डालो, बस श्वास भर चलती रहे, तो आदमी जीता रहेगा। श्वास बंद हो जाये तो सब मौजूद हो तो भी आदमी मर गया। ये छह तरंगें हैं और इन छह के पार द्रष्टा है।
"तू असंग है।"
कोई तेरा संगी-साथी नहीं। शरीर भी तेरा संगी-साथी नहीं, श्वास भी तेरी संगी-साथी नहीं, मन के विचार भी तेरे संगी-साथी नहीं। तू असंग है। भीतर भी कोई साथी नहीं, बाहर की तो बात ही क्या! पति-पत्नी, परिवार, मित्र, प्रियजन कोई साथी नहीं। साथ होंगे, संगी कोई भी नहीं। साथ होना केवल बाह्य घटना है। भीतर से किसी से कोई जोड़ बनता नहीं।
"तू असंग, क्रिया-शून्य है।"
इसलिए कर्म के जाल की तो बात ही मत उठाओ। अगर अष्टावक्र से तुम यह पूछोगे कि आप कहते हो अभी-अभी हो सकती है मुक्ति, तो कर्मों का क्या होगा? जन्म-जन्म तक पाप किये, उनका क्या होगा? उनसे छुटकारा कैसे होगा? अष्टावक्र कहते हैं, तुमने कभी किये ही नहीं। भूख के कारण शरीर ने किया होगा कुछ। प्राण के कारण प्राण ने किया होगा कुछ। मन के कारण मन ने किया होगा कुछ। तुमने कभी कुछ नहीं किया। तुम सदा से असंग हो; अकर्म में हो। कर्म तुमसे कभी हुआ नहीं; तुम सारे कर्मों के द्रष्टा हो। इसलिए इसी क्षण मुक्ति हो सकती है।

खयाल करना, अगर कर्मों के सारे जाल को हमें तोड़ना पड़े तो शायद मुक्ति कभी भी न हो सकेगी। असंभव है। अनंत काल में हमने कितने कर्म किये, उनका कुछ लेखा-जोखा करो। अगर उन सब कर्मों से छूटना पड़े तो उन कर्मों से छूटने में अनंत काल लगेगा। और यह जो अनंत काल छूटने में लगेगा, इसमें भी तुम बैठे थोड़े ही रहोगे, कुछ तो करोगे। तो कर्म तो फिर होते चले जायेंगे। तो यह शृंखला तो अंतहीन हो जायेगी। इस शृंखला की तो कभी कोई समाप्ति आने वाली नहीं; इसमें से कोई निष्कर्ष आने वाला नहीं।
अष्टावक्र कहते हैं, अगर कर्मों से मुक्त होना पड़े, फिर मुक्ति होती हो, तो मुक्ति कभी होगी ही नहीं। लेकिन मुक्ति होती है। मुक्ति का होना इस बात का सबूत है कि आत्मा ने कर्म कभी किये ही नहीं। न तो तुम पापी हो न तुम पुण्यात्मा हो; न तुम साधु हो न तुम असाधु हो। न तो कहीं कोई नर्क है और न कहीं कोई स्वर्ग है। तुमने कभी कुछ किया नहीं; तुमने सिर्फ सपने देखे हैं; तुमने सिर्फ सोचा है। तुम भीतर सोये रहे, शरीर करता रहा। जिन शरीरों ने कर्म किये थे, वे जा चुके। उनका फल तुम्हारे लिए कैसा। तुम तो भीतर सोये रहे, मन ने कर्म किये। जिस मन ने किये वह प्रतिपल जा रहा है।
मैंने सुना है, एक भूतपूर्व महाराजा ने देखा कि ड्राइंग-रूम गंदा है।
तो नौकर झनकू को डांटा। कहा, बैठक में मकड़ी के जाले लगे हैं। तुम दिन भर क्या करते हो?
झनकू ने कहा, हुजूर! जाला कौनो मकड़ी लगाई होई। हम तो अपन कोठरिया में औंघात रहे!
तुम तो औंघाते रहे भीतर, जाला कौनो मकड़ी लगाई होई। शरीर ने जाले बुने,
मन ने जाले बुने, प्राण ने जाले बुने--तुम तो सोये रहे। जागो! जागते ही तुम पाओगे तुमने तो कभी कुछ किया नहीं। तुम तो करना भी चाहो तो कुछ कर नहीं सकते। अकर्म तुम्हारा स्वभाव है। अकर्ता तुम्हारी स्वाभाविक दशा है। "तू असंग, क्रिया-शून्य, स्वयं-प्रकाश और निर्दोष है।"
यह सुनी घोषणा? तू निर्दोष है! तो जो कुछ तुम्हें सिखाया हो पंडितों ने, पुरोहितों ने--फेंको! तुम निर्दोष हो। उनकी सिखावन ने बड़े खतरे किये हैं; तुम्हें पापी बना दिया। तुम्हें हजार तरह की बातें सिखा दीं कि तुम ऐसे बुरे हो। तुम में दीनता भर दी और अपराध का भाव भर दिया। तुम निर्दोष हो, निरपराधी हो।
"तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।"
इस वचन की क्रांति तो देखो! तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है--कि तू आयोजन करता है कि समाधि कैसे फले, फूल कैसे लगें ध्यान के, मुक्ति कैसे हो? अनुष्ठान!
ते बंधः हि समाधिम् अनुतिष्ठसि!
यही तेरा बंधन है। उठा तलवार बोध की और काट दे!
तो यहां तुम्हें साफ हो जायेंगी दो बातें कि योग का एक मार्ग है और बोध का बिलकुल दूसरा मार्ग है। बोध के मार्ग का प्राचीन नाम है सांख्य। सांख्य का अर्थ होता है: बोध। योग का अर्थ होता है: साधन। सांख्य का अर्थ होता है: सिर्फ जागना है बस, कुछ करना नहीं है। योग का अर्थ होता है: बहुत कुछ करना है, तब जागरण घटेगा। योग में साधन हैं; सांख्य में सिर्फ साध्य है। मार्ग नहीं है, केवल मंजिल है। क्योंकि मंजिल से तुम कभी गये ही नहीं कहीं और, तुम अपने भीतर के मंदिर में ही बैठे हो। आना नहीं है वापिस; इतना ही जानना है कि कभी गये ही नहीं।
निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः।
अयमेव हि ते बंधः समाधिमनुतिष्ठसि।
बस इतना ही बंधन है कि तुम मोक्ष खोज रहे हो। मोक्ष की खोज से नये बंधन निर्मित होते हैं।
एक आदमी संसार में बंधा है, फिर घबड़ा जाता है तो मोक्ष खोजने लगता है--
तो इधर से घर-द्वार छोड़ता है, परिवार छोड़ता है, धन-दुकान छोड़ता है, फिर नये बंधनों में बंध जाता है--साधु हो गया। अब ऐसे उठो, ऐसे बैठो, ऐसे खाओ, ऐसे पीयो--अब नये बंधन अपने चारों तरफ रच लेता है।

तुमने देखा, साधुओं की हालत कैदियों जैसी है! साधु मुक्त नहीं है। क्योंकि साधु सोच रहा है, मुक्ति के लिए पहले तो बंधन करने पड़ेंगे। यह भी खूब मजे की बात है! मुक्ति के लिए पहले बंधन मानने पड़ेंगे। मुक्त होने के लिए कोई बंधन नहीं चाहिए।
कृष्णमूर्ति की एक किताब है: द फर्स्ट एंड द लास्ट फ्रीडम--पहली और अंतिम मुक्ति। वह अष्टावक्र का आधुनिकतम वक्तव्य है।
अगर मुक्त होना है तो पहले ही चरण पर मुक्त हो जाओ। यह मत सोचो कि अंत में मुक्त होएंगे। पहले चरण पर ही मुक्त होना है; दूसरे चरण पर नहीं। क्योंकि अगर पहले ही चरण पर सोचा कि तैयारी करेंगे मुक्त होने की, तो उसी तैयारी में नये बंधन निर्मित हो जायेंगे। फिर उन नये बंधनों से छूटने के लिए फिर तैयारी करनी पड़ेगी। उस तैयारी में फिर नये बंधन निर्मित हो जायेंगे। तो तुम एक से छूटोगे, दूसरे से बंधोगे। कुएं से बचोगे, खाई में गिरोगे।
तो तुम देखो, गृहस्थ बंधा है और संन्यस्त बंधे हैं! दोनों के बंधन अलग-अलग हैं। मगर फर्क कुछ नहीं है। ऐसा लगता है कि मौलिक मूर्च्छा जब तक नहीं टूटती, तुम जो भी करोगे बंधन होगा।
मैंने सुना है कि एक आदमी की स्त्री भाग गयी, तो उसे खोजने निकला।
खोजते-खोजते जंगल में पहुंच गया। वहां एक साधु एक वृक्ष के नीचे बैठा था। उसने पूछा कि मेरी स्त्री को तो जाते नहीं देखा? घर से भाग गई है। बड़ा बेचैन हूं।
तो उस साधु ने पूछा, तेरी स्त्री का नाम क्या है? उसने कहा, "मेरी स्त्री का नाम, फजीती।" साधु ने कहा, "फजीती! तुमने भी खूब नाम रखा। ऐसे तो सभी स्त्रियां फजीती होती हैं, बाकी तूने नाम भी खूब चुनकर रखा। तेरा नाम क्या है?" साधु उत्सुक हुआ कि यह तो नाम में बड़ा होशियार है। उसने कहा, "मेरा नाम बेवकूफ।" वह साधु हंसने लगा। उसने कहा, तू खोज-बीन छोड़। तू तो जहां बैठ जायेगा, फजीतियां वहीं आ जायेंगी। कोई कहीं तुझे जाने की जरूरत नहीं। तेरा बेवकूफ होना काफी है। फजीतियां तुझे खुद खोज लेंगी।
संसार को छोड़ कर आदमी भाग जाता है तो संसार छोड़ने से उसकी मंदबुद्धिता तो नहीं मिटती, उसकी मूढ़ता तो नहीं मिटती। मूर्च्छा तो नहीं मिटती; वह उस मूर्च्छा को लेकर मंदिर में बैठ जाता है, नये बंधन बना लेता है। वह मूर्च्छा नये जाले बुन देती है। पहले संसार में बंधा था, अब वह संन्यास में बंध जाता है; लेकिन बिना बंधे नहीं रह सकता।
मुक्ति है प्रथम चरण पर। उसके लिए कोई आयोजन नहीं। आयोजन का मतलब हुआ
कि अब आयोजन में बंधे। इंतजाम किया तो इंतजाम में बंधे। फिर इससे छूटना पड़ेगा। तो यह कहां तक चलेगा? यह तो अंतहीन हो जायेगा।
सुना है मैंने, एक आदमी डरता था मरघट से निकलने से। और मरघट के पार उसका घर था। तो रोज निकलना पड़ता है। इतना डरता था कि रात घर से नहीं निकलता था, सांझ घर लौट आता था तो कंपता हुआ आता था। आखिर एक साधु को दया आ गई। उसने कहा कि तू यह फिक्र छोड़। यह ताबीज ले। यह ताबीज सदा बांधकर रख, फिर कोई भूत-प्रेत तेरे ऊपर कोई परिणाम न ला सकेगा।
परिणाम हुआ। ताबीज बांधते से ही भूत-प्रेत का डर मिट गया। लेकिन अब एक नया डर पकड़ा कि ताबीज कहीं खो न जाये। स्वाभाविक, जिस ताबीज ने भूत-प्रेतों से बचा दिया, अब वह आधी रात को भी निकल जाता मरघट से, कोई डर नहीं। भूत-प्रेत तो कभी भी वहां नहीं थे। अपना ही डर था। ताबीज ने डर से तो छुड़वा दिया, लेकिन नया डर पकड़ गया कि यह ताबीज कहीं खो न जाये। तो वह स्नान-गृह में भी जाता तो ताबीज लेकर ही जाता; बार-बार ताबीज को टटोल कर देख लेता। अब वह इतना भयभीत रहने लगा कि रात सोए तो डरे कि कोई ताबीज न खोल ले, कोई ताबीज चुरा न ले जाये; क्योंकि ताबीज उसकी जिंदगी हो गई। डर अपनी जगह कायम रहा-- भूत का न रहा तो ताबीज का हो गया। अब अगर कोई इसको ताबीज की जगह कुछ और दे दे तो क्या फर्क पड़ने वाला है। इस आदमी की भयभीत दशा तो नहीं बदलती। भूत का थोड़ी प्रश्न है, भय का प्रश्न है।

तो तुम भय को एक जगह से दूसरी जगह हटा सकते हो। बहुत-से लोग इसी तरह का वालीबाल का खेल खेलते रहते हैं; गेंद इधर से उधर फेंकी, उधर से इधर आई, बस फेंकते रहते हैं, खेलते रहते हैं। और इस बीच जिंदगी गुजरती चली जाती है। अष्टावक्र कहते हैं, समाधि का अनुष्ठान ही बंधन का कारण है। अगर तुझे मुक्त होना है तो मुक्त होने की घोषणा कर, आयोजन नहीं।
इसलिए मैं कहता हूं, इस वचन की क्रांति को देखो! यह वचन अनूठा है! यह बेजोड़ है!
अष्टावक्र कहते हैं, अभी और यहीं घोषणा करो मुक्त होने की! तैयारी मत करो। यह मत कहो कि पहले तैयार होंगे, फिर। क्योंकि फिर तैयारी बांध लेगी। फिर तैयारी को कैसे छोड़ोगे?
एक रोग से छूटते हैं, दूसरा रोग पकड़ जाता है। यह तो कंधे बदलना हुआ।
तुमने देखा, लोग मरघट ले जाते हैं लाश को, तो कंधे बदल लेते हैं; एक कंधे पर रखे-रखे थक गये तो दूसरे कंधे पर रख ली। थोड़ी देर राहत मिलती है। फिर दूसरा कंधा दुखने लगता है तो फिर बदल लेते हैं। ऐसे तो तुम जन्मों- जन्मों से कर रहे हो। बस यह सिर्फ राहत मिलती है। इससे परम विश्राम नहीं मिलता।
छोड़ो मुर्दों को ढोना। घोषणा करो! अगर तुम चाहो तो एक क्षण में, क्षण
के एक अंश में घोषणा हो सकती है।
मुझसे लोग पूछते हैं कि आप हर किसी को संन्यास दे देते हैं। मैं कहता हूं कि हर कोई हकदार है; सिर्फ घोषणा करने की बात है। कुछ और करना थोड़े ही है; सिर्फ घोषणा करनी है। इस घोषणा को अपने हृदय में विराजमान करना है कि मैं संन्यस्त हूं, तो तुम संन्यस्त हो गये; कि मैं मुक्त हूं, तो तुम मुक्त हो गये। तुम्हारी घोषणा तुम्हारा जीवन है।
घोषणा करने की हिम्मत करो। क्या छोटी-मोटी घोषणाएं करनी? घोषणा करो: अहं ब्रह्मास्मि! मैं ब्रह्म हूं!--तुम ब्रह्म हो गये।
आगे के सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं, "यह संसार तुझसे व्याप्त है, तुझी में पिरोया है। तू यथार्थतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, अतः क्षुद्र चित्त को मत प्राप्त हो।"
क्या छोटी-छोटी बातों से जुड़ता है? कभी जोड़ लेता--यह मकान मेरा, यह देह मेरी, यह धन मेरा, यह दुकान मेरी! क्या क्षुद्र बातों से मन को जोड़ रहा है? त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्र्रोतं यथार्थतः।
तुझसे ही सारा सत्य ओत-प्रोत है! तुझसे ही सारा ब्रह्म व्याप्त है! शुद्धबुद्ध स्वरूपस्त्वं मागमः क्षुद्रचित्तताम्।।
क्यों छोटी-छोटी बातों की घोषणा करता है? बड़ी घोषणा कर! एक घोषणा कर: "शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं! शुद्ध-बुद्ध स्वरूप हूं!" क्षुद्र चित्त को मत प्राप्त हो!
हमने बड़ी छोटी-छोटी घोषणाएं की हैं। जो हम घोषणा करते हैं वही हम हो जाते हैं।
इस दृष्टि से भारत का अनुदान जगत को बड़ा अनूठा है। क्योंकि भारत ने जगत में सबसे बड़ी घोषणाएं की हैं। मंसूर ने मुसलमानों की दुनिया में घोषणा की, "अनलहक! मैं सत्य हूं," उन्होंने मार डाला। उन्होंने कहा यह आदमी जरूरत से बड़ी घोषणा कर रहा है। "मैं सत्य हूं!"--यह तो केवल परमात्मा कह सकता है, आदमी कैसे कहेगा!
लेकिन हमने अष्टावक्र को मार नहीं डाला, न हमने उपनिषद के ऋषियों को मार डाला, जिन्होंने कहा, अहं ब्रह्मास्मि! क्योंकि हमने एक बात समझी कि आदमी जैसी घोषणा करता है वैसा ही हो जाता है। तो फिर छोटी क्या घोषणा करनी! जब तुम्हारी घोषणा पर ही तुम्हारे जीवन का विस्तार निर्भर है तो परम विस्तार की घोषणा करो, विराट की घोषणा करो, विभु की, प्रभु की घोषणा करो। इससे छोटी पर क्यों राजी होना? इतनी कंजूसी क्या? घोषणा में ही कंजूसी कर जाते हो। फिर कंजूसी कर जाते हो तो वैसे ही हो जाते हो।
क्षुद्र मानोगे तो क्षुद्र हो जाओगे; विराट मानोगे तो विराट हो जाओगे। तुम्हारी मान्यता तुम्हारा जीवन है। तुम्हारी मान्यता तुम्हारे जीवन की शैली है।

"तू निरपेक्ष (अपेक्षा-रहित) है, निर्विकार है, स्वनिर्भर (चिदघन-रूप) है, शांति और मुक्ति का स्थान है, अगाध बुद्धिरूप है, क्षोभ-शून्य है। अतः चैतन्यमात्र में निष्ठावाला हो।"
एक निष्ठा पर्याप्त है। साधना नहीं--निष्ठा। साधना नहीं--श्रद्धा। इतनी निष्ठा पर्याप्त है कि मैं चैतन्यमात्र हूं। इस जगत में यह सबसे बड़ा जादू है।
मनस्विद कहते हैं कि अगर किसी व्यक्ति को बार-बार कहो कि तुम बुद्धिहीन हो, वह बुद्धिहीन हो जाता है। जितने लोग दुनिया में बुद्धिहीन दिखाई पड़ते हैं, ये सब बुद्धिहीन नहीं हैं। ये हैं तो परमात्मा। इनको बुद्धिहीन जतला दिया गया है, बतला दिया गया है। इतने लोगों ने इनको दोहरा दिया है और इन्होंने भी इतनी बार दोहरा लिया है कि बुद्धू हो गये हैं! जो बुद्ध हो सकते थे, वे बुद्धू होकर रह गये हैं।
मनस्विद कहते हैं, किसी आदमी को तुम राह पर मिलो--वह भला-चंगा है--तुम देखते ही उससे कहो, "अरे तुम्हें क्या हो गया? चेहरा पीला है! बुखार है! देखें हाथ! बीमार हो! तुम्हारे पैर कंपते से मालूम पड़ते हैं।"
पहले तो वह इनकार करेगा--क्योंकि सोचा भी नहीं था क्षण भर पहले तक--वह कहेगा, "नहीं-नहीं! मैं बिलकुल ठीक हूं। आप कैसी बातें कर रहे हैं?"
"ठीक है, आपकी मर्जी!"
फिर थोड़ी देर बाद दूसरा आदमी उसको मिले और कहे, "अरे! चेहरा पीला पड़ गया है, क्या मामला है?" अब वह इतनी हिम्मत से न कह सकेगा कि मैं बिलकुल ठीक हूं। वह कहेगा, हां कुछ तबीयत खराब है। वह राजी होने लगा। हिम्मत उसकी खिसकने लगी।
फिर तीसरा आदमी मिले और कहे कि अरे...! अब तो वह घर ही लौट जायेगा कि तबीयत मेरी ज्यादा खराब है। अब बाजार जाने से कुछ सार नहीं।
तुमने कहानी सुनी कि एक ब्राह्मण एक बकरी को खरीद कर लाता था। तीन-चार लफंगों ने उसे देखा और उन्होंने सोचा कि इसकी बकरी तो छीनी जा सकती है। लेकिन ब्राह्मण मजबूत था और छीनना आसान मामला न था। तो उन्होंने सोचा कि थोड़ी कूटनीति करो।
एक उसे मिला राह के किनारे और कहा कि गजब, यह कुत्ता कितने में खरीद लाये! उस आदमी ने, ब्राह्मण ने कहा, "कुत्ता! तू अंधा तो नहीं है? पागल कहीं के! बकरी है! बाजार से खरीद कर ला रहा हूं। पचास रुपये खर्च किये हैं।" उसने कहा, "तुम्हारी मर्जी, लेकिन तुम जानो। ब्राह्मण होकर कुत्ते को कंधे पर लिये हो! भई, मुझको तो कुत्ता दिखाई पड़ता है। हो सकता है मेरी गलती हो।"
ब्राह्मण चला सोचता हुआ कि यह आदमी भी कैसा है! मगर उसने एक बार टटोल
कर बकरी के पैर देखे। उसने कहा, बकरी ही है। दूसरे किनारे पर राह के दूसरा उन्हीं का सगा साथी खड़ा था। उसने कहा कि कुत्ता तो गजब का खरीदा! अब ब्राह्मण इतनी हिम्मत से न कह सका कि कुत्ता नहीं है; हो न हो कुत्ता ही हो! दो आदमी गलत नहीं हो सकते। फिर भी उसने कहा कि नहीं-नहीं, कुत्ता नहीं है। लेकिन अब कमजोर था। कह तो रहा था, लेकिन भीतर की नींव हिल गई थी। उसने कहा कि नहीं-नहीं, बकरी है। उसने कहा कि बकरी है? इसको बकरी कहते हैं? तो फिर परिभाषा बदलनी पड़ेगी ब्राह्मण देवता! अगर इसको बकरी कहते हैं तो फिर कुत्ता किसको कहेंगे? वैसे आपकी मर्जी। आप पंडित आदमी हैं, हो सकता है बदल दें। नाम की तो बात है। चाहे कुत्ता कहो, चाहे बकरी कहो--रहेगा तो कुत्ता ही। कहने से कुछ नहीं होता।
वह आदमी तो चला गया, ब्राह्मण ने बकरी उतार कर नीचे रख कर देखी, बिलकुल बकरी है! बिलकुल बकरी जैसी बकरी है। आंखें मींड़ीं। रास्ते के किनारे लगे नल से पानी से आंखें धोईं। क्योंकि अपना पड़ोस करीब आता जाता और लोग देख लें कि ब्राह्मण कुत्ता सिर पर लिये है तो पूजा और पांडित्य को धक्का लगेगा! पूजा करवाते हैं, लोग न करवायेंगे; लोग पागल समझेंगे। मगर फिर देख-दाख कर उसने सब तरह से कि बकरी है; लेकिन इन दो आदमियों को क्या हुआ!

फिर रखकर चला, लेकिन अब जरा डरता हुआ चला कि फिर कोई और न देख ले। वह तीसरा उनका साथी खड़ा था। उसने कहा कि कुत्ता तो गजब का है। कहां से लाये? हम भी बड़े दिन से कुत्ता चाहते हैं।
उसने कहा, बाबा तू ही ले ले! अगर कुत्ता चाहते हो तुम्हीं ले लो। यह कुत्ता ही है। एक मित्र ने दे दिया है, इससे छुटकारा करो मेरा।
वह भागा वहां से घर की तरफ कि किसी को पता न चल जाये कि कुत्ता इसने लिया है।
आदमी ऐसे ही जी रहा है। तुमने जो मान रखा है वह तुम हो गये हो। और तुम्हारे चारों तरफ बहुत लफंगे हैं; जो तुम्हें बहुत-सी बातें मनवा रहे हैं। उनके अपने प्रयोजन हैं। पुरोहित समझाना चाहता है कि तुम पापी हो; क्योंकि तुम पापी नहीं हो तो पूजा कैसे चलेगी? उसका हित इसमें है कि बकरी कुत्ता मालूम पड़े।
पंडित है, अगर तुम अज्ञानी नहीं हो तो उसके पांडित्य का क्या होगा? उसकी दुकान कैसे चलेगी? धर्मगुरु है, वह अगर तुम्हें समझा दे कि तुम अकर्ता हो, कर्म-शून्य हो, तुमने कभी पाप किया ही नहीं--तो उसकी जरूरत क्या है?
यह तो ऐसा हुआ कि डाक्टर के पास तुम जाओ। और वह समझा दे कि बीमार तुम
हो ही नहीं, बीमार तुम कभी हुए ही नहीं, बीमार तुम हो ही नहीं सकते, स्वास्थ्य तुम्हारा स्वभाव है--तो यह डाक्टर आत्महत्या कर रहा है अपनी। इसकी दुकान का क्या होगा? तुम डाक्टर के पास जाओ भले-चंगे, जब तुम्हें कोई बीमारी नहीं है तब जाओ, तब भी तुम पाओगे कि वह बीमारी खोज लेगा। तुम जा कर देखो! बिलकुल भले-चंगे हो, तुम्हें कोई बीमारी नहीं है। जाकर, जरा चले जाओ, डाक्टर से कहना कि कुछ जांच-पड़ताल करवानी है। ऐसा डाक्टर खोजना बहुत मुश्किल है जो कह दे कि तुम बीमार नहीं हो।
मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा डाक्टर हुआ। तो मैंने उससे पूछा कि कैसी चल रही है? उसने कहा कि काफी अच्छी चल रही है। मैंने कहा कि तुम कैसे समझे कि काफी अच्छी चल रही है। उसने कहा, इतनी अच्छी चल रही है कि कई दफे तो वह बीमारों को कह देता है कि तुम बीमार ही नहीं हो। यह तो बड़ा ही डाक्टर कह सकता है जिसकी खूब चल रही हो। चल रही ऐसी हो कि अब उसे उपद्रव ज्यादा लेना ही नहीं है, फुर्सत नहीं है। तो उसने कहा, इससे मैं सोचता हूं कि बिलकुल ठीक चल रही है। कई दफा आदमियों को कह देता है कि नहीं, तुम्हें कोई बीमारी नहीं है।
दुकानें हैं; उनके अपने हित हैं। तुम्हारे ऊपर हजारों दुकानें चल रही हैं--पंडित की है, पुरोहित की है, धर्मगुरु की है। तुम्हारा पापी होना जरूरी है। तुमने बुरे कर्म किये हों, यह आवश्यक है; नहीं तो तुम्हारा बुरे कर्मों से छुटकारा दिलाने वालों का क्या होगा? मसीहाओं का क्या होगा, जो आते हैं तुम्हारी मुक्ति के लिए?
अगर अष्टावक्र सही हैं तो सब मसीहा व्यर्थ हैं। फिर तुम्हारे छुटकारे
की कोई जरूरत नहीं; तुम छूटे ही हुए हो। तुम मुक्त ही हो! अष्टावक्र की जैसे कोई भी दुकान नहीं है। जैसे अष्टावक्र तुम्हारे साथ कोई धंधा नहीं करना चाहते। सीधी-सीधी बात कह देते हैं, दो टूक सत्य कह देते हैं।
"तू निरपेक्ष (अपेक्षा-रहित), निर्विकार, स्वनिर्भर (चिदघन-रूप), शांति और मुक्ति है तू। अगाध बुद्धिरूप, क्षोभ-शून्य है तू। अतः चैतन्यमात्र में निष्ठा वाला हो।"
एक ही निष्ठा होनी चाहिए कि मैं साक्षी-रूप हूं, बस पर्याप्त है। ऐसा निष्ठावान व्यक्ति धार्मिक है। और किसी निष्ठा की कोई जरूरत नहीं। न तो परमात्मा में निष्ठा की जरूरत है, न स्वर्ग-नर्क में निष्ठा की जरूरत है, न कर्म के सिद्धांत में निष्ठा की जरूरत है। एक निष्ठा पर्याप्त है। और वह निष्ठा है कि मैं साक्षी, निर्विकार। और तुम जैसे ही निष्ठा करोगे, तुम पाओगे तुम निर्विकार होने लगे।
एक मनोवैज्ञानिक ने प्रयोग किया। एक कक्षा को दो हिस्सों में बांट दिया। आधे लड़के एक तरफ, आधे दूसरी तरफ--अलग-अलग कमरों में। फिर पहले हिस्से को जाकर कहा कि यह गणित बहुत कठिन है; तुममें से कोई भी हल न कर पायेगा। एक

गणित लिखा बोर्ड पर और कहा, यह इतना कठिन है कि तुम्हारी तो सामर्थ्य ही नहीं, तुमसे आगे की कक्षा के विद्यार्थी भी इसको हल नहीं कर सकते। लेकिन हम एक प्रयोग कर रहे हैं। हम जानना चाहते हैं, क्या तुममें से कोई इसको हल करने के थोड़े-बहुत भी करीब आ सकता है? थोड़ी-बहुत विधि, दो-चार कदम भी ठीक उठा सकता है? यह असंभव है! उसने यह बार-बार दोहराया कि यह असंभव है। फिर भी तुम चेष्टा करो।
दूसरे कमरे में गया। उसी वर्ग के आधे लड़के। वही बोर्ड पर उसने गणित लिखा और कहा कि यह प्रश्न इतना सरल है कि यह असंभव है कि तुममें से कोई इसे हल न कर पाये। तुमसे नीची कक्षाओं के लड़कों ने हल कर लिया है। तो इसलिए नहीं दे रहे हैं कि यह तुम्हारी कोई परीक्षा करनी है, तुम तो हल कर ही लोगे, यह इतना सरल है। सिर्फ हम यह जानना चाहते हैं कि क्या एकाध विद्यार्थी ऐसा भी है तुम्हारी कक्षा में जो इसमें भी भूल-चूक कर जाये।
सवाल वही, कक्षा वही। बड़े अंतर आये परिणाम में। पहले वर्ग में पंद्रह लड़कों में से केवल तीन लड़के हल कर पाये। दूसरे वर्ग में पंद्रह में से बारह ने हल किया, केवल तीन हल न कर पाये। इतना बड़ा अंतर! सवाल वही। उस सवाल के साथ जो भाव दिया गया, वह परिणामकारी हुआ।
अष्टावक्र तुमसे नहीं कहते कि धर्म दुःसाध्य है। अष्टावक्र कहते हैं, बड़ा सरल है। जो दुःसाध्य कहते हैं, वे दुःसाध्य बना देते हैं। जो कहते हैं, बड़ा असंभव है, खड्ग की धार, वे तुम्हें घबड़ा देते हैं। जो कहते हैं, यह तो हिमालय पर चढ़ने जैसा है, इसमें तो विरले चढ़ पाते हैं--तुम छोड़ ही देते फिक्र कि "विरले तो हम हैं नहीं, यह अपने बस की बात नहीं; तो चढ़ें विरले, हम इस झंझट में न पड़ेंगे। हम स्वागत करते हैं विरलों का, जाएं! मगर हम सीधे- सादे आदमी, हमें तो इसी घाटी में रहने दो!"
अष्टावक्र कहते हैं, यह बड़ा सरल है। यह इतना सरल है कि तुम्हें कुछ करने की भी जरूरत नहीं, सिर्फ जागकर देखना पर्याप्त है।
यह मनुष्य की मेधा की अंतिम घोषणा है। यह मनुष्य की अंतिम संभावनाओं
के प्रति मनुष्य को सजग करना है। धर्म मनुष्य की प्रतिभा का आखिरी चमत्कार है। अगर तुलना करनी हो तो राजनीति मनुष्य की प्रतिभा का निकृष्टतम रूप है और धर्म मनुष्य की प्रतिभा का श्रेष्ठतम रूप है।
ऐसा हुआ, एक राजनेता सख्त बीमारी से उठा। तो डाक्टर ने सलाह दी: दोत्तीन महीने तक आप कोई भी दिमागी काम न करें। राजनेता ने पूछा, "डाक्टर साहब! यदि थोड़ी राजनीति इत्यादि करूं तो कोई आपत्ति है?" डाक्टर ने कहा, "नहीं, बिलकुल नहीं, राजनीति आप जितनी चाहें करें, बस दिमागी काम बिलकुल न करें।"
राजनीति में दिमागी काम है भी नहीं। राजनीति में तो हिंसा है, प्रतिभा नहीं; छीन-झपट है, संघर्ष है, शांति नहीं; चैन नहीं, बेचैनी है; महत्वाकांक्षा है,र् ईष्या है, आक्रमण है; आत्मा नहीं।
धर्म अनाक्रमण है, अहिंसा है, प्रतियोगिता-मुक्ति है; संघर्ष नहीं, समर्पण है। किसी से छीनना नहीं है; अपना जो है, उसकी घोषणा करनी है। अपना ही इतना काफी है कि किसी से छीनना क्या है? छीनते तो वे ही हैं जिन्हें अपना पता नहीं। टुकड़े-टुकड़े के लिए लड़ते हैं, और परमात्मा भीतर विराजमान है! टुकड़े-टुकड़े के लिए मरते हैं, और परम विस्तार भीतर मौजूद है! सागर मौजूद है, बूंदों के लिए तरसते हैं!
जिन्हें अपना पता नहीं है, वे ही राजनीति में होते हैं। और जब मैं राजनीति कहता हूं तो मेरा मतलब इतना ही नहीं कि वे लोग जो राजनीतिक पार्टियों में हैं। राजनीति से मेरा मतलब है: वे सभी लोग जो किसी तरह के संघर्ष में हैं। वह धन का संघर्ष हो तो धन की राजनीति। पद का संघर्ष हो तो पद की राजनीति। त्याग का संघर्ष हो तो त्याग की राजनीति।
त्यागियों में बड़ा संघर्ष होता है कि कोई दूसरा त्यागी हाथ न मार ले। ओलंपिक चलता रहता है त्यागियों का कि कोई महात्मा बड़ा न हो जाये! तो एक महात्मा दूसरे महात्मा को हराने में लगा है। वह तो अगर कभी भारत में ओलंपिक हो तो उसमें महात्माओं की भी प्रतियोगिता होनी चाहिए।

लेकिन जहां भी प्रतियोगिता है वहीं राजनीति है। राजनीति का मूल स्वर
है कि मेरे पास नहीं है और दूसरों के पास है; छीन कर ही मेरे पास हो सकेगा। लेकिन जो तुम दूसरे से छीनते हो, वह तुम्हारा कब होगा, कैसे होगा? छीना हुआ तुम्हारा कैसे होगा? जो छीना गया है, वह छीना जायेगा। आज नहीं कल, तुमसे कोई दूसरा छीन लेगा। और अगर कोई भी न छीन पाया तो मौत तो निश्चित छीन लेगी। तुम्हारा तो सिर्फ वही है जो किसी से बिना छीने तुम्हारा है, तो फिर मौत भी न छीन पायेगी। तुम्हारा तो वही है जो जन्म के पहले तुम्हारा था, मौत के बाद भी तुम्हारा होगा।
उस एक की खोज करो। और उस एक की खोज के लिए साधन तक की जरूरत नहीं है-- अष्टावक्र कहते हैं--सिर्फ सजगता, सिर्फ साक्षी-भाव।
जीवन में तुम्हें बहुत बार लगता भी है कि व्यर्थ दौड़े चले जा रहे हैं; लेकिन रुकें कैसे! ऐसा नहीं है कि तुम्हें नहीं लगता कि यह व्यर्थ दौड़-धूप है। तुम्हें भी लगता है लेकिन रुकें कैसे! फिर दौड़-धूप का अभ्यास प्राचीन है। रुकना भूल ही गये हैं। पैरों की आदत दौड़ने की हो गई है। मन की आदत दौड़ने की हो गई है। अभ्यास ऐसा हो गया है कि बैठ नहीं सकते। बैठने का अभ्यास खो गया है।
आ गयी थी शिकायत लबों पे मगर
किससे कहते तो क्या, कहना बेकार था
चल पड़े दर्द पी कर तो चलते रहे
हार कर बैठ जाने से इनकार था।
और फिर लोग सोचते हैं कि ऐसे बैठ गये तो हार जायेंगे; बैठ गये तो लोग समझेंगे हार गये; बैठ गये तो लोग समझेंगे, अरे पलायनवादी! भगोड़े! बैठ गये तो जो भीड़ जा रही है हजारों की, वह निंदा से देखेगी।...तो लोग चलते रहते हैं।
शिकायत बहुत बार आ जाती है मन में कि यह सब व्यर्थ मालूम होता है, लेकिन किससे कहो! कौन समझेगा! यहां सभी तुम्हारे जैसे हैं। कोई किसी से कहता नहीं। अपने-अपने घाव छिपाए लोग चलते रहते हैं।
आ गयी थी शिकायत लबों पे मगर
किससे कहते तो क्या, कहना बेकार था
कोई अष्टावक्र मिले, कोई बुद्ध मिले तो कहने का कोई सार है। किससे कहना यहां!
चल पड़े दर्द पी कर तो चलते रहे
दर्द पी-पीकर लोग चलते रहते हैं।
हार कर बैठ जाने से इनकार था।
और यह अहंकार की धारणा हो जाती है कि हारकर बैठने का मतलब तो गये, डूब गए, मर गये। चलते रहो, कुछ न कुछ करते रहो! कुछ न कुछ पाने की चेष्टा में लगे रहो! नहीं तो खो जाओगे।
और मिलता उन्हें है जो बैठ जाते हैं। मिलता उन्हें है जो रुक जाते हैं। परमात्मा भागने से नहीं मिलता, रुकने से मिलता है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, परम विश्रांति में मिलता है।
कभी थोड़ा बैठो! कभी घड़ी भर खोजकर, सिर्फ बैठो, कुछ मत करो!
झेन फकीरों में एक प्रक्रिया है: झाझेन। झाझेन का मतलब होता है: बस बैठो और कुछ मत करो। बड़ी गहरी ध्यान की प्रक्रिया है। प्रक्रिया कहनी ठीक ही नहीं; क्योंकि प्रक्रिया तो कुछ भी नहीं, बस बैठो, कुछ भी न करो। जैसे अष्टावक्र जो कह रहे हैं, वही झेन कह रहा है: बैठ जाओ! कुछ देर सिर्फ बैठो विश्राम में। कुछ देर सब ऊहापोह छोड़ो! कुछ देर सब महत्वाकांक्षा छोड़ो। मन की दौड़-धूप, आपाधापी छोड़ो! थोड़ी देर सिर्फ बैठे रहो, डूबे रहो अपने में! धीरे-धीरे तुम्हारे भीतर एक प्रकाश फैलना शुरू होगा। शुरू में शायद न दिखाई पड़े। ऐसे ही जैसे तुम भरी दोपहरी में घर लौटते हो तो घर के भीतर अंधेरा मालूम होता है; आंखें धूप की आदी हो गयी हैं। थोड़ी देर बैठते हो, आंखें राजी हो जाती हैं तो फिर प्रकाश मालूम होने लगता है। धीरे-धीरे कमरे में प्रकाश हो जाता है।

ऐसा ही भीतर है। बाहर-बाहर चले जन्मों तक, तो भीतर अंधेरा मालूम होता है। पहली दफा जाओगे तो कुछ भी न सूझेगा...अंधेरा ही अंधेरा! घबड़ाना मत! बैठो! थोड़ा आंख को राजी होने दो भीतर के लिए। ये आंख की पुतलियां धूप के लिए आदी हो गई हैं।
तुमने खयाल किया, धूप में जब तुम जाते हो तो आंख की पुतलियां छोटी हो जाती हैं। धूप के बाद एकदम आईने में देखना तो तुम्हें पुतली बहुत छोटी मालूम पड़ेगी, क्योंकि उतनी धूप को भीतर नहीं ले जाया जा सकता, वह जरूरत से ज्यादा है, तो पुतली सिकुड़ जाती है। वह आटोमैटिक है, स्वचालित सिकुड़न है। फिर जब तुम अंधेरे में आते हो तो पुतली को फैलना पड़ता है, पुतली बड़ी हो जाती है। अंधेरे में थोड़ी देर बैठने के बाद फिर आईने में देखना तो पाओगे पुतली बड़ी हो गई।
और जो इस बाहर की आंख का ढंग है, वही भीतर की तीसरी आंख का भी ढंग है। बाहर देखने के लिए पुतली छोटी चाहिए। भीतर देखने के लिए पुतली बड़ी चाहिए। तो अभ्यास हो गया है पुराना। उस अभ्यास को मिटाने के लिए कुछ नया अभ्यास नहीं करना है। बस बैठ रहो!
लोग पूछते हैं, "बैठकर क्या करें? चलो कुछ राम-नाम दे दो, कोई मंत्र दे दो; उसी को दोहराते रहेंगे। मगर कुछ दे दो कुछ करने को!" लोग कहते हैं, आलंबन चाहिए, सहारा चाहिए।
अनुष्ठान किया कि बंधन शुरू हुआ सिर्फ बैठो! बैठने का भी मतलब यह नहीं
कि बैठो ही; खड़े भी रह सकते हो, लेट भी सकते हो। बैठने से मतलब इतना ही है: कुछ न करो, थोड़ी देर चौबीस घंटे में अकर्ता हो जाओ! अकर्मण्य हो जाओ! खाली रह जाओ! होने दो जो हो रहा है। संसार बह रहा है, बहने दो; चल रहा है, चलने दो। आवाज आती है आने दो। रेल निकले, हवाई जहाज चले, शोरगुल हो--होने दो, तुम बैठे रहो। एकाग्रता नहीं--तुम सिर्फ बैठे रहो। समाधि धीरे-धीरे तुम्हारे भीतर सघन होने लगेगी। तुम अचानक समझ पाओगे अष्टावक्र का अर्थ क्या है-- अनुष्ठान-रहित होने का अर्थ क्या है?
"साकार को मिथ्या जान, निराकार को निश्चल-नित्य जान इस यथार्थ (तत्व) उपदेश से पुनः संसार में उत्पत्ति नहीं होती।"
जिसको बुद्ध ने कहा है, अनागामिन--ऐसा व्यक्ति जब मरता है तो फिर वापिस नहीं आता। क्योंकि वापिस तो हम अपनी आकांक्षा के कारण आते हैं, राजनीति के कारण आते हैं। वापिस तो हम वासना के कारण आते हैं। जो यह जानकर मरता है कि मैं सिर्फ जानने वाला हूं, उसका फिर कोई आगमन नहीं होता। वह इस व्यर्थ के चक्कर से छूट जाता है--आवागमन से।
"साकार को मिथ्या जान!"
साकारमनृतं विद्धि निराकारं निश्चलम् विद्धि।
"निराकार को निश्चल-नित्य जान।"
जो हमारे भीतर आकार है, वही भ्रांत है। जो हमारे भीतर निराकार है, वही सत्य है।
देखा कभी पानी में भंवर पड़ती है! भंवर क्या है? पानी में ही उठी एक लहर है, फिर शांत हो जाती है, तो भंवर कहां खो जाती है? भंवर थी ही नहीं; पानी में ही एक तरंग थी; पानी में ही एक रूप उठा था। ऐसे ही हम परमात्मा में उठी एक तरंग हैं। तरंग खो जाती, कुछ भी पीछे छूटता नहीं। राख भी नहीं छूटती। निशान भी नहीं छूटता। जैसे पानी पर तुम कुछ लिखो, लिखते ही मिट जाता है-- ऐसे ही जीवन की सारी आकार की स्थितियां तरंगें मात्र हैं।
"जिस तरह दर्पण अपने में प्रतिबिंबित रूप के भीतर और बाहर स्थित है, उसी तरह परमात्मा इस शरीर के भीतर और बाहर स्थित है।"
तुमने देखा दर्पण के सामने तुम खड़े होते हो, प्रतिबिंब बनता है! बनता
है कुछ दर्पण में? प्रतिबिंब बनता है, यानी कुछ भी नहीं बनता। तुम हट गये, प्रतिबिंब हट जाता है। दर्पण जैसा था वैसा ही है। जैसे का तैसा। तुम्हारे सामने होने से दर्पण में प्रतिबिंब बना था, हट जाने से हट गया; लेकिन दर्पण में न तो कुछ बना और न कुछ हटा, दर्पण अपने स्वभाव में रहा।
यह सूत्र कहता है अष्टावक्र का, कि जैसे दर्पण के सामने खड़े हों, दर्पण में प्रतिबिंब बनता है; लेकिन प्रतिबिंब वस्तुतः बनता है क्या? बना

हुआ प्रतीत होता है। प्रतिबिंब से धोखा मत खा जाना। बहुत लोग धोखा खाते हैं प्रतिबिंब से।
और यह सूत्र कहता है कि प्रतिबिंब के चारों तरफ दर्पण हैं--बाहर-भीतर; प्रतिबिंब में दर्पण ही दर्पण हैं, और कुछ भी नहीं है। ऐसा ही, उसी तरह परमात्मा इस शरीर के भीतर और बाहर स्थित है। परमात्मा भीतर, परमात्मा बाहर, परमात्मा ऊपर, परमात्मा नीचे, परमात्मा पश्चिम, परमात्मा पूरब, परमात्मा दक्षिण, परमात्मा उत्तर--सब तरफ वही एक है। उस विराट के सागर में उठी हम छोटी भंवरें, छोटी तरंगें हैं।
अपने को तरंग मानकर मत उलझ जाना। अपने को सागर ही मानना। बस इतनी ही मान्यता का भेद है--बंधन और मुक्ति में। जिसने अपने को तरंग समझा, वह बंध गया; जिसने अपने को सागर समझा, वह मुक्त हो गया।
"जिस तरह सर्वव्यापी एक आकाश घट के बाहर और भीतर स्थित है, उसी तरह नित्य और निरंतर ब्रह्म सब भूतों में स्थित है।"
"जिस तरह सर्वव्यापी एक आकाश घट के बाहर और भीतर...।"
घड़ा रखा है। घड़े के भीतर भी वही आकाश है, घड़े के बाहर भी वही आकाश है। तुम घड़े को फोड़ दो तो आकाश नहीं फूटता। तुम घड़े को बना लो तो आकाश बिगड़ता नहीं। घड़ा तिरछा हो, गोल हो, कैसा ही आकार हो, इससे आकाश पर कोई आकार नहीं चढ़ता।
हम सब मिट्टी के भांडे हैं; मिट्टी के घड़े! बाहर भी वही है, भीतर भी वही है। इस मिट्टी की पतली-सी दीवार को तुम बहुत ज्यादा मूल्य मत दे देना। यह मिट्टी की पतली-सी दीवाल तुम्हें एक घड़ा बना रही है। इससे बहुत जकड़ मत जाना। अगर तुमने ऐसा मान लिया कि यह मिट्टी की दीवाल ही मैं हूं, तो फिर तुम बार-बार घड़े बनते रहोगे, क्योंकि तुम्हारी मान्यता तुम्हें वापिस खींच लायेगी। कोई और तुम्हें संसार में नहीं लाता है; तुम्हारे घड़े होने की धारणा ही तुम्हें वापिस ले आती है। एक बार तुम जान लो कि तुम घड़े के भीतर का शून्य हो...।
लाओत्सु के वचन अर्थपूर्ण हैं। लाओत्सु कहता है: घड़े की दीवाल का क्या मूल्य है? असली मूल्य तो घड़े के भीतर के शून्य का होता है। पानी भरोगे तो शून्य में भरेगा, दीवाल में थोड़े ही! मकान बनाते हो तुम, तो तुम दीवाल को मकान कहते हो? तो गलती है। दीवाल के भीतर जो खाली जगह है, वही मकान है। रहते तो उसमें हो, दीवाल में थोड़े ही रहते हो! दीवाल तो केवल एक सीमा है। असली में रहते तो हम आकाश में ही हैं। हैं तो हम सब दिगंबर ही। भीतर के आकाश में रहो कि बाहर के आकाश में, दीवाल के कारण कोई फर्क थोड़े ही पड़ता है? दीवाल तो आज है, कल गिर जायेगी? आकाश सदा है।
तो तुम भूल से घर को अगर दीवाल समझ लेते हो और घड़े को अगर मिट्टी की पर्त समझ लेते हो और अपने को अगर देह समझ लेते हो, तो बस यही बंधन है। जरा- सी गलती, पढ़ने में जीवन के शास्त्र को--और सब गलत हो जाता है। बड़ी छोटी-सी भूल है!
मुल्ला नसरुद्दीन एक बार अपने विचारों में डूबा बस में चढ़ गया और सीट
पर बैठकर सिगरेट पीने लगा।
"साफ-साफ तो लिखा है कि बस में धूम्रपान वर्जित है, क्या आपने पढ़ा नहीं? क्या आपको पढ़ना नहीं आता", कंडक्टर ने क्रोधपूर्वक उससे कहा।
"पढ़ तो लिया, लेकिन लिखने को तो बस में बहुत कुछ लिखा है। मैं किस-किस
की बात का पालन करूं?" नसरुद्दीन बोला। "यही देखो! यहां लिखा है, हमेशा हैंडलूम की साड़ियां पहनो!"
जरा-सा ऐसी भूलों से सावधान होना जरूरी है। शरीर बहुत करीब है, इसलिए शरीर की भाषा पढ़ लेनी बहुत आसान है। और शरीर इतना करीब है कि उसकी छाया भीतर के दर्पण पर पड़ती है, प्रतिबिंब बनता है। लेकिन तुम शरीर में हो, शरीर नहीं। शरीर तुम्हारा है, तुम शरीर के नहीं। शरीर तुम्हारा साधन है; तुम साध्य हो। शरीर का उपयोग करो; मालकियत मत खो दो! शरीर के भीतर रहते हुए भी शरीर के पार रहो--जल में कमलवत!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक छठवां प्रवचन

जागो और भोगो

पहला प्रश्न: वेदांत तथा अष्टावक्र-गीता जैसे ग्रंथों द्वारा स्वाध्याय करके यह जाना कि जो पाने योग्य है वह पाया हुआ ही है! उसके लिए प्रयास करना भटकन है। इस निष्ठा को गहन भी किया, तो भी आत्मज्ञान क्यों नहीं हुआ? कृपया मार्गदर्शन करें।

शास्त्र से जो समझ में आया वह तुम्हें समझ में आया, ऐसा नहीं है। शब्द
से जो समझ में आया, वह तुम्हारी प्रतीति हो गई, ऐसा नहीं है। अष्टावक्र को सुनकर बहुतों को ऐसा लगेगा कि अरे, तो सब पाया ही हुआ है! लेकिन इससे मिल न जायेगा।
अष्टावक्र को सुनकर ही लगने से मिलने का क्या संबंध हो सकता है? यह प्रतीति तुम्हारी हो कि मिला ही हुआ है। यह अहसास तुम्हें हो, यह अनुभूति तुम्हारी हो; यह बौद्धिक निष्कर्ष न हो।
बुद्धि तो बड़ी जल्दी राजी हो जाती है। इससे सरल बात और क्या होगी कि मिला ही हुआ है। चलो, झंझट मिटी! अब कुछ खोजने की जरूरत नहीं, ध्यान की जरूरत नहीं; पूजा-प्रार्थना की जरूरत नहीं--मिला ही हुआ है!
बुद्धि इससे राजी हो जाती है--इसलिए नहीं कि बुद्धि समझ गई; बुद्धि राजी हो जाती है, क्योंकि मार्ग की अड़चन भी छूटी, साधन का श्रम भी छूटा, उपाय करने की जरूरत भी छूटी। फिर तुम चारों तरफ देखने लगते हो कि अरे, अभी तक मिला नहीं।
अगर बुद्धि को ही समझने से मिलता था तो फिर अध्यात्म के विश्वविद्यालय हो सकते थे। अध्यात्म का कोई विश्वविद्यालय नहीं है। शास्त्र से न मिलेगा, स्वयं की स्वस्फूर्त प्रज्ञा से मिलेगा। अष्टावक्र को सुनो, लेकिन जल्दी मत करना मानने की। तुम्हारा लोभ जल्दी करवा देगा। तुम्हारा लोभ कहेगा, यह तो बड़ी सुलभ बात है; यह खजाना मिला ही हुआ है। तो चलो पाने का भी उपद्रव मिटा, अब कहीं जाना भी नहीं, अब कुछ करना भी नहीं।
यही तो तुम सदा से चाहते थे कि बिना किये मिल जाये। लेकिन ध्यान रखना
इस सबके पीछे पाने की आकांक्षा बनी ही हुई है: बिना किये मिल जाये! पहले सोचते थे करके मिलेगा, अब सोचते हो बिना किये मिल जाये। पाने की आकांक्षा बनी हुई है। इसलिए तो प्रश्न उठता है कि अभी तक आत्मज्ञान क्यों नहीं हुआ? जिसको समझ में आ गई बात--भाड़ में जाये आत्मज्ञान, करना क्या है? अगर अष्टावक्र को समझ गये तो दूसरा प्रश्न उठ ही नहीं सकता। आत्मज्ञान नहीं मिला, तो इसका अर्थ हुआ कि अष्टावक्र को मानने के साथ-साथ आंख के कोने से देख रहे थे, अभी तक मिला कि नहीं मिला? नजर अभी भी मिलने पर लगी थी।
मेरे पास लोग आते हैं। उनको मैं कहता हूं कि ध्यान तब तक न गहरा होगा,
जब तक तुम कुछ मांग जारी रखोगे। जब तक तुम सोचोगे कुछ मिले--आनंद मिले, परमात्मा मिले, आत्मा मिले--तब तक ध्यान गहरा न होगा; क्योंकि यह लोभ की वृत्ति है, जो मिलने की बात सोच रही है; यह महत्वाकांक्षा है, यह राजनीति है, अभी धर्म नहीं हुआ। तो वे कहते हैं, "अच्छा! तो अब बिना सोचे बैठेंगे, फिर तो मिलेगा न?"
अंतर जरा भी नहीं पड़ा। वे इसके लिए भी राजी हैं कि न सोचेंगे, चलो आप कहते हो मिलने के लिए यही उपाय है, तो न सोचेंगे; लेकिन फिर मिलेगा न?
तुम लोभ से छूट नहीं पाते। अष्टावक्र को सुनकर बड़े जल्दी, बहुत लोग मान लेंगे कि चलो, मिल गया। इतनी जल्दी अगर मिलता होता! और ऐसा नहीं है कि कोई बाधा है मिलने में। बाधा है तो तुम्हारी कामना की नासमझी ही। है तो बिलकुल पास।
ठीक अष्टावक्र कहते हैं, मिला ही हुआ है। लेकिन "यह मिला हुआ ही है" तब समझ में आयेगा, जब पाने की सारी आकांक्षा विसर्जित हो जायेगी। तब

तुम्हारी समग्रता से तुम जानोगे कि मिला हुआ है। अभी तो बुद्धि का खिलवाड़ हो जाता है।
अष्टावक्र जैसे महर्षि कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे। तुम जल्दी कर लेते हो मानने की। तुम्हारी श्रद्धा बड़ी नपुंसक है। तुम संदेह भी नहीं करते, तुम जल्दी मान लेते हो। शास्त्र के वचन पर इस देश में तो संदेह करने की आदत ही खो गई है; शास्त्र कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे।
मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन आया, तो एक बड़ी खूबसूरत छतरी लिए हुए था। मैंने पूछा, कहां मिल गई? इतनी खूबसूरत छतरी यहां तो बनती नहीं!
उसने कहा, बहन ने भेंट भेजी है।
मैंने कहा, नसरुद्दीन! तुम तो सदा कहते रहे कि तुम्हारी कोई बहन नहीं!
वह कहने लगा, यह बात तो सच है।
तो फिर मैंने कहा, यह बहन ने भेंट भेजी?
उसने कहा, अब आप न मानो तो इसकी डंडी पर लिखा हुआ है: बहन की ओर से भाई
को भेंट। एक होटल से निकलने लगा, यह छतरी पर लिखा था, मैंने सोचा अब हो न हो, बहन हो ही। जब लिखा हुआ है तो मानना ही पड़ता है। और फिर ऐसे कोई फुफेरी, ममेरी, कोई चचेरी बहन शायद हो भी। और फिर अध्यात्मवादी तो सदा से कहते हैं कि अपनी पत्नी को छोड़कर सभी को माता-बहन समझो।
लिखी हुई बात पर--और फिर शास्त्र में लिखी हो! छपी बात पर बड़ी जल्दी श्रद्धा आती है। कुछ बात कहो किसी से, वह कहता है, कहां लिखी है? लिखा हुआ बता दो तो वह राजी हो जाता है। जैसे लिखे होने में कोई बल है। कितनी पुरानी? तो लोग राजी हो जाते हैं। जैसे सत्य का पुराना होने से कोई संबंध है! किसने कही? अष्टावक्र ने कही? बुद्ध ने कही? महावीर ने कही?--तो फिर ठीक ही कही।
तुम थोड़ा भी तो अपनी तरफ से, थोड़ा भी, इंच भर भी जागने का प्रयास नहीं करते। किसी ने कह दी, तुमने मान ली--और फिर ऐसी सरल बात कि बिना कुछ किए मिल जाए।
कृष्णमूर्ति को मानने वाले चालीस वर्षों से सुन रहे हैं--करीब-करीब
वे ही के वे लोग। मिला कुछ भी नहीं है। मेरे पास कभी-कभी उनमें से कोई आता है तो कहता है कि हमें पता है कि सब मिला ही हुआ है, मगर मिलता क्यों नहीं? हम कृष्णमूर्ति को सुनते हैं, बात समझ में आती है कि सब मिला ही हुआ है। ये लोभीजन हैं। ये चाहते ही थे पहले से कि कोई श्रम न करना पड़े, मुफ्त मिल जाये। इन्होंने कृष्णमूर्ति को नहीं सुना, न अष्टावक्र को समझा है, इन्होंने अपने लोभ को सुना है। इन्होंने अपने लोभ के माध्यम से सुना है। फिर इन्होंने अपने हिसाब से व्याख्या कर ली!
किसी मित्र ने पूछा है कि अब ध्यान करना बड़ा बेहूदा लगता है। पांच-पांच ध्यान--और अष्टावक्र पर चल रही प्रवचनमाला--बड़ा बेहूदा लगता है! ध्यान छोड़ने में कितनी सुगमता है--करने में कठिनता है! अष्टावक्र को
भी जो मिला, वह कुछ करके मिला, ऐसा नहीं; लेकिन बिना कुछ किए मिला, ऐसा भी नहीं।
अब इसे तुम समझना। यह थोड़ा जटिल मामला है।
मैंने तुमसे कहा, बुद्ध को मिला जब उन्होंने सब करना छोड़ दिया; लेकिन पहले सब किया। छह वर्ष तक अथक श्रम किया, सब दांव पर लगा दिया। उस दांव पर लगाने से ही यह अनुभव आया कि करने से कुछ नहीं मिलता। अष्टावक्र को पढ़ने से थोड़े ही, नहीं तो अष्टावक्र की गीता बुद्ध के समय में उपलब्ध थी। उन्होंने पढ़ ली होती, छह साल मेहनत करने की जरूरत न थी। छह साल अथक श्रम किया और श्रम कर-करके जाना कि श्रम से तो नहीं मिलता। रत्ती भर रेखा भी न बची भीतर कि श्रम करने से मिल सकता है। ऐसी कोई वासना भी न बची भीतर। करके देख लिया, नहीं मिलता। यह इतना प्रगाढ़ हो गया कि एक दिन इसी प्रगाढ़ता में करना छूट गया, तभी मिल गया।
तो मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि न करने की अवस्था आयेगी, जब तुम सब
कर चुके होओगे। जल्दबाजी मत करना; अन्यथा थोड़ा-बहुत ध्यान कर रहे हो, वह भी छूट जायेगा; थोड़ी बहुत पूजा-प्रार्थना में लगे हो, वह भी छूट जायेगी।

अष्टावक्र तो दूर रहे, तुम जो हो थोड़े-बहुत, चल रहे थे किसी यात्रा पर, वह भी बंद हो जायेगा।
इसके पहले कि कोई रुके, समग्र रूप से दौड़ लेना जरूरी है। तो ही दौड़ने
से नहीं मिलता, यह बोध प्रगाढ़ होता है। छूटता है एक दिन श्रम, लेकिन केवल बुद्धि के समझने से नहीं--तुम्हारा रोआं-रोआं, तुम्हारा कण-कण समझ लेता है कि व्यर्थ है, उसी घड़ी मिल जाता है।
ठीक कहते हैं अष्टावक्र कि अनुष्ठान बंधन है। लेकिन जो अनुष्ठान करेगा, उसको ही पता चलेगा।
मैं तुमसे कह रहा हूं, क्योंकि अनुष्ठान किया और पाया कि बंधन है। मैं तुमसे कह रहा हूं, क्योंकि साधन किये और पाया कि कोई साधन साध्य तक नहीं पहुंचते। ध्यान कर करके पाया कि कोई ध्यान समाधि तक नहीं लाता। लेकिन जब ऐसा करके तुम पाते हो कि कोई ध्यान समाधि तक नहीं लाता, ऐसी तुम्हारी गहन होती अनुभूति, एक दिन उस जगह आ जाती, सौ डिग्री पर उबलती, तुम सब दांव पर लगा देते हो, कुछ बचाते नहीं, अपने को पूरा झोंक देते हो आग में, श्रम परिपूर्ण हो जाता है, तपश्चर्या पूरी हो जाती है, साधन पूरा हो जाता है; अब तुमसे कोई अस्तित्व यह मांग नहीं कर सकता कि तुमने कुछ भी बचाया था; सब लगा दिया--उस दिन, उस प्रगाढ़ता में, उस प्रज्वलित चित्त की दशा में अचानक सब भस्मीभूत हो जाता है। सब साधन, सब अनुष्ठान, सब ध्यान, सब तप-त्याग --अचानक तुम जागकर पाते हो कि अरे, यह तो मिला ही था जिसे मैं खोज रहा था!
लेकिन यह अष्टावक्र को पढ़ने से हो जाता होता तो बात बड़ी सुगम थी। अष्टावक्र को पढ़ना क्या कठिन है? सूत्र तो बड़े सीधे-साफ हैं।
ध्यान रखना, सीधी-सरल बातें समझना इस जगत में सबसे कठिन है। और कठिनाई तुम्हारे भीतर से आती है। तुम चाहते ही थे कि कुछ न करना पड़े। ध्यान बामुश्किल लोग करने को राजी होते हैं। अब यह कसौटी है--अष्टावक्र की गीता।
अष्टावक्र को सुनकर भी जो ध्यान करते रहेंगे, वे ही समझे। जो अष्टावक्र को सुनकर ध्यान छोड़ देंगे, अष्टावक्र को तो समझे ही नहीं, ध्यान भी गया। अनुष्ठान करके ही पता चलेगा: अनुष्ठान बंधन है। यह तो आखिरी दशा है अनुष्ठान करने की। इससे तुम जल्दबाजी मत कर लेना।
"वेदांत और अष्टावक्र जैसे ग्रंथों द्वारा स्वाध्याय करके यह जाना...।"
स्वाध्याय करके किसी ने कहीं जाना? पठन-पाठन करके किसी ने जाना? शास्त्र, शब्दों को सीख लेने से किसी ने जाना? यह जानना नहीं है, यह जानकारी है। "जानकारी हुई" कहो, कि जो पाने योग्य है पाया ही हुआ है। अगर जान ही लिया तो बात खत्म हो गई। सूचना मिली, गुदगुदी उठी, लोभ में अंकुर हुआ! लोभ ने कहा, अरे! हम नाहक मेहनत करते थे; ये अष्टावक्र कहते हैं, बिना ही किए, तो चलो बिना ही किए बैठ जाएं। तो तुम बिना ही किये बैठ गये। थोड़ी ही देर में तुम देखने लगे: "अभी तक घटी नहीं घटना; देर लग रही है, बात क्या है? और अष्टावक्र कहते हैं, अभी!" तुम घड़ी पर नजर लगाये बैठे हो कि "पांच सेकेंड निकल गये, पांच मिनिट निकल गये, यह घंटा भी बीता जा रहा है--और अष्टावक्र कहते हैं, तत्क्षण! इसी वक्त! एक क्षण के भी विदा होने की जरूरत नहीं!" फिर तुम कहने लगे, झूठ ही कहते होंगे। श्रद्धा टूट गई।
जाना नहीं--जानकारी हुई। जानकारी और जानने के फर्क को सदा याद रखना। जानकारी अर्थात उधार। किसी और ने जाना, उससे सुन कर तुम्हें जानकारी हुई। इन्फार्मेशन--जानकारी। जानना तो अनुभव है। तुम्हारे अतिरिक्त कोई तुम्हारे लिए जान नहीं सकता। यह उधार नहीं हो सकता। मैं जान लूं, इससे तुम्हारे जानने की थोड़े ही घटना घटेगी। मेरा जानना मेरा होगा, तुम्हारा जानना तुम्हारा होगा। हां, अगर मेरे शब्दों को तुमने संग्रह कर लिया तो वह जानकारी है। जानकारी से आदमी पंडित बनता है, प्रज्ञावान नहीं। ज्ञान का बोझ इकट्ठा हो जाता है, ज्ञान की मुक्ति नहीं। शब्दों का जाल खड़ा हो जाता है, सत्य का सौंदर्य नहीं। शब्द और घेर लेते हैं, और बांध लेते हैं। इसलिए तुम पंडित को बड़ा बंधा हुआ पाओगे। खुला आकाश कहां?
"यह जाना कि जो पाने योग्य है वह पाया ही हुआ है।" अगर जान ही लिया, तो
अब क्या पूछने को बचा?

"उसके लिये प्रयास भटकन है।" अगर यह जान ही लिया, तो अब और क्या पूछने
को बचा?
"इस निष्ठा को गहन भी किया।" यह निष्ठा या तो होती है या नहीं होती; इसे गहन करने का उपाय नहीं है। गहन कैसे करोगे? निष्ठा होती है तो होती है, नहीं होती तो नहीं होती--गहन कैसे करोगे? क्या उपाय है निष्ठा को गहन करने का? संदेह को दबाओगे? संदेह की छाती पर बैठ जाओगे? क्या करोगे? संदेह को झुठलाओगे? मन में प्रश्न उठेंगे, नहीं सुनोगे? भीतर संदेह का कीड़ा काटेगा, और कहेगा कि सुनो भी, कहीं बिना किये कुछ मिला है? बैठे-बैठे कहीं कुछ हुआ है? कुछ करने से होता है, खाली बैठने से कहीं होता है? मुफ्त कहीं कुछ मिलता है? किन बातों में पड़े हो? किस भ्रांति में भटके हो? उठो, चलो, दौड़ो, अन्यथा जीवन निकल जायेगा, जीवन निकला ही जा रहा है! ऐसे बैठे-बैठे मूढ़ की भांति समय मत गंवाओ।
ये संदेह उठेंगे, इनका क्या करोगे? इनको दबा लोगे? इनको झुठला दोगे? कहोगे कि नहीं सुनना चाहता? इनको अचेतन में फेंक दोगे? तलघरे में छिपा दोगे भीतर? इनके सामने आंख करके न देखोगे? क्या करोगे निष्ठा गहन करने में? ऐसा ही कुछ करोगे। किसी तरह का दमन करोगे। यह निष्ठा झूठी होगी। इसके नीचे अविश्वास सुलगता होगा। यह निष्ठा ऊपर-ऊपर होगी। इसकी झीनी चादर होगी ऊपर; भीतर अविश्वास के, संदेह के अंगारे होंगे, वह जल्दी ही इस निष्ठा को जला डालेंगे। यह निष्ठा किसी भी काम की नहीं है, इसको तुम गहरा नहीं कर सकते। निष्ठा होती है, तो होती है।
ऐसा समझो कि कोई आदमी एक वर्तुल खींचे, आधा वर्तुल खींचे, तो क्या तुम उसे वर्तुल कहोगे? आधे वर्तुल को वर्तुल कहा जा सकता है? चाप कहते हैं, वर्तुल नहीं। वर्तुल तो तभी कहते हैं, जब पूरा होता है। अधूरे वर्तुल का नाम वर्तुल नहीं है।
अधूरी श्रद्धा का नाम श्रद्धा नहीं है, क्योंकि अधूरी श्रद्धा का अर्थ हुआ कि अधूरा अभी अविश्वास भी खड़ा है। वह जो आधी जगह खाली है, वहां कौन होगा? वहां संदेह होगा। संदेह के साथ श्रद्धा चल ही नहीं सकती। यह तो ऐसा हुआ कि एक पैर पूरब जा रहा है, एक पैर पश्चिम जा रहा है--तुम कहीं पहुंचोगे नहीं। यह तो ऐसा हुआ कि तुम दो नावों पर सवार हो, एक इस किनारे को आ रही, एक उस किनारे को जा रही है--तुम पहुंचोगे कहां?
संदेह की यात्रा अलग, श्रद्धा की यात्रा अलग। तुम दो नावों पर सवार हो। अधूरी श्रद्धा का क्या अर्थ? अधूरी निष्ठा का क्या अर्थ? कि आधा अविश्वास, आधा संदेह भी मौजूद है! श्रद्धा होती तो पूरी, नहीं होती तो नहीं होती।
और एक और मजे की बात ध्यान रखना, इस जगत में जब भी श्रेष्ठ को निकृष्ट
से मिलाओगे, तो निकृष्ट कुछ भी नहीं खोता, श्रेष्ठ का कुछ खो जाता है। जब भी तुम श्रेष्ठ के साथ निकृष्ट को मिलाओगे, तो निकृष्ट की कोई हानि नहीं होती, श्रेष्ठ की हानि हो जाती है।
शुद्ध पकवान, भोजन तैयार है, तुम जरा-सी मुट्ठी भर गंदगी लाकर डाल दो। तुम कहोगे, यह पकवान का तो ढेर लगा है मनों, इसमें मुट्ठी भर गंदगी से क्या होता है? तो मुट्ठी भर गंदगी उस पूरे शुद्ध भोजन को नष्ट कर देगी। वह पूरा शुद्ध भोजन भी उस मुट्ठी भर गंदगी को नष्ट न कर पायेगा।
तुम एक फूल पर पत्थर फेंक दो, तो पत्थर का कुछ न बिगड़ेगा, फूल समाप्त
हो जायेगा। पत्थर जड़ है, निकृष्ट है। फूल महिमावान है। फूल आकाश का है, पत्थर पृथ्वी का है। फूल काव्य है जीवन का। पत्थर और फूल की टक्कर होगी, तो फूल का सब बिगड़ जायेगा, पत्थर का कुछ भी न बिगड़ेगा।
एक बूंद जहर पर्याप्त है।
तो ध्यान रखना, संदेह निकृष्ट है। श्रद्धा के फूल के साथ अगर संदेह का पत्थर भी पड़ा है तो फूल दबेगा और मर जायेगा, हत्या हो जायेगी फूल की।
तुम यह मत सोचना कि श्रद्धा, पत्थर को बदल लेगी। पत्थर फूल को नष्ट कर देगा।
निष्ठा या तो होती है या नहीं होती। इसमें दो मत नहीं हैं। होती है, तो सारे जीवन को घेर लेती है, रोएं-रोएं को व्याप्त कर लेती है। निष्ठा

व्यापक है फिर। पर ऐसी निष्ठा शास्त्र से नहीं मिलती है, न मिल सकती है। ऐसी निष्ठा जीवंत अनुभव से मिलती है। जीवन के शास्त्र को पढ़ोगे तो मिलेगी, अष्टावक्र को पढ़ने से नहीं।
अष्टावक्र को समझ लो। उस समझ को ज्ञान मत समझ लेना। अष्टावक्र को समझकर, अपने भीतर सम्हाल कर, एक कोने में रख दो। एक कसौटी मिली। ज्ञान नहीं मिला, एक कसौटी मिली। अब जब तुम्हें ज्ञान मिलेगा, तब अष्टावक्र की कसौटी पर उसे कसने में तुम्हें सुविधा हो जायेगी।
कसौटी सोना नहीं है। तुम जाते हो एक सुनार के पास, देखते हो रखा है काला पत्थर कसौटी का। वह काला पत्थर सोना नहीं है। जब सोना मिलता है तो सुनार उस काले पत्थर पर घिसकर देख लेता है कि सोना सोना है या नहीं है? अष्टावक्र की बात को समझकर, कसौटी की तरह सम्हाल कर रख लो, गांठ बांध लो, जब तुम्हारे जीवन का अनुभव आयेगा, तो कस लेना। अष्टावक्र की कसौटी उस वक्त काम आयेगी। तुम जान पाओगे कि जो हुआ है, वह क्या हुआ? तुम्हारे पास समझने को भाषा होगी। तुम्हारे पास समझने को उपाय होगा। अष्टावक्र तुम्हारे गवाह होंगे।
मैं शास्त्रों को इसी अर्थ में लेता हूं। शास्त्र गवाह हैं। अनजाना
है मार्ग सत्य का। उस अनजाने मार्ग पर तुम्हें कुछ गवाहियां चाहिए। तुम जब पहली दफा स्वयं सत्य के सामने आओगे, सत्य इतना विराट होगा कि तुम कंपोगे, समझ न पाओगे। तुम जड़-मूल से कंप जाओगे। बहुत डर है कि तुम पागल हो जाओ।
थोड़ा सोचो तो, कि एक आदमी जो जन्मों-जन्मों से किसी खजाने को खोज रहा था, एक दिन अचानक पाए कि खजाना वहीं गड़ा है जहां वह खड़ा है--वह पागल नहीं हो जाएगा? यह जन्मों- जन्मों की खोज व्यर्थ गई। और खजाना यहीं गड़ा था जहां मैं खड़ा हूं।
तुम थोड़ा सोचो! उस आदमी पर यह आघात बड़ा हो जाएगा। "तो इतने दिन मैं व्यर्थ जीया! तो यह सारा अनंत काल तक जीना एक निरर्थक चेष्टा थी, एक दुख-स्वप्न था! जिसे मैं खोज रहा था, वह भीतर पड़ा था!" क्या ऐसी चोट में, संघात में आदमी पागल न हो जाएगा? उस वक्त अष्टावक्र की मधुर वाणी शीतल करेगी। उस वक्त वेदांत, बुद्ध के वचन, उपनिषद, बाइबिल, कुरान तुम्हारे साक्षी होकर खड़े हो जाएंगे। उनकी उपस्थिति में जो नया तुम्हें घट रहा है, तुम उसे समझने में सफल हो पाओगे; अन्यथा अकेले में बड़ी मुश्किल हो जाएगी। शास्त्रों पर मैं बोल रहा हूं--इसलिए नहीं कि शास्त्रों को सुनकर तुम ज्ञानी हो जाओगे; इसलिए बोल रहा हूं कि ध्यान के मार्ग पर चले हो, आज नहीं कल घटना घटेगी, घटनी ही चाहिए। जब घटना घटे तो ऐसा न हो कि सोना सामने हो और तुम समझ भी न पाओ। कसौटी तुम्हें दे रहा हूं। इन कसौटियों पर कस लेना। अष्टावक्र शुद्धतम कसौटी हैं। अष्टावक्र पर निष्ठा नहीं करनी है; अष्टावक्र की कसौटी का उपयोग करना है स्वयं के अनुभव पर। अष्टावक्र को गवाही बनाना है।
जीसस ने कहा है अपने शिष्यों से कि जब तुम पहुंचोगे, मैं तुम्हारा गवाह रहूंगा। शिष्य तो फिर भी गलत समझे। शिष्य तो समझे कि हम जब मरेंगे और परमात्मा के स्वर्ग में पहुंचेंगे तो जीसस हमारी गवाही देंगे कि ये मेरे शिष्य हैं, इन्हें भीतर आने दो; ये अपने वाले हैं, ईसाई हैं। इनके साथ थोड़ी विशेष अनुकंपा करो। इन पर प्रसाद ज्यादा हो!
लेकिन जीसस का मतलब बहुत और था। जीसस ने कहा कि जब तुम पहुंचोगे, मैं तुम्हारी गवाही होऊंगा--इसका यह मतलब नहीं कि जीसस वहां खड़े होंगे। लेकिन जीसस ने जो कहा है, वह कसौटी की तरह पड़ा रहेगा। जब तुम्हारा अनुभव होगा, झट तुम उसे कस लोगे और गुत्थी सुलझ जाएगी। अन्यथा, असत्य में भटके हो इतने दिन तक कि तुम्हारी आंखें असत्य की आदी हो गई हैं। सत्य का आघात कहीं तुम्हें तोड़ न दे, विक्षिप्त न कर दे।
इसे याद रखना, सत्य के बहुत खोजी पागल हो गए हैं। सत्य के बहुत खोजी ठीक उस दशा के करीब, जब परमहंस होने को होते हैं, तभी पागल हो जाते हैं, विक्षिप्त हो जाते हैं। क्योंकि घटना इतनी बड़ी है, अविश्वसनीय है, भरोसेऱ्योग्य नहीं है; जैसे पूरा आकाश टूट पड़े तुम पर; छोटा तुम्हारा

पात्र है और विराट तुम्हारे पात्र पर बरस जाए! तुम अस्तव्यस्त हो जाओगे। तुम सम्हाल न पाओगे। जैसे सूरज एकदम सामने आ जाए और तुम्हारी आंखें झकपका जाएं, धुंधलका हो जाए! सूरज सामने हो और अंधेरा हो जाए, क्योंकि तुम्हारी आंखें बंद हो जाएं। उस घड़ी अष्टावक्र के वचन तुम्हें सूरज को समझने में उपयोगी हो जाएंगे। उस समय तुम्हारे अचेतन में पड़ी अष्टावक्र की वाणी तत्क्षण मुखर हो जाएगी। गूंजने लगेंगे उपनिषद के वचन, गूंजने लगेगी गीता, गूंजने लगेगा कुरान, उठने लगेंगी आयतें! उनकी गंध तुम्हें आश्वस्त करेगी कि तुम घर आ गए हो, घबड़ाने की कोई बात नहीं। यह विराट हो तुम!
अष्टावक्र कहते हैं: तू व्यापक है! तू विराट है। तू विभु है। तू कर्म-शून्य! तू शुद्ध-बुद्ध। तू सिर्फ ब्रह्मस्वरूप है!
ये वचन उस क्षण व्याख्या बनेंगे। इन पर निष्ठा करने मात्र से, इनको पकड़ लेने मात्र से तुम कहीं भी पहुंचोगे नहीं। और लोभ तुम्हारा भीतर खड़ा है कि आत्मज्ञान हुआ नहीं।
वासना को बांधने को
तूमड़ी जो स्वरतार बिछाती है।
आह! उसी में कैसी एकांत-निबिड़
वासना थरथराती है!
सुनो फिर--
वासना को बांधने को
तूमड़ी जो स्वरतार बिछाती है।
आह! उसी में कैसी एकांत-निबिड़
वासना थरथराती है!
तभी तो सांप की कुंडली हिलती नहीं,
फन डोलता है।
तुम वासना से मुक्त भी होना चाहते हो, तो भी तुम वासना का ही जाल बिछाते हो। तुम परम शुद्ध-बुद्ध होना चाहते हो, तो भी लोभ के माध्यम से ही, तो भी वासना ही थरथराती है।
आह! उसी में कैसी एकांत-निबिड़
वासना थरथराती है।
वासना को बांधने को
तूमड़ी जो स्वरतार बिछाती है।
तुम परमात्मा को पाने चलते हो, लेकिन तुम्हारे पाने का ढंग वही है जो
धन पाने वाले का होता है। तुम परमात्मा को पाने चलते हो, लेकिन तुम्हारी वासना, कामना वही है--जो पदार्थ को पाने वाले की होती है। संसार को पाने वाले की जो दीवानगी होती है, वही दीवानगी तुम्हारी है।
वासना विषय बदल लेती है, वासना नहीं बदलती।
सुनकर अष्टावक्र को तुम्हारी वासना कहती है: "अरे, यह तो बड़ा शुभ हुआ! हमें पता ही न था कि जिसे हम खोज रहे हैं वह मिला ही हुआ है। तो अब बस बैठ जाएं।" फिर तुम प्रतीक्षा करते हो: अब मिले, अब मिले, अब मिले! कैसी वासना थरथराती है! अब मिले! तो तुम समझे ही नहीं।
फिर से सुनो अष्टावक्र को। अष्टावक्र कहते हैं: मिला ही हुआ है। लेकिन इसे तुम कैसे सुनोगे? कैसे समझोगे? तुम्हारी वासना तो थरथरा रही है।
जब तक तुम अपनी वासना में दौड़ न लो, दौड़-दौड़कर वासना की व्यर्थता देख न लो, दौड़ो और गिरो और लहूलुहान न हो जाओ, हाथ-पैर न तोड़ लो--तब तक तुम नहीं समझ पाओगे। वासना के अनुभव से जब वासना व्यर्थ हो जाती है, थककर गिर जाती है और टूट जाती है--उस निर्वासना के क्षण में तुम समझ पाओगे, कि जिसे तुम खोजते हो वह मिला ही हुआ है।
अन्यथा, तुम तोते हो जाओगे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम हिंदू तोते हो कि मुसलमान कि ईसाई कि जैन कि बौद्ध, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता-- तोते यानी तोते। तोते को तुम चाहो तो बाइबिल रटा दो, और तोते को तुम चाहो तो गीता रटा दो। तोता तोता है; वह रटकर दोहराने लगेगा।
मंदिर के भीतर वे सब धुले-पुंछे

उघड़े, अवलिप्त, खुले गले से, मुखर स्वरों में, अति प्रगल्भ गाते जाते थे राम-नाम।
भीतर सब गूंगे, बहरे, अर्थहीन जलपक, निर्बोध, अयाने, नाटे,
पर बाहर,
जितने बच्चे, उतने ही बड़बोले!
मंदिरों में देखो!
मंदिर के भीतर वे सब धुले-पुंछे,
उघड़े, अवलिप्त...!
कैसे लोग निर्दोष मालूम पड़ते हैं मंदिर में। उन्हीं शक्लों को बाजार में देखो, उन्हीं को मंदिर में देखो। मंदिर में उनका आवरण भिन्न मालूम होता है।
खुले गले से, मुखर स्वरों में
अति प्रगल्भ, गाते जाते थे राम-नाम।
देखा तुमने माला लिए, किसी को राम-नाम जपते? राम चदरिया ओढ़े, चंदन-तिलक लगाए-- कैसी शुभ्र लगती है प्रतिमा! इन्हीं सज्जन को बाजार में देखो, भीड़-भाड़ में देखो, पहचान भी न पाओगे। लोगों के चेहरे अलग-अलग हैं; बाजार में एक चेहरा ओढ़ लेते हैं, मंदिर में एक चेहरा ओढ़ लेते हैं।
अति प्रगल्भ, गाते जाते थे राम-नाम
भीतर सब गूंगे, बहरे, अर्थहीन
जलपक, निर्बोध, अयाने, नाटे,
पर बाहर,
जितने बच्चे उतने ही बड़बोले!
जानकारी तुम्हें तोता बना सकती है, बड़बोला बना सकती है। जानकारी तुम्हें धार्मिक होने की भ्रांति दे सकती है, धोखा दे सकती है। लेकिन ज्ञान उसे मत मान लेना। और जानकारी के आधार पर तुम जो निष्ठा सम्हालोगे, वह निष्ठा संदेह के ऊपर बैठी होगी, संदेह के कंधे पर सवार होगी। वह निष्ठा कहीं सत्य के द्वार तक ले जाने वाली नहीं है। उस निष्ठा पर बहुत भरोसा मत करना। वह निष्ठा दो कौड़ी की है।
निष्ठा आनी चाहिए स्वानुभव से। निष्ठा आनी चाहिए शुद्ध निर्विकार स्वयं की ध्यान-अवस्था से।

दूसरा प्रश्न: कल संध्या घूम रहा था कि अचानक आपका कल सुबह का पूरा प्रवचन मेरे रोम-रोम में गूंजने लगा। दर्शक होकर दृश्यों की छवि निहार रहा था कि कहीं से द्रष्टा की याद आ गई। द्रष्टा का खेल भी जरा देर चला, लेकिन इसी बीच मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और गिरने से बचने के लिए मैं सड़क के किनारे बैठ गया। और तभी न दृश्य रहा न दर्शक रहा और न द्रष्टा ही रहा। सब कुछ समाप्त हो गया और फिर भी कुछ था। कभी अंधेरा, कभी प्रकाश की आंख-मिचौनी चलती रही। लेकिन तभी से बेचैनी भी बढ़ गई और समझ में नहीं आया कि यह सब क्या है!

यही मैं तुमसे कह रहा हूं।
अगर सत्य की थोड़ी-सी झलक भी तुम्हारे पास आएगी तो तुम बेचैन हो जाओगे; तुम समझ न पाओगे यह क्या है। न समझ पाए कि क्या है, तो गहन अशांति पकड़ लेगी, विक्षिप्तता भी पकड़ सकती है। इसलिए बोलता हूं इन शास्त्रों पर। इसलिए रोज तुम्हें समझाए जाता हूं कि कहीं तुम्हारे अचेतन में जानकारी पड़ी रहे और जब घटनाएं घटें तो तुम उनकी ठीक- ठीक व्याख्या कर लो, सुलझा लो। अन्यथा तुम सुलझाओगे कैसे?--तुम्हारे पास भाषा न होगी; शब्द न होंगे; समझने का कोई उपाय न होगा; मापदंड न होगा। तराजू न होगा, तुम तौलोगे कैसे? कसौटी न होगी, तुम परखोगे कैसे?
पूछा है: "मेरे रोम-रोम में प्रवचन गूंजने लगा। दर्शक होकर दृश्यों की छवि निहार रहा था, कहीं से द्रष्टा की याद आ गई। द्रष्टा का खेल भी जरा देर

चला, लेकिन इसी बीच मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और गिरने से बचने के लिए मैं सड़क के किनारे बैठ गया।"
निश्चित ही ऐसा ही होता है। जब पहली दफा तुम्हें द्रष्टा का थोड़ा-सा बोध होगा, तुम लड़खड़ा जाओगे; तुम्हारी पूरी जिंदगी लड़खड़ा जाएगी। क्योंकि तुम्हारी पूरी जिंदगी ही द्रष्टा के बिना खड़ी है। यह नई घटना सब अस्तव्यस्त कर देगी। जैसे अंधे आदमी की अचानक आंख खुल जाए, थोड़ा सोचो, वह चल पाएगा रास्ते पर? वह लड़खड़ा जाएगा। चालीस साल, पचास साल से अंधा था, लकड़ी के सहारे टटोल-टटोलकर चलता था। अंधेरे में चलने की धीरे-धीरे क्षमता आ गई थी अंधेपन के साथ ही। कुशल हो गया था। आवाजें समझ लेता था। रास्तों के मोड़ पहचान में आ गए थे। कान के द्वारा आंख का काम लेना सीख गया था। पचास साल से सब ठीक व्यवस्थित हो गया था।
एक जिंदगी है अंधे की--तुम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते--प्रकाश-विहीन, रंग-विहीन, रूप-विहीन, आकार-विहीन; सिर्फ ध्वनि के माध्यम पर टिकी। उसकी एक ही भाषा है: ध्वनि। तो उसी के आधार पर उसने अपना सारा जीवन संरचित कर लिया था। आज अचानक सुबह वह जा रहा है बाजार, उसकी अचानक आंख खुल जाए, थोड़ा सोचो क्या होगा? उसका सारा संसार झकपका कर गिर पड़ेगा। उसकी ध्वनि का सारा लोक एकदम अस्तव्यस्त हो जाएगा। यह घटना इतनी बड़ी होगी--आंख का खुलना, लोगों के चेहरे दिखाई पड़ने, रंग दिखाई पड़ने, सूरज की किरणें, धूप-छांव, यह भीड़-भाड़, इतने लोग, बसें, कारें, साईकिलें--वह एकदम घबड़ा जाएगा। यह इतना बड़ा आघात होगा उसके ऊपर कि उसकी छोटी-सी दुनिया जो ध्वनि के सहारे बनी थी, वह कहीं दब जाएगी, पिछड़ जाएगी, मर जाएगी, कुचल जाएगी! वह वहीं थरथराकर बैठ जाएगा, लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा; शायद घर न आ सके, या बेहोश हो जाए।
और यह उदाहरण कुछ भी नहीं है। जब तुम्हारे जीवन में द्रष्टा का प्रवेश होगा, एक किरण भी द्रष्टा की आएगी, तो यह उदाहरण कुछ भी नहीं है--वह घटना और भी बड़ी है। भीतर की आंख खुल रही है। तुमने उस भीतर की आंख के बिना ही अपना एक संसार रच लिया है। अचानक वह भीतर की आंख खुलते ही तुम्हारे सारे संसार को गलत कर देगी। तुम चौंककर अवाक रह जाओगे।
जिसने पूछा है, ठीक ही पूछा है और अनुभव से पूछा है। इसे खयाल करना। प्रश्न दो तरह के होते हैं। एक तो सैद्धांतिक होते हैं। उनका कोई बड़ा मूल्य नहीं होता। यह प्रश्न अनुभव का है। अनुभव से न हुआ होता तो यह प्रश्न बन ही नहीं सकता था। ये पैर लड़खड़ाए न होते तो यह प्रश्न बन नहीं सकता था। यह प्रश्न सीधे अनुभव का है।
"कहीं से द्रष्टा की याद आ गई।"
गूंज रहे होंगे अष्टावक्र के वचन। जो मैंने कहा था सुबह, उसकी गूंज बाकी रह गई होगी, उसकी सुगंध तुम्हारे भीतर उठ रही होगी, उसकी थोड़ी-सी लकीरें कहीं उलझी रह गई होंगी।
"आ गई कहीं से द्रष्टा की याद! द्रष्टा का खेल थोड़ी देर चला।"
शायद क्षण भर ही चला हो। वह क्षण भी बहुत लंबा मालूम होता है जब खेल द्रष्टा का चलता है, क्योंकि द्रष्टा समयातीत है। यहां घड़ी में क्षण बीतता है, वहां द्रष्टा होने में ऐसा लग सकता है कि सदियां बीत गईं। यह घड़ी वहां काम नहीं आती। यह घड़ी भीतर की आंख के लिए नहीं बनी है।
"थोड़ी देर खेल चला, लेकिन इसी बीच मेरे पैर लड़खड़ाने लगे, जिनसे बचने के लिए मैं सड़क के किनारे बैठ गया।"
यह लड़खड़ाहट बताती है कि घटना घटी। प्रश्न पूछने वाले ने सुनकर प्रश्न नहीं पूछा है, पढ़कर प्रश्न नहीं पूछा है--कुछ घटा।
"और तभी न दृश्य रहा, न दर्शक रहा, न द्रष्टा रहा।" उस लड़खड़ाहट में सब बिखर गया, सब खो गया।
ऐसी घड़ी में ही कभी विक्षिप्तता आ सकती है, अगर धीरे-धीरे अभ्यास न हो। अगर रत्ती-रत्ती हम इसको आत्मसात न करते चलें और यह एकदम से फूट पड़े, तो विस्फोट हो सकता है।
"सब कुछ समाप्त हो गया और फिर भी कुछ था।"
निश्चित कुछ था। वस्तुतः पहली दफा सब कुछ था। तुम्हारा सब कुछ समाप्त
हो गया। तुमने जो बना ली थी अपनी छोटी-सी घासफूस की कुटिया--वह गिर गई।

आकाश था, चांदत्तारे थे। परमात्मा ही बचा! तुमने जो बना ली थी सीमाएं, रेखाएं--वे खो गईं। निरभ्र आकाश बचा! तुमने जो छोटे-से में रहने का अभ्यास कर लिया था, वह लड़खड़ा गया। उसी लड़खड़ाहट में तुम भी घबड़ाकर सड़क के किनारे बैठ गए।
निश्चित कुछ था। लेकिन जिसको यह अनुभव हुआ, अवाक कर गया। वह पकड़ नहीं पाया, क्या था, कौन था!
तुम्हें खयाल है? कभी-कभी ऐसा होता है, सुबह अचानक कोई तुम्हें जगा दे
जब तुम गहरी नींद में सोए थे--पांच बजे हों, तुम गहरी नींद में थे, रात की सबसे गहरी घड़ी थी--कोई अचानक जगा दे, कोई शोरगुल हो जाए, रास्ते पर कोई बम फूट जाए, कोई कार टकरा जाए द्वार पर, कोई शोरगुल हो जाए--तुम अचानक से जाग जाओ। अचानक! नींद से एकदम होश में आ जाओ। नींद की गहराई से तीर की तरह आ जाओ।
साधारणतः हम जब आते हैं नींद की गहराई से तो धीरे-धीरे आते हैं। पहले गहरी नींद छूटती है, फिर धीरे-धीरे सपने तैरना शुरू होते हैं। फिर सपनों में हम थोड़ी देर रहते हैं। इसलिए तुम्हें सुबह के सपने याद रहते हैं रात के सपने तुम्हें याद नहीं रहते। क्योंकि सुबह के सपने बहुत हलके होते हैं, और नींद और जागरण के ठीक मध्य में होते हैं। फिर धीरे-धीरे सपने हटते हैं। फिर अधूरी-अधूरी टूटी-सी नींद होती है। फिर धूप-छांव की आंख-मिचौनी चलती है थोड़ी देर, क्षण भर को लगता है जागे, क्षण भर को फिर नींद में हो जाते हैं, करवट बदल लेते हैं, करवट बदलते तब लगता है जागे हैं; बीच में आवाज भी सुनाई दे जाती है कि पत्नी चाय बनाने लगी, कि बर्तन गिर गया, कि दूध वाला आ गया, कि राह से कोई गुजर रहा, कि नौकरानी ने दस्तक दी, कि बच्चे स्कूल जाने की तैयारी करने लगे। फिर करवट लेकर फिर तुम एक गहराई में डुबकी लगा जाते हो। ऐसा धीरे-धीरे, धीरे-धीरे सतह पर आते हो। फिर तुम आंख खोलते हो।
लेकिन अगर कभी कोई अचानक घटना घट जाए तो तुम तीर की तरह गहराई से सीधे जागरण में आ जाते हो। आंख खोलकर तुम्हें लगेगा अचानक, तुम कहां हो, कौन हो? एक क्षण को कुछ समझ में न आएगा।
ऐसा तुम सबको हुआ होगा कभी किसी घड़ी में: "कौन हूं? नाम-पता भी याद नहीं आता। कहां हूं? यह भी समझ में नहीं आता। जैसे किसी अजनबी दुनिया में अचानक आ गए हों! यह क्षण भर ही रहती है बात, फिर तुम सम्हल जाते हो। क्योंकि यह धक्का कोई बहुत बड़ा धक्का नहीं है। और फिर इसके तुम अभ्यासी हो। रोज ही यह होता है। रोज सुबह तुम उठते हो, सपने की दुनिया से वापिस जागृति की दुनिया में लौटते हो। यह अभ्यास पुराना है, फिर भी कभी-कभी अचानक हो जाए तो चौंका जाता है, घबड़ा जाता है।
असली जागरण जब घटता है तो तुम बिलकुल ही अवाक रह जाओगे। तुम्हें कुछ समझ में न आएगा, क्या हो रहा है? सब सन्नाटा और शून्य हो जाएगा।
लेकिन ठीक हुआ।
"न द्रष्टा रहा, न दर्शक, न दृश्य। सब कुछ समाप्त हो गया। फिर भी कुछ था।"
इस कुछ की ही तुम व्याख्या कर सको, इसीलिए इतने शास्त्रों पर मैं बोल रहा हूं। इस कुछ की ही तुम व्याख्या करने में समर्थ हो जाओ; इस कुछ को तुम अर्थ दे सको; इस कुछ की तुम प्रत्यभिज्ञा कर सको, परिभाषा कर सको, नहीं तो यह कुछ तुम्हें डुबा लेगा। तुम बाढ़ में बह जाओगे। तुम्हारे पास खड़े होने की कोई जगह रहे, इसीलिए इतनी बातें कह रहा हूं।
"सब कुछ समाप्त हो गया, फिर भी कुछ था। कभी अंधेरा, कभी प्रकाश की आंख-मिचौनी चलती रही। लेकिन तभी से बेचैनी बढ़ गई है। और समझ में नहीं आता कि यह सब क्या था।"
जो मैं कहता हूं, उसे सम्हाले जाओ। उसकी मंजूषा बनाओ। उसे ज्ञान मत समझना, जानकारी ही समझना। समझपूर्वक उसकी मंजूषा बनाओ। फिर धीरे-धीरे तुम पाओगे, जब-जब अनुभव घटेगा, जो अनुभव घटेगा, उस अनुभव को सुस्पष्ट, सुविश्लिष्ट कर देने वाले मेरे शब्द तुम्हारे अचेतन से उठकर खड़े हो जाएंगे। मैं तुम्हारा साक्षी बन जाऊंगा। मैं तुम्हारा गवाह हूं।

लेकिन अगर सुनते वक्त तुम मेरे साथ विवाद कर रहे हो तो फिर मैं तुम्हारा गवाह न बन सकूंगा। अगर सुनते वक्त तुम मुझसे किसी तरह का आंतरिक संघर्ष कर रहे हो, तर्क कर रहे हो; अगर सुनते वक्त तुम मुझे सहानुभूति, प्रेम से नहीं सुन रहे हो, विवाद कर रहे हो--तो मैं तुम्हारा गवाह न बन सकूंगा। क्योंकि फिर तुम जो अपनी मंजूषा में रखोगे, वह मेरा नहीं होगा, तुम्हारा ही होगा।
कल रात आस्ट्रेलिया से आए एक मनोवैज्ञानिक ने संन्यास लिया। उस मनोवैज्ञानिक को मैंने कहा कि तुम संन्यास न लो, तो भी तुम्हारा स्वागत है। लेकिन तब तुम मेरे अतिथि न रहोगे। स्वागत तो तुम्हारा है। अगर तुम संन्यास ले लो तो भी स्वागत तुम्हारा है, पर तुम मेरे अतिथि भी हो गए। मुझसे लोग पूछते हैं कि "अगर हम संन्यास न लें तो क्या आपका प्रेम हम
पर कम रहेगा?" मेरा प्रेम तुम पर पूरा रहेगा। स्वागत है। लेकिन संन्यास लेते ही तुम अतिथि भी हो गए।
और बड़ा फर्क है। बिना संन्यास लिए तुम सुन रहे हो दूरी से; संन्यास लेकर तुम पास आ गए। बिना संन्यास लिए तुम सुन रहे हो, अपनी बुद्धि से विश्लेषण कर रहे हो, तुम छांट रहे हो मैं जो कह रहा हूं। उसमें जो तुम्हें मन-भाता है, वह रख लेते हो; जो मन नहीं भाता, वह छोड़ देते हो। और संभावना इसकी है कि जो तुम्हें मन नहीं भाता है वही काम पड़ने वाला है। क्योंकि तुम्हें जो मन-भाता है, वह तुम्हें बदल नहीं सकता। तुम्हें मन-भाता है, उसका अर्थ है तुम्हारे अतीत से मेल खाता है। जो तुम्हारे अतीत से मेल नहीं खाता, वही तुम्हारे भीतर क्रांति की किरण बनेगा। जो तुमसे मेल नहीं खाता वही तुम्हें रूपांतरित करेगा। जो तुमसे बिलकुल मेल खा जाता है, वह तुम्हें मजबूत करेगा, रूपांतरित नहीं करेगा। तो तुम चुन रहे हो। तुम सोचते हो तुम बुद्धिमान हो।
बुद्धिमान कभी-कभी बड़ी नासमझियां करते हैं। वे चुन रहे हैं बैठे। वे चुनते रहते हैं। अपने मतलब का जो है, वह सम्हाल लेंगे; जो अपने मतलब का नहीं, उससे हमें क्या लेना-देना!
लेकिन मैं तुमसे फिर कहता हूं: जो तुम्हें लगता है तुम्हारे मतलब का नहीं है, वही किसी दिन तुम्हारे काम पड़ेगा। आज तुम्हारे पास उसको समझने का भी कोई उपाय नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पास उसका कोई अनुभव नहीं है। लेकिन फिर भी मैं कहता हूं, सम्हाल कर रख लो। किसी दिन अनुभव जब आएगा, तो अचानक तुम्हारे अचेतन से उठेगी बात और हल कर जाएगी। तब तुम अवाक न रहोगे। तब तुम्हारा विस्मय तुम्हें तोड़ नहीं देगा। और तब तुम घबड़ा न जाओगे और बेचैनी न होगी।
ऊपर ही ऊपर,
जो हवा ने गाया
देवदारू ने दोहराया
जो हिम-चोटियों पर झलका
जो सांझ के आकाश से छलका
वह किसने पाया?
जिसने आयत करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया? आह, वह तो मेरे
दे दिए गए हृदय में उतरा
मेरे स्वीकारे आंसू में ढलका
वह अनजाना, अनपहचाना ही आया
वह इन सबके और मेरे माध्यम से
अपने में, अपने को लाया
अपने में समाया
अकेला वह तेजोमय है जहां
दीठ बेबस झुक जाती है
वाणी तो क्या, सन्नाटे तक की गूंज वहां चुक जाती है।

सुनो मुझे--गहन आंसुओं से! सुनो मुझे--हृदय से! सुनो मुझे--प्रेम से! बुद्धि से नहीं, तर्क से नहीं। वही श्रद्धा और निष्ठा का अर्थ है।
ऊपर ही ऊपर,
जो हवा ने गाया
जो देवदारू ने दोहराया
जो हिम-चोटियों पर झलका
जो सांझ के आकाश से छलका
वह किसने पाया?
क्या उसने, जिसने
आयत करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया?
नहीं! जहां आकांक्षा का हाथ बढ़ा, वहां तो हाथ बड़ा छोटा हो गया। आकांक्षा के हाथ में तो भिक्षा ही समाती है, साम्राज्य नहीं समाते। साम्राज्य समाने के लिए तो प्रेम से खुला हुआ हृदय चाहिए; भिक्षा का, वासना का पात्र नहीं।
वह किसने पाया?
जिसने आयत करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया?
तो तुम मुझे यहां ऐसे सुन सकते हो कि चलो, जो अपने मतलब का हो उसे उठा लें, अपनी झोली में सम्हाल लें। तो तुम आकांक्षा के हाथ से मेरे पास आ रहे हो। आकांक्षा तो भिक्षु है। तो तुम कुछ थोड़ा-बहुत ले जाओगे, लेकिन तुम जो ले जाओगे वे टेबल से गिरे रोटी के टुकड़े इत्यादि थे। तुम अतिथि न हो पाए। संन्यास तुम्हें अतिथि बना देता है।
आह, वह तो मेरे दे दिए गए
हृदय में उतरा!
आह, वह तो मेरे दे दिए गए
हृदय में उतरा।
मेरे स्वीकारे आंसू में ढलका
वह अनजाना-अनपहचाना ही आया वह इन सबके और मेरे माध्यम से अपने में, अपने को लाया
अपने में समाया
अकेला वह तेजोमय है जहां
दीठ बेबस झुक जाती है।
वहां आंख तो झुक जाती है।
वाणी तो क्या, सन्नाटे तक की गूंज
वहां चुक जाती है।
उसके लिए तैयारी करो। उसके लिए हृदय को प्रेम से भरो। उसके लिए सहानुभूति से सुनना सीखो। और मैं तुमसे जो कह रहा हूं, उसे मंजूषा में संजोओ। तो फिर बेचैनी न होगी। फिर वह उतरे अपरिचित, अनजान--तुम उसे समझ पाओगे। तुम उसके गूढ़ स्वर को समझ पाओगे। तुम उसके सन्नाटे में डूबोगे नहीं, घबड़ाओगे नहीं--मुक्त हो जाओगे। अन्यथा, वह मौत जैसा लगेगा। परमात्मा अगर बिना समझे हुए आ जाए, तुम्हारे पास अगर समझने का कोई भी उपाय न हो, तो मौत जैसा लगेगा कि मरे! अगर तुम्हारे पास समझने का थोड़ा उपाय हो, थोड़ी तैयारी हो, तुमने सदगुरुओं से कुछ सीखा हो, सत्संग किया हो--तो परमात्मा मोक्ष है, अन्यथा मृत्यु जैसा मालूम पड़ता है। और एक बार तुम घबड़ा गए तो तुम उस तरफ जाना बंद कर दोगे। एक बार तुम बहुत भयभीत हो गए, तो तुम्हारा रोआं- रोआं डरने लगेगा। तुम और सब जगह जाओगे, वहां न जाओगे जहां ऐसा भय है; जहां हाथ-पैर लड़खड?ा जाएं; जहां राह के किनारे बैठ जाना पड़े; जहां सब धूमिल हो जाए, सब खोता मालूम पड़े; कुछ अज्ञात, अनजाना शेष रहे और घबड़ाए और बेचैनी दे--फिर तुम वहां न जाओगे।
रवींद्रनाथ का गीत है कि मैं परमात्मा को खोजता था अनेक जन्मों से। बहुत खोजा, मिला नहीं। कभी-कभी दूर, बहुत दूर चांदत्तारों पर उसकी झलक दिखाई पड़ जाती थी। आशा बंधी रही, खोजता रहा। फिर एक दिन संयोग और सौभाग्य कि उसके द्वार पर पहुंच गया। तख्ती लगी थी--यही रहा घर भगवान का! चढ़ गया

सीढ़ियां एक छलांग में, जन्मों-जन्मों की यात्रा पूरी हुई थी। अहोभाग्य! हाथ में सांकल लेकर बजाने को ही था कि तब एक भय पकड़ा कि अगर वह मिल गया, तो फिर? फिर मैं क्या करूंगा? अब तक परमात्मा को खोजना ही तो मेरा कुल कृत्य था। अब तक इसी सहारे जीया। यही थी मेरी जीवनऱ्यात्रा। तो परमात्मा अगर मिल गया तो वह तो मृत्यु हो जाएगी। फिर मेरे जीवन का क्या? फिर मेरी यात्रा कहां? फिर कहां जाना है, किसको पाना है, क्या खोजना है? फिर तो कुछ भी न बचेगा। तो बहुत घबड़ा गया। छोड़ दी सांकल आहिस्ता से, कि कहीं आवाज न हो जाए, कहीं वह द्वार खोल ही न दे! जूते हाथ में ले लिए। भागा...तो तब से भाग रहा हूं।
अब भी खोजता हूं--रवींद्रनाथ ने लिखा है उस गीत में--अब भी खोजता हूं परमात्मा को; हालांकि मुझे पता है उसका घर कहां है। उस जगह को भर छोड़ कर सब जगह खोजता हूं; क्योंकि खोजना ही जीवन है। उस जगह भर जाने से बचता हूं। उस घर की तरफ भर नहीं जाता। वहां से किनारा काट लेता हूं। और सब जगह पूछता फिरता हूं, परमात्मा कहां है? और मुझे पता है कि परमात्मा कहां है।
मेरे देखे, बहुत लोग अनंत जन्मों की यात्रा में कई बार उस घर के करीब पहुंच गए हैं, लेकिन घबड़ा गए हैं। ऐसे घबड़ा गए कि सब भूल गया, वह घबड़ाहट नहीं भूली है अभी तक! इसीलिए लोग ध्यान करने को आसानी से उत्सुक नहीं होते। ध्यान वगैरह की बात से ही लोग डरते हैं, बचते हैं। परमात्मा शब्द का औपचारिक उपयोग कर लेते हैं, लेकिन परमात्मा को कभी जीवन की गहरी खोज नहीं बनने देते। मंदिर-मस्जिद हो आते हैं--सामाजिक औपचारिकता है, लोकाचार। जाना चाहिए, इसीलिए चले जाते हैं। लेकिन कभी मंदिर को, मस्जिद को हृदय में नहीं बसने देते। उतना खतरा मोल नहीं लेते। दूर-दूर रखते हैं परमात्मा को। उसका कारण होगा। कहीं किसी गहन अनुभव में, कहीं छिपी किसी गहरी स्मृति में कोई भय का अनुभव छिपा है। कभी लड़खड़ा गए होंगे उसके घर के पास।
अब जिन मित्र को यह अनुभव हुआ है, अगर वे ठीक से न समझें तो घबड़ाने लगेंगे। अब रास्ते पर ऐसा घबड़ा कर बैठ जाना, हाथ-पैर कंप जाना, हृदय का जोर से धड़कने लगना, श्वास का बेतहाशा चलने लगना, कुछ से कुछ हो जाए--ऐसे ध्यान से दूर ही रहना अच्छा! यह तो झंझट की बात है। फिर लौट आए तो ठीक; अगर न लौट पाए तो? अगर ऐसे ही बैठे रह जाएं रास्ते के किनारे तो लोग पागल समझ लेंगे। घड़ी-दो-घड़ी तो ठीक, फिर पुलिस आ जाएगी। फिर पास-पड़ोस के लोग कहेंगे कि अब इनको उठाओ, अस्पताल भेजो, क्या हो गया? चिकित्सक इंजेक्शन देने लगेंगे कि इनका होश खो गया, कि मस्तिष्क खराब हो गया?
मेरे एक मित्र ने लिखा है--संन्यासी हैं--कि यहां से गए तो नाचते हुए, आनंदित होकर गए। घर के लोगों ने कभी उन्हें नाचते और आनंदित तो देखा नहीं था। जब वे घर नाचते, आनंदित पहुंचे तो लोगों ने समझा पागल हो गए। घर के लोगों ने एकदम दौड़कर उन्हें पकड़ लिया कि बैठो, क्या हो गया तुमको? "अरे," उन्होंने कहा, "मुझे कुछ हुआ नहीं। मैं बड़ा प्रसन्न हूं, बड़ा आनंद में हूं।" वे जितने ज्ञान की बातें करें, घर के लोग उतने संदिग्ध हुए कि गड़बड़ हो गई। वे उन्हें घर से न निकलने दें। जबरदस्ती उनको अस्पताल में भरती करवा दिया। उनका पत्र आया है कि मैं पड़ा हंस रहा हूं यहां अस्पताल में। यह खूब मजा है! मैं दुखी था, मुझे कोई अस्पताल न लाया। अब मैं प्रसन्न हूं तो लोग मुझे अस्पताल ले आए हैं। मैं देख रहा हूं खेल। मगर वे समझते हैं कि मैं पागल हूं। और जितना वे मुझे समझते हैं कि पागल हूं, उतनी मुझे हंसी आती है। जितनी मुझे हंसी आती है, वे समझते हैं कि बिलकुल गए काम से!
ठीक हुआ जो पूछ लिया। घबड़ाना मत। यह अनुभव धीरे-धीरे शांत हो जाएगा। साक्षी-भाव रखना। ऐसा स्वाभाविक है।

तीसरा प्रश्न: हम ईश्वर-अंश हैं और अविनाशी भी। कृपया बताएं कि यह अंश मूल से कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा? और अंश का मूल से पुनर्मिलन, कभी न बिछुड़ने वाला मिलना संभव है या नहीं? यदि संभव है तो अंश को मूल में मिला देने की कृपा करें कि बार-बार इस कोलाहाल में आकर भयभीत न होना पड़े।

देखें फर्क! अभी एक प्रश्न था--वह अनुभव का था। यह प्रश्न शास्त्रीय है: "हम ईश्वर-अंश हैं और अविनाशी भी!"
यह तुम्हें पता है? सुन लिया, पढ़ लिया--और अहंकार को तृप्ति देता है-- मान भी लिया। इससे बड़ी अहंकार को तृप्ति देने वाली और क्या बात हो सकती है कि हम ईश्वर-अंश हैं? ईश्वर हैं, ब्रह्म हैं, अविनाशी हैं! यही तो तुम चाहते हो। यही तो अहंकार की खोज है। यही तो तुम्हारी गहरी से गहरी आकांक्षा है कि अविनाशी हो जाओ, ईश्वर-अंश हो जाओ, ब्रह्मस्वरूप हो जाओ, सारे जगत के मालिक हो जाओ!
"हम ईश्वर-अंश हैं और अविनाशी भी।"
ऐसा तुम्हें पता है? अगर तुम्हें पता है तो प्रश्न की कोई जरूरत नहीं। अगर तुम्हें पता नहीं है तो यह बात लिखना ही व्यर्थ है, फिर प्रश्न ही लिखना काफी है।
"कृपया बताएं कि यह अंश मूल से कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा?"
ये पांडित्य के प्रश्न हैं। कब?--समय, तारीख, तिथि चाहिए। क्या करोगे? अगर मैं तिथि भी बता दूं, उससे क्या अंतर पड़ेगा? संवत बता दूं, समय बता दूं कि ठीक सुबह छह बजे फलां-फलां दिन--उससे क्या फर्क पड़ेगा? उससे तुम्हारे जीवन में क्या क्रांति होगी, तुम्हें क्या मिलेगा?
"कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा?"
अगर तुम्हें पता है कि तुम ईश्वर-अंश हो तो तुम्हें पता होगा कि बिछुड़ा कभी भी नहीं। तुमने बिछुड़ने का सपना देखा। बिछुड़ा कभी भी नहीं, क्योंकि अंश बिछुड़ कैसे सकता है? अंश तो अंशी के साथ ही होता है। तुम्हें याद भूल गई हो; बिछुड़न नहीं हो सकती, विस्मृति हो सकती है। बिछुड़ने का तो उपाय ही नहीं है। हम जो हैं, वही हैं। चाहे हम भूल जाएं, विस्मरण कर दें, चाहे हम याद कर लें--सारा भेद विस्मृति और स्मृति का है।
"मूल से कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा?"
बिछुड़ा होता तो हम बता देते कि कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा। बिछुड़ा नहीं। रात तुम सोए, तुमने सपना देखा कि सपने में तुम घोड़े हो गए। अब सुबह तुम पूछो कि हम घोड़े क्यों, कैसे, कब हुए--बहुत मुश्किल की बात है। "क्यों घोड़े हुए?" हुए ही नहीं, पहली तो बात। हो गए होते तो पूछने वाला बचता? घोड़े तो नहीं पूछते। तुम कभी हुए नहीं; सिर्फ सपना देखा। सुबह जागकर तुमने पाया कि अरे, खूब सपना देखा! जब तुम सपना देख रहे थे तब भी तुम घोड़े नहीं थे, याद रखना। हालांकि तुम बिलकुल ही लिप्त हो गए थे इस भाव में कि घोड़ा हो गया। यही तो अष्टावक्र की मूल धारणा है।
अष्टावक्र कहते हैं: जिस बात से भी तुम अपने मैं-भाव को जोड़ लोगे, वही
हो जाओगे। देहाभिमान--तो देह हो गए। कहा "मैं देह हूं", तो देह हो गए। ब्रह्माभिमान--कहा कि मैं ब्रह्म हूं, तो ब्रह्म हो गए। तुम जिससे अपने मैं को जोड़ लेते हो, वही हो जाते हो। सपने में तुमने घोड़े से जोड़ लिया, तुम घोड़े हो गए। अभी तुमने शरीर से जोड़ लिया तो तुम आदमी हो गए। लेकिन तुम हुए कभी भी नहीं हो। हो तो तुम वही, जो तुम हो। जस-केत्तस! वैसे के वैसे! तुम्हारे स्वभाव में तो कहीं कोई अंतर नहीं पड़ा है।
इसलिए इस तरह के प्रश्न अर्थहीन हैं। और इस तरह के प्रश्न पूछने में समय मत गंवाओ। और इस तरह के प्रश्नों के जो उत्तर देते हैं, वे तुमसे भी ज्यादा नासमझ हैं।
झेन फकीर बोकोजू के जीवन में उल्लेख है: एक दिन सुबह उठा और उठकर उसने अपने प्रधान शिष्य को बुलाया और कहा कि सुनो, मैंने रात एक सपना देखा। उसकी तुम व्याख्या कर सकोगे?
उस शिष्य ने कहा कि रुकें। मैं थोड़ा पानी ले आऊं, आप हाथ-मुंह पहले धो लें।
वह मटकी में पानी भर लाया और गुरु का उसने हाथ-मुंह धुलवा दिया। वह हाथ-मुंह धुला रहा था, तभी दूसरा शिष्य पास से गुजरता था। गुरु ने कहा, सुनो! मैंने रात एक सपना देखा। तुम उसकी व्याख्या करोगे?

उसने कहा कि ठहरो, एक कप चाय ले लेना आपके लिए अच्छा रहेगा। वह एक कप चाय ले आया। गुरु खूब हंसने लगा। उसने कहा कि अगर तुमने व्याख्या की होती मेरे सपने की, तो मारकर बाहर निकाल देता।
सपने की क्या व्याख्या? अब देख भी लिया, जाग भी गए, अब छोड़ो पंचायत! शिष्यों ने बिलकुल ठीक उत्तर दिए। वह कसौटी थी। वह परीक्षा थी उनकी।
वह परीक्षा का क्षण आ गया था। एक शिष्य पानी ले आया कि आप हाथ-मुंह धो लें। सपना गया, अब मामला खत्म करें! अब और व्याख्या क्या करनी? सपना सपना था, बात खत्म हो गई; व्याख्या क्या करनी? व्याख्या सत्य की होती है, सपनों की थोड़े ही। झूठ की क्या व्याख्या हो सकती है? जो हुआ ही नहीं, उसकी क्या व्याख्या हो सकती है? इतना काफी है कि जान लिया सपना था, अब हाथ-मुंह धो लें। अब बाहर आ ही जाएं, जब आ ही गए।
दूसरे युवक ने भी ठीक किया कि चाय ले आया, कि हाथ-मुंह तो धुल गया लेकिन लगता है थोड़ी नींद बाकी है, आप ठीक से चाय पी लें, बिलकुल जाग जाएं। यही मैं तुमसे कहता हूं: हाथ-मुंह धो लो, चाय पी लो! तुम कभी अलग हुए नहीं। अलग होने का कोई उपाय नहीं है।
फिर पूछते हैं: "अंश का मूल से पुनर्मिलन, कभी न बिछुड़ने वाला मिलन संभव है या नहीं?"
जब तुम बिछुड़े ही नहीं तो मिलन की बात ही बकवास है। इसीलिए तो अष्टावक्र कहते हैं कि मुक्ति का अनुष्ठान मुक्ति का बंधन है। वे क्या कह रहे हैं? वे यह कह रहे हैं कि जिससे तुम कभी अलग ही नहीं हुए, उससे मिलने की योजना? तो हद हो गई पागलपन की! तो यह योजना ही तुम्हें मिलने न देगी।
थोड़ा सोचो! अगर तुम अपने घर के बाहर कभी गए ही नहीं, तो घर लौटने की चेष्टा तुम्हें जागने न देगी।
एक शराबी रात घर लौटा। ज्यादा पी गया। दरवाजे पर टटोलकर तो देखा, लेकिन समझ में न आया कि अपना मकान है। उसकी मां ने दरवाजा खोला, तो उसने कहा, हे बूढ़ी मां! मुझे मेरे घर का पता बता दें।
वह बूढ़ी कहने लगी, तू मेरा बेटा है, मैं तेरी मां हूं, पागल! यह तेरा घर है।
उसने कहा कि मुझे भरमाओ मत। मुझे भटकाओ मत। इतना मुझे पक्का है कि घर यहीं कहीं है, लेकिन कहां है?
मोहल्ले के लोग इकट्ठे हो गए। लोग समझाने लगे। अब शराबी को समझाने की जरूरत नहीं होती। शराबी को जो समझाएं वह भी शराब पीए है। वे समझाने लगे कि यही तेरा घर है। सिद्ध करने लगे, प्रमाण जुटाने लगे कि देख, यह देख। वे इतनी बात समझ ही नहीं रहे कि वह आदमी शराब पीए है, कहां प्रमाण! उसे न-मालूम क्या-क्या दिखाई पड़ रहा है, जिसकी तुम सोच भी नहीं कर सकते। जो तुम्हें दिखाई पड़ रहा है उसे दिखाई पड़ ही नहीं रहा है। वह किसी दूसरे लोक में है। वह अपनी मां को नहीं पहचान रहा है, क्या खाक अपने घर को पहचानेगा! वह अपने को नहीं पहचान रहा है, वह क्या किसी और को पहचानेगा!
उसके पीछे एक दूसरा शराबी आया। वह अपनी बैलगाड़ी जोते चला आ रहा था। तो उसने कहा कि तू मेरी बैलगाड़ी में बैठ, मैं तुझे पहुंचा दूंगा तेरे घर। उसने कहा कि यह आदमी ठीक मालूम होता है। सदगुरु मिल गये! ये सब तो नासमझ थे। हम पूछते हैं, हमारा घर कहां है, बस वे एक ही रट लगाए हुए हैं कि यही तेरा घर है! हम क्या अंधे हैं? यह आदमी सदगुरु है!
तुम ध्यान रखना। तुम गलत प्रश्न पूछोगे, तुम गलत गुरुओं के जाल में पड़ जाओगे। एक बार तुमने गलत प्रश्न पूछा तो कोई न कोई गलत उत्तर देने वाला मिल ही जाएगा। यह जीवन का नियम है। पूछो कि उत्तर देना वाला तैयार है। सच तो यह है कि तुम न पूछो तो उत्तर देने वाले तैयार हैं। वे तुम्हें खोज ही रहे हैं। इस तरह के प्रश्न पूछकर तुम केवल उलझनों में अपने को डालने का आयोजन करते हो।
"क्या पुनर्मिलन संभव है?"
बिछुड़न हुई ही नहीं, विदा कभी ली ही नहीं--पुनर्मिलन की बात ही क्या करनी?

और फिर पूछते हैं कि "क्या न बिछुड़ने वाला मिलन संभव है?" कहीं ऐसा न
हो कि मिलन हो और फिर बिछुड़ जाएं!
ये सारी बातें सार्थक मालूम पड़ती हैं, क्योंकि हमें याद ही नहीं कि हम कौन हैं?
परमात्मा अगर भिन्न हो तो ये बातें सब सच हैं। परमात्मा तुम्हारा स्वभाव है। स्वभाव को भूल सकते हैं हम। यह भी हमारे स्वभाव में है कि हम स्वभाव को भूल सकते हैं।
एक मित्र ने पूछा है कि अगर आत्मा शुद्ध-बुद्ध है और आत्मा अगर मुक्त
है और आत्मा अगर असीम ऊर्जा है, परम स्वतंत्रता है--तो फिर वासना का जन्म कैसे हुआ?
यह भी आत्मा की स्वतंत्रता है कि अगर वासना करना चाहे तो कर सकती है। अगर आत्मा वासना न कर सके तो परतंत्र हो जाएगी। थोड़ा सोचो!
संसार तुम्हारी स्वतंत्रता है; तुमने चाहा तो हो गया। तुम्हारी चाह मुक्त है। तुम चाहो तो अभी न हो जाए। तुम चाहो तो अभी फिर हो जाए।
तो मैं तुमसे यह नहीं कह सकता कि न बिछुड़ने वाला मिलन कैसे होगा। बिछुड़न तो कभी हुई नहीं है, लेकिन आत्मा की यह परम स्वतंत्रता है कि वह जब चाहे जिस चीज को भूल जाए, और जिस चीज को चाहे याद कर ले। अगर आत्मा की यह संभावना न हो तो आत्मा सीमित हो जाएगी; उसकी मुक्ति बंधित हो जाएगी; उस पर आरोपण हो जाएगा, उपाधि हो जाएगी।
पश्चिम में एक विचारक हुआ: दिदरो। उसने सिद्ध किया है कि ईश्वर पूर्ण शक्तिमान नहीं है, सर्व शक्तिमान नहीं है। उसने तर्क जो दिए हैं, वे ऐसे हैं कि लगेगा कि बात ठीक कह रहा है। जैसे वह कहता है, "क्या ईश्वर दो और दो के जोड़ से पांच बना सकता है?" यह अपने को भी अड़चन मालूम होती है कि दो और दो से पांच ईश्वर भी कैसे बनाएगा? तो फिर सर्वशक्तिवान कैसा? दो और दो चार ही होंगे। "क्या ईश्वर एक त्रिकोण में चार कोण बना सकता है?" कैसे बनाएगा? चार कोण बनाएगा तो वह त्रिकोण नहीं रहा। त्रिकोण रहेगा तो चार कोण बन नहीं सकते उसमें। "तो सीमित हो गया ईश्वर।"
ईसाइयों की जो ईश्वर के बाबत धारणा है, उसको तो दिदरो ने झकझोर दिया। लेकिन अगर दिदरो को भारतीयों की धारणा पता होती तो मुश्किल में पड़ जाता। वे कहते कि यही तो सारा उपद्रव है कि ईश्वर की स्वतंत्रता ऐसी है कि दो और दो पांच बना देता है, दो और दो तीन बना देता है। इसी को तो हम माया कहते हैं, जिसमें दो और दो पांच हो जाते हैं, दो और दो तीन हो जाते हैं। जब दो और दो चार हो गए, माया के बाहर हो गए।
यहां त्रिकोण चतुर्भुज जैसे बैठे हैं। यहां बड़ा धोखा चल रहा है। यहां कोई कुछ समझे है, कोई कुछ समझे है। जो जैसा है, वैसे भर का पता नहीं रहा । दो और दो चार नहीं रहे, एक बात पक्की है; और सब हो गया है। इसको ही हम माया कहते हैं।
माया को हमने परमात्मा की शक्ति कहा है। तुमने कभी सोचा है, इसका क्या अर्थ होता है? माया को हमने परमात्मा की शक्ति कहा है! इसका अर्थ हुआ कि अगर परमात्मा चाहे तो अपने को भ्रम देने की भी शक्ति उसमें है; नहीं तो सीमित हो जाएगा। वह परमात्मा भी क्या परमात्मा जो सपना न देख सके? तो उतनी सीमा हो जाएगी कि सपना देखने में असमर्थ है।
नहीं, परमात्मा सपना देख सकता है। तुम सपना देख रहे हो। तुम परमात्मा हो, जो सपना देख रहा है। जाग सकते हो, सपना देख सकते हो--और यह क्षमता तुम्हारी है। इसलिए तुम जब चाहो तब सपना देख सकते हो, और तुम तब चाहो तब जाग सकते हो। यह तुम्हारी मर्जी है कि तुम अगर जागे ही रहना चाहो तो तुम जागे ही रहोगे; तुम अगर सपने में ही रहना चाहो तो तुम सपना देखते रहोगे। मनुष्य की स्वतंत्रता अबाध है। आत्मा की शक्ति अबाध है। सत्य और स्वप्न--आत्मा की दो धाराएं हैं। उन दो धाराओं में सब समाविष्ट है।
तुम पूछते हो कि क्या पुनर्मिलन संभव है?
पहले तो "पुनर्मिलन" कहो मत। पुनर्स्मरण कहो, तो तुमने ठीक शब्द उपयोग किया।
फिर तुम पूछते हो कि "क्या न बिछुड़ने वाला...?"

उसकी गारंटी मैं नहीं दे सकता। क्योंकि वह तुम्हारे ऊपर निर्भर है, तुम्हारी मर्जी। तुम अगर उसे छोड़ना चाहो, भूलना चाहो, तो तुम्हें कोई भी रोक नहीं सकता।
तुम उसे याद करना चाहो तो तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। और इससे तुम परेशान मत होना। इससे तो तुम अहोभाव मानना कि तुम्हारी स्वतंत्रता कितनी है, कि तुम परमात्मा तक को भूलना चाहो तो कोई बाधा नहीं है। परमात्मा जरा भी अड़चन तुम्हें देता नहीं। तुम अगर उसके विपरीत जाना चाहो तो भी कोई बाधा नहीं। वह तब भी तुम्हारे साथ है। तुम तब विपरीत जाना चाहते हो, तब भी तुम्हें शक्ति दिए चला जाता है।
सूफी फकीर हसन ने लिखा है कि मैंने एक रात परमात्मा से पूछा, कि इस गांव में सबसे श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुष कौन है? तो परमात्मा ने मुझे कहा कि वही जो तेरे पड़ोस में रहता है।
उस पर तो कभी हसन ने खयाल ही न दिया था। वह तो बड़ा सीधा-सादा आदमी था। सीधे-सादे आदमियों को कोई खयाल देता है! खयाल तो उपद्रवियों पर जाता है। सीधा-सादा आदमी था, चुपचाप रहता था, साधारण आदमी था, अपनी मस्ती में था--न किसी से लेना न देना। किसी ने खयाल ही न दिया था। हसन ने कहा, यह आदमी सबसे बड़ा पुण्यात्मा!
दूसरे दिन सुबह गौर से देखा तो लगा कि बड़ी प्रभा है इस आदमी की! दूसरी रात उसने फिर परमात्मा से कहा कि अब एक प्रश्न और। यह तो अच्छा हुआ, आपने बता दिया। पूजा करूंगा इस पुरुष की। नमन करूंगा इसे। यह मेरा गुरु हुआ। अब एक बात और बता, इस गांव में सबसे बुरा कौन आदमी है जिससे मैं बचूं? परमात्मा ने कहा, वही तेरा पड़ोसी।
उसने कहा, यह जरा उलझन की बात है।
तो परमात्मा ने कहा, मैं क्या करूं? कल रात वह अच्छे भाव में था, आज बुरे भाव में। मैं कुछ कर सकता नहीं। कल सुबह मैं कह नहीं सकता कि क्या हालत होगी। वह फिर अच्छे भाव में आ सकता है।
आत्मा परम स्वतंत्र है। उस पर कोई बंधन नहीं है। इस परम स्वतंत्रता
को ही हम मोक्ष कहते हैं। मोक्ष में यह बात समाविष्ट है कि तुम चाहो भूलना तो तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। वह मोक्ष भी क्या मोक्ष होगा, जिसके तुम बाहर निकलना चाहो और निकल न सको?
मैंने सुना है कि एक ईसाई पादरी मरा। स्वर्ग पहुंचा, तो वह बड़ा हैरान हुआ। कई लोग उसने देखे कि जंजीरों में, बेड़ियों में बंधे पड़े हैं। उसने कहा, यह मामला क्या है? स्वर्ग में और जंजीरें-बेड़ियां!
उन्होंने कहा, ये वापिस--ये अमरीकन हैं--वापिस अमरीका जाना चाहते हैं।
ये कहते हैं, वहीं ज्यादा मजा था। इनको हथकड़ियां डालनी पड़ी हैं, क्योंकि यह तो स्वर्ग की तौहीन हो जाएगी। ये कहते हैं, "स्वर्ग में हमें रहना नहीं; हमें वापिस अमरीका जाना है। वहां ज्यादा मजा था। इन अप्सराओं से बेहतर स्त्रियां वहां थीं। शराब! इससे बेहतर शराब वहां थी। मकान! इससे ऊंचे मकान वहां थे। यह भी तुम कहां के पुराने जमाने के मकानों को लेकर बैठे हो?"
अब स्वर्ग के मकान हैं, दकियानूसी हैं; समय के बिलकुल बाहर पड़ गए हैं। उनके इंजीनियर, उनके आर्किटेक्ट...दस-पच्चीस हजार साल पहले बनाए थे, वह चल रहा है।
"वे कहते हैं, हमें अमरीका जाना है। तो इनको हमें बांध कर रखना पड़ा है। अगर ये भाग जाएं और अमरीका पहुंच जाएं, तो स्वर्ग की बड़ी तौहीन होगी। फिर स्वर्ग कोई आना कैसे चाहेगा?"
लेकिन स्वर्ग क्या रहा अगर वहां हथकड़ियां डली हों? इससे तो फिर नरक बेहतर; कम से कम हथकड़ियां तो नहीं हैं। एक बात ध्यान रखना, स्वतंत्रता यानी स्वर्ग। मुक्ति यानी मोक्ष। तुम अपनी स्वतंत्रता से जहां हो, वहीं मुक्ति है। और यह अंतिम घटना है। यह अंतिम बेशर्त बात है। इसके ऊपर कोई शर्त नहीं है।
तो अगर किसी मुक्त आत्मा की मर्जी हो जाए कि फिर वापिस लौटना है संसार में, तो कोई रोक सकता नहीं। लौटती नहीं मुक्त आत्माएं, यह दूसरी बात है।

लेकिन अगर कोई मुक्त आत्मा लौटना ही चाहे तो कोई रोक सकता नहीं। क्योंकि कौन रोकेगा? और अगर कोई रोक ले तो मुक्त आत्मा मुक्त कहां रही?
तुम निकलने लगे स्वर्ग के दरवाजे से। उन्होंने कहा, "रुको! बाहर न जाने देंगे। यह स्वर्ग है, कहां जा रहे हो?"--यह स्वर्ग इसी क्षण समाप्त हो गया।
मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि मुक्त आत्माएं लौटती हैं। मैं यह कहता हूं कि लौटना चाहें तो कोई रोक नहीं सकता। इसलिए मैं तुम्हें गारंटी नहीं दे सकता। तुम अगर लौटना चाहो तो मैं क्या करूंगा? तुम अगर परमात्मा को भूलना चाहो तो मैं क्या करूंगा? मैं सिर्फ तुम्हारी पूर्ण मुक्ति की घोषणा करता हूं।
"यदि संभव हो तो अंश को मूल से मिला देने की कृपा करें!"
बहुत सस्ते में तुम्हारा इरादा है। तुम यह कह रहे हो कि तुम तो मिलना नहीं चाहते, कोई मिला देने की कृपा करे। यह कैसे होगा? अगर तुम मिलना चाहते हो तो ही मिलना हो सकता है। यह तुम्हारी ही चाहत, यह तुम्हारा ही संकल्प, तुम्हारी ही आकांक्षा होगी, अभीप्सा होगी--तो...। कोई और तुम्हें नहीं मिला सकेगा। जबर्दस्ती मोक्ष में ले जाने का कोई उपाय नहीं है--न बाहर न भीतर। तुम अपनी मर्जी से जाते हो।
और अगर मैं किसी तरह मिला भी दूं तो तुम फिर छूट जाओगे। क्योंकि वह बाहर से लाई हुई घटना तुम्हारी आत्मा का संबंध न बन पाएगी। वह जबर्दस्ती होगी। यह हो नहीं सकता। अन्यथा एक ही बुद्धपुरुष सारी दुनिया को मुक्त कर देता। एक बुद्धपुरुष काफी था। वह सबको मुक्त कर देता, सबको मिला देता। कोई बुद्धपुरुषों की करुणा में कमी है? नहीं, उनकी करुणा में कोई कमी नहीं। लेकिन तुम्हारी मर्जी के खिलाफ कुछ भी नहीं हो सकता। और तुम्हारी मर्जी हो तो अभी हो सकता है, इसी क्षण हो सकता है। सुखी भव! अभी हो जाओ!
और यह दूसरे से आकांक्षा रखना कि कोई तुम्हें मिला दे परमात्मा से, यही संसार में लौटने का उपाय है। दूसरे की आकांक्षा ही संसार में लौटने का उपाय है। कोई दूसरा सुख दे, कोई दूसरा प्रेम दे, कोई दूसरा आदर दे--वही पुरानी आदत अब कहती है, कोई दूसरा मुक्त करवा दे, परमात्मा से मिला दे--मगर दूसरा!
तुम कब तक कमजोर, निर्बल, नपुंसक बने रहोगे? कब तुम जागोगे अपने बल के प्रति? कब तुम अपने वीर्य की घोषणा करोगे? कब तुम अपने पैरों पर खड़े होओगे? कभी पत्नी के कंधे पर झुके रहे, कभी सत्ताधिकारियों के कंधे पर झुके रहे, कभी नेताओं के कंधों पर झुके रहे।
मैंने सुना है, दिल्ली के पास कुछ मजदूर सड़क पर काम करने भेजे गए। वे वहां पहुंच तो गए, लेकिन पहुंच कर पता चला कि अपने फावड़े भूल आए, कुदालियां-फावड़े नहीं लाए। उन्होंने वहां से फोन किया इंजीनियर को, कि कुदाली-फावड़े हम भूल आए हैं, तत्काल भेजो।
उन्होंने कहा, भेजते हैं, तब तक तुम एक-दूसरे के कंधे पर झुके रहो।
मजदूर करते ही यही काम हैं। कुदाली-फावड़ा लेकर उस पर झुककर खड़े रहते हैं--विश्राम का सहारा। उस इंजीनियर ने कहा, मैं भेजता हूं जितनी जल्दी हो सके; तब तक तुम ऐसा करो, एक-दूसरे के कंधे पर झुके रहो।
हम झुके हैं--कंधे बदल लेते हैं। फिर इन सबसे छुटकारा हुआ तो गुरु का कंधा, कि अब कोई गुरु लगा दे पार, कि चलो तुम्हीं तारणत्तरण, तुम्हीं पार लगा दो!
तुम अपनी घोषणा, अपने स्वत्व की घोषणा कब करोगे? तुम्हारी स्वत्व की घोषणा में ही तुम्हारे स्वभाव की संभावना है--फूलने की, खिलने की। यह कब तक तुम शरण गहोगे? कब तक तुम भिखारी रहने की जिद बांधे बैठे हो? परमात्मा भी भिक्षा में मिल जाए! जागो इस तंद्रा से!
"ऐसी कृपा करें कि बार-बार इस कोलाहल में आकर भयभीत न होना पड़े।"
इस कोलाहल में तुम आना चाहते हो, इसलिए आते हो। और मजा यह है कि तुमको अगर एकांत में रखा जाए तो तुम भयभीत वहां भी हो जाओगे। कौन तुम्हें रोक रहा है? भाग जाओ हिमालय, बैठ जाओ एकांत में। वहां एकांत का डर लगेगा, भाग आओगे कोलाहल में वापिस। कोलाहल में हम इसलिए रह रहे हैं कि एकांत में डर

लगता है, अकेले रह नहीं सकते। भीड़ में बुरा लगता है। बड़ा मुश्किल है मामला। न अकेले रह सकते, न भीड़ में रह सकते।
तुमने कभी देखा, जब तुम अकेले छूट जाते हो तो क्या होता है। अंधेरी रात में अकेले हो जंगल में, क्या होता है? आनंद आता है?
कोलाहल में ज्यादा बेहतर लगता है। कोई मिल जाए, कोई बातचीत हो जाए! अकेले में तुम बहुत घबड़ाने लगते हो कि मरे। अकेले में तो मौत लगती है। परमात्मा में डूबोगे तो बिलकुल अकेले रह जाओगे, क्योंकि दो परमात्मा नहीं हैं दुनिया में--एक परमात्मा है। डूबे कि अकेले हुए। परमात्मा में डूबे कि तुम तुम न रहे, परमात्मा परमात्मा न रहा--बस एक ही बचा। इसलिए तो ध्यान की तैयारी करनी पड़ती है, ताकि तुम एकांत का थोड़ा रस लेने लगो। इसके पहले कि परम एकांत में उतरो, एकांत में थोड़ा आनंद आने लगे, धुन बजने लगे, गीत गूंजने लगे। एकांत में रस आने लगे तो फिर तुम परम एकांत में उतर सकोगे। यह अभ्यास है परमात्मा को झेलने का।
अगर तुम मुझसे पूछो तो मैं कहूंगा कि ध्यान परमात्मा को पाने की प्रक्रिया नहीं। परमात्मा तो बिना ध्यान के भी पाया जा सकता है। ध्यान परमात्मा को झेलने का अभ्यास। ध्यान पात्रता देता है कि तुम झेल सको। परम एकांत उतरेगा तो फिर तुम बिलकुल अकेले रह जाओगे। फिर न रेडियो, न टेलीविजन, न अखबार, न मित्र, न क्लब, न सभा-समाज--कुछ भी नहीं; बिलकुल अकेले रह जाओगे। उस अकेले की तैयारी है।
मैं तो तैयार हूं, तुम्हें कोलाहल के बाहर ले चलूं; लेकिन तुम तैयार हो? तुम अकेले में भी बैठते हो तो तुम्हारे सिर में कोलाहल चलाने लगते हो। जिन मित्रों को घर छोड़ आए हो, उनसे सिर में बात करने लगते हो। जिस पत्नी को घर छोड़ आए, उससे सिर में बात करने लगते हो। सारी भीड़ फिर इकट्ठी कर लेते हो। कल्पना का जाल बुनने लगते हो। अकेले तुम रह ही नहीं सकते। इसलिए तो तुम बार-बार लौट आते हो।
संसार में तुम अकारण नहीं लौट रहे हो। संसार में तुम अपने ही कारण लौट रहे हो। यह कोलाहल तुमने चाहा है, इसलिए तुम्हें मिला है।
आदमी की हयात कुछ भी नहीं
बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।
आदमी की हयात कुछ भी नहीं
आदमी की जिंदगी कोई जिंदगी थोड़ी है। जिंदगी तो परमात्मा की है।
बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।
आदमी तो बेबात की बात है।
वह कल मुल्ला नसरुद्दीन जो गिर पड़ा था बिस्तर से--बेबात की बात है।
लड़का हुआ नहीं था, उसके लिए जगह बना रहे थे। उसमें गिरे, टांग टूट गई।
एक अदालत में मुकदमा था। दो आदमियों ने एक-दूसरे का सिर खोल दिया।
मजिस्ट्रेट ने पूछा, मामला क्या है? वे दोनों बड़े सकुचाए। उन्होंने कहा, मामला क्या बताएं! मामला बताने में बड़ा संकोच होता है। आप तो जो सजा देना हो दे दो।
उसने कहा, फिर मामला भी तो पता चले। सजा किस को दे दें?
तो वे दोनों एक-दूसरे की तरफ देखें कि तुम्हीं कह दो। फिर मजबूरी में
जब मजिस्ट्रेट नाराज होने लगा कि कहते हो या नहीं, तो फिर उन्होंने बताया कि मामला ऐसा है, हम दोनों मित्र हैं। बैठे थे नदी के किनारे रेत पर। यह मित्र कहने लगा कि मैं एक भैंस खरीद रहा हूं। मैंने कहा, भैंस मत खरीदो, क्योंकि मैं एक खेत खरीद रहा हूं; और तुम्हारी भैंस खेत में घुस जाए तो अपनी जिंदगी भर की दोस्ती खराब हो जाए।
इसने कहा: जा, जा! तेरे खेत के खरीदने से हम अपनी भैंस न खरीदें? तू खेत
मत खरीद! और फिर भैंस तो भैंस है--यह कहने लगा--अब घुस ही गई तो घुस ही गई। अब कोई भैंस के पीछे हम दिन भर थोड़े ही खड़े रहेंगे। और ऐसी दोस्ती क्या मूल्य की कि हमारी भैंस तुम्हारे खेत में घुस जाए और इससे ही तुम्हें अड़चन हो जाए।
तो मैं भी रोब में आ गया और मैंने कहा, तो अच्छा खरीद लिया खेत, तू दिखा खरीद कर भैंस। तो मैंने ऐसा जमीन पर रेत पर, लकड़ी से खेत बना दिया कि यह रहा

खेत और इस मूरख ने एक दूसरी लकड़ी से भैंस घुसा दी। झगड़ा हो गया, मारपीट हो गई! अब आपसे क्या कहें! आप सजा दे दो। कहने में संकोच होता है।
आदमी की हयात कुछ भी नहीं
बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।
तूने सब कुछ दिया है इन्सां को
फिर भी इन्सां की जात कुछ भी नहीं।
इस्तिराबे-दिलो-जिगर के सिवा
शौक की वारिदात कुछ भी नहीं।
हुस्न की कायनात सब कुछ है
इश्क की कायनात कुछ भी नहीं।
आदमी पैरहन बदलता है।
यह हयातो-मयात कुछ भी नहीं।
आदमी सिर्फ कपड़े बदलता है। न तो जिंदगी कुछ है, न मौत कुछ है।
आदमी पैरहन बदलता है।
यह हयातो-मयात कुछ भी नहीं।
आदमी की हयात कुछ भी नहीं
बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।
इतना तुम्हें समझ में आ जाए कि तुम बेबात की बात हो, कि तुम्हें सब समझ में आ गया।

आखिरी प्रश्न: कब से आपको पूछना चाहती हूं। कृपया आप ही बताएं कि क्या पूछूं? मेरे प्रणाम स्वीकार करें!

पूछा है "दुलारी" ने। निश्चित यह बात है। वर्षों से मैं उसे जानता हूं। उसने कभी कुछ पूछा नहीं। बहुत थोड़े लोग हैं जिन्होंने कभी कुछ न पूछा हो। यह पहली दफे उसने पूछा, यह भी कुछ पूछा नहीं है:
"कब से आपसे पूछना चाहती हूं। कृपया आप ही बताएं कि क्या पूछूं?"
जीवन का वास्तविक प्रश्न ऐसा है कि पूछा नहीं जा सकता। जो प्रश्न तुम पूछ सकते हो, वह पूछने योग्य नहीं। जो तुम नहीं पूछ सकते, वही पूछने योग्य है। जीवन का वास्तविक प्रश्न शब्दों में बांधा नहीं जा सकता। जीवन का प्रश्न तो केवल सूनी आंखों से, जिज्ञासा-भरी आंखों से निवेदित किया जा सकता है। जीवन का प्रश्न तो अस्तित्वगत है; तुम्हारी पूरी भाव-दशा से प्रगट होता है।
दुलारी को मैं जानता हूं। उसने कभी पूछा नहीं, लेकिन उसका प्रश्न मैंने सुना है। उसका प्रश्न उसका भी नहीं है, क्योंकि जो तुम पूछते हो वह तुम्हारा होता है। जो तुम पूछ ही नहीं सकते, वह सबका है।
हम सबके भीतर एक ही प्रश्न है। और वह प्रश्न है कि यह सब हो रहा है, यह
सब चल रहा है और फिर भी कुछ सार मालूम नहीं होता! यह दौड़-धूप, यह आपा-धापी-- फिर भी कुछ अर्थ दिखाई नहीं पड़ता। इतना पाना, खोना--फिर भी न कुछ मिलता मालूम पड़ता है, न कुछ खोता मालूम पड़ता है। जन्म-जन्म बड़ी यात्रा, मंजिल कहीं दिखाई नहीं पड़ती। हम हैं--क्यों हैं? यह हमारा होना क्या है? हम कहां जा रहे हैं और क्या हो रहा है? हमारा अर्थ क्या है? इस संगीत का प्रयोजन क्या है?
सभी के भीतर दबा पड़ा हुआ है अस्तित्व का प्रश्न, कि अस्तित्व का अर्थ क्या है? और इसके लिए कोई शब्दों में उत्तर भी नहीं है। जो प्रश्न ही शब्दों में नहीं बनता, उसका उत्तर भी शब्दों में नहीं हो सकता।
यह जो भीतर है हमारे--कहो साक्षी, द्रष्टा, जीवन की धारा, चैतन्य, जो भी नाम चाहो; ऐसे तो अनाम है, तुम जो भी नाम देना चाहो दो--परमात्मा, मोक्ष, निर्वाण, आत्मा, अनात्मा, जो तुम कहना चाहो--पूर्ण, शून्य, जो भी यह भीतर है अनाम--इसमें डूबो! इसमें डूबने से ही प्रश्न धीरे-धीरे विसर्जित हो जाएगा। उत्तर मिलेगा, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूं; सिर्फ प्रश्न विसर्जित हो जाएगा। और प्रश्न के विसर्जित हो जाने पर तुम्हारी जो चैतन्य की दशा होती है वही उत्तर है। उत्तर मिलेगा, ऐसा मैं नहीं कह रहा। निष्प्रश्न जब तुम हो जाते

हो तो जीवन में आनंद है, मंगल है, शुभाशीष बरसता है। तुम नाचते हो, तुम गुनगुनाते हो। समाधि फलती है। फिर तुम कुछ पूछते नहीं। फिर कुछ पूछने को है ही नहीं। फिर जीवन एक प्रश्न की तरह मालूम नहीं होता; फिर जीवन एक रहस्य है। समस्या नहीं, जिसका समाधान करना है; एक रहस्य है, जिसे जीना है, जिसे नाचना है, जिसे गाना है; एक रहस्य, जिसका उत्सव मनाना है।
भीतर उतरो। शरीर के पार, मन के पार, भाव के पार--भीतर उतरो!
जान सके न जीवन भर हम
ममता कैसी, प्यार कहां
और पुष्प कहां पर महका करता?
जान सके न जीवन भर हम
ममता कैसी, प्यार कहां
और पुष्प कहां पर महका करता?
गंध तो आती मालूम होती है--कहां से आती है? जीवन है, इसकी छाया तो पड़ती है; पर इसका मूल कहां है? प्रतिबिंब तो झलकता है, लेकिन मूल कहां? प्रतिध्वनि तो गूंजती है पहाड़ों पर, लेकिन मूल ध्वनि कहां है?
जान सके न जीवन भर हम
ममता कैसी, प्यार कहां
और पुष्प कहां पर महका करता?
मिली दुलारी आहों की
और हास मिला है शूलों का
जान सके न जीवन भर हम
सौरभ कैसा, पराग कहां
और मेघ कहां पर बरसा करता?
पर मेघ बरस रहा है--तुम्हारे ही गहनतम अंतस्तल में। फूल महक रहा है-- तुम्हारे ही गहन अंतस्तल में। कस्तूरी कुंडल बसै! यह जो महक तुम्हें घेर रही है और प्रश्न बन गई है--कहां से आती है? यह महक तुम्हारी है; यह किसी और की नहीं। इसे अगर तुमने बाहर देखा तो मृग-मरीचिका बनती है; माया का जाल फैलता है; जन्मों-जन्मों की यात्रा चलती है। जिस दिन तुमने इसे भीतर झांक कर देखा, उसी दिन मंदिर के द्वार खुल गए। उसी दिन पहुंच गए अपने सुरभि के केंद्र पर। वहीं है प्रेम, वहीं है प्रभु!
मन उलझाए रखता है बाहर। मन कहता है: चलेंगे भीतर, लेकिन अभी थोड़ी देर और।
किसी कामना के सहारे
नदी के किनारे
बड़ी देर से
मौन धारे खड़ा हूं अकेला।
सुहानी है गोधूलि-बेला
लगा है उमंगों का मेला।
यह गोधूलि-बेला का हलका धुंधलका मेरी सोच पर छा रहा है।
मैं यह सोचता हूं,
मेरी सोच की शाम भी हो चली है। बड़ी बेकली है।
मगर जिंदगी में
निराशा में भी एक आशा पली है
मचल ले अभी कुछ देर और ऐ दिल!
सुहाने धुंधलके से हंस कर गले मिल
अभी रात आने में काफी समय है!
मन समझाए चला जाता है; थोड़ी देर और, थोड़ी देर और--भुला लो अपने को सपनों में; थोड़ी देर और दौड़ लो मृग-मरीचिकाओं के पीछे। बड़े सुंदर सपने हैं! और फिर अभी मौत आने में तो बहुत देर है।

इसलिए तो लोग सोचते हैं, संन्यास लेंगे, प्रार्थना करेंगे, ध्यान करेंगे--बुढ़ापे में, जब मृत्यु द्वार पर आकर खड़ी हो जाएगी। जब एक पैर उतर चुकेगा कब्र में तब हम एक पैर ध्यान के लिए उठाएंगे।
मचल ले अभी कुछ देर और ऐ दिल!
सुहाने धुंधलके से हंस कर गले मिल
अभी रात आने में काफी समय है।
ऐसे हम टाले चले जाते हैं। रात आती चली जाती है। काफी समय नहीं है, रात
आ ही गई है। बहुत बार हमने ऐसे ही जन्म और जीवन गंवाया, मौत की हम प्रतीक्षा करते रहे--मौत आ गई, ध्यान आने के पहले। एक जीवन फिर खराब गया। एक अवसर फिर व्यर्थ हुआ। अब इस बार ऐसा न हो। अब टालो मत! यह गंध तुम्हारी अपनी है। यह जीवन तुम्हारे भीतर ही छिपा है। घूंघट भीतर के ही उठाने हैं। प्रश्न कहीं बाहर पूछने का नहीं है। उत्तर कहीं से बाहर से आने को नहीं है। जहां से प्रश्न उठ रहा है भीतर, वहीं उतर चलो। प्रश्न भी साफ नहीं है, फिक्र मत करो। जहां यह गैर-साफ धुंधलका है प्रश्न का, वहीं उतरो। उसी संध्या से भरी रोशनी में, धुंधलके में धीरे-धीरे भीतर उतरो। जहां से प्रश्न आ रहा है, उसी की खोज करो। प्रश्न की बहुत फिक्र मत करो कि प्रश्न क्या है--इतनी ही फिक्र करो कि कहां से आ रहा है? अपने ही भीतर उस तल को खोजो, उस गहरे तल को, जहां से प्रश्न का बीज उमगा है, जहां से प्रश्न के पत्ते उठे हैं। वहीं जड़ है और वहीं तुम उत्तर पाओगे।
उत्तर का अर्थ यह नहीं कि तुम्हें कोई बंधा-बंधाया उत्तर, निष्कर्ष वहां मिल जाएगा। उत्तर का अर्थ: वहां तुम्हें जीवन का अहोभाव अनुभव होगा। वहां जीवन एक समस्या नहीं रह जाता, उत्सव बन जाता है।
एक चिकना मौन
जिसमें मुखर, तपती वासनाएं
दाहक होतीं, लीन होती हैं।
उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद
ऋत विज्ञप्त होता है!
एक चिकना मौन
जिसमें मुखर, तपती वासनाएं
दाहक होतीं, लीन होती हैं।
नहीं, भीतर एक मौन, एक शांति, जिसमें सारी वासनाओं का ताप धीरे-धीरे खो जाता और शांत हो जाता है। उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद--फिर कोई स्वर सुनाई नहीं देते, सिर्फ छंद गूंजता है--शब्दहीन, स्वरहीन छंद। शुद्ध छंद गूंजता है।
उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद
ऋत विज्ञप्त होता है!
वहीं जीवन का सत्य प्रगट होता है--ऋत विज्ञप्त होता है।
एक काले घोल की-सी रात
जिसमें रूप, प्रतिमा, मूर्तियां
सब पिघल जातीं, ओट पातीं
एक स्वप्नातीत रूपातीत पुनीत गहरी नींद की
उसी में से तू बढ़ा कर हाथ
सहसा खींच लेता है, गले मिलता है!
छिपा है परमात्मा तुम्हारे ही भीतर। उतरो थोड़ा। छोड़ो मूर्तियों को, विचारों को, प्रतिमाओं को, धारणाओं को--मन के बुलबुले! थोड़े गहरे उतरो! जहां लहरें नहीं, जहां शब्द नहीं--जहां मौन है। जहां परम मौन मुखर है! जहां केवल मौन ही गूंजता है!
उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद
ऋत विज्ञप्त होता है।
उतरो वहां!
उसी में से तू बढ़ा कर हाथ
सहसा खींच लेता है, गले मिलता है। वहीं है मिलन!

तुम जिसे खोजते हो, तुम्हारे भीतर छिपा है। तुम जिस प्रश्न की तलाश कर रहे हो, उसका उत्तर तुम्हारे भीतर छिपा है। जागो! इसी क्षण भोगो उसे! अष्टावक्र के सारे सूत्र एक ही खबर देते हैं: पाना नहीं है उसे, पाया ही हुआ है। जागो और भोगो!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
सातवां प्रवचन

जागरण महामंत्र है

जनक उवाच।

अहो निरंजनः शांतो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडंबितः।। २१।।
यथा प्रकाशाम्येको देहमेनं तथा जगत्।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन।। २२।।
सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽऽधुना!
कुतश्चित् कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते।। २३।।
यथा न तोयतो भिन्नस्तरंगाः फेनबुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्।। २४।।
तंतुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्।। २५।।
यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तेव शर्करा।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरंतरम्।। २६।।
आत्माऽऽज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्नभासते
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि।। २७।।

अंधेरे में जैसे अनायास किरण उतरे, या जैसे अंधे को अचानक आंखें मिल जाएं--ऐसा ही जनक को हुआ। जो नहीं देखा था कभी, वह दिखाई पड़ा। जो नहीं सुना था कभी, वह सुनाई पड़ा। हृदय एक नई तरंग, एक नई उमंग से भर गया। प्राणों ने एक नया दर्शन किया। निश्चित ही जनक सुपात्र थे!
वर्षा होती है, पहाड़ों पर होती है, पहाड़ खाली रह जाते हैं; क्योंकि पहले से ही भरे हैं। झीलों में होती है, खाली झीलें भर जाती हैं।
जो खाली है, वही सुपात्र है; जो भरा है, अपात्र है।
अहंकार आदमी को पत्थर जैसा बना देता है। निरहंकार आदमी को शून्यता देता है।
जनक शून्य पात्र रहे होंगे। तत्क्षण अहोभाव पैदा हुआ। सुनते ही जागे।
पुकारा नहीं था कि पुकार पहुंच गई। कोड़े की छाया काफी मालूम हुई; कोड़ा फटकारने की जरूरत न पड़ी; मारने का सवाल ही न था।
अष्टावक्र भी भाग्यशाली हैं कि जनक जैसा सुपात्र सुनने को मिला। मनुष्य-जाति के इतिहास में जितने सदगुरु हुए, उनमें अष्टावक्र जैसा सौभाग्यशाली सदगुरु दूसरा नहीं; क्योंकि जनक जैसा शिष्य पाना अति दुर्लभ है--जो जरा से इशारे से जाग जाए; जैसे तैयार ही था; जैसे बस हवा का जरा-सा झकोरा काफी था और नींद टूट जाएगी। नींद गहरी न थी। किन्हीं सपनों में दबा न था। उठा-उठी की ही हालत थी। ब्रह्ममुहूर्त आ ही गया था। सुबह होने को थी। बौद्ध जातकों में कथा है कि बुद्ध जब ज्ञान को उपलब्ध हुए तो सात दिन चुप रह गए; क्योंकि सोचा बुद्ध ने: जो मेरी बात समझेंगे, वे मेरे बिना समझाए भी समझ ही लेंगे; जो मेरी बात नहीं समझेंगे, वे मेरे समझाए-समझाए भी नहीं समझेंगे। तो फायदा क्या? क्यों बोलूं? क्यों व्यर्थ श्रम करूं? जो तैयार हैं जागने को, उन्हें कोई भी कारण जगाने का बन जाएगा; उन्हें पुकारने और चिल्लाने की जरूरत नहीं। कोई पक्षी गुनगुनाएगा गीत, हवा का झोंका वृक्षों से गुजरेगा, उतना काफी होगा!
और ऐसा हुआ है।
लाओत्सु बैठा था एक वृक्ष के नीचे, एक सूखा पत्ता वृक्ष से गिरा, और उस सूखे पत्ते को वृक्ष से गिरते देख कर वह परम बोध को उपलब्ध हो गया। सूखा पत्ता गुरु हो गया। बस देख लिया सब! देख लिया उस सूखे पत्ते में--अपना जन्म, अपना मरण! उस सूखे पत्ते की मौत में सब मर गया। आज नहीं कल मैं भी सूखे पत्ते की तरह गिर जाऊंगा--बात पूरी हो गई।

खुद बुद्ध को ऐसा ही हुआ था। राह पर देख कर एक बीमार बूढ़े आदमी को वे चौंक गए। मुर्दे की लाश को देख कर उन्होंने पूछा, इसे क्या हुआ?
सारथी ने कहा, यही आपको भी, सभी को होगा। एक दिन मौत आएगी ही।
फिर बुद्ध ने कहा, लौटा लो रथ घर की ओर वापिस। अब कहीं जाने को न रहा।
जब मौत आ रही है, जीवन व्यर्थ हो गया!
तुमने भी राह से निकलती लाशें देखी हैं। तुम भी राह के किनारे खड़े हो
कर क्षण भर को सहानुभूति प्रगट किए हो। तुम कहते हो, बहुत बुरा हुआ, बेचारा मर गया! अभी तो जवान था। अभी तो घर-गृहस्थी कच्ची थी। बुरा हुआ!
तुमने दया की है जो मर गया उस पर। तुम्हें जरा भी दया अपने पर नहीं आई
कि उस मरने वाले में तुम्हारे मरने की खबर आ गई, कि जैसे आज यह अर्थी पर बंधा जा रहा है; कल, कल नहीं परसों तुम भी बंधे चले जाओगे। जैसे आज तुम राह के किनारे खड़े हो कर इस पर सहानुभूति प्रगट कर रहे हो, दूसरे लोग राह के किनारे खड़े हो कर सहानुभूति प्रगट करेंगे। अवश तुम इतने होओगे कि धन्यवाद भी न दे सकोगे। यह जो लाश जा रही है, यह तुम्हारी है।
देखने वाला हो, आंख हो, गहरी हो, प्रगाढ़ चैतन्य हो, तो बस एक आदमी मरा
कि सारी मनुष्यता मर गई, कि जीवन व्यर्थ हो गया!
बुद्ध चले गए थे छोड़ कर।
तो जब उन्हें बोध हुआ, तो उन्होंने सोचा कि जिसको जागना है वह बिना किसी के जगाए भी जग जाता है। उसे कोई भी बहाना काफी हो जाता है।
कहते हैं, एक झेन साधिका कुएं से पानी भर कर लौटती थी कि बांस टूट गया, घड़े नीचे गिर गए। पूर्णिमा की रात थी, घड़ों में चांद का प्रतिबिंब बन रहा था। कांवर को लिए, घड़ों को लटकाए वह लौटती थी आश्रम की तरफ, देखती घड़ों के जल में चांद के प्रतिबिंब को बनते। घड़े गिरे। चौंक कर खड़ी हो गई। घड़ा गिरा, जल बहा--चांद भी बह गया! कहते हैं, बस बोध को उत्पन्न हो गई। सम्यक समाधि लग गई। नाचती हुई लौटी; दिखाई पड़ गया कि यह जगत प्रतिबिंब से ज्यादा नहीं है। यहां जो हम बनाए चले जा रहे हैं, यह कभी भी टूट जाएगा। ये सब चांद खो जाएंगे। ये सब सुंदर कविताएं खो जाएंगी। ये मनमोहिनी सूरतें सब खो जाएंगी। ये सब पानी में बने प्रतिबिंब हैं। ऐसा दिख गया, बात खतम हो गई। तो बुद्ध ने सोचा, क्या सार है? किससे कहूंगा? जिसे जागना है, वह मेरे बिना भी देर-अबेर जाग ही जाएगा, थोड़े-बहुत समय का अंतर पड़ेगा। और जिसे जागना नहीं है, चीखो-चिल्लाओ, वह करवट ले कर सो जाता है। आंख भी खोलता है तो नाराजगी से देखता है कि क्यों नींद खराब कर रहे हो? तुम्हें कोई और काम नहीं? सोयों को सोने नहीं देते! शांति से नींद चल रही थी, तुम जगाने आ गए! तुम खुद ही किसी को कह दो कि सुबह मुझे जगा देना, जब वह जगाता है तो नाराजगी आती है। कहा तुम्हीं ने था कि ट्रेन पकड़नी है, सुबह जरा जल्दी चार बजे उठा देना। जगाता है तो मारने की तबीयत होती है।
इमेनुएल कांट, बड़ा विचारक हुआ जर्मनी में। वह रोज तीन बजे रात उठता था। घड़ी के हिसाब से चलता था, घड़ी के कांटे के हिसाब से चलता था। कहते हैं, जब वह यूनिवर्सिटी जाता था पढ़ाने तो घरों में लोग अपनी घड़ियां मिला लेते थे। क्योंकि वह नियम से, वर्षों से, तीस वर्ष निरंतर ठीक मिनिट-मिनिट सेकेंड-सेकेंड के हिसाब से निकला था। लेकिन कभी बहुत सर्दी होती तो अपने नौकर को कह देता कि कुछ भी हो जाए, तीन बजे उठाना। अगर मैं मारूं-पीटूं भी तो तू फिकर मत करना तू भी मारना-पीटना, मगर उठाना! उसके घर नौकर न टिकते थे, क्योंकि यह बड़ी झंझट की बात थी। तीन बजे उठाएं तो वह बहुत नाराज होता था, न उठाएं तो सुबह जागकर नाराज होता था। और ऐसा नहीं था कि नाराज ही होता था, मारपीट होती। वह भी मारता। नौकर को भी कह रखा था, तू फिक्र मत करना, उठना तो तीन बजे है ही। घसीटना, उठाना, लेकिन तीन बजे उठा कर खड़ा कर देना! तू चिंता ही मत करना कि मैं क्या कर रहा हूं। उस वक्त मैं क्या कहता हूं, वह मत सुनना; क्योंकि उस वक्त मैं नींद में होता हूं। उस समय जो मैं कहता हूं वह सुनने की जरूरत नहीं।
तो ऐसे लोग भी हैं!
बुद्ध ने सोचा, क्या सार है? जिसे सोना है, वह मेरी चिल्लाहट पर भी सोता रहेगा। जिसे जागना है वह मेरे बिना बुलाए भी जाग ही जाएगा।

सात दिन वह बैठे रहे चुप। फिर देवताओं ने उनसे प्रार्थना की कि आप यह क्या कर रहे हैं? कभी-कभी कोई बुद्धत्व को उपलब्ध होता है, भू तरसती है, प्यासे लोग तरसते हैं, कि मेघ बना है अब तो बरसेगा। आप चुप हैं, बरसें! फूल खिला है, गंध को बहने दें! यह रसधार बहे! अनेक प्यासे हैं जन्मों-जन्मों से। और आपका तर्क हमने सुन लिया। हम आपके मन को देख रहे हैं सात दिन से निरंतर। आप कहते हैं: कुछ हैं जो मेरे बिना बुलाए जग जाएंगे; और कुछ हैं जो मेरे बुलाए-बुलाए न जगेंगे। इसलिए आप चुप हैं? हम सोच-समझ कर आए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो दोनों के बीच में खड़े हैं! उनको आप इनकार न कर सकेंगे। अगर कोई जगाएगा तो जग जाएंगे। अगर कोई न जगाएगा तो जन्मों-जन्मों तक सोए रह जाएंगे। उन कुछ का खयाल करें। आप जो कहते हैं, वे होंगे निन्यानबे प्रतिशत; पर एक प्रतिशत उनका भी तो खयाल करें जो ठीक सीमा पर खड़े हैं--कोई जगा देगा तो जग जाएंगे, और कोई न जगाएगा तो सोए रह जाएंगे।
बुद्ध को इसका उत्तर न सूझा, इसलिए बोलना पड़ा। देवताओं ने उन्हें राजी कर लिया। उन्होंने बात बेच दी।
बुद्ध का खयाल तो ठीक ही था। देवताओं का खयाल भी ठीक था।
तो तीन तरह के श्रोता हुए। एक जो जगाए-जगाए न जगेंगे। दुनिया में अधिक भीड़ उन्हीं लोगों की है। सुनते हैं, फिर भी नहीं सुनते। देखते हैं, फिर भी नहीं देखते। समझ में आ जाता है, फिर भी अपने को समझा-बुझा लेते हैं, समझ को लीपपोत देते हैं। समझ में आ जाता है तो भी नासमझी को सम्हाले रखते हैं। नासमझी के साथ उनका बड़ा गहरा स्वार्थ बन गया है। पुराना परिचय छोड़ने में डर लगता है।
फिर दूसरे तरह के श्रोता हैं, जो बीच में हैं। कोई थोड़ा श्रम करे--कोई बुद्ध, कोई अष्टावक्र, कोई कृष्ण--तो जग जाएंगे। अर्जुन ऐसे ही श्रोता थे। कृष्ण को मेहनत करनी पड़ी। कृष्ण को लंबी मेहनत करनी पड़ी। उसी लंबी मेहनत से गीता निर्मित हुई। अंत-अंत में जा कर अर्जुन को लगता है कि मेरे भ्रम दूर हुए, मेरे संशय गिरे, मैं तुम्हारी शरण आता हूं, मुझे दिखाई पड़ गया! लेकिन बड़ी जद्दोजहद हुई, बड़ा संघर्ष चला।
फिर और भी श्रेष्ठ श्रोता हैं--जनक की तरह, जिनसे कहा नहीं कि उन्होंने सुन लिया। इधर अष्टावक्र ने कहा होगा कि उधर जनक को दिखाई पड़ने लगा।
आज के सूत्र जनक के वचन हैं। इतनी जल्दी, इतनी शीघ्रता से जनक को दिखाई पड़ गया कि अष्टावक्र जो कह रहे हैं, बिलकुल ठीक कह रहे हैं; चोट पड़ गई।
तो मैंने कहा, वर्षा होती है, कभी ऐसी जमीन पर हो जाती है जो पथरीली है;
तो वर्षा तो हो जाती है, लेकिन अंकुर नहीं फूटते। फिर कभी ऐसी जमीन पर होती है जो थोड़ी-बहुत कंकरीली है, अंकुर फूटते हैं; जितने फूटने थे, उतने नहीं फूटते। फिर कभी ऐसी जमीन पर होती है, जो बिलकुल तैयार थी, जो उपजाऊ है, जिसमें कंकड़-पत्थर नहीं हैं। बड़ी फसल होती है!
जनक ऐसी ही भूमि हैं। इशारा काफी हो गया।
जनक की यह स्थिति समझने के लिए समझनेऱ्योग्य है, क्योंकि तुम भी इन तीन में से कहीं होओगे। और यह तुम पर निर्भर है कि तुम इन तीन में से कहां होने की जिद करते हो। तुम साधारण जन हो सकते हो, जिसने जिद कर रखी है कि सुनेगा नहीं; जिसने सत्य के खिलाफ लड़ने की कसम खा ली है; जो सुनेगा तो कुछ और सुन लेगा, सुनते ही व्याख्या कर लेगा, सुनते ही अपने को उसकी सुनी हुई बात के ऊपर डाल देगा, रंग लेगा, विकृत कर लेगा, कुछ का कुछ सुन लेगा।
तुम वही नहीं सुनते, जो कहा जाता है। तुम वही सुन लेते हो, जो तुम सुनना चाहते हो।
मैंने सुना है कि एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी गुस्से से भरी हुई घर आई और उसने मुल्ला से कहा कि भिखारी भी बड़े धोखेबाज होते हैं।
"क्यों क्या हो गया?" नसरुद्दीन ने पूछा।
"अजी एक भिखारी की गर्दन में तख्ती लगी थी, जिस पर लिखा था: जन्म से अंधा। मैंने दया करके पर्स में से दस पैसे निकाल कर उसके दान-पात्र में

डाल लिए। तो जानते हो कहने लगा, हे सुंदरी, भगवान तुम्हें खुश रखे। अब तुम्हीं बताओ कि उसे कैसे मालूम हुआ कि मैं सुंदरी हूं?"
मुल्ला खिलखिला कर हंसने लगा और कहने लगा, तब तो वह वास्तव में अंधा
है और जन्म से अंधा है।
तो मुल्ला कहने लगा, मैं ही एक अंधा नहीं हूं, एक और अंधा भी है। अन्यथा पता ही कैसे चलता उसे कि तू सुंदरी है, अगर आंख होती?
पत्नी कुछ कह रही है, मुल्ला कुछ सुन रहा है। मुल्ला वही सुन रहा है जो सुनना चाहता है।
खयाल करना, चौबीस घंटे यह घटना घट रही है। तुम वही सुन लेते हो, जो तुम सुनना चाहते हो; यद्यपि तुम सोचते भी नहीं इस पर कि जो मैंने सुना वह मेरा है या कहा गया था?
मुल्ला एक जगह काम करता था। मालिक ने उससे कहा कि तुम अच्छी तरह काम नहीं करते, नसरुद्दीन! मजबूरन अब मुझे दूसरा नौकर रखना पड़ेगा।
नसरुद्दीन ने कहा, अवश्य रखिए हुजूर, यहां काम ही दो आदमियों का है। मालिक कह रहा है कि तुमसे अब छुटकारा पाना है, दूसरा आदमी रखना है। मुल्ला कह रहा है, यहां काम ही दो आदमियों का है, जरूर रखिए!
पीछे खड़े हो कर जो तुम सुनते हो उस पर एक बार पुनर्विचार करना: यही कहा गया था? अगर व्यक्ति ठीक-ठीक सुनने में समर्थ हो जाए तो नंबर दो का श्रोता हो जाता है, नंबर तीन से ऊपर उठ आता है। नंबर तीन का श्रोता अपनी मिलाता है। नंबर तीन का श्रोता अपने को ही सुनता है, अपनी प्रतिध्वनियों को सुनता है। उसकी दृष्टि साफ-सुथरी नहीं है। वह सब विकृत कर लेता है।
नबंर दो का श्रोता वही सुनता है जो कहा जा रहा है। नंबर दो के श्रोता
को थोड़ी देर तो लगेगी; क्योंकि सुन लेने पर भी--जो कहा गया है वह सुन लेने पर भी--उसे करने के लिए साहस की जरूरत होगी। मगर सुन लिया तो साहस भी आ जाएगा। क्योंकि सत्य को सुन लेने के बाद ज्यादा देर तक असत्य में रहना असंभव है। जब एक बार देख लिया कि सत्य क्या है तो फिर पुरानी आदत कितनी ही पुरानी क्यों न हो, उसे छोड़ना ही पड़ेगा। जब पता ही चल गया कि दो और दो चार होते हैं तो कितना ही पुराना अभ्यास हो दो और दो पांच मानने का, उसे छोड़ना ही पड़ेगा। जब एक बार दिखाई पड़ गया कि दरवाजा कहां है तो फिर दीवाल से निकलना असंभव हो जाएगा। फिर दीवाल से सिर टकराना असंभव हो जाएगा। सत्य समझ में आ जाए तो देर-अबेर इतना साहस भी आ जाता है कि आदमी छलांग ले, अपने को रूपांतरित कर दे।
फिर नंबर एक के श्रोता हैं। अगर तुममें समझ और साहस दोनों हों तो तुम नंबर एक के श्रोता हो जाओगे। नंबर एक के श्रोता का अर्थ है कि समझ और साहस युगपत घटित होते हैं--इधर समझ, उधर साहस; समझ और साहस में अंतराल नहीं होता। ऐसा नहीं कि आज समझता है और कल साहस; इस जन्म में समझता है और अगले जन्म में साहस। यहां समझता है और यहीं साहस। इसी क्षण समझता है और इसी क्षण साहस। तब आकस्मिक घटना घटती है। तब सूर्योदय अचानक हो जाता है।
जनक पहली कोटि के श्रोता हैं।
इस संबंध में एक बात और खयाल रख लेनी चाहिए। जनक सम्राट हैं। उनके पास
सब है। जितना चाहिए उससे ज्यादा है। भोग भोगा है। जो व्यक्ति भोग को ठीक से भोग लेता है उसके जीवन में योग की क्रांति घटनी आसान हो जाती है। क्योंकि जीवन का अनुभव ही उसे कह देता है कि जिसे मैं जीवन जानता हूं वह तो व्यर्थ है। आधा काम तो जीवन ही कर देता है कि जिसे मैं जीवन जानता हूं वह व्यर्थ है। उसके मन में प्रश्न उठने लगते हैं कि फिर और जीवन कहां? फिर दूसरा जीवन कहां? फिर सत्य का जीवन कहां? लेकिन जिस व्यक्ति के जीवन में भोग नहीं है और सिर्फ भोग की आकांक्षा है; मिला नहीं है कुछ, सिर्फ मिलने की आकांक्षा है--उसे बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए तुम चकित मत होना अगर भारत के सारे तीर्थंकर, सारे महाद्रष्टा--जैनों के हों, बौद्धों के हों, हिंदुओं के हों--अगर सभी राजपुत्र थे तो आश्चर्यचकित मत होना। अकारण नहीं। इससे केवल इतनी ही सूचना मिलती है कि भोग के द्वारा ही आदमी भोग से मुक्त होता है। सम्राट को एक बात तो दिखाई पड़ जाती है कि धन में कुछ भी नहीं है, क्योंकि धन का अंबार लगा है और भीतर शून्य है, खालीपन है। सुंदर

स्त्रियों का ढेर लगा है, और भीतर कुछ भी नहीं है। सुंदर महल हैं, और भीतर सन्नाटा है, रेगिस्तान है। जब सब होता है तो स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है कि कुछ भी नहीं है। जब कुछ भी नहीं होता तो आदमी आशा के सहारे जीता है।
आशा से छूटना बहुत मुश्किल है। क्योंकि आशा को परखने का कोई उपाय नहीं है। गरीब आदमी सोचता है, कल धन मिलेगा तो सुख से जीऊंगा। अमीर आदमी को धन मिल चुका है, अब आशा का कोई उपाय नहीं। इसीलिए जब भी कोई समाज संपन्न होता है तो धार्मिक होता है। तुम आश्चर्यचकित मत होना, अगर अमरीका में धर्म की हवा जोर से फैलनी शुरू हुई है। यह सदा से हुआ है। जब भारत संपन्न था--अष्टावक्र के दिनों में संपन्न रहा होगा, बुद्ध के दिनों में संपन्न था, महावीर के दिनों में संपन्न था--जब भारत अपनी संपन्नता के शिखर पर था तब योग ने बड़ी ऊंचाइयां लीं, तब अध्यात्म ने आखिरी उड़ान भरी। क्योंकि तब लोगों को दिखाई पड़ा कि कुछ भी सार नहीं; सब मिल जाए तो भी कुछ सार नहीं। दीन-दरिद्र होता है देश, तब बहुत कठिन होता है।
मैं यह नहीं कहता हूं कि गरीब आदमी मुक्त नहीं हो सकता। गरीब आदमी मुक्त हो सकता है। गरीब आदमी धार्मिक हो सकता है। लेकिन गरीब समाज धार्मिक नहीं हो सकता। व्यक्ति तो अपवाद हो सकते हैं। उसके लिए बड़ी प्रगाढ़ता चाहिए।
थोड़ा तुम सोचो। धन हो तो देख लेना कि धन व्यर्थ है, बहुत आसान है; धन न
हो तो देख लेना कि धन व्यर्थ है, जरा कठिन है--अति कठिन है। जो नहीं है उसकी व्यर्थता कैसे परखो? तुम्हारे हाथ में सोना हो तो परख सकते हो कि सही है कि खोटा है। हाथ में सोना न हो, केवल सपने में हो, सपने का सोना कसने को तो कोई कसौटी बनी नहीं। वास्तविक सोना हो तो कसा जा सकता है।
गरीब आदमी का धर्म वास्तविक धर्म नहीं होता। इसलिए गरीब आदमी जब मंदिर जाता है तो धन मांगता है, पद मांगता है, नौकरी मांगता है। बीमारी है तो बीमारी कैसे ठीक हो जाए, यह मांगता है। बेटे को नौकरी नहीं लगती तो नौकरी कैसे लग जाए, यह मांगता है। मंदिर भी एंप्लायमेंट एक्सचेंज रह जाता है। मंदिर में भी प्रेम की और प्रार्थना की सुगंध नहीं उठती। अस्पताल जाना था, मंदिर आ गया है। नौकरी दिलाने वाले दफ्तर जाना था, मंदिर आ गया है।
गरीब आदमी मंदिर में भी वही मांगता रहता है जो संसार में उसे नहीं मिल रहा है। जिसका अभाव संसार में है, हम वही मांगते हैं।
लेकिन, अगर तुम्हारे जीवन में सब हो या तुममें इतनी प्रतिभा हो, या तुममें इतनी मेधा हो कि तुम केवल विचार करके जाग सको और देख सको कि सब होगा तो भी क्या होगा? दूसरों के पास धन है, उन्हें क्या हुआ है? स्वयं के पास न भी हो तो फिर प्रतिभा चाहिए कि तुम देख सको: जो महलों में रह रहे हैं, उन्हें क्या हुआ है? उनकी आंखों में तरंगें हैं आनंद की? उनके पैरों में नृत्य है? उनके आसपास गंध है परमात्मा की? जब उनको नहीं हुआ तो तुम्हें कैसे हो जाएगा? लेकिन यह थोड़ा कठिन है।
अधिक लोग तो ऐसे हैं कि उनके पास खुद ही धन होता है तो नहीं दिखाई पड़ता
है कि धन व्यर्थ है--तो फिर यह सोचना कि जब धन न होगा तब दिखाई पड़ जाएगा...। पड़ सकता है, संभावना तो है, पर बड़ी दूर की संभावना है। बुद्ध के लिए आसान रहा होगा जाग जाना। जनक के लिए आसान रहा होगा जाग जाना। अर्जुन के लिए भी आसान रहा होगा जाग जाना। कबीर के लिए बड़ा कठिन रहा होगा। दादू के लिए, सहजो के लिए बड़ा कठिन रहा होगा। क्राइस्ट के लिए, मुहम्मद के लिए बड़ा कठिन रहा होगा। क्योंकि इनके पास नहीं था--और जागे!
जीवन में, जो हमारे पास नहीं है, उसकी कामना हमें घेरती है; उसकी कामना हमें पकड़े रहती है। कल रात मैं एक गीत पढ़ता था:
मैं चाहता हूं, इसलिए एक जन्म और लेना
कि मुझको उसमें शायद मिल जाए ऐसी हमदम
कि जिसको आता हो प्यार देना।
जो सुबह उठ कर मेरी तरफ मुस्कुरा के देखे
दिलोजिगर में समा के देखे
जो दोपहर को बहुत-से कामों के दरमियां

हो उदास मुझ बिन
गुजार दे इंतजार में दिन
जो शाम को यूं करे स्वागत
तमाम चाहत तमाम राहत से राम कर ले जन्म मरण से रिहाई दे कर
मुझे रहीने-दवाम कर ले!
एक ऐसी हमदम की आरजू है
जो मेरे सुख को
वफा की ज्योति का संग दे दे
मेरे दुख को भी
अपने गर्म आंसुओं के मोतियों का रंग दे दे
जो घर में इफ्लास का समय हो, न तिलमिलाए
सफर कठिन हो तो उसके माथे पे बल न आए
एक ऐसी हमदम मिलेगी अगले जन्म में शायद
कि जिसको आता हो प्यार देना
मैं चाहता हूं इसलिए एक जन्म और लेना।
जो नहीं मिला है--किसी को प्रेयसी नहीं मिली है, किसी को धन नहीं मिला है, किसी को पद नहीं मिला है, किसी को प्रतिष्ठा नहीं मिली है--तो हम और एक जन्म लेना चाहते हैं। अनंत जन्म हम ले चुके हैं, लेकिन कुछ न कुछ कमी रह जाती है, कुछ न कुछ खाली रह जाता है, कुछ न कुछ ओछा रह जाता है--उसके लिए अगला जन्म, और अगला जन्म।
वासनाओं का कोई अंत नहीं है। जरूरतें बहुत थोड़ी हैं, कामनाओं की कोई सीमा नहीं है। उन्हीं कामनाओं के सहारे आदमी जीता चला जाता है।
ध्यान रखना, धन नहीं बांधता, धन की आकांक्षा बांधती है; पद नहीं बांधता, पद की आकांक्षा बांधती है। प्रतिष्ठा नहीं बांधती, प्रतिष्ठा की आकांक्षा बांधती है।
जनक के पास सब था। देख लिया सब। तैयार ही खड़े थे जैसे, कि कोई जरा-सा इशारा कर दे, जाग जाएं। सब सपने व्यर्थ हो चुके थे। नींद टूटी-टूटी होने को थी।
इसीलिए मैं कहता हूं, अष्टावक्र को परम शिष्य मिला।
जनक ने कहा: "मैं निर्दोष हूं, शांत हूं, बोध हूं, प्रकृति से परे हूं! आश्चर्य! अहो! कि मैं इतने काल तक मोह के द्वारा बस ठगा गया हूं!"
उतरने लगी किरण। अहो निरंजनः। आश्चर्य!
सुना अष्टावक्र को कि तू निरंजन है, निर्दोष है, सुनते ही पहुंच गई किरण प्राणों की आखिरी गहराई तक; जैसे सूई चुभ जाए सीधी।
अहो निरंजनः शांतो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
आश्चर्य, क्या कहते हैं आप? मैं निर्दोष हूं! शांत हूं! बोध हूं! प्रकृति से परे हूं! आश्चर्य कि इतने काल तक मैं मोह के द्वारा बस ठगा गया हूं।
एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडंबितः।
चौंक गए जनक। जो सुना, वह कभी सुना नहीं था। अष्टावक्र में जो देखा, वह कभी देखा नहीं था। न कानों सुना, न आंखों देखा--ऐसा अपूर्व प्रगट हुआ। अष्टावक्र ज्योतिर्मय हो उठे! उनकी आभा, उनकी आभा के मंडल में जनक चकित हो गए: "अहो, बोध हुआ कि मैं निरंजन हूं!" एकदम भरोसा नहीं आता, विश्वास नहीं आता।
सत्य इतना अविश्वसनीय है, क्योंकि हमने असत्य पर इतने लंबे जन्मों तक विश्वास किया है। सोचो, अंधे की अचानक आंख खुल जाए तो क्या अंधा विश्वास कर सकेगा कि प्रकाश है, रंग हैं, ये हजार-हजार रंग, ये इंद्रधनुष, ये फूल, ये वृक्ष, ये चांदत्तारे? एकदम से अंधे की आंख खुल जाए तो वह कहेगा, अहो, आश्चर्य है! मैं तो सोच भी न सकता था कि यह है। और यह है। और मैंने तो इसका कभी सपना भी न देखा था।
प्रकाश तो दूर, अंधे आदमी को अंधेरे का भी पता नहीं होता। तुम साधारणतः सोचते होओगे कि अंधा आदमी अंधेरे में रहता है, तो तुम गलत सोचते

हो। अंधेरा देखने के लिए भी आंख चाहिए। तुम आंख बंद करते हो तो तुम्हें अंधेरा दिखाई पड़ता है, क्योंकि आंख खोल कर तुम प्रकाश को जानते हो। लेकिन जिसकी कभी आंख ही नहीं खुली, वह अंधेरा भी नहीं जानता; प्रकाश तो दूर, अंधेरे से भी पहचान नहीं है। कोई उपाय नहीं अंधे के पास कि सपना देख सके इंद्रधनुषों का। लेकिन जब आंख खोल कर देखेगा, तो यह सारा जगत अविश्वसनीय मालूम होगा, भरोसा न आएगा।
जनक को भी एक धक्का लगा है, एक चौंक पैदा हुई! अचंभे से भर गए हैं! कहने लगे, "अहो, मैं निर्दोष!"
सदा से अपने को दोषी जाना और सदा से धर्मगुरुओं ने यही कहा कि तुम पापी हो! और सदा से पंडित-पुरोहितों ने यही समझाया कि धोओ अपने कर्मों के पाप। किसी ने भी यह न कहा कि तुम निर्दोष हो, कि तुम्हारी निर्दोषता ऐसी है कि उसके खंडित होने का कोई उपाय नहीं, कि तुम लाख पाप करो तो भी पापी तुम नहीं हो सकते हो।
तुम्हारे सब किए गए पाप, देखे गए सपने हैं--जागते ही खो जाते हैं। न पुण्य तुम्हारा है, न पाप तुम्हारा है; क्योंकि कर्म तुम्हारा नहीं, कृत्य तुम्हारे नहीं; क्योंकि कर्ता तुम नहीं हो--तुम केवल द्रष्टा, साक्षी हो। "मैं निर्दोष हूं!" चौंक कर जनक ने कहा: "मैं शांत हूं!" क्योंकि जानी
तो है केवल अशांति।
तुमने कभी शांति जानी है? साधारणतः तुम कहते हो कि हां। लेकिन बहुत गौर करोगे तो तुम पाओगे: जिसे तुम शांति कहते हो वह केवल दो अशांतियों के बीच का थोड़ा-सा समय है। अंग्रेजी में शब्द है "कोल्ड वार"। वह शब्द बड़ा अच्छा है: ठंडा युद्ध। दो युद्धों के बीच में ठंडा युद्ध चलता है। दो गर्म युद्ध, बीच में ठंडा युद्ध, मगर युद्ध तो जारी रहता है। पहला महायुद्ध खतम हुआ, दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ। कई वर्ष बीते, कोई बीस वर्ष बीते; लेकिन वे बीस वर्ष ठंडे युद्ध के थे। लड़ाई तो जारी रहती है, युद्ध की तैयारी जारी रहती है। हां, लड़ाई अब प्रगट नहीं होती; भीतर-भीतर होती है; अंडरग्राउंड होती है; जमीन के भीतर दबी होती है।
अभी ठंडा युद्ध चल रहा है दुनिया में, लड़ाई की तैयारियां चल रही हैं। सैनिक कवायदें कर रहे हैं। बम बनाए जा रहे हैं। बंदूकों पर पॉलिश चढ़ाया जा रहा है। तलवारों पर धार रखी जा रही है। यह ठंडी लड़ाई है। युद्ध जारी है। यह किसी भी दिन भड़केगा। किसी भी दिन युद्ध खड़ा हो जाएगा।
जिसको तुम शांति कहते हो, वह ठंडी अशांति है। कभी उत्तप्त हो जाते हो
तो गर्म अशांति। दो गर्म अशांतियों के बीच में जो थोड़े-से समय बीतते हैं, जिनको तुम शांति के कहते हो, वह शांति के नहीं हैं; वह केवल ठंडी अशांति के हैं। पारा बहुत ऊपर नहीं चढ़ा है, ताप बहुत ज्यादा नहीं है-- सम्हाल पाते हो, इतना है। लेकिन शांति तुमने जानी नहीं। दो अशांतियों के बीच में कहीं शांति हो सकती है? और दो युद्धों के बीच में कहीं शांति हो सकती है?
शांति जिसने जानी है, उसकी अशांति सदा के लिए समाप्त हो जाती है। तुमने शांति जानी नहीं, शब्द सुना है। अशांति तुम्हारा अनुभव है; शांति तुम्हारी आकांक्षा है, आशा है।
तो जनक कहने लगे, "मैं शांत हूं, बोध हूं!" क्योंकि जाना तो सिर्फ मूर्च्छा को है। तुम इतने काम कर रहे हो, वे सब मूर्च्छित हैं। तुम्हें अगर कोई ठीक-ठीक पूछे तो तुम एक बात का भी उत्तर न दे पाओगे। कोई पूछे कि इस स्त्री के प्रेम में क्यों पड़ गए, तो तुम कहोगे: पता नहीं, पड़ गए, ऐसा हो गया। यह कोई उत्तर हुआ? प्रेम जैसी बात के लिए यह उत्तर हुआ कि हो गया! बस घटना घट गई! पहली दृष्टि में ही प्रेम हो गया! देखते ही प्रेम हो गया! तुम्हें पता है, यह प्रेम तुम्हारे भीतर कहां से उठा? कैसे आया? कुछ भी पता नहीं है। फिर इस प्रेम से तुम चाहते हो कि जीवन में सुख आए। इस प्रेम का ही तुम्हें पता नहीं, कहां से आता है? किस अचेतन के तल से उठता है? कहां इसका बीज है? कहां से अंकुरित होता है? फिर तुम कहते हो इस प्रेम से जीवन में सुख मिले! सुख नहीं मिलता; दुख मिलता है, कलह मिलती है, वैमनस्य मिलता है,र् ईष्या, जलन मिलती है। तो तुम तड़पते हो। तुम कहते हो, यह क्या हुआ? यह प्रेम सब धोखा निकला!

पहले ही से मूर्च्छा थी।
तुम दौड़े जा रहे हो--धन कमाना है! तुमसे कोई पूछे, किसलिए? शायद तुम कुछ छोटे-मोटे उत्तर दे सको। तुम कहो कि बिना धन के कैसे जीएंगे? लेकिन ऐसे लोग हैं, जिनके पास जीने के लिए काफी है, वे भी दौड़े जा रहे हैं। और तुम भी पक्का मानना, जिस दिन इतना कमा लोगे कि रुक सकते हो, फिर भी रुक न सकोगे। फिर भी तुम दौड़े जाओगे।
एंड्रू कार्नेगी मरा तो दस अरब रुपये छोड़कर मरा; लेकिन मरते वक्त भी कमा रहा था। मरने के दो दिन पहले उसके सेक्रेटरी ने पूछा कि "आप तो तृप्त होंगे? दस अरब रुपये!" उसने कहा, "तृप्त! मैं बहुत अशांति में मर रहा हूं, क्योंकि मेरी योजना सौ अरब रुपये कमाने की थी।"
अब जिसकी सौ अरब रुपए कमाने की योजना थी, दस अरब--नब्बे अरब का घाटा है। उसका घाटा तो देखो! तुम दस अरब देख रहे हो। दस अरब तो दस पैसे हो गये। दस अरब का कोई मूल्य ही न रहा।
न तो खा सकते हो दस अरब रुपयों को, न पी सकते हो। कोई उनका उपयोग नहीं है। मगर एक दफा दौड़ शुरू हो जाती है तो चलती जाती है।
तुम पूछो अपने से, किसलिए दौड़ रहे हो? तुम्हारे पास उत्तर नहीं।
मूर्च्छा है! पता नहीं क्यों दौड़ रहे हैं! पता नहीं कहां जा रहे हैं, किसलिए जा रहे हैं! न जाएं तो क्या करें? रुकें तो कैसे रुकें? रुकें तो किसलिए रुकें? उसका भी कुछ पता नहीं है।
आदमी ऐसे चल रहा है जैसे नशे में चल रहा हो। हमारे जीवन के छोर हमारे हाथ में नहीं हैं। हम बोधहीन हैं।
गुरजिएफ कहता था: हम करीब-करीब नींद में चल रहे हैं। आंख खुली हैं, माना; मगर नींद नहीं टूटी है। आंखें नींद से भरी हैं। कुछ होता है, कुछ करते रहते हैं, कुछ चलता जाता है। क्यों? "क्यों" पूछने से हम डरते हैं, क्योंकि उत्तर तो नहीं है। ऐसे प्रश्न उठाने से बेचैनी आती है।
जनक ने कहा: "मैं बोध हूं। अहो निरंजनः शांतो बोधोऽहं। और इतना ही नहीं, आप कहते हैं: प्रकृति से परे हो! प्रकृतेः परः! शरीर नहीं हो, मन नहीं हो। यह जो दिखाई पड़ता है, यह नहीं हो। यह जो दृश्य है, यह नहीं हो। द्रष्टा हो। सदा पार हो। प्रकृति के पार, सदा अतिक्रमण करने वाले हो।"
इसे समझना। यह अष्टावक्र का मौलिक उपाय है, मौलिक विधि है--अगर विधि
कह सकें--प्रकृति के पार हो जाना! जो भी दिखाई पड़ता है, वह मैं नहीं हूं। जो भी अनुभव में आता है, वह मैं नहीं हूं। क्योंकि जो भी मुझे दिखाई पड़ता है, मैं उससे पार हो गया; मैं देखने वाला हूं। दिखाई पड़ने वाला मैं नहीं हूं। जो भी मेरे अनुभव में आ गया है, मैं उसके पार हो गया; क्योंकि मैं अनुभव का द्रष्टा हूं, अनुभव कैसे हो सकता हूं? तो न मैं देह हूं, न मन हूं, न भाव हूं; न हिंदू, न मुसलमान, न ईसाई, न ब्राह्मण, न शूद्र; न बच्चा, न जवान, न बूढ़ा; न सुंदर, न असुंदर; न बुद्धिमान, न बुद्धू--मैं कोई भी नहीं हूं। सारी प्रकृति के परे हूं!
यह किरण उतरी जनक के हृदय में। आश्चर्य से भर गई, चकित कर गई, चौंका गई। आंखें खुलीं पहली दफा।
"आश्चर्य कि मैं इतने काल तक मोह के द्वारा बस ठगा गया हूं!"
कि अब तक जो भी मैंने बसाया था, जो भी मैंने चाहा था, जो भी सुंदर सपने मैंने देखे, वह सब मोह-निद्रा थी! वे सब सपने ही थे! नींद में उठे हुए खयाल थे, उनका कोई भी अस्तित्व नहीं है!
अहो अहं एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडंबितः।
आप मुझे चौंकाते हैं! आपने मुझे हिला दिया। तो ये गिर गए सारे भवन जो मैंने बनाए थे! और ये सारे साम्राज्य जो मैंने फैलाए थे, सब मोह की विडंबना थी!
समझने की कोशिश करना। अगर तुम भी सुनोगे तो ऐसा ही होगा। अगर तुम भी सुन सकोगे तो ठीक ऐसा ही होगा। तुम्हारा किया-कराया सब व्यर्थ हो जाएगा। पाया नहीं पाया, सब व्यर्थ हो जाएगा।
मुल्ला नसरुद्दीन एक रात नींद में बड़बड़ा रहा था। आंख खोल कर अपनी पत्नी से बोला, जल्दी चश्मा ला!

पत्नी ने कहा, चश्मा क्या करोगे आधी रात में बिस्तर पर?
उसने कहा, देर मत कर, जल्दी चश्मा ला। एक सुंदर स्त्री दिखाई पड़ रही है, सपने में! तो ठीक से देखना चाहता हूं चश्मा लगा कर। थोड़ा धुंधला-धुंधला है सपना।
सपने को भी तुम सत्य बनाने की चेष्टा में लगे रहते हो: किसी तरह सपना सत्य हो जाए! तुम चाहते नहीं कि कोई तुम्हारे सपने को सपना कहे, तुम नाराज होते हो। संतों को हमने ऐसे ही थोड़ी जहर दिया, ऐसे ही थोड़ी पत्थर मारे। उन्होंने हमें खूब नाराज किया। हम सपना देखते थे, वे हमें हिलाने लगे। हम गहरी नींद में थे, वे हमें जगाने लगे। हमसे बिना पूछे हमारी नींद तोड़ने लगे, अलार्म बजाने लगे। नाराजगी स्वाभाविक थी।
लेकिन अगर सुनोगे तो तुम कृतज्ञ हो जाओगे, तुम सदा के लिए कृतज्ञता का अनुभव करोगे।
खयाल करो, कृष्ण की गीता में, जब कृष्ण बोलते हैं तो अर्जुन प्रश्न उठाता है। अष्टावक्र की गीता में अष्टावक्र बोले, जनक ने कोई प्रश्न नहीं उठाया। जनक ने सिर्फ अहोभाव प्रगट किया। जनक ने सिर्फ स्वीकृति दी। जनक ने सिर्फ इतना कहा कि चौंका दिया प्रभु मुझे, जगा दिया मुझे! पूछने को कुछ नहीं है। जनक को प्रतीति होने लगी कि मैं निर्दोष हूं कि मैं शांत हूं कि मैं बोध हूं, प्रकृति से परे हूं।
यह हमें कठिन लगता है, इतनी जल्दी हो गया! हमें लगता है, थोड़ा समय लगना चाहिए। हमें बड़ी हैरानी होती है: इतनी शीघ्रता से, इतनी त्वरा से घटना घटी! झेन फकीरों के जीवन में बहुत-से उल्लेख हैं। अब झेन पर किताबें पूर्व में, पश्चिम में सब तरफ फैलनी शुरू हुई हैं, तो लोग पढ़ कर बड़े हैरान होते हैं। क्योंकि उनमें ऐसे हजारों उल्लेख हैं जब कि बस क्षण भर में फकीर जाग गया और बोध को उपलब्ध हो गया। हमें भरोसा नहीं आता, क्योंकि हम तो बड़े उपाय करते हैं, फिर भी बोध को उपलब्ध नहीं होते; श्रम करते हैं, फिर भी ध्यान नहीं लगता; जप करने बैठते हैं, तप करने बैठते हैं, मन उचाट रहता है। और यह जनक एक क्षण में जाग ही गए!
कभी-कभी ऐसा होता है। तुम्हारी पात्रता पर निर्भर है। तुम्हारी पात्रता में जितनी कमी होगी उतनी देर लग जाएगी। देरी घटना के कारण नहीं है। घटना तो अभी घट सकती है; जैसा बार-बार अष्टावक्र कहते हैं, "सुखी भव! अभी हो जा सुखी! मुक्त हो! अभी हो जा मुक्त! इसी क्षण!"
घटना तो अभी घटती है, देर लगती है हमारी पात्रता के कारण। हमारी पात्रता ही नहीं है। तो जो समय लगता है वह बीच में जो पत्थर पड़े हैं, उन्हें हटाने में लगता है। झरना तो अभी फूट सकता है, झरना तो तैयार है, झरना तो तरंगित है, झरना तो प्रतीक्षा कर रहा है कि हटाओ पत्थर, मैं दौड़ पडूं सागर की तरफ! लेकिन कितने पत्थर बीच में पड़े हैं, और कितनी बड़ी चट्टानें पड़ी हैं--इस पर निर्भर करेगा। झरने के निकलने में देर नहीं है-- झरने की राह खुली है, बंद तो नहीं है। कहीं से झरना अभी फूट जाएगा, कहीं थोड़ा खोदना पड़ेगा। कहीं बड़ी चट्टान हो सकती है, डॉयनामाइट लगाना पड़े। पर तीनों ही स्थितियों में, चाहे अभी झरना फूटे, चाहे घड़ी भर बाद फूटे, चाहे जन्मों बाद फूटे--झरना तो सदा मौजूद था। बाधा झरने के फूटने में न थी, बाधा झरने के प्रगट होने के बीच पड़े पत्थर के कारण थी। जनक की चेतना पर कोई भी पत्थर न रहा होगा--अहोभाव प्रगट हो गया, कृतज्ञता का ज्ञापन हो गया! नाच उठे! मगन हो गए!
"जैसे इस देह को मैं अकेला ही प्रकाशित करता हूं," जनक ने कहा, "वैसे ही संसार को भी प्रकाशित करता हूं। इसलिए तो मेरा संपूर्ण संसार है अथवा मेरा कुछ भी नहीं।"
यह आस्तिकता है। अर्जुन तो नास्तिक है। अर्जुन तो इंकार करता है। अर्जुन तो बार-बार सवाल उठाता है। अर्जुन तो हजार संदेह करता है। अर्जुन तो इस तरफ से पूछता है, उस तरफ से पूछता है। जनक ने कुछ पूछा ही नहीं। इसलिए मैंने इस गीता को महागीता कहा है। अर्जुन की नास्तिकता अंत में मिटती है, वह घर आता है। जनक में नास्तिकता है ही नहीं। वे जैसे घर के द्वार पर ही खड़े थे और किसी ने झकझोर दिया और कहा कि जनक, तुम घर पर ही खड़े

हो, कहीं जाना नहीं। और वे कहने लगे, "अहो! जैसे इस देह को मैं अकेला ही प्रकाशित करता हूं, वैसे ही संसार को भी प्रकाशित करता हूं।"
अष्टावक्र ने कहा कि तुम्हारा वह जो आत्यंतिक साक्षी-भाव रूप है, वह तुम्हारा ही नहीं है, वह तुम्हारा ही केंद्र नहीं है, वह समस्त सृष्टि का केंद्र है। ऊपर-ऊपर हम अलग-अलग, भीतर हम बिलकुल एक हैं। बाहर-बाहर हम अलग-अलग; जैसे-जैसे भीतर चले, हम एक हैं। जैसे लहरें अलग-अलग हैं सागर की छाती पर, लेकिन सागर के गहनतम में तो सारी लहरें एक हैं। ऊपर एक लहर छोटी, एक लहर बड़ी; एक लहर सुंदर, एक लहर कुरूप; एक लहर गंदी, एक लहर स्वच्छ-- ऊपर बड़े भेद हैं। लेकिन सागर में सब जुड़ी हैं। जिसको केंद्र का स्मरण आया, उसका व्यक्तित्व गया; फिर वह व्यक्ति नहीं रह जाता।
तो जनक कहते हैं, जैसे इस देह को मैं अकेला प्रकाशित करता हूं, वैसे ही सारे संसार को भी प्रकाशित करता हूं। क्या कह रहे हैं आप? भरोसा नहीं आता! कल एक युवक ने रात्रि मुझे आ कर कहा कि जो हुआ है ध्यान में, उस पर भरोसा नहीं आता। ठीक! जब कुछ होता है तो ऐसा ही होता है, भरोसा नहीं आता। हमारा भरोसा ही छोटी चीजों पर है, क्षुद्र पर है। जब विराट घटता है तो भरोसा आएगा कैसे?
जब परमात्मा तुम्हारे सामने खड़ा होगा तो तुम आश्चर्यचकित और अवाक रह जाओगे।
पश्चिम में एक बहुत बड़ा संत हुआ: तरतूलियन। उसका वचन है--किसी ने पूछा
कि तरतूलियन, ईश्वर के लिए कोई प्रमाण है? उसने कहा, एक ही प्रमाण है: ईश्वर है, क्योंकि वह भरोसेऱ्योग्य नहीं है। ईश्वर है, क्योंकि उस पर विश्वास नहीं आता। ईश्वर है, क्योंकि वह असंभव है।
यह बड़ी अनूठी बात तरतूलियन ने कही: ईश्वर है, क्योंकि असंभव है! संभव
तो संसार है, ईश्वर असंभव है। संभव तो क्षुद्र है, विराट तो असंभव है। लेकिन असंभव भी घटता है, तरतूलियन बोला। तुम राजी हो जाओ असंभव को, तो असंभव भी घटता है। जब घटता है तो बिलकुल भरोसा नहीं आता। तुम्हारी सारी जड़ें उखड़ जाती हैं, भरोसा कहां आएगा? तुम मिट जाते हो जब घटता है, तो भरोसा किसको आएगा। तुम बिखर जाते हो जब घटता है।
तुम अब तक अंधेरे जैसे हो। जब उसका सूरज निकलेगा तो तुम विसर्जित हो जाओगे।
जनक कहने लगे, "इसलिए तो या तो संपूर्ण संसार मेरा है या मेरा कुछ भी नहीं है।"
ये दो ही बातें संभव हैं। इसके बीच में कोई भी दृष्टि हो तो भ्रांत है। या तो संपूर्ण संसार मेरा है, क्योंकि मैं परमात्मा का हिस्सा हूं; चूंकि मैं परमात्मा हूं; चूंकि मैं सारे संसार का केंद्र हूं; चूंकि मेरा साक्षी सारे संसार का साक्षी है। तो या तो सारा संसार मेरा है--एक संभावना; या फिर मेरा कुछ भी नहीं है, क्योंकि मैं हूं ही कहां! साक्षी में मैं तो नहीं बचता, सिर्फ साक्षी-भाव बचता है। वहां दावेदार तो बचता नहीं, कौन दावा करेगा कि सब मेरा है?
तो जनक कहते हैं, दो संभावनाएं हैं। ये दो अभिव्यक्तियां हैं धर्म की--या तो पूर्ण या शून्य। कृष्ण ने चुना पूर्ण। उपनिषदों ने चुना पूर्ण। उस पूर्ण से ही सब निकलता, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। उस पूर्ण में ही सब लीन होता, फिर भी पूर्ण न घटता न बढ़ता।
उपनिषदों ने, कृष्ण ने, हिंदुओं ने, सूफियों ने चुना पूर्ण। बुद्ध ने चुना शून्य। यह जो जनक ने वचन कहा कि इसलिए या तो सब मेरा है, मैं पूर्ण हूं, पूर्ण परात्पर ब्रह्म हूं; और या फिर कुछ भी मेरा नहीं, मैं परम शून्य हूं! ये दोनों बातें ही सच हैं।
बुद्ध का वक्तव्य अधूरा है। कृष्ण का वक्तव्य भी अधूरा है। जनक के इस वक्तव्य में पूरी बात हो जाती है। जनक कहते हैं, दोनों बातें कही जा सकती हैं। क्यों? क्योंकि अगर मैं ही सारे जगत का केंद्र हूं तो सारा जगत मेरा। लेकिन जब मैं सारे जगत का केंद्र होता हूं तो मैं मैं ही नहीं होता; मेरा मैं-पन तो बहुत पीछे छूट जाता है; धूल की तरह उड़ता रह जाता है पीछे। यात्री

आगे निकल जाता, धूल पड़ी रह जाती है। तो फिर मेरा क्या? या फिर मेरा कुछ भी नहीं है।
अतः मम सर्वम् जगत्...
--या तो सब जगत मेरा है।
अथवा मम किंचन न,
--या फिर मेरा कुछ भी नहीं।
"आश्चर्य है कि शरीर सहित विश्व को त्याग कर किसी कुशलता से ही अर्थात उपदेश से ही अब मैं परमात्मा को देखता हूं।"
अहो सशरीरम् विश्वं परित्यज्य...।
आश्चर्य है कि मेरा शरीर गया, शरीर के साथ सारा जगत गया! त्याग घट गया! त्याग किया नहीं जाता। त्याग तो बोध की एक दशा है। त्याग कृत्य नहीं है। अगर कोई कहे, मैंने त्याग किया, तो त्याग हुआ ही नहीं। उसने त्याग में भी भोग को बना लिया। अगर कोई कहे, मैं त्यागी हूं, तो उसे त्याग का कोई भी पता नहीं। क्योंकि जब तक "मैं" है, तब तक त्याग कैसा?
त्याग का अर्थ छोड़ना नहीं है। त्याग का अर्थ जाग कर देखना है कि मेरा कुछ है ही नहीं, छोडूं कैसे? छोडूं क्या? पकड़ा हो तो छोडूं। हो तो छोडूं। तुम सुबह उठ कर यह तो नहीं कहते कि चलो अब सपने का त्याग करें। तुम यह
तो नहीं कहते सुबह उठ कर कि रात सपने में सम्राट बन गया था, बड़े स्वर्ण-महल थे, रत्न-जटित आभूषण थे, बड़े दूर-दूर तक मेरा राज्य था, सुंदर पुत्र थे, पत्नी थी--सुबह उठ कर तुम यह तो नहीं कहते कि चलो अब सब छोड़ता हूं। कहो तो तुम पागल मालूम पड़ोगे। अगर तुम सुबह उठ कर गांव में ढिंढोरा पीटने लगो कि मैंने सब त्याग कर दिया है--राज्य का, धन का, वैभव का, पत्नी-बच्चे, सब छोड़ दिए--लोग चौंकेंगे। वे कहेंगे, "कौन-सा राज्य? हमें तो पता ही नहीं कि तुम्हारे पास कोई राज्य भी था।" तुम कहोगे, रात सपने में! तो लोग हंसेंगे कि तुम पागल हो गए हो। सपने का राज्य छोड़ा तो नहीं जा सकता।
इसलिए परमज्ञान का सूत्र यही है कि जब तुम्हें दिखाई पड़ता है कि यह संसार कुछ भी नहीं है, तो छोड़ने की क्या बात है? लेकिन लोग हैं जो हिसाब रखते हैं कि कितना छोड़ा।
एक मित्र मुझे मिलने आए थे। उनकी पत्नी भी साथ थी। मित्र का नाम है बड़े दानियों में। तो मित्र की पत्नी कहने लगी कि शायद आपको मेरे पति से परिचय नहीं, ये बड़े दानी हैं! कोई लाख रुपया दान कर दिया!
पति ने जल्दी से पत्नी के हाथ पर हाथ रखा कि लाख नहीं, एक लाख दस हजार!
यह दान न हुआ, यह हिसाब हुआ। यह सौदा हुआ। यह कौड़ी-कौड़ी का हिसाब चल रहा है। अगर कहीं इनको परमात्मा मिल गया तो उसकी गर्दन पकड़ लेंगे, कि एक लाख दस हजार दिया था, बदले में क्या देते हो बोलो? दिया भी इसीलिए है कि शास्त्र कहते हैं कि यहां एक दो, वहां करोड़ गुना मिलता है। ऐसा धंधा कौन छोड़ेगा! करोड़ गुना! सुना है ब्याज? कोई धंधा देखा? जुआरी भी इतने बड़े जुआरी नहीं। करोड़ गुना तो वहां भी नहीं मिलता है। यह तो जुआरीपन हुआ। इस आशा में छोड़ा है कि लाख छोड़ेंगे तो करोड़ गुना मिलेगा। यह लोभ का ही विस्तार हुआ।
और लाख का हिसाब? तो रुपए का मूल्य अभी समाप्त नहीं हुआ है! पहले तिजोड़ी में रुपये रखते थे; अब तिजोड़ी में रुपये की जगह, क्या-क्या त्याग किया है, उसका हिसाब रख लिया है। मगर सपना टूटा नहीं।
चीन में एक बड़ी प्राचीन कथा है कि एक सम्राट का एक ही बेटा था। वह बेटा मरण-शय्या पर पड़ा था। चिकित्सकों ने कह दिया हार कर कि हम कुछ कर न सकेंगे; बचेगा नहीं, बचना असंभव है। बीमारी ऐसी थी कि कोई इलाज नहीं था। दिन दो दिन की बात थी, कभी भी मर जाएगा। तो बाप रात भर जाग कर बैठा रहा। विदा देने की बात ही थी। आंख से आंसू बहते रहे, बैठा रहा। कोई तीन बजे करीब रात को झपकी लग गई बाप को बैठे-बैठे ही। झपकी लगी तो एक सपना देखा कि एक बहुत बड़ा साम्राज्य है, जिसका वह मालिक है। उसके बारह बेटे हैं--बड़े सुंदर, युवा, कुशल, बुद्धिमान, महारथी, योद्धा! उन जैसा कोई व्यक्ति नहीं संसार में। खूब धन का अंबार है! कोई सीमा नहीं! वह चक्रवर्ती है। सारे जगत पर उसका साम्राज्य है! ऐसा सपना देखता था, तभी बेटा मर गया। पत्नी दहाड़ मार कर रो

उठी। उसकी आंख खुली। चौंका एकदम। किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। क्योंकि अभी- अभी एक दूसरा राज्य था, बारह बेटे थे, बड़ा धन था--वह सब चला गया; और इधर यह बेटा मर गया! लेकिन वह ठगा-सा रह गया। उसकी पत्नी ने समझा कि कहीं दिमाग तो खराब नहीं हो गया, क्योंकि बेटे से उसका बड़ा लगाव था। एक आंसू नहीं आ रहा आंख में। बेटा जिंदा था तो रोता था उसके लिए, अब बेटा मर गया तो रो नहीं रहा बाप। पत्नी ने उसे हिलाया और कहा, तुम्हें कुछ हो तो नहीं गया? रोते क्यों नहीं?
उसने कहा, "किस-किस के लिए रोओ? बारह अभी थे, वे मर गए। बड़ा साम्राज्य था, वह चला गया। उनके लिए रोऊं कि इसके लिए रोऊं? अब मैं सोच रहा हूं कि किस-किस के लिए रोऊं। जैसे बारह गए, वैसे तेरह गए।"
बात समाप्त हो गई, उसने कहा। वह भी एक सपना था, यह भी एक सपना है। क्योंकि जब उस सपने को देख रहा था तो इस बेटे को बिलकुल भूल गया था। ये राज्य, तू सब भूल गए थे। अब वह सपना टूट गया तो तुम याद आ गए हो। आज रात फिर सो जाऊंगा, फिर तुम भूल जाओगे। तो जो आता-जाता है, अभी है अभी नहीं, अब दोनों ही गए। अब मैं सपने से जागा। अब किसी सपने में न रमूंगा। हो गया बहुत, समय आ गया। फल पक गया, गिरने का वक्त है!
जनक कहते हैं, "आश्चर्य कि शरीर सहित विश्व को त्याग कर...।"
त्याग घट गया! अभी इंच भर भी हिले नहीं; जहां हैं वहीं हैं, उसी राजमहल में। जहां अष्टावक्र को ले आए थे निमंत्रण दे कर, बिठाया था सिंहासन पर-- वहीं बैठे हैं अष्टावक्र के सामने। कहीं कुछ गए नहीं, राज्य चल रहा है, धन-वैभव है, द्वार पर द्वारपाल खड़े हैं, नौकर-सेवक पंखा झलते होंगे। सब कुछ ठीक वैसा का वैसा है, तिजोड़ी अपनी जगह है। धन अपनी जगह है। लेकिन जनक कहते हैं, "आश्चर्य, त्याग घट गया!"
त्याग अंतर का है। त्याग भीतर का है। त्याग बोध का है।
"आश्चर्य कि इस शरीर सहित विश्व को त्याग कर किस कुशलता से...।"
और किस कुशलता से यह बात घट गई कि पत्ता न हिला और क्रांति हो गई; कि जरा-सा घाव न बना और सर्जरी पूरी हो गई! किस कुशलता से! कैसा तुम्हारा उपदेश! अब मैं परमात्मा को देखता हूं, संसार दिखाई ही नहीं पड़ रहा है। सारी दृष्टि रूपांतरित हो गई।
यह अत्यंत मूल्यवान सूत्र है: तुम जहां हो वहीं रहते, तुम जैसे हो वैसे ही रहते--क्रांति घट सकती है। कोई हिमालय भाग जाने की जरूरत नहीं है। संन्यास पलायन नहीं है, भगोड़ापन नहीं है। पत्नी है, बच्चे हैं, घर-द्वार है--सब वैसा ही रहेगा। किसी को कानों-कान खबर भी न होगी--और क्रांति घट जाएगी। यह भीतर की बात है। तुम्हीं चकित हो जाओगे कि यह हुआ क्या? अब पत्नी अपनी नहीं मालूम होगी, अब बेटा अपना नहीं मालूम होगा, मकान अपना नहीं मालूम होगा। अब भी तुम रहोगे, अब अतिथि की तरह रहोगे। सराय हो गई; घर वही है। सब वही है। करोगे काम; उठोगे, बैठोगे; दुकान-दफ्तर जाओगे; श्रम करोगे--पर अब कोई चिंता नहीं पकड़ती। एक बार यह बात दिखाई पड़ जाए कि यहां सब खेल है, बड़ा नाटक है, तो क्रांति घट जाती है।
मुझसे एक अभिनेता पूछते थे कि कहें कि मैं अभिनय में और कैसे कुशल हो जाऊं? तो मैंने कहा: एक ही सूत्र है। जो लोग जीवन में कुशल होना चाहते हों तो उनके लिए सूत्र है कि जीवन को अभिनय समझें। और जो लोग अभिनय में कुशल होना चाहते हैं, उनके लिए सूत्र है कि अभिनय को जीवन समझें। और तो कोई सूत्र नहीं है। अगर अभिनेता अभिनय को जीवन समझ ले तो कुशल हो जाता है। तब नाटक को वह असली मान लेता है।
तुम उसी अभिनेता से प्रभावित होओगे जिसके लिए कुशलता इतनी गहरी हो गई
है कि वह झूठ को सच मान लेता है। अगर अभिनेता झूठ को सच न मान पाए तो अभिनय में कुशल नहीं हो सकता। तो वह बाहर-बाहर रहेगा, भीतर न हो पाएगा। तो खड़ा- खड़ा, दूर-दूर कर लेगा काम; लेकिन तुम पाओगे, उसके प्राण उसमें रमे नहीं। गए नहीं भीतर।
अभिनेता बिलकुल भूल जाता है अभिनय में। जब कोई राम का अभिनय करता है
तो वह बिलकुल भूल जाता है, वह राम हो जाता है। जब उसकी सीता चुराई जाती है तो वह ऐसा नहीं सोचता कि अपना क्या लेना-देना है; अभी घड़ी भर बाद सब खेल

खतम, अपने घर चले जाएंगे, क्यों नाहक रोओ! क्यों पूछो वृक्षों से कि मेरी सीता कहां है? क्यों चीखो-चिल्लाओ? क्या सार है? अपनी कोई सीता है कि कुछ...? और सीता वहां है भी नहीं, कोई दूसरा आदमी सीता बना है। कुछ लेना- देना नहीं है। अगर वह अभिनय में खोए न, तो अभिनय-कुशल नहीं हो पाता। अभिनय की कुशलता यही है कि वह अभिनय को जीवन मान लेता है, वह बिलकुल यथार्थ मान लेता है। उसकी ही सीता खो गई है। वे आंसू झूठ नहीं हैं। वे आंसू सच हैं। वह ऐसे ही रोता है जैसे उसकी प्रेयसी खो गई हो। वह ऐसे ही लड़ता है। अभिनय को सच कर लेता है।
जीवन में अगर कुशलता लानी हो तो जीवन को अभिनय समझ लेना। यह भी नाटक है। देर-अबेर पर्दा उठेगा। देर-अबेर सब विदा हो जाएंगे। मंच बड़ी है माना; पर मंच ही है, कितनी ही बड़ी हो। यहां घर मत बनाना। यहां सराय में ही ठहरना। यह प्रतीक्षालय है। यह क्यू लगा है। मौत आती-जाती, लोग विदा होते चले जाते। तुम्हें विदा हो जाना है। यहां जड़ें जमा कर खड़े हो जाने की कोई जरूरत नहीं, अन्यथा उतना ही दुख होगा।
तो जो व्यक्ति इस संसार में जड़ें नहीं जमाता, वही व्यक्ति संन्यासी।
जो यहां जम कर खड़ा नहीं हो जाता, जिसका पैर अंगद का पैर नहीं है, वही संन्यासी है। जो तत्पर है सदा जाने को...। इस जगत में वही व्यक्ति संन्यासी है जो बंजारा है, खानाबदोश है।
शब्द "खानाबदोश" बहुत अच्छा है। इसका अर्थ होता है: जिसका घर अपने कंधे पर है। खाना अर्थात घर, बदोश यानी कंधे पर--जिसका घर अपने कंधे पर है। जो खानाबदोश है, वही संन्यासी है। तंबू लगा लेना ज्यादा से ज्यादा, घर मत बनाना यहां। तंबू, कि कभी भी उखाड़ लो, क्षण भर भी देर न लगे। सराय!
कहते हैं, सूफी फकीर हुआ इब्राहीम। पहले वह बल्ख का सम्राट था। एक रात उसने देखा कि सोया अपने महल में, कोई छप्पर पर चल रहा है। उसने पूछा, "कौन बदतमीज आधी रात को छप्पर पर चल रहा है? कौन है तू?"
उसने कहा, बदतमीज नहीं हूं, मेरा ऊंट खो गया है। उसे खोज रहा हूं। इब्राहीम को भी हंसी आ गई। उसने कहा, पागल! तू पागल है! ऊंट कहीं छप्परों पर मिलते हैं अगर खो जाएं? यह भी तो सोच कि ऊंट छप्पर पर पहुंचेगा कैसे?
ऊपर से आवाज आई: इसके पहले कि दूसरों को बदतमीज और पागल कह, अपने बाबत सोच। धन में, वैभव में, सुरा-संगीत में सुख मिलता है? अगर धन में, वैभव में, सुरा-संगीत में सुख मिल सकता है तो ऊंट भी छप्परों पर मिल सकते हैं। इब्राहीम चौंका। आधी रात थी, वह उठा, भागा। उसने आदमी दौड़ाए कि पकड़ो
इस आदमी को, यह कुछ जानकार आदमी मालूम होता है। लेकिन तब तक वह आदमी निकल गया। इब्राहीम ने आदमी छुड़वा रखे राजधानी में कि पता लगाओ कौन आदमी था। कोई पहुंचा हुआ फकीर मालूम होता है। क्या बात कही? किस प्रयोजन से कही है? लेकिन रात भर इब्राहीम फिर सो न सका। दूसरे दिन सुबह जब वह दरबार में बैठा था, तो वह उदास था, मलिनचित्त था, क्योंकि बात तो उसको चोट कर गई। जनक जैसा आदमी रहा होगा। चोट कर गई कि बात तो ठीक ही कहता है। अगर यह आदमी पागल है तो मैं कौन-सा बुद्धिमान हूं? किसको मिला है सुख संसार में? यहीं तो मैं भी खोज रहा हूं। सुख संसार में मिलता नहीं और अगर मिल सकता है तो फिर ऊंट भी मिल सकता है। फिर असंभव घटता है। फिर कोई अड़चन नहीं है। पर यह आदमी कौन है? कैसे पहुंच गया छप्पर पर? फिर कैसे भाग गया, कहां गया?
वह चिंता में बैठा है। बैठा है दरबार में। दरबार चल रहा है, काम की बातें चल रही हैं, लेकिन आज उसका मन यहां नहीं। मन कहीं उड़ गया। मन-पक्षी किसी दूसरे लोक में जा चुका है। जैसे त्याग घट गया! एक छोटी-सी बात, जैसे खुद अष्टावक्र छप्पर पर चढ़ कर बोल गए।
तभी उसने देखा कि दरवाजे पर कुछ झंझट चल रही है। एक आदमी भीतर आना चाहता है और दरबार से कह रहा है कि मैं इस सराय में रुकना चाहता हूं। और दरबान कह रहा है कि "पागल हो, यह सराय नहीं है, सम्राट का महल है! सराय बस्ती में बहुत हैं, जाओ वहां ठहरो।" पर वह आदमी कह रहा है, मैं यहीं ठहरूंगा। मैं पहले भी यहां ठहरता रहा हूं और यह सराय ही है। तुम किसी और को बनाना। तुम किसी और को चराना।

अचानक उसकी आवाज सुन कर इब्राहीम को लगा कि यह आवाज वही है और यह फिर वही आदमी है। उसने कहा, उसे भीतर लाओ, उसे हटाओ मत।
वह भीतर लाया गया। इब्राहीम ने पूछा कि तुम क्या कह रहे हो? यह किस तरह
की जिद कर रहे हो? यह मेरा महल है। इसको तुम सराय कहते हो? यह अपमान है! उसने कहा, अपमान हो या सम्मान हो, एक बात पूछता हूं कि मैं पहले भी यहां आया था, लेकिन तब इस सिंहासन पर कोई और बैठा था।
इब्राहीम ने कहा, वे मेरे पिताश्री थे, मेरे पिता थे।
और उस फकीर ने कहा, इसके भी पहले मैं आया था, तब कोई दूसरा ही आदमी बैठा था।
तो उसने कहा, वे मेरे पिता के पिता थे।
तो उसने कहा, इसलिए तो मैं इसको सराय कहता हूं। यहां लोग बैठते हैं, चले जाते हैं, आते हैं चले जाते हैं। तुम कितनी देर बैठोगे? मैं फिर आऊंगा, फिर कोई दूसरा बैठा हुआ मिलेगा। इसलिए तो सराय कहता हूं। यह घर नहीं है। घर तो वह है जहां बस गए तो बस गए; जहां से कोई हटा न सके, जहां से हटना संभव ही नहीं।
इब्राहीम, कहते हैं, सिंहासन से उतर गया और उसने उस फकीर से कहा कि प्रणाम करता हूं। यह सराय है। आप यहां रुकें, मैं जाता हूं। क्योंकि अब सराय में रुकने से क्या सार है?
इब्राहीम ने महल छोड़ दिया। पात्र रहा होगा, सुपात्र रहा होगा।
जनक कहते हैं कि एक क्षण में मुझे दिखाई पड़ गया कि शरीर-सहित विश्व को त्याग कर, मैं संन्यस्त हो गया हूं। यह किस कुशलता से कर दिया! यह कैसा उपदेश दिया! यह कैसी कुशलता आपकी! यह कैसी कला आपकी!
अहो शरीरम् विश्वम् परित्यज्य, कुतश्चित् कौशलात्।
--कैसी कुशलता! कैसे गुरु से मिलना हो गया!
एव मया मधुना परमात्मा विलोक्यते।
--अब मुझे सिर्फ परमात्मा दिखाई पड़ रहा है। मुझे कुछ और दिखाई नहीं पड़ता। अब यह सब परमात्मा का ही रूप मालूम होता है, उसकी ही तरंगें हैं।
"जैसे जल से तरंग, फेन और बुलबुला भिन्न नहीं, वैसे ही आत्म-विशिष्ट विश्व आत्मा से भिन्न नहीं।"
यथा न तोयतो भिन्नस्तरंगाः फेन बुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्।।
जैसे पानी में लहरें उठती हैं, बुदबुदे उठते हैं, फेन उठता। और जल से अलग नहीं। उठता उसी में है, उसी में खो जाता है। ऐसा ही परमात्मा से भिन्न यहां कुछ भी नहीं है। सब उसके बुदबुदे। सब उसका फेन। सब उसकी तरंगें। उसी में उठते, उसी में लीन हो जाते।
यथा तोयतः तरंगः फेन बुद्बुदाः भिन्नाः न।
ऐसे ही हम हैं। ऐसा मुझे दिखाई पड़ने लगा, प्रभु!
जनक कहने लगे अष्टावक्र से कि ऐसा मैं देख रहा हूं प्रत्यक्ष। यह कोई दार्शनिक का वक्तव्य नहीं है। यह एक अनुभव, गहन अनुभव से उठा हुआ वक्तव्य है कि ऐसा मैं देख रहा हूं।
तुम भी देखो! यह सिर्फ जरा-सी दृष्टि के फर्क की बात है; जिसको पश्चिम में गैस्टॉल्ट कहते हैं, गैस्टॉल्ट की बात है। गैस्टॉल्ट शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। तुमने कभी देखा होगा बच्चों की किताबों में तस्वीरें बनी होती हैं। एक तस्वीर ऐसी होती है कि उसमें अगर गौर से देखो तो कभी बुढ़िया दिखाई पड़ती है, कभी जवान औरत दिखाई पड़ती है। अगर तुम देखते रहो तो बदलाहट होने लगती है। कभी फिर बुढ़िया दिखाई पड़ती है, कभी फिर जवान औरत दिखाई पड़ने लगती है। वही लकीरें दोनों को बनाती हैं। लेकिन एक बात--तुम हैरान हो जाओगे, वह तुमने शायद खयाल न की हो--दोनों को तुम साथ-साथ न देख सकोगे, हालांकि तुमने दोनों देख लीं। उसी चित्र में तुमने बुढ़िया देख ली, उसी चित्र में तुमने जवान औरत देख ली। अब तुमको पता है कि दोनों उस चित्र में हैं। फिर भी तुम दोनों को साथ-साथ न देख पाओगे। जब तुम जवान को देखोगे, बुढ़िया खो जाएगी। जब तुम बुढ़िया को देखोगे, जवान खो जाएगी। क्योंकि वही लकीरें दोनों के काम आ रही हैं। इसको जर्मन भाषा में गैस्टॉल्ट कहते हैं।

गैस्टॉल्ट का मतलब होता है: देखने के एक ढंग से चीज एक तरह की दिखाई पड़ती है; दूसरे ढंग से दूसरे तरह की दिखाई पड?ती है। चीज तो वही है, लेकिन तुम्हारा देखने का ढंग सारा अर्थ बदल देता है।
संसार तो यही है। अज्ञानी भी देखता है इसको तो अनंत वस्तुएं दिखाई पड़ती हैं। एक गैस्टॉल्ट, एक ढंग हुआ। फिर ज्ञानी देखता इसी को तो अनंत खो जाता; अनेक-अनेक रूप खो जाते। फिर एक विराट दिखाई पड़ता।
जनक कहने लगे: एव मया अधुना परमात्मा विलोक्यते--एक परमात्मा दिखाई पड़ने लगा!
ये हरे वृक्ष उसी की हरियाली है। इन फूलों में वही रंगीन हो कर खिला। फूलों की गंध में वही हवा के साथ खिलवाड़ कर रहा है। आकाश में घिरे मेघों में वही घिरा है। तुम्हारे भीतर वही सोया है। बुद्ध और अष्टावक्र के भीतर वही जागा है। पत्थर में वही सघनीभूत पड़ा है गहन तंद्रा में। मनुष्य में वही थोड़ा चौंका है। थोड़ा जागरण शुरू हुआ है। लेकिन है वही! उसी के सब रूप हैं। कहीं उलटा खड़ा है, कहीं सीधा खड़ा है। वृक्ष आदमी के हिसाब से उलटे खड़े हैं।
कुछ दिन पहले मैं वनस्पति-शास्त्र की एक किताब पढ़ रहा था। तो चकित हुआ। बात ठीक मालूम पड़ी। उस वैज्ञानिक ने लिखा है कि वृक्षों का सिर जमीन में गड़ा है। क्योंकि वृक्ष जमीन में से भोजन करते हैं तो मुंह उनका जमीन में है। जमीन में ही से वे भोजन करते, पानी लेते, तो उनका मुंह जमीन में है, और पैर आकाश में खड़े हैं--शीर्षासन कर रहे हैं वृक्ष। बड़े प्राचीन योगी मालूम होते हैं।
उस वैज्ञानिक ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि धीरे-धीरे हम पूरे मनुष्य के विकास को इसी आधार पर समझ सकते हैं। फिर केंचुए हैं, मछलियां हैं--वे समतल हैं। वह समानांतर जमीन के हैं। उनकी पूंछ और उनका मुंह एक सीधी रेखा में जमीन के साथ समानांतर रेखा बनाता है। वह वृक्ष से थोड़ा रूपांतर हुआ। फिर कुत्ते हैं, बिल्लियां हैं, शेर हैं, चीते हैं--इनका सिर थोड़ा उठा हुआ है। समानांतर से थोड़ी बदलाहट हुई, सिर थोड़ा ऊपर उठा। कोण बदला। फिर बंदर हैं वे बैठ सकते हैं, वे करीब-करीब जमीन से नब्बे का कोण बनाने लगे, लेकिन खड़े नहीं हो सकते। वे बैठे हुए आदमी हैं। वृक्ष शीर्षासन करते हुए आदमी हैं। फिर आदमी है, वह सीधा खड़ा हो गया, नब्बे का कोण बनाता। वृक्ष से ठीक उलटा हो गया है। सिर ऊपर हो गया, पैर नीचे हो गए हैं।
बात मुझे प्रीतिकर लगी। सभी एक का ही खेल है। कहीं उलटा खड़ा, कहीं सीधा खड़ा, कहीं लेटा, कहीं सोया, कहीं जागा; कहीं दुख में डूबा, कहीं सुख में; कहीं अशांत, कहीं शांत--मगर तरंगें सब एक की हैं।
यथा तोयतः तरंगाः फेन बुद्बुदाः भिन्नाः न।
--जैसे जल से तरंग, फेन, बुदबुदा भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से कुछ भी भिन्न नहीं है। सब अभिन्न है।
इसे तुम देखो, सुनो मत! यह गैस्टॉल्ट के परिवर्तन की बात है। इसमें एक झलक में दिखाई पड़ सकता है। एक झलक! गौर से देखो, तो धीरे से तुम पाओगे कि सब एक में तिरोहित हो गया, और खो गया। एक विराट सागर लहरें मार रहा है। यह ज्यादा देर न टिकेगा, क्योंकि इसको टिकाने के लिए तुम्हारी क्षमता विकसित होनी चाहिए। लेकिन यह क्षण भर को भी दिखाई पड़े कि एक विराट लहरें मार रहा है, हम सब उसी की तरंगें हैं; एक ही सूरज प्रकाशित है, हम सब उसी की किरणें हैं; यहां एक ही संगीत बज रहा है, हम सब उसी के स्वर हैं--तो जीवन में क्रांति घट जाएगी। वह एक क्षण धीरे-धीरे तुम्हारा शाश्वत स्वरूप बन जाएगा।
इसे तुम चाहो तो पकड़ लो, चाहो तो चूक जाओ। जनक ने पकड़ लिया।
रात मैं जागा
अंधकार की सिरकी के पीछे से मुझे लगा
मैं सहसा सुन पाया सन्नाटे की कनबतियां
धीमी रहस्य-सुरीली, परम गीत में
और गीत वह मुझसे बोला
दुर्निवार! अरे तुम अभी तक नहीं जागे?

और यह मुक्त स्रोत-सा
सभी ओर बह चला उजाला
अरे, अभागे कितनी बार भरा
अनदेखे, छलक-छलक बह गया तुम्हारा प्याला!
तुम पहली दफे नहीं सुन रहे हो इन वचनों को; बहुत बार सुन चुके हो। तुम अति प्राचीन हो। हो सकता है, अष्टावक्र से भी तुमने सुना हो। तुम में से कुछ ने तो निश्चित सुना होगा। कुछ ने बुद्ध से सुना हो, कुछ ने कृष्ण से, कुछ ने क्राइस्ट से, कुछ ने मुहम्मद से, किसी ने लाओत्सु से, जरथुस्त्र से। पृथ्वी पर इतने अनंत पुरुष हुए हैं, उन सबको तुम पार करके आते गए हो। इतने दीये जले हैं, असंभव है कि किसी दीये की रोशनी तुम्हारी आंखों में न पड़ी हो। तुम्हारा प्याला बहुत बार भरा गया है।
अरे अभागे! कितनी बार भरा
अनदेखे, छलक-छलक बह गया तुम्हारा प्याला!
तुम्हारा प्याला भर भी दिया जाता है तो भी खाली रह जाता है। तुम उसे संभाल नहीं पाते।
और गीत वह मुझसे बोला
दुर्निवार! अरे, तुम अभी तक नहीं जागे?
और यह मुक्त स्रोत-सा
सभी ओर बह चला उजाला।
सुबह होने लगी। और बहुत बार सुबह हुई है, और बहुत बार सूरज निकला, पर तुम हो कि अपने अंधेरे को पकड़े बैठे हो। यह अभागापन तुम छोड़ोगे तो छूटेगा। जनक कहने लगे, एक ही दिखाई पड़ता है। मैं उसी एक में लीन हो गया हूं। वह
एक मुझमें लीन हो गया है।
वेद यह कहते हैं
जो इन्सां त्यागी, यानी संन्यासी है
वेदों से भी है बलातर
उसकी जगमग जग से बढ़कर
वह बसता है जगदीश्वर में
उसमें बसता है जगदीश्वर!
वेद यह कहते हैं
जो इन्सां त्यागी, यानी संन्यासी है
वेदों से भी है बलातर
--वेदों से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि:
उसमें बसता है जगदीश्वर
वह बसता है जगदीश्वर में!
उस घड़ी जनक की चेतना अलग न रही, एक होने लगी। चौंक गए हैं स्वयं।
"जैसे विचार करने से वस्त्र तंतुमात्र ही होता है, वैसे ही विचार करने
से यह संसार आत्म-सत्ता मात्र ही है।"
जाग कर देखने से, विवेक करने से, बोधपूर्वक देखने से...। जैसे गौर से तुम वस्त्र को देखो तो पाओगे क्या? तंतुओं का जाल ही पाओगे। एक धागा आड़ा, एक धागा सीधा--ऐसे ही रख-रख कर वस्त्र बन जाता है। तंतुओं का जाल है वस्त्र। फिर भी देखो मजा, तंतुओं को पहन न सकोगे, वस्त्र को पहन लेते हो! अगर धागे का ढेर रख दिया जाए तो उसे पहन न सकोगे। यद्यपि वस्त्र भी धागे का ढेर ही है, सिर्फ आयोजन का अंतर है; आड़ा-तिरछा, धागे की बुनावट है, तो वस्त्र बन गया। तो वस्त्र से तुम ढांक लेते हो अपने को। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ा? धागे ही रहे। कैसे तुमने रखे, इससे क्या फर्क पड़ता है?
जनक कह रहे हैं कि परमात्मा कहीं हरा हो कर वृक्ष है, कहीं लाल सुर्ख
हो कर गुलाब का फूल है; कहीं जल है, कहीं पहाड़-पर्वत है; कहीं चांदत्तारा है। ये सब उसी के चैतन्य की अलग-अलग संघटनाएं हैं। जैसे वस्त्र को धागे से बुना जाता, फिर उससे ही तुम अनेक तरह के वस्त्र बुन लेते हो: गर्मी में पहनने के लिए झीने-पतले; सर्दी में पहनने के लिए मोटे। फिर उससे ही तुम सुंदर-असुंदर, गरीब के अमीर के, सब तरह के वस्त्र बुन लेते हो। उससे ही तुम हजार-हजार रूप के निर्माण कर लेते हो।

वैज्ञानिक कहते हैं कि सारा अस्तित्व एक ही ऊर्जा से बना है। उनका नाम है ऊर्जा के लिए "विद्युत"। नाम से क्या फर्क पड़ता है? लेकिन एक बात से वैज्ञानिक राजी हैं कि सारा अस्तित्व एक ही चीज से बना है। उसी एक चीज के अलग-अलग ढांचे हैं। जैसे सोने के बहुत-से आभूषण, सभी सोने के बने हैं--गला दो तो सोना बचे। आकार बड़े भिन्न, लेकिन आकार जिस पर खड़ा है वह अभिन्न। यद्वत् पटः तंतुमात्रं
--जैसे वस्त्र केवल तंतुमात्र हैं।
इदं विवम् आत्मतन्मात्रम्
--ऐसा ही यह सारा अस्तित्व भी आत्मा-रूपी तत्व से बुना गया है।
और निश्चित ही विद्युत कहने से आत्मा कहना बेहतर है। क्योंकि विद्युत
जड़ है। और विद्युत से चैतन्य के उत्पन्न होने की कोई संभावना नहीं है। और अगर विद्युत से चैतन्य होने की संभावना है तो फिर विद्युत को विद्युत कहना व्यर्थ है। क्योंकि जो पैदा हो सकता है, वह छिपा होना चाहिए। चैतन्य दिखाई पड़ रहा है। चैतन्य प्रगट हुआ है। तो जो प्रगट हुआ है वह मूल में भी होना ही चाहिए, अन्यथा प्रगट कैसे होगा? तुमने आम का बीज बोया, आम का वृक्ष प्रगट हुआ; उसमें आम लग गए। तुमने नीम का बीज बोया, नीम प्रगट हुई; उसमें निमोलियां लग गईं।
जो बीज में है, वही प्रगट होता है, वही लगता है। इतना चैतन्य दिखाई पड़ता है दुनिया में, इतनी चेतना दिखाई पड़ती है, विभिन्न चेतना के रूप दिखाई पड़ते हैं--तो जो मूल संघट है इस अस्तित्व का, उसमें चैतन्य छुपा होना चाहिए। इसलिए विद्युत कहना उचित नहीं, आत्मा कहना ज्यादा उचित है। आत्म-विद्युत कहो, मगर चैतन्य को वहां डालना ही होगा। जो दिखाई पड़ने लगा है, वह आया है तो मूल में छिपा रहा होगा।
"जैसे विचार करने से वस्त्र तंतुमात्र ही होता है, वैसे ही विचार करने
से यह संसार आत्म-मात्र है।"
"जैसे ईख के रस से बनी हुई शक्कर ईख के रस से व्याप्त है, वैसे ही मुझसे बना हुआ संसार मुझसे भी व्याप्त है।"
जैसे तुमने ईख से शक्कर निकाल ली तो शक्कर में ईख का रस व्याप्त है, ऐसे ही चैतन्य में परमात्मा व्याप्त है, मुझमें परमात्मा व्याप्त है, तुममें परमात्मा व्याप्त है, और तुम परमात्मा में व्याप्त हो।
"आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है...!"
इसे समझना। यह बहुत महत्वपूर्ण है।
"आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है और आत्मा के ज्ञान से नहीं भासता...।"
गैस्टॉल्ट बदल जाता है, देखने का ढंग बदल जाता है।
"...जैसे कि रस्सी के अज्ञान से सांप भासता है और उसके ज्ञान से वह नहीं भासता है।"
रात के अंधेरे में देख ली रस्सी, घबड़ा गए, समझा कि सांप है। भागने लगे, लकड़ियां ले कर मारने लगे। फिर कोई दीया ले आया, तो लकड़ियां हाथ से गिर जाएंगी, भय विसर्जित हो जाएगा। प्रकाश में दिखाई पड़ गया: सांप नहीं है, रस्सी है। रस्सी को रस्सी की तरह न देख पाने के कारण सांप था। सांप था नहीं--सिर्फ आभास था।
आत्मा को आत्मा की तरह न देख पाने के कारण संसार है। जिसने स्वयं को जाना, उसका संसार मिट गया। इसका यह अर्थ नहीं कि द्वार-दरवाजे, दीवाल, पहाड़-पत्थर खो जाएंगे। न, ये सब होंगे; लेकिन ये सब एक में ही लीन हो जाएंगे। ये एक की ही विभिन्न तरंगें होंगी, फेन, बुदबुदे!
जिसने स्वयं को जाना, उसका संसार समाप्त हुआ। और जिसने स्वयं को नहीं जाना, उसका संसार कभी समाप्त नहीं होता। संसार छोड़ने से तुम स्वयं को न जान सकोगे। लेकिन स्वयं को जान लो तो संसार छूट गया।
त्याग की दो धाराएं हैं। एक धारा है जो कहती है कि संसार को छोड़ो तो तुम स्वयं को जान सकोगे। दूसरी धारा है, जो कहती है: स्वयं को जान लो, संसार छूटा ही है। पहली धारा भ्रांत है। संसार को छोड़ने से नहीं तुम स्वयं को

जान सकोगे। क्योंकि संसार के छोड़ने में भी संसार के होने का भ्रम बना रहता है।
समझो थोड़ा। रस्सी पड़ी है, सांप दिखाई पड़ा। कोई तुमसे मिलता है, वह कहता है: तुम सांप का भाव छोड़ दो तो तुम्हें रस्सी दिखाई पड़ जाएगी। तुम कहोगे: "सांप का भाव छोड़ कैसे दें? सांप दिखाई पड़ रहा है, रस्सी तो दिखाई पड़ती नहीं।" तो तुम अगर हिम्मत करके, राम-राम जप कर किसी तरह अकड़ कर खड़े हो जाओ कि चलो नहीं सांप है, रस्सी है, रस्सी है, रस्सी है, तो भी तुम्हारे भीतर तो तुम जानोगे सांप ही है, किसको झुठला रहे हो? पास मत चले जाना, कोई झंझट न हो जाए! भागते तो तुम चले ही जाओगे। तुम कहोगे, रस्सी है। माना कि रस्सी है, मगर पास क्यों जाएं?
अब जो आदमी संसार छोड़ कर भागता है--वह कहता है, संसार माया है, फिर भी भागता है। थोड़ा उससे पूछो कि अगर माया है तो भाग क्यों रहे हो? अगर है ही नहीं तो भाग कहां रहे हो? किसको छोड़ कर जा रहे हो? वह कहता है, धन तो मिट्टी है। तो फिर धन से इतने घबड़ाए क्यों हो? फिर इतने भयभीत क्यों हो रहे हो? अगर धन मिट्टी है तो मिट्टी से तो तुम भयभीत नहीं होते! तो धन से क्यों भयभीत हो रहे हो? मिट्टी है, अगर दिखाई ही पड़ गया, तो बात ठीक है; धन पड़ा रहे तो ठीक, न पड़ा रहे तो ठीक। कभी मिट्टी की जरूरत होती है तो आदमी मिट्टी का भी उपयोग करता है; धन की जरूरत हुई, धन का उपयोग कर लेता है। लेकिन अब यह सब स्वप्नवत है, खेल जैसा है।
दूसरी धारा ज्यादा गहरी और सत्य के करीब है कि तुम दीया जलाओ और रस्सी
को रस्सी की भांति देख लो, तो संसार गया, सांप गया।
"आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है और आत्मा के ज्ञान से नहीं भासता है।"
आत्मा को देख लो, संसार नहीं दिखाई पड़ता। संसार को देखो, आत्मा नहीं दिखाई पड़ती। दो में से एक ही दिखाई पड़ता है, दोनों साथ-साथ दिखाई नहीं पड़ते। अगर तुम्हें संसार दिखाई पड़ रहा है तो आत्मा दिखाई नहीं पड़ेगी। आत्मा दिखाई पड़ने लगे, संसार दिखाई नहीं पड़ेगा। इन दोनों को साथ-साथ देखने का कोई भी उपाय नहीं है।
यह तो ऐसे ही है कि जैसे तुम कमरे में बैठे हो, अंधेरा अंधेरा दिखाई पड़ रहा है। फिर तुम रोशनी ले आओ कि जरा अंधेरे को गौर से देखें, रोशनी में देखें तो और साफ दिखाई पड़ेगा। फिर कुछ भी दिखाई न पड़ेगा। रोशनी ले आए तो अंधेरा दिखाई ही न पड़ेगा। अगर अंधेरा देखना हो तो रोशनी भूल कर मत लाना। अगर अंधेरा न देखना हो तो रोशनी लाना। क्योंकि अंधेरा और रोशनी साथ-साथ दिखाई नहीं पड़ सकते। क्यों नहीं दिखाई पड़ते साथ-साथ? क्योंकि अंधेरा रोशनी का अभाव है। जब रोशनी का भाव हो जाता है तो अभाव साथ-साथ कैसे होगा? संसार आत्मज्ञान का अभाव है। जब आत्मज्ञान का उदय होगा तो संसार गया।
सब जहां का तहां रहता है और फिर भी कुछ वैसा का वैसा नहीं रह जाता। सब जहां का तहां--और सब रूपांतरित हो जाता है।
मुझसे लोग पूछते हैं कि आप संन्यास देते हैं, लेकिन लोगों को कहते नहीं कि घर छोड़ें, पत्नी छोड़ें, बच्चे छोड़ें। मैं कहता हूं कि मैं उनको यह नहीं कहता कि छोड़ें; मैं उनको इतना ही कहता कि आत्मवत हों, आत्मवान हों, ताकि दिखाई पड़ने लगे कि जो है वह है। जो है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। जो नहीं है, उसे छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है।
हम जो देखना चाहें देख लेते हैं।
अदालत में एक मुकदमा था। मजिस्ट्रेट ने पूछा, मुल्ला नसरुद्दीन को,
इन एक जैसी सैकड़ों भैंसों में से, तुमने अपनी ही भैंस को किस तरह पहचान लिया?
नसरुद्दीन बोला, यह कौन-सी बड़ी बात है मालिक! आपकी कचहरी में काले कोट पहने सैकड़ों वकील खड़े हैं, फिर भी मैं अपने वकील को पहचान ही रहा हूं कि नहीं?
कहने लगा, जिसको हम पहचानना चाहते हैं, पहचान ही लेते हैं। अपनी भैंस
भी पहचान लेता है आदमी; क्योंकि एक ही जैसी भैंसें हैं--वकीलों जैसी!

जो हम जानना चाहते हैं, उसे हम जान ही लेते हैं। जो हम पहचानना चाहते हैं उसे हम पहचान ही लेते हैं। हमारा अभिप्राय ही हमारे जीवन की सार्थकता बन जाता है। इस संसार से जागना हो तो संसार से जूझना मत। इस संसार से जागना हो तो सिर्फ भीतर जागने की कोशिश करना।
मुल्ला नसरुद्दीन और उसकी पत्नी अपनी गोद में एक खेलते हुए बच्चे को
ले कर नृत्य का एक कार्यक्रम देखने गए। दरबान ने उन्हें चेतावनी दी कि नसरुद्दीन, यदि नृत्य के दौरान बच्चा रोया तो तुम्हें हाल से उठ जाना पड़ेगा। और यदि चाहोगे तो तुम्हारी टिकटों के दाम भी हम लौटा देंगे, मगर फिर बैठने न देंगे, तो खयाल रखना। लगभग आधा कार्यक्रम पूरा हो जाने के बाद नसरुद्दीन ने पत्नी से पूछा, नृत्य कैसा लग रहा है?
एकदम बेकार है! श्रीमती ने उत्तर दिया।
तो उसने कहा, फिर देर क्या कर रही हो, काटो एक चुटकी बेबी को।
जब तुम संसार को बिलकुल बेकार जान लो तो देर मत करना। काटना एक चुटकी। भीतर झकझोरना अपने को, जगाना अपने को। अपनी जाग से सब हो जाता है। जागरण महामंत्र है-- एकमात्र मंत्र!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक आठवां प्रवचन

नियंता नहीं -- साक्षी बनो

पहला प्रश्न: मुझे लगता है कि मेरा शरीर एक पिंजड़े या बोतल जैसा है, जिसमें एक बड़ा शक्तिशाली सिंह कैद है, और वह जन्मों- जन्मों से सोया हुआ था, लेकिन आपके छेड़ने से वह जाग गया है। वह भूखा है और पिंजरे से मुक्त होने के लिए बड़ा बेचैन है। दिन में अनेक बार वह बौखला कर हुंकार मारता, गर्जन करता, और ऊपर की ओर उछलता है। उसकी हुंकार, गर्जन, और ऊपर की ओर उछलने के धक्के से मेरा रोआं-रोआं कंप जाता है, और माथे व सिर का ऊपरी हिस्सा ऊर्जा से फटने लगता है। इसके बाद मैं एक अजीब नशे व मस्ती में डूब जाता हूं। फिर वह सिंह जरा शांत होकर कसमसाता, चहलकदमी करता व गुर्राता रहता है। और फिर कीर्तन में या आपके स्मरण से वह मस्त हो कर नाचता भी है! अनुकंपा करके समझायें कि यह क्या हो रहा है?

पूछा है "योग चिन्मय" ने।
शुभ हो रहा है! जैसा होना चाहिए, वैसा हो रहा है। इससे भयभीत मत होना। इसे होने देना। इसके साथ सहयोग करना। एक अनूठी प्रक्रिया शुरू हुई है, जिसका अंतिम परिणाम मुक्ति है।
हम निश्चित ही शरीर में कैद हैं। सिंह पिंजड़े में बंद है! बहुत समय से बंद है, इसलिए सिंह भूल ही गया है अपनी गर्जना को। बहुत समय से बंद है, और सिंह सोचने लगा है कि यह पिंजड़ा ही उसका घर है। इतना ही नहीं, सोचने लगा है कि मैं पिंजड़ा ही हूं। देहोऽहम्! मैं शरीर ही हूं!
चोट करनी है! उसी के लिए तुम मेरे पास हो कि मैं चोट करूं और तुम जगो।
ये वचन जो मैं तुमसे बोल रहा हूं, सिर्फ वचन नहीं हैं; इन्हें तीर समझना; ये छेदेंगे तुम्हें। कभी तुम नारज भी हो जाओगे मुझ पर, क्योंकि सब शांत चल रहा था, सुविधापूर्ण था, और बेचैनी खड़ी हो गई। लेकिन जागने का और कोई उपाय नहीं; पीड़ा से गुजरना होगा।
जब भीतर की ऊर्जा उठेगी, तो शरीर राजी नहीं होता उसे झेलने को; शरीर उसे झेलने को बना नहीं है। शरीर की सामर्थ्य बड़ी छोटी है; ऊर्जा विराट है। जैसे कोई किसी छोटे आंगन में पूरे आकाश को बंद करना चाहे।
तो जब ऊर्जा जगेगी, तो शरीर में कई उत्पात शुरू होंगे। सिर फटेगा। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि पूर्ण ज्ञान के बाद भी शरीर में उत्पात जारी रहते हैं। ज्ञान की घटना के पहले तो बिलकुल स्वाभाविक हैं, क्योंकि शरीर राजी नहीं है। जैसे जिस बिजली के तार में सौ कैंडल की बिजली दौड़ाने की क्षमता हो, उसमें हजार कैंडल की बिजली दौड़ा दो, तो तार झनझना जायेगा, जल उठेगा! ऐसे ही जब तुम्हारे भीतर ऊर्जा जगेगी--जो सोयी पड़ी थी--प्रगट होगी, तो तुम्हारा शरीर उसके लिए राजी नहीं है। शरीर तुम्हारा भिखमंगा होने के लिए राजी है, सम्राट होने को राजी नहीं है। शरीर की सीमा है, तुम्हारी कोई सीमा नहीं है। झकझोरे लगेंगे, आंधियां उठेंगी। ज्ञान की घटना के पहले, समाधि के पहले तो ये झकझोरे बिलकुल स्वाभाविक हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाधि भी घट जाती है, और झकझोरे जारी रहते हैं, आंधी जारी रहती है; क्योंकि शरीर राजी नहीं हो पाता।
कृष्णमूर्ति के मामले में ऐसा ही हुआ है। चालीस साल से, परमज्ञान की उपलब्धि के बाद भी प्रक्रिया जारी है, शरीर झटके झेल नहीं पाता। कृष्णमूर्ति आधी रात में चिल्ला कर, चीख कर, उठ आते हैं; गुर्राने लगते हैं--वस्तुतः गुर्राने लगते हैं। और सिर में चालीस साल से दर्द बना हुआ है, जो जाता नहीं; आता है, जाता है, लेकिन पूरी तरह जाता नहीं। दर्द कभी इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सिर फटने लगता है।
कृष्णमूर्ति के पिछले चालीस वर्ष शरीर की दृष्टि से बड़े कष्ट के रहे। ऐसा कभी-कभी होता है। अक्सर तो समाधि के साथ-साथ शरीर राजी हो जाता है। लेकिन कृष्णमूर्ति के साथ इसलिए नहीं हो पाया शांत, क्योंकि समाधि के लिए बड़ी चेष्टा की गई। थियोसाफी के जिन विचारकों ने कृष्णमूर्ति को बड़ा किया,

उन्होंने बड़ा प्रयास किया, समाधि को लाने के लिए बड़ी अथक चेष्टा की। उनकी आकांक्षा थी कि एक जगतगुरु को वे पैदा करें; जगत को जरूरत है--कोई बुद्धावतार पैदा हो।
कृष्णमूर्ति ने अगर अपनी ही चेष्टा से काम किया होता तो शायद उन्हें एकाध-दो जन्म और लग जाते। लेकिन तब यह अड़चन न होती। त्वरा के साथ काम किया गया; जो दो जन्मों में होना चाहिए था, वह शीघ्रता से घट गया। घट तो गया, लेकिन शरीर राजी नहीं हो पाया। आकस्मिक घट गया; शरीर तैयार न था, और घट गया। तो चालीस वर्ष शारीरिक पीड़ा के रहे। आज भी कृष्णमूर्ति रात गुर्राते हैं, नींद से उठ-उठ आते हैं। ऊर्जा सोने नहीं देती। चीखते हैं!
यह थोड़ी हैरानी की बात मालूम होगी कि परमज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति रात
को चीखे! लेकिन पूरा गणित साफ है। जिस घटना को घटने में दो जन्म कम से कम लगते, वह बड़ी शीघ्रता से घटा ली गई। उसके लिए शरीर तैयार नहीं हो पाया था, इसलिए प्रक्रिया अभी भी जारी है। घटना घट गई, और तैयारी जारी है। घर पहुंच गये, और शरीर पीछे रह गया है। वह अभी भी घिसट रहा है। आत्मा घर पहुंच गई, शरीर घर नहीं पहुंचा है। वह जो घिसटन है, वह जारी है; उससे दर्द है, पीड़ा है।
तो इससे घबड़ाना मत। ये समाधि के आने की पहली खबरें हैं। ये समाधि के पहले चरण हैं। इन्हें सौभाग्य मानना, इनसे राजी हो जाना। इन्हें सौभाग्य मान कर राजी हो जाओगे तो शीघ्र ये धीरे-धीरे शांत हो जायेंगे। और जैसे- जैसे शरीर इनके लिए राजी होने लगेगा, सहयोग करने लगेगा, वैसे-वैसे शरीर की पात्रता और क्षमता बढ़ जायेगी।
उस असीम को पुकारा है, तो असीम बनना होगा। उस विराट को चुनौती दी है,
तो विराट बनना होगा।
पुरानी बाइबिल में बड़ी अनूठी कथा है--जैकब की। जैकब ईश्वर की खोज करने में लगा है। उसने अपनी सारी संपत्ति बेच दी; अपने सारे प्रियजनों, अपनी पत्नी, अपने बच्चे, अपने नौकर, सबको अपने से दूर भेज दिया। वह एकांत नदी तट पर ईश्वर की प्रतीक्षा कर रहा है। ईश्वर का आगमन हुआ।
लेकिन घटना बड़ी अदभुत है, कि जैकब ईश्वर से कुश्ती करने लगा! अब ईश्वर
से कोई कुश्ती करता है! लेकिन जैकब ईश्वर से उलझने लगा। कहते हैं, रात भर दोनों लड़ते रहे। सुबह होतेऱ्होते, भोर होतेऱ्होते, जैकब हार पाया। जब ईश्वर जाने लगे, तो जैकब ने ईश्वर के पैर पकड़ लिए और कहा, "अब मुझे आशीर्वाद तो दे दो!" ईश्वर ने कहा, "तेरा नाम क्या है?" तो जैकब ने अपना नाम बताया, कहा, "मेरा नाम जैकब है।" ईश्वर ने कहा, "आज से तू इजरायल हुआ"--जिस नाम से यहूदी जाने जाते हैं--"आज से तू इजरायल। अब तू जैकब न रहा; जैकब मर गया।" जैसे मैं तुम्हारा नाम बदल देता हूं, जब संन्यास देता हूं। पुराना गया! ईश्वर ने जैकब को कहा, "जैकब मर गया; अब से तू इजरायल है।"
यह कहानी पुरानी बाइबिल में है। ऐसी कहानी कहीं भी नहीं कि कोई आदमी ईश्वर से लड़ा हो। लेकिन इस कहानी में बड़ी सचाई है। जब वह परम-ऊर्जा उतरती है तो करीब-करीब जो घटना घटती है वह लड़ाई जैसी ही है। और जब वह परम घटना घट जाती है और तुम ईश्वर से हार जाते हो और तुम्हारा शरीर पस्त हो जाता है और तुम हार स्वीकार कर लेते हो--तो तुम्हारी परम-दीक्षा हुई! उसी घड़ी ईश्वर का आशीर्वाद बरसता है। तब तुम नये हुए। तभी तुमने पहली बार अमृत का स्वाद चखा।
तो "योग चिन्मय" करीब-करीब वहां हैं, जहां जैकब रहा होगा। रात कितनी बड़ी होगी, कहना कठिन है। संघर्ष कितना होगा, कहना कठिन है। कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। लेकिन शुभ है संघर्ष।
इस ऊर्जा को सहारा देना। यह जो सिंह भीतर मुक्त होना चाहता है, यही तुम हो। यह जो ऊर्जा उठना चाहती है सिर की तरफ, काम-केंद्र से सहस्रार की तरफ जाना चाहती है, राह बनाना चाहती है--यही तुम हो। यह जन्मों-जन्मों से कुंडली मार कर पड़ी थी; अब यह फन उठाना शुरू कर रही है। सौभाग्यशाली हो, धन्यभागी हो! इसी से परम आशीर्वाद के करीब आओगे! तुम्हारा वास्तविक रूपांतरण होगा!

कृष्णमूर्ति ने अपनी नोटबुक में लिखा है, कि जब भी यह सिर फटता है और रात मैं सो नहीं पाता और चीख-पुकार उठती है, और कोई मेरे भीतर गुर्राता है-- उसके बाद ही बड़े अनूठे अनुभव घटते हैं। उसके बाद ही बड़ी शांति उतरती है। चारों तरफ वरदान की वर्षा होती है। सब तरफ कमल ही कमल खिल जाते हैं।
ठीक वैसा ही "चिन्मय" को होना शुरू हुआ, अच्छा है।
"इसके बाद मैं एक अजीब नशे और मस्ती में डूब जाता हूं।"
क्योंकि जब ऊर्जा अपना संघर्ष करके ऊपर उठेगी और शरीर थोड़ा-सा राजी होगा, तो एक नई मस्ती आयेगी: विकास हुआ! तुम थोड़े ऊपर उठे। तुमने थोड़ा अतिक्रमण किया। तुम कारागृह के थोड़े-से बाहर हुए, स्वतंत्र आकाश मिला! तुम प्रफुल्लित होओगे। तुम नाचोगे, तुम मगन हो कर नाचोगे!
"फिर वह सिंह शांत होकर कसमसाता, चहलकदमी करता, गुर्राता रहता है, और कीर्तन में या आपके स्मरण से मस्त होकर नाचता भी है।"
वह सिंह नाचना ही चाहता है; शरीर में जगह नहीं है नाचने लायक। नाचने
को स्थान तो चाहिये; शरीर में स्थान कहां है? शरीर के बाहर ही नृत्य हो सकता है। इसलिये अगर तुम ठीक से नाचोगे, तो तुम पाओगे कि तुम शरीर नहीं रहे। नाच की आखिरी गरिमा में, आखिरी ऊंचाई पर, तुम शरीर के बाहर हो जाते हो। शरीर फिरकता रहता, थिरकता रहता; लेकिन तुम बाहर होते हो, तुम भीतर नहीं होते।
इसलिए तो मैं ध्यान की प्रक्रियाओं में नृत्य को अनिवार्य रूप से जोड़ दिया हूं; क्योंकि नृत्य से अदभुत ध्यान के लिए और कोई प्रक्रिया नहीं है। अगर तुम भरपूर नाच लो, अगर तुम समग्ररूप से नाच लो, तो उस नाच में तुम्हारी आत्मा शरीर के बाहर हो जाएगी। शरीर थिरकता रहेगा, लेकिन तुम अनुभव करोगे कि तुम शरीर के बाहर हो। और तब तुम्हारा असली नृत्य शुरू होगा: यहां शरीर नीचे नाचता रहेगा, तुम वहां ऊपर नाचोगे। शरीर पृथ्वी पर, तुम आकाश पर! शरीर पार्थिव में, तुम अपार्थिव में! शरीर जड़ नृत्य करेगा, तुम चैतन्य का नृत्य करोगे। तुम नटराज हो जाओगे।
पूछा है, "समझायें यह क्या हो रहा है?"
अनूठा हो रहा है! अदभुत हो रहा है! अपूर्व हो रहा है! समझाने योग्य नहीं है, जो हो रहा है: अनुभव करने योग्य है। जो भी मैं कहूंगा, उससे कुछ समझ में नहीं आयेगा; उससे इतना ही हो सकता है कि तुम ज्यादा सरलता से इसे स्वीकार करने में समर्थ हो जाओ। इससे राजी हो जाओ। इसे दबाना मत! स्वाभाविक मन होता है दबाने का, कि यह क्या पागलपन है कि मैं सिंह की तरह गुर्रा रहा हूं! यह गर्जना कैसी! लोग पागल समझेंगे! तो स्वाभाविक मन होता है कि दबा लो इसे, छिपा लो इसे! मत किसी को पता चलने दो! कोई क्या कहेगा!
फिक्र मत करना! कौन क्या कहता है, इसकी फिक्र मत करना। लोग पागल कहें
तो पागल हो जाना! पागल हुए बिना कभी कोई परमहंस हुआ है? तुम तो अपने भीतर पर ध्यान देना। अगर इससे आनंद आ रहा है, मस्ती आ रही है, सुरा बरस रही है, तो तुम फिक्र मत करना। इस संसार के पास कुछ भी नहीं है! इतना मूल्यवान तुम्हें देने को। इसलिए इस संसार से कोई सौदा मत करना। इंच भर भी आत्मा मत बेचना, अगर पूरे जगत का साम्राज्य भी बदले में मिलता हो।
जीसस ने कहा है, पूरा जगत भी मिल जाये, और आत्मा खो जाये, तो क्या सार? आत्मा बच जाये, और सारा जगत भी खो जाये, तो भी सार ही सार है।
हिम्मत रखना! साहस रखना! भरोसे से, श्रद्धा से बढ़े जाना! जल्दी ही धीरे-धीरे करके शरीर राजी हो जायेगा। तब गर्जना भी खो जायेगी; तब नृत्य ही रह जायेगा। तब सिंह तड़फेगा नहीं, क्योंकि सिंह को रास्ता मिल जायेगा; जब जाना चाहे बाहर चला जाये, जब आना चाहे तब भीतर आ जाये। तब यह देह कारागृह नहीं रह जाती, तब यह देह विश्राम का स्थल हो जाती है। तुम जब आना हो भीतर आ जाओ, जब तुम जाना हो बाहर चले जाओ।
जब तुम इतनी सरलता से बाहर-भीतर आ सकते हो, जैसे अपने घर में आते-जाते हो--सर्दी है, शीत लग रही, तो तुम बाहर चले जाते हो, धूप में बैठ जाते हो। फिर धूप बढ़ गई, सूरज चढ़ आया, गरमी होने लगी, पसीना बहने लगा--तुम उठ कर भीतर चले आते हो। जैसे तुम अपने घर में बाहर-भीतर आते हो, तो घर कारागृह नहीं

है--ऐसा अगर तुम कारागृह में बैठे हो, तो इतनी सुविधा नहीं है कि जब तुम्हारा दिल हो बाहर आ जाओ, जब तुम्हारा दिल हो भीतर आ जाओ। कारागृह में तुम बंदी हो, घर में तुम मालिक हो। जैसे-जैसे तुम्हारा सिंह नाच सकेगा बाहर, उड़ सकेगा आकाश में, चांदत्तारों के साथ खेल सकेगा--फिर कोई बात नहीं। फिर शरीर से कोई झगड़ा नहीं है; फिर शरीर विश्राम का स्थल है। जब थक जायेगा, तुम भीतर लौट कर विश्राम भी करोगे। फिर शरीर से कोई दुश्मनी भी नहीं है। शरीर फिर मंदिर है।

दूसरा प्रश्न: कल आपने कहा कि आप तो सदा हमारे साथ हैं, लेकिन हमारे संन्यास लेने से हम भी आपके साथ हो लेते हैं। मुझे तो ऐसा कोई क्षण स्मरण नहीं आता, जब मैंने संन्यास लिया हो: कब लिया, कहां लिया! आपने ही दिया था। मैं आप तक पहुंचा कहां हूं अभी! मुझे तब कुछ पता न था संन्यास का, और न आज ही है। तो कैसे होऊं संन्यस्त, प्रभु? कैसे आऊं मैं आप तक? मेरी उतनी पात्रता कहां! मेरी उतनी श्रद्धा व समर्पण कहां!

ऐसा भी बहुत बार हुआ है कि मैंने संन्यास उनको भी दिया है, जिन्हें संन्यास का कोई भी पता नहीं। उन्हें भी संन्यास दिया है, जो संन्यास लेने आये नहीं थे। उन्हें भी संन्यास दिया है, जिन्होंने कभी स्वप्न में भी संन्यास के लिए नहीं सोचा था। क्योंकि तुम्हारे मन को ही मैं नहीं देखता, तुम्हारे मन के अचेतन में दबी हुई बहुत-सी बातों को देखता हूं।
कल रात्रि ही एक युवती आई। उससे मैंने पूछा भी नहीं। उससे मैंने कहा, "आंख बंद कर और संन्यास ले।" उससे मैंने पूछा भी नहीं कि तू संन्यास चाहती है? उसने आंख बंद कर ली, और संन्यास स्वीकार कर लिया। अन्यथा आदमी चौंकता है। आदमी सोचता है! संन्यास लेना है तो महीनों सोचते हैं कुछ लोग, वर्षों सोचते हैं। कुछ तो सोचते-सोचते मर गये और नहीं ले पाये। उसने चुपचाप स्वीकार कर लिया। उसे चेतन रूप से कुछ भी पता नहीं है।
लेकिन हम नये थोड़े ही हैं--हम अति प्राचीन हैं! वह युवती बहुत जन्मों
से खोजती रही है। ध्यान की उसके पास संपदा है। उस संपदा को देख कर ही मैंने कहा कि तू डूब, आंख बंद कर! उससे मैंने कहा, तुझसे मैं पूछूंगा नहीं कि तुझे संन्यास लेना या नहीं। पूछने की कोई जरूरत नहीं है।
ऐसा ही मैंने "दयाल" को भी संन्यास दिया था। दयाल का यह प्रश्न है। दयाल से पूछा नहीं है, दयाल को पता भी नहीं है।
तुम्हें अपना ही पता कहां है! तुम कहां से आते हो, पता नहीं। क्या-क्या संचित संपदा लाते हो, पता नहीं। क्या-क्या तुमने किया है अनेक-अनेक जन्मों में, उसका तुम्हें पता नहीं। क्या-क्या तुमने खोज लिया था, क्या-क्या अधूरा रह गया है, उसका तुम्हें कुछ पता नहीं। हर बार मौत आती है, और तुमने जो किया था, सब चौपट कर जाती है। तुममें से बहुत ऐसे हैं, जो बहुत बार संन्यस्त हो चुके हैं--हर बार मौत आ कर चौपट कर गई। और तुम्हारी इतनी स्मृति नहीं है कि तुम याद कर लो।
ऐसा ही समझो कि तुम एक काम कर रहे थे, तुम एक चित्र बना रहे थे, अधूरा बना पाये थे कि मौत आ गई। बस मौत आ गई कि तुम भूल गए। फिर तुम जन्मे। फिर अगर तुम्हें वह अधूरे चित्र की सूचना भी मिल जाये, वह अधूरा चित्र भी तुम्हारे सामने ला कर रख दिया जाये, तो भी तुम्हें याद नहीं आता; क्योंकि तुमने तो सोचा ही नहीं इस जन्म में, कि मैं और चित्रकार! और अगर मैं तुमसे कहूं कि इसे पूरा कर लो, यह अधूरा पड़ा है; तुमने बड़ी आकांक्षा से बनाया था; तुमने बड़ी गहन अभीप्सा से रचा था--अब इसे पूरा कर लो, मौत बीच में आ गई थी, अधूरा छूट गया था। तुम कहोगे, "मुझे तो कुछ पता नहीं, आप पकड़ा देते हैं तूलिका तो ठीक है; लेकिन मुझे तूलिका पकड़ना भी नहीं आता है। आप रख देते हैं ये रंग, तो ठीक है रंग दूंगा; लेकिन मुझे कुछ पता नहीं कि चित्र कैसे बनाये जाते हैं।" फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि शुरू करो, शुरू करने से ही याद आ जायेगी। चलो, पकड़ो तूलिका हाथ में, याद आ जाये शायद!
ऐसा हुआ, दूसरे महायुद्ध में, एक सैनिक गिरा चोट खा कर, उसकी स्मृति खो
गई गिरते ही। सिर पर चोट लगी, स्मृति के तंतु अस्तव्यस्त हो गये, वह भूल

गया। वह भूल गया--अपना नाम भी! वह भूल गया मैं कौन हूं! और युद्ध के मैदान से जब वह लाया गया तो वह बेहोश था; कहीं उसका तगमा भी गिर गया, उसका नंबर भी गिर गया। बड़ी कठिनाई खड़ी हो गई। जब वह होश में आया तो न उसे अपना नंबर पता है, न अपना नाम पता है, न अपना ओहदा पता है। मनोवैज्ञानिकों ने बड़ी चेष्टा की खोज-बीन करने की; सब तरह के उपाय किये, कुछ पता न चले। वह आदमी बिलकुल कोरा हो गया; जैसे अचानक उसकी स्मृतियों से सारा संबंध टूट गया। फिर किसी ने सुझाव दिया कि अब एक ही उपाय है कि इसे इंग्लैंड में घुमाया जाये। वह इंग्लैंड की सेना का आदमी था। इसे इंग्लैंड में घुमाया जाए, शायद अपने गांव के पास पहुंच कर इसे याद आ जाये।
तो उसे इंग्लैंड में घुमाया गया ट्रेन पर बिठा कर; दो आदमी उसे ले कर चले। हर स्टेशन पर गाड़ी रुकती, वह उसे नीचे उतारते। वह देखता खड़े हो कर! वह थक गए। इंग्लैंड छोटा मुल्क है, इसलिए बहुत अड़चन न थी, सब जगह घुमा दिया। और अंततः एक छोटे-से स्टेशन पर, जहां गाड़ी रुकती भी नहीं थी, लेकिन किसी कारणवश रुक गई, वह आदमी नीचे उतरा, उसने स्टेशन पर लगी तख्ती देखी, उसने कहा, "अरे, यह रहा मेरा गांव!" वह दौड़ने लगा। वह पीछे भूल ही गया कि मेरे साथ दो आदमी हैं। वे दो आदमी उसके पीछे भागने लगे। वह स्टेशन से निकल कर गांव में दौड़ा। सब याद आ गया! गली-कूचे याद आ गये। उसने किसी से पूछा भी नहीं। गली-कूचों को पार करके वह अपने घर के सामने पहुंच गया। उसने कहा, "अरे! यह रहा मेरा घर, यह रहा मेरा नाम! यह मेरी तख्ती भी लगी है!" उसे सब याद आ गई। बस एक चोट पड़ी कि फिर उसे सारी याद आ गई। विस्मृति खो गई, स्मृति का तंतु फिर जुड़ गया।
तो कभी-कभी मैं, जैसे "दयाल" को संन्यास दिया, इसी आशा में कि घुमाऊंगा गेरुए वस्त्रों में, शायद याद आ जाये कि तुम पहले भी गेरुए वस्त्रों में घूमे हो! कि कहूंगा: नाचो! शायद नाचते-नाचते किसी दिन उस मनोअवस्था में पहुंच जाओ, जहां तुम्हें अतीत जन्मों के नृत्य याद आ जायें। कहूंगा: ध्यान करो! ध्यान करते-करते शायद अचेतन का कोई द्वार खुल जाये, स्मृतियों का बहाव आ जाये!
इसीलिए तो बोले चला जाता हूं--कभी गीता पर, कभी अष्टावक्र पर, कभी जरथुस्त्र पर, कभी बुद्ध पर, कभी जीसस पर, कभी कृष्ण पर! न-मालूम कौन-सा शब्द तुम्हारे भीतर गूंज बना दे; न-मालूम कौन-सा शब्द तुम्हारे भीतर कुंजी बन जाये; न-मालूम कौन-सा शब्द तुम्हें जगा दे तुम्हारी नींद से! सब उपाय किये चला जाता हूं। कोशिश सिर्फ इतनी है, कि किसी तरह मृत्युओं ने जो बीच-बीच में आ कर तोड़ दिया है और तुम्हारा जीवन अस्तव्यस्त हो गया है, उसमें एक सिलसिला पैदा हो जाये, उसमें एकतानता आ जाये, एकरसता आ जाए। बस एकरसता आते ही तुम्हारी नियति करीब आने लगेगी। तुमने घर तो बहुत बार बनाया, अधूरा- अधूरा छूट गया।
इसलिए "दयाल" ठीक ही कहता है कि मुझे तो ऐसा कोई क्षण स्मरण नहीं आता
जब मैंने संन्यास लिया हो। उसने लिया भी नहीं, मैंने दिया है।
"कब लिया, कहां लिया! आपने ही दिया था। मैं आप तक पहुंचा कहां हूं अभी!" मुझ तक तो तुम तभी पहुंचोगे, जब तुम तुम तक पहुंच जाओगे। मुझ तक पहुंचने का और कोई उपाय भी नहीं। अपने तक पहुंच जाओ कि मुझ तक पहुंच गये। स्वयं को जान लो, तो मुझे जान लिया। मेरे पास आने के लिए बाहर की कोई यात्रा नहीं करनी है--अंतरतम, और अंतरतम में उतर जाना है।
"न मुझे तब कुछ पता था संन्यास का और न आज ही पता है।"
होगा, शीघ्र ही पता होगा। न तब पता था, न आज पता है--यह सच है। लेकिन यह मनोदशा अच्छी है कि तुम सोचते हो, जानते हो कि तुम्हें पता नहीं। दुर्भाग्य तो उनका है जिनको पता नहीं, और सोचते हैं कि पता है। तुम तो ठीक स्थिति में हो। यही तो निर्दोष चित्त की बात है कि मुझे पता नहीं है! तो तुम खाली हो, तो तुम्हें भरा जा सकता है। कुछ हैं जिन्हें कुछ भी पता नहीं है--और बहुत है उनकी संख्या--लेकिन सोचते हैं उन्हें पता है। इसी भ्रांति के कारण, पता हो सकता है, उससे भी वंचित रह जाते हैं।
ज्ञान रोक लेता है, ज्ञान तक जाने से। अगर तुम्हें पता है कि मैं अज्ञानी हूं, तो तुम ठीक दिशा में हो। ऐसी निर्दोषचित्तता में ही ज्ञान की

परम घटना घटती है। यह जानना कि मैं नहीं जानता हूं, जानने की तरफ पहला कदम है।,
"मेरी पात्रता कहां! मेरी उतनी श्रद्धा और समर्पण कहां!"
यह पात्र व्यक्ति के हृदय में ही भाव उठता है कि मेरी पात्रता कहां! अपात्र तो समझते हैं, हम जैसा सुपात्र कहां! यह विनम्र भाव ही तो पात्रता है कि मेरी पात्रता कहां, कि मेरा समर्पण कहां, कि मेरी श्रद्धा कहां! यही तो श्रद्धा की सूचना है। बीज मौजूद हैं, बस समय की प्रतीक्षा है: ठीक अनुकूल समय पर, ठीक अनुकूल ऋतु में, अंकुरण होगा, क्रांति घटेगी।
और यह यात्रा तो अनूठी यात्रा है। यह यात्रा तो अपरिचित, अज्ञेय की यात्रा है।
मुसलसल खामोशी की ये पर्दापोशी,
अबस है कि अब राजदां हो गये हम।
सुकूं खो दिया हमने तेरे जुनूं में,
तेरे गम में शोला-बजां हो गये हम।
हुए इस तरह खम जमानों के हाथों,
कभी तीर थे, अब कमां हो गये हम।
न रहबर न कोई रफीके-सफर है,
ये किस रास्ते पर रवां हो गये हम।
हमें बेखुदी में बड़ा लुत्फ आया,
कि गुम हो के मंजिलनिशां हो गये हम।
यह मंजिल ऐसी है कि खो कर मिलती है। तुम जब तक हो, तब तक नहीं मिलेगी; तुम खोये कि मिलेगी।
हमें बेखुदी में बड़ा लुत्फ आया,
जहां तुम नहीं, जहां तुम्हारा अहंकार गया, जहां बेखुदी आई...।
हमें बेखुदी में बड़ा लुत्फ आया,
कि गुम हो के मंजिलनिशां हो गये हम।
कि खो कर और पहुंच गये! यह रास्ता मिटने का रास्ता है।
तो अगर तुम्हें लगता है, "मेरी समर्पण की पात्रता कहां?" तो मिटना शुरू हो गये, बेखुदी आने लगी। अगर तुम्हें लगता है कि "मेरी श्रद्धा कहां?" तो बेखुदी आने लगी, तुम मिटने लगे।
संन्यास यही है कि तुम मिट जाओ, ताकि परमात्मा हो सके।
न रहबर, न कोई रफीके-सफर है!
यह तो बड़ी अकेले की यात्रा है।
न रहबर, न कोई रफीके-सफर है!
न कोई साथी है, न कोई मार्गदर्शक है। अंततः तो गुरु भी छूट जाता है, क्योंकि वहां इतनी जगह भी कहां! प्रेम-गली अति सांकरी, तामें दो न समायें! वहां इतनी जगह कहां कि तीन बन सकें! दो भी नहीं बनते। तो शिष्य हो, गुरु हो, परमात्मा हो, तब तो तीन हो गए! वहां तो दो भी नहीं बनते। तो वहां गुरु भी छूट जाता है। वहां तुम भी छूट जाते; वहां परमात्मा ही बचता है।
न रहबर, न कोई रफीके-सफर है
ये किस रास्ते पर रवां हो गये हम।
संन्यास तो बड़ी अनजानी यात्रा है; बड़ी हिम्मत, बड़े साहस की यात्रा है!
जो अनजान में उतरने का जोखिम ले सकते हैं--उनकी। यह होशियारों, हिसाब लगाने वालों का काम नहीं। यह कोई गणित नहीं है। यह तो प्रेम की छलांग है।

तीसरा प्रश्न: आपने कहा कि "तू अभी, यहीं, इसी क्षण मुक्त है"; लेकिन मैं इस "मैं" से कैसे मुक्त होऊं?
कैसे पूछा कि चूक गये; फिर समझे नहीं। यही तो अष्टावक्र का पूरा उपदेश है: अनुष्ठान...। "कैसे" यानी अनुष्ठान; "कैसे" यानी किस विधि से; विधि- विधान। "कैसे" पूछा कि चूक गये, फिर अष्टावक्र समझ में नहीं आयेंगे। फिर तुम पतंजलि के दरवाजे पर खटखटाओ, फिर वे बतायेंगे: "कैसे"। अगर "कैसे" में बहुत जिद है, तो पतंजलि तुम्हारे लिए मार्ग होंगे। वे तुम्हें बहुत-सा बतायेंगे कि करो यम, नियम, संयम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,

समाधि। वे इतना फैलायेंगे कि तुम भी कहोगे: महाराज, थोड़ा कम! कोई सरल तरकीब बता दें; यह तो बहुत बड़ा हो गया, इसमें तो जन्मों लग जायेंगे।
अधिक योगी तो यम ही साधते रहते हैं; नियम तक भी नहीं पहुंच पाते। अधिक योगी तो आसन ही साधते-साधते मर जाते हैं--कहां धारणा, कहां ध्यान! आसन ही इतने हैं; और आसन की ही साधना पूरी हो जाये तो कठिन मालूम होती है। बहुत खोज करने वाले ज्यादा-से-ज्यादा धारणा तक पहुंच पाते हैं। और घटना तो समाधि में घटेगी। और समाधि को भी पतंजलि दो में बांट देते हैं: सविकल्प समाधि; निर्विकल्प समाधि। वे बांटते चले जाते हैं, सीढ़ियां बनाते चले जाते हैं। वे जमीन से ले कर आकाश तक सीढ़ियां लगा देते हैं।
अगर तुम्हें "कैसे" में रुचि है--अनुष्ठान में--तो फिर तुम पतंजलि से पूछो। हालांकि आखिर में पतंजलि भी कहते हैं कि अब सब छोड़ो, बहुत हो गया "करना"। मगर कुछ लोग हैं जो बिना किये नहीं छोड़ सकते, तो करना पड़ेगा।
ऐसा ही समझो कि छोटा बच्चा है घर में, शोरगुल मचाता है, ऊधम करता है; तुम कहते हो, "बैठ शांत", तो वह बैठ भी जाता है तो भी उबलता है। हाथ-पैर उसके कंप रहे हैं, सिर हिला रहा है--वह कुछ करना चाहता है, उसके पास ऊर्जा है। यह कोई ढंग नहीं है उसको बिठाने का। इसमें तो खतरा है। इसमें तो विस्फोट होगा। इसमें तो वह कुछ न कुछ करेगा। बेहतर तो यह है कि उससे कहो कि जा, दौड़ कर जरा घर के सात चक्कर लगा आ। फिर वह खुद ही हांफते हुए आ कर शांत बैठ जायेगा। फिर तुम्हें कहना न पड़ेगा, शांत हो जा। उसी कुर्सी पर शांत हो कर बैठ जायेगा, जिस पर पहले शांत नहीं बैठ पाता था।
पतंजलि उनके लिए हैं, जो सीधे शांत नहीं हो सकते। वे कहते हैं, सात चक्कर लगा आओ। दौड़-धूप कर लो काफी। शरीर को आड़ा-तिरछा करो, शीर्षासन करो, ऐसा करो, वैसा करो। कर-करके आखिर एक दिन तुम पूछते हो कि महाराज, अब करने से थक गये! वे कहते हैं, यह अगर तुम पहले ही कह देते, तो हम भी बचते, तुम भी बचते; अब तुम शांत हो कर बैठ जाओ!
आदमी करना चाहता है। क्योंकि बिना किए तुम्हारे तर्क में ही नहीं बैठता कि बिना किये कुछ हो सकता है! अष्टावक्र तुम्हारे तर्क के बाहर हैं। अष्टावक्र तो कहते हैं, तुम मुक्त हो! तुम फिर गलत समझे। तुम कहते हो, "तू अभी मुक्त, यहीं मुक्त"; लेकिन मैं इस "मैं" से कैसे मुक्त होऊं?" अष्टावक्र यह कहते हैं कि यह "कैसे" की बात ही तब है, जब कोई मान ले कि मैं अमुक्त हूं। तो तुमने एक बात तो मान ही ली पहले ही कि मैं बंधन में हूं, अब कैसे मुक्त होऊं? अष्टावक्र कहते हैं: बंधन नहीं है--भ्रांति है बंधन की। तुम फिर कहोगे, इस भ्रांति से कैसे मुक्त होएं? तो भी तुम्हें समझ में न आया, क्योंकि भ्रांति का अर्थ ही होता है कि नहीं है, मुक्त क्या होना है? देखते ही, जागते ही--मुक्त हो।
अगर तरकीबों में पड़े, तो बड़ी मुश्किल में पड़ोगे।
हर तरकीब खोटी पड़ गई,
आखिर जिंदगी छोटी पड़ गई।
ऐसे अगर तरकीबों में पड़े तो तुम पाओगे कि एक जिंदगी क्या, अनेक जिंदगियां छोटी हैं। तरकीबें बहुत हैं। कितने-कितने जन्मों से तो तरकीबें साधते रहे! करने पर तुम्हारा भरोसा है, क्योंकि करने से अहंकार भरता है।
अष्टावक्र कह रहे हैं, कुछ करो मत। करने वाला परमात्मा है। जो हो रहा है, हो रहा है; तुम उसमें सम्मिलित हो जाओ। तुम इतना भी मत पूछो कि इस "मैं" से कैसे मुक्त होऊं? अगर यह "मैं" हो रहा है तो होने दो; तुम हो कौन, जो इससे मुक्त होने की चेष्टा करो? तुम इसे भी स्वीकार कर लेते हो कि ठीक है, अगर यह हो रहा है, तो यही हो रहा है। तुमने तो बनाया नहीं। याद है, तुमने कब बनाया इसे? तुमने तो ढाला नहीं। तुम तो इसे लाये नहीं। तो जिसे तुम नहीं लाये, उससे तुम छूट कैसे सकोगे? जो तुमने ढाला नहीं, उसे तुम मिटाओगे कैसे? तुम कहते हो, क्या कर सकते हैं? दो आंखें मिलीं, एक नाक मिली, ऐसा यह अहंकार भी मिला। यह सब मिला है। अपने हाथ में कुछ भी नहीं। तो जो है ठीक है। "मैं" भी सही, यह भी ठीक है।

इसमें रंचमात्र भी शिकायत न रखो। उस बे-शिकायत की भाव-दशा में, उस परम स्वीकार में, तुम अचानक पाओगे: गया "मैं"! क्योंकि "मैं" बनता ही कर्ता से है। जब तुम कुछ करते हो, तो "मैं" बनता है।
अब तुम एक नई बात पूछ रहे हो, कि "मैं" को कैसे मिटाऊं? तो यह मिटाने वाला "मैं" बन जायेगा, कहीं बच न पाओगे तुम। इसलिए तो विनम्र आदमी का भी अहंकार होता है--और कभी- कभी अहंकारी आदमी से ज्यादा बड़ा होता है।
तुमने देखा विनम्र आदमी का अहंकार! वह कहता है, मैं आपके पैर की धूल! मगर उसकी आंख में देखना, वह क्या कह रहा है! अगर तुम कहो कि आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं, हमको तो पहले ही से पता था कि आप पैर की धूल हैं, तो वह झगड़ने को खड़ा हो जायेगा। वह यह कह नहीं रहा है कि आप भी इसको मान लो। वह तो यह कह रहा है कि आप कहो कि आप जैसा विनम्र आदमी... दर्शन हो गये बड़ी कृपा! वह यह कह रहा है कि आप खंडन करो कि "आप, और पैर की धूल? आप तो स्वर्ण-शिखर हैं! आप तो मंदिर के कलश हैं!" जैसे-जैसे तुम कहोगे ऊंचा, वह कहेगा कि नहीं, मैं बिलकुल पैर की धूल हूं। लेकिन जब कोई कहे कि मैं पैर की धूल हूं, तुम अगर स्वीकार कर लो कि आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं, सभी ऐसा मानते हैं कि आप बिलकुल पैर की धूल हैं, तो वह आदमी फिर तुम्हारी तरफ कभी देखेगा भी नहीं। वह विनम्रता नहीं थी--वह नया अहंकार का रंग था; अहंकार ने नये वस्त्र ओढ़े थे, विनम्रता के वस्त्र ओढ़े थे।
तो तुम अगर "मैं" से छूटने की कोशिश किये, तो यह जो छूटने वाला है, यह
एक नये "मैं" को निर्मित कर लेगा। आदमी पैरहन बदलता है! कपड़े बदल लिये, मगर तुम तो वही रहोगे।
अष्टावक्र की बात समझने की कोशिश करो; जल्दी मत करो कि क्या करें, कैसे अहंकार से छुटकारा हो? करने की जल्दी मत करो; थोड़ा समझने के लिए विश्राम लो। अष्टावक्र यह कह रहे हैं कि "मैं" बनता कैसे है, यह समझ लो-- करने से बनता है, चेष्टा से बनता है, यत्न से बनता है, सफलता से बनता है। तो तुम जहां भी यत्न करोगे, वहीं बन जायेगा।
तो फिर एक बात साफ हो गई कि अगर अहंकार से मुक्त होना है तो यत्न मत करो, चेष्टा मत करो। जो है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लो। उसी स्वीकार में तुम पाओगे: अहंकार ऐसे मिट गया, जैसे कभी था ही नहीं। क्योंकि उसको जो ऊर्जा देने वाला तत्व था, वह खिसक गया; बुनियाद गिर गई, अब भवन ज्यादा देर न खड़ा रहेगा।
और अगर कर्ता का भाव गिर जाये, तो जीवन की सारी बीमारियां गिर जाती हैं; अन्यथा जीवन में बड़े जाल हैं। धन की दौड़ भी कर्ता की दौड़ है। पद की दौड़ भी कर्ता की दौड़ है। प्रतिष्ठा की दौड़ भी कर्ता की दौड़ है। तुम दुनिया को कुछ करके दिखाना चाहते हो।
मेरे पास कई लोग आ जाते हैं, वे कहते हैं कि ऐसा कुछ मार्ग दें कि दुनिया में कुछ करके दिखा जायें। क्या करके दिखाना चाहते हो? कि नहीं, वे कहते हैं कि "नाम रह जाये। हम तो चले जायेंगे, लेकिन नाम रह जाए!" नाम रहने से क्या प्रयोजन? तुम्हारे नाम में और किसी की कोई उत्सुकता नहीं है, सिवाय तुम्हारे। जब तुम्हीं चले गये, कौन फिक्र करता है! जब तुम्हीं न बचोगे, तो तुम्हारा नाम क्या खाक बचेगा? तुम न बचे, जीवंत, तो नाम तो केवल तख्ती थी, वह क्या खाक बचेगा? कौन फिक्र करता है तुम्हारे नाम की? और नाम बच भी गया तो क्या सार है? किन्हीं किताबों में दबा पड़ा रहेगा, तड़फेगा वहां! सिकंदर का नाम है, नेपोलियन का नाम है--क्या सार है?
नहीं, लेकिन हमें बचपन से ये रोग सिखाये गये हैं। बचपन से यह कहा गया है: "कुछ करके मरना, बिना करे मत मर जाना! अच्छा हो तो अच्छा, नहीं तो बुरा करके मरना, लेकिन नाम छोड़ जाना।" लोग कहते हैं, "बदनाम हुए तो क्या, कुछ नाम तो होगा ही। अगर ठीक रास्ता न मिले, तो उलटे रास्ते से कुछ करना, लेकिन नाम छोड़ कर जाना!" लोग ऐसे दीवाने हैं कि पहाड़ जाते हैं, तो पत्थर पर नाम खोद आते हैं। पुराना किला देखने जाते हैं, तो दीवालों पर नाम लिख आते हैं। और जो आदमी नाम लिख रहा है, वह यह भी नहीं देखता कि दूसरे नाम पोंछ कर लिख रहा है। तुम्हारा नाम कोई दूसरा पोंछ कर लिख जायेगा। तुम दूसरे का पोंछ कर लिख रहे हो। दूसरों के लिखे हैं, उनके ऊपर तुम अपना लिख रहे हो--और मोटे

अक्षरों में; कोई और आ कर उससे मोटे अक्षरों में लिख जायेगा। किस पागलपन में पड़े हो?
अलबेले अरमानों ने सपनों के बुने हैं जाल कई।
एक चमक ले कर उठे हैं, जज्बाते-पामाल कई।
रूप की मस्ती,प्यार का नशा,नाम की अजमत,जर का गुरूर
धरती पर इन्सां के लिए हैं, फैले मायाजाल कई।
अपनी-अपनी किस्मत है, और अपनी-अपनी फितरत है,
खुशियों से पामाल कई हैं, गम से मालामाल कई।
इंसानों का काल पड़ा है, वक्त कड़ा है दुनिया पर,
ऐसे कड़े कब वक्त पड़े थे, यूं तो पड़े हैं काल कई।
दिल की दौलत कम मिलती है, दौलत तो मिलती है बहुत,
दिल उनके मुफलिस थे हमने देखे अहलेमाल कई।
कितने मंजर पिनहां हैं, मदहोशी की गहराई में,
होश का आलम एक मगर, मदहोशी के पाताल कई।
कितने मंजर पिनहां हैं मदहोशी की गहराई में! यह जो हमारी मूर्च्छा है, इसमें कितने दृश्य छिपे हैं--दृश्य के बाद दृश्य; परदे के पीछे परदे; कहानियों के पीछे कहानियां! यह जो हमारी मूर्च्छा है, इसमें कितने पाताल छिपे हैं--धन के, पद के, प्रतिष्ठा के, सपनों के! जाल बिछे हैं!
कितने मंजर पिनहां हैं मदहोशी की गहराई में,
होश का आलम एक मगर, मदहोशी के पाताल कई।
लेकिन जो होश में आ गया है, उसका आलम एक है, उसका स्वभाव एक है, उसका स्वरूप एक है, उसका स्वाद एक है!
बुद्ध ने कहा है: "जैसे चखो सागर को कहीं भी तो खारा है, ऐसा ही तुम मुझे चखो तो मैं सभी जगह से होशपूर्ण हूं। मेरा एक ही स्वाद है--होश।"
वही स्वाद अष्टावक्र का है। कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं--साक्षी!
तो यह तो पूछो ही मत: कैसे! क्योंकि "कैसे" में तो कर्ता आ गया, भोक्ता
आ गया--तो तुम चूक गये; अष्टावक्र की बात चूक गये। अष्टावक्र इतना ही कहते हैं: जो भी है, उसे देखो; साक्षी बनो। बस देखो! अहंकार है तो अहंकार को देखो; करने का क्या है? सिर्फ देखो--और देखने से क्रांति घटित होती है। तुम समझे बात? बात थोड़ी जटिल है, लेकिन जटिल इतनी नहीं कि समझ में न आये। बात सीधी-साफ भी है। अष्टावक्र कह रहे हैं कि तुम सिर्फ देखो, तो देखने में कर्ता तो रह नहीं जाता, मात्र साक्षी रह जाते हो। कर्ता हटा कि कर्ता से जिन-जिन चीजों को रस मिलता था, बल मिलता था, वे सब गिर जायेंगी। बिना कर्ता के धन की दौड़ कहां? पद की दौड़ कहां? बिना कर्ता के अहंकार कहां? वे सब अपने-आप गिरने लगेंगे।
एक बात साध लो--साक्षी; शेष कुछ भी करने को नहीं है। शेष सब अपने से हो जायेगा। शेष सदा होता ही रहा है। तुम नाहक ही बीच-बीच में खड़े हो जाते हो। मैंने सुना है, एक हाथी एक पुल पर से गुजरता था। हाथी का वजन--पुल कंपने लगा! एक मक्खी उसकी सूंड़ पर बैठी थी। जब दोनों उस पार हो गये, तो मक्खी ने कहा, "बेटा! हमने पुल को बिलकुल हिला दिया।" हाथी ने कहा, "देवी! मुझे तेरा पता ही न था, जब तक तू बोली न थी कि तू भी है।"
यह तुम जो सोच रहे हो तुमने पुल को हिला दिया, यह तुम नहीं हो--यह जीवन-ऊर्जा है। तुम तो मक्खी की तरह हो, जो जीवन-ऊर्जा पर बैठे कहते हो, "बेटा, देखो कैसा हिला दिया!"
यह अहंकार तो सिर्फ तुम्हारे ऊपर बैठा है। तुम्हारी जो अनंत ऊर्जा है, उससे सब कुछ हो रहा है। वह परमात्मा की ऊर्जा है; उसमें तुम्हारा कुछ लेना-देना नहीं है। वही तुममें श्वास लेता, वही तुममें जागता, वही तुममें सोता; तुम बीच में ही अकड़ ले लेते हो। इतना जरूर है कि तुम जब अकड़ लेते हो तो वह बाधा नहीं डालता।
हाथी ने तो कम-से-कम बाधा डाली। हाथी ने कहा कि देवी, मुझे पता ही न था
कि तू भी मेरे ऊपर बैठी है। इतना तो कम-से-कम हाथी ने कहा; परमात्मा इतना भी नहीं कहता। परमात्मा परम मौन है।

तुम अकड़ते हो तो अकड़ लेने देता है। तुम उसके कृत्य पर अपना दावा करते
हो तो कर लेने देता है। जो तुमने किया ही नहीं है, उसको भी तुम कहते हो मैं कर रहा हूं, तो भी वह बीच में आ कर नहीं कहता कि नहीं, तुम नहीं, मैं कर रहा हूं! क्योंकि उसके पास तो कोई "मैं" है नहीं, तो कैसे तुमसे कहे कि मैं कर रहा हूं? इसलिए तुम्हारी भ्रांति चलती जाती है।
लेकिन गौर से देखो, थोड़ा आंख खोल कर देखो: तुम्हारे किये थोड़े ही कुछ
हो रहा है; सब अपने से हो रहा है!
यही नियति का अपूर्व सिद्धांत है, भाग्य का अपूर्व सिद्धांत है कि सब अपने से हो रहा है। गलत लोगों ने उसके गलत अर्थ ले लिये, गलत लोगों की भूल। अन्यथा भाग्य का इतना ही अर्थ है कि भाग्य के सिद्धांत को अगर तुम ठीक से समझ लो, तो तुम साक्षी रह जाओगे, और कुछ करने को नहीं है फिर। लेकिन भाग्य से लोग साक्षी तो न बने, अकर्मण्य बन गये; अकर्ता तो न बने, अकर्मण्य बन गये।
अकर्ता और अकर्मण्य में भेद है। अकर्मण्य तो काहिल है, सुस्त है, मुर्दा है। अकर्ता ऊर्जा से भरा है--सिर्फ इतना नहीं कहता कि मैं कर रहा हूं। परमात्मा कर रहा है! मैं तो सिर्फ देख रहा हूं। यह लीला हो रही है, मैं देख रहा हूं।
आदमी बहुत बेईमान है; सुंदरतम सत्यों का भी बड़ा कुरूपतम उपयोग करता है। भाग्य बड़ा सुंदर सत्य है। उसका केवल इतना ही अर्थ है कि सब हो रहा है; तुम्हारे किये कुछ नहीं हो रहा है। सब नियत है। जो होना है, होगा। जो होना है, होता है। जो हुआ है, होना था। तुम किनारे बैठ कर शांति से देख सकते हो लीला, कोई तुम्हें बीच में उछल-कूद करने की जरूरत नहीं है। तुम्हारे आगे- पीछे दौड़ने से कुछ भी फर्क नहीं पड़ रहा है; जो होना है, वही हो रहा है। जो होना है, वही होगा। फिर तुम साक्षी हो जाते हो।
साक्षी की तरफ ले जाने के लिए भाग्य का ढांचा खोजा गया था। लोग साक्षी
की तरफ तो नहीं गये; लोग अकर्मण्य हो कर बैठ गये। उन्होंने कहा, जब जो होना है, होना है, तो फिर ठीक; फिर हम करें ही क्यों? अभी भी धारणा यही रही कि हमारे करने का कोई बल है, हम करें ही क्यों? पहले कहते थे, हम करके दिखायेंगे; अब कहते हैं, करने में सार क्या! मगर कर्ता का भाव न गया; वह अपनी जगह खड़ा हुआ है।
अष्टावक्र को अगर तुम समझो, तो कोई विधि नहीं है, कोई अनुष्ठान नहीं है। अष्टावक्र कहते हैं: अनुष्ठान ही बंधन है; विधि ही बंधन है; करना ही बंधन है।

चौथा प्रश्न: आपकी अनुकंपा से आकाश देख पाता हूं; प्रकाश के अनुभव भी होते हैं, और भीतर के बहाव के साथ भी एक हो पाता हूं। लेकिन जब कामवासना पकड़ती है, तब उसमें भी उतना ही डूबना चाहता हूं, जितना ध्यान में। कृपया बतायें, यह मेरी कैसी स्थिति है?

पहली बात: कामवासना के भी साक्षी बनो। उसके भी नियंता मत बनो। उसको भी जबर्दस्ती नियंत्रण में लाने की चेष्टा मत करो, उसके भी साक्षी रहो। जैसे और सब चीजों के साक्षी हो वैसे ही कामवासना के भी साक्षी रहो।
कठिन है, क्योंकि सदियों से तुम्हें सिखाया गया कि कामवासना पाप है।
उस पाप की धारणा मन में बैठी है।
इस जगत में पाप है ही नहीं--बस परमात्मा है। यह धारणा छोड़ो। इस जगत में
एक ही है रूप समाया सब में--वह परमात्मा है। क्षुद्र से क्षुद्र में वही, विराट से विराट में वही! निम्न में वही, श्रेष्ठ में वही! कामवासना में भी वही है, और समाधि में भी वही है। यहां पाप कुछ है ही नहीं।
इसका यह अर्थ नहीं कि मैं यह कह रहा हूं कि तुम कामवासना में ही अटके
रह जाओ। मैं सिर्फ इतना कह रहा हूं: उसे भी तुम परमात्मा का ही एक रूप समझो। और भी रूप हैं। शायद कामवासना पहली सीढ़ी है उसके रूप की। थोड़ा-सा स्वाद समाधि का कामवासना में फलित होता है, इसलिए इतना रस है। जब और बड़ी समाधि घटने लगेगी, तो वह रस अपने से खो जायेगा।

जिन मित्र ने पूछा है कि "ध्यान में लीन होता हूं, भीतर के बहाव के साथ
एक हो पाता हूं, कामवासना पकड़ती है, तब उसमें भी उतना ही डूबना चाहता हूं।" डूबो! रोकने की कोई जरूरत नहीं है। बस डूबते-डूबते साक्षी बने रहना। देखते रहना कि डुबकी लग रही है। देखते रहना कि कामवासना ने घेरा। असल में "कामवासना" शब्द ही निंदा ले आता है मन में। ऐसा कहना: परमात्मा के एक ढंग ने घेरा; यह परमात्मा की ऊर्जा ने घेरा; यह परमात्मा की प्रकृति ने घेरा; परमात्मा की माया ने घेरा! लेकिन कामवासना शब्द का उपयोग करते ही--पुराने सहयोग, संबंध शब्द के साथ गलत हैं--ऐसा लगता है पाप हुआ; साक्षी रहना मुश्किल हो जाता है--या तो मूर्च्छित हो जाओ और या नियंता हो जाओ। साक्षी होना न तो मूर्च्छित होना है और न नियंता होना है--दोनों के मध्य में खड़ा होना है। एक तरफ गिरो, कुंआ; एक तरफ गिरो, खाई--बीच में रह जाओ, तो सधे, तो समाधि।
ये दोनों आसान हैं। कामवासना में मूर्च्छित हो जाना बिलकुल आसान है; बिलकुल भूल जाना कि क्या हो रहा है, नशे में हो जाना आसान है। कामवासना को नियंत्रण कर लेना, जबर्दस्ती रोक लेना, सम्हाल लेना, वह भी आसान है। मगर दोनों में ही तुम चूक रहे हो। व्यभिचारी भी चूक रहा है, ब्रह्मचारी भी चूक रहा है। वास्तविक ब्रह्मचर्य तो तब घटित होता है, जब तुम दोनों के मध्य में खड़े हो, जब तुम सिर्फ देख रहे हो। तब तुम पाओगे कि कामवासना भी शरीर में ही उठी और शरीर में ही गूंजी; मन में थोड़ी छाया पड़ी, और विदा हो गई। तुम तो दूर खड़े रहे! तुममें कैसी कामवासना! तुममें वासना हो ही कैसे सकती है? तुम तो द्रष्टा-मात्र हो।
और अक्सर ऐसा होगा कि जब ध्यान ठीक लगने लगेगा, तो कामवासना जोर पकड़ेगी। यह तुम समझ लो, क्योंकि अधिक लोगों को ऐसा होगा। ध्यान जब ठीक लगने लगेगा, तो तुम्हारे जीवन में एक विश्राम आयेगा, तनाव कम होगा। तो जन्मों-जन्मों से तुमने जो जबर्दस्ती की थी, कामवासना के साथ जो दमन किया था, वह हटेगा। तो दबी-दबाई वासना तेज ज्वाला की तरह उठेगी। इसलिए ध्यान के साथ अगर कामवासना उठे, तो घबड़ाना मत, यह ठीक लक्षण है कि ध्यान ठीक जा रहा है; ध्यान काम कर रहा है; ध्यान तुम्हारे तनाव हटा रहा है, नियंत्रण हटा रहा है, तुम्हारा दमन हटा रहा है; ध्यान तुम्हें सहज प्रकृति की तरफ ला रहा है।
पहले ध्यान तुम्हें प्रकृतिस्थ करेगा और फिर परमात्मा तक ले जायेगा। क्योंकि जो अभी नैसर्गिक नहीं है, उसका स्वाभाविक होना असंभव है। जो अभी प्रकृति के साथ भी नहीं है, वह परमात्मा के साथ नहीं हो सकता। तो ध्यान पहले तुम्हें प्रकृति के साथ ले जाएगा, फिर तुम्हें परमात्मा के साथ ले जाएगा। प्रकृति, परमात्मा का बाह्य आवरण है। अगर उससे भी तुम्हारा मेल नहीं है, तो अंतरतम के परमात्मा से कैसे मेल होगा? प्रकृति तो परमात्मा के मंदिर की सीढ़ियां हैं। अगर तुम सीढ़ियां ही न चढ़े, तो मंदिर के अंतर्गृह में कैसे प्रवेश होगा?
अगर तुम मेरी बात समझ पाओ, तो अब और दमन मत करो! अब चुपचाप उसे भी स्वीकार कर लो। परमात्मा जो दृश्य दिखाता है, शुभ ही होगा। परमात्मा दिखाता है, तो शुभ ही होगा। तुम नियंत्रण मत करो, और न तुम निर्णायक बनो, और न तुम पीछे से खड़े होकर यह कहो कि यह ठीक और यह गलत; मैं ऐसा करना चाहता और ऐसा नहीं करना चाहता। तुम सिर्फ देखो!
उम्र ढलती जा रही है,
शमा-ए-अरमां भी पिघलती जा रही है,
रफ्त-रफ्ता आग बुझती जा रही है,
शौक रमते जा रहे हैं,
सैल थमते जा रहे हैं,
राग थमता जा रहा है,
खामोशी का रंग जमता जा रहा है,
आग बुझती जा रही है।
ठीक हो रहा है। लेकिन इसके पहले कि आग बुझे, आखिरी लपट उठेगी। तुम चिकित्सकों से पूछो, मरने के पहले आदमी थोड़ी देर को बिलकुल स्वस्थ हो जाता

है; सब बीमारियां खो जाती हैं। जो मुर्दे की तरह बिस्तर पर पड़ा था, उठ कर बैठ जाता है, आंख खोल देता है, ताजा मालूम पड़ता है। मरने के थोड़ी देर पहले सब बीमारियां खो जाती हैं, क्योंकि जीवन आखिरी छलांग लेता है, ऊर्जा जीवन की फिर से उठती है।
तुमने देखा, दीया बुझने के पहले आखिरी भभक से जलता है! इसके पहले कि आखिरी तेल चुक जाये, आखिरी बूंद तेल की पी कर भभक उठता है। वह आखिरी भभक है। सुबह होने के पहले रात देखा, कैसी अंधेरी हो जाती है! वह आखिरी भभक है। ऐसे ही ध्यान में भी जब तुम गहरे उतरोगे, तो तुम पाओगो, आग जब बुझने के करीब आने लगती है, तो आखिरी भभक...। काम-ऊर्जा भी उठेगी।
उम्र ढलती जा रही है
शमा-ए-अरमां भी पिघलती जा रही है
--कामना का दीया पिघल रहा है, उम्र ढल रही है।
रफ्ता-रफ्ता आग बुझती जा रही है।
शौक रमते जा रहे हैं,
सैल थमते जा रहे हैं,
--प्रवाह रुक रहा है जीवन का।
राग थमता जा रहा है,
खामोशी का रंग जमता जा रहा है।
--ध्यान का रंग जम रहा है, मौन का रंग जम रहा है।
खामोशी का रंग जमता जा रहा है।
आग बुझती जा रही है।
इसमें किसी भी घड़ी भभक उठेगी। ऐसी भभक ही उठ रही है। उसे देख लो। उसे दबा मत देना, अन्यथा फिर तुम्हारे भीतर सरक जायेगी। छुटकारा होने के करीब है, तुम उसे दबा मत लेना; अन्यथा फिर बंधन शुरू हो जायगा। जो दबाया गया है, वह फिर-फिर निकलेगा। जिसके साथ तुमने जबर्दस्ती की है, वह फिर-फिर आयेगा। जाने ही दो, निकल ही जाने दो, बह जाने दो। होने दो भभक कितनी ही बड़ी, तुम शांत भाव से देखते रहो। तुम्हारे ध्यान में कुछ बाधा नहीं पड़ती इससे। तुम साक्षी बने रहो!

पांचवां प्रश्न: आपने कहा कि किसी भी बंधन में मत पड़ो, शांत और सुखी हो जाओ। तो क्या संन्यास भी एक बंधन नहीं है? और क्या विधि, उपाय व प्रक्रिया भी बंधन नहीं हैं? कृपया समझाएं!

अगर बात समझ में आ गई तो पूछो ही मत। अगर पूछते हो तो बात समझ में आई नहीं। अगर बात समझ में आ गई मेरी कि किसी बंधन में मत पड़ो, शांत और सुखी हो जाओ, तो समझते से ही तुम सुखी और शांत हो जाओगे; फिर यह प्रश्न कहां? सुखी और शांत आदमी प्रश्न पूछता है? सब प्रश्न अशांति से उठते, दुख से उठते, पीड़ा से उठते।
अगर तुम अभी भी प्रश्न पूछ रहे हो, तो तुम शांत अभी भी हुए नहीं; संन्यास की जरूरत पड़ेगी। अगर शांत तुम हो जाओ, तो क्या जरूरत संन्यास की? संन्यास हो गया!
लेकिन अपने को धोखा मत दे लेना! संन्यास लेने की हिम्मत न हो, अष्टावक्र का सहारा मत ले लेना। हां, अगर शांत हो गए हो तो कोई संन्यास की जरूरत नहीं है। शांति की खोज में ही तो आदमी संन्यास लेता है।
अगर तुम सुखी हो गए, समझते ही सुखी हो गये, अगर जनक जैसे पात्र हो, तो बात खतम हो गई। मगर तब यह प्रश्न न उठता। जनक ने प्रश्न नहीं पूछा; जनक ने कहा, "अहो प्रभु! तो मैं मुक्त हूं? आश्चर्य कि अब तक कैसे माया-मोह में पड़ा रहा!"

तुम अगर जनक जैसे पात्र होते, तो तुम कहते, "धन्य! तो मैं मुक्त हूं! तो
अब तक कैसे माया-मोह में पड़ा रहा!" तुम यह प्रश्न पूछते ही नहीं।
मामला ऐसा है कि संन्यास लेने की कामना मन में है, हिम्मत नहीं है। अष्टावक्र को सुन कर तुमने सोचा, यह अच्छा हुआ कि संन्यास में बंधन है, कोई पड़ने की जरूरत नहीं! और दूसरे बंधन छोड़ोगे कि सिर्फ संन्यास का ही बंधन छोड़ोगे? और संन्यासी तुम अभी हो ही नहीं, तो उसे छोड़ने का कोई उपाय नहीं है, जो तुम्हारे पास ही नहीं है। और बंधन क्या-क्या छोड़ोगे? पत्नी छोड़ोगे? घर छोड़ोगे? धन छोड़ोगे? पद छोड़ोगे? मन छोड़ोगे? कर्ता छोड़ोगे? अहंकार-भाव छोड़ोगे? और क्या-क्या छोड़ोगे जो तुम्हारे पास है? निश्चित जो तुम्हारे पास है वही तुम छोड़ सकते हो। यह तो संन्यासियों को पूछने दो, जो संन्यासी हो गये हैं। तुम तो अभी संन्यासी हुए नहीं। यह तो संन्यासी पूछे कि क्या अब छोड़ दें संन्यास, तो समझ में आता है। उसके पास संन्यास है; तुम्हारे पास है ही नहीं। जो तुम्हारे पास नहीं, उसे तुम छोड़ोगे कैसे? जो तुम्हारे पास है, वही पूछो। गृहस्थी छोड़ दें, यह पूछो।
अष्टावक्र की पूरी बात सुन कर तुमको इतना ही समझ में आया कि संन्यास बंधन है! और कोई चीज बंधन है?
आदमी चालाक है। मन बेईमान है। मन बड़े हिसाब में रहता है। वह देखता है, अपने मतलब की बात निकाल लो कि चलो यह तो बहुत ही अच्छा हुआ, झंझट से बचे! डरे-डरे लेने की सोच रहे थे, ये अष्टावक्र अच्छे मिल गये रास्ते पर; इन्होंने खूब समझा दिया, ठीक समझा दिया, अब कभी भूल कर संन्यास न लेंगे! अष्टावक्र से कुछ और सीखोगे?
लोग मेरे पास आ जाते हैं। वे कहते हैं, "अब ध्यान छोड़ दें? क्योंकि अष्टावक्र कहते हैं, ध्यान में बंधन है।" धन छोड़ोगे? पद छोड़ोगे? सिर्फ ध्यान...! और ध्यान अभी लगा ही नहीं; छोड़ोगे खाक? ध्यान होता और तुम कहते छोड़ दें, तो मैं कहता, छोड़ दो! मगर जिसका ध्यान लग गया, वह कहेगा ही नहीं छोड़ने की बात; वह छोड़ने-पकड़ने के बाहर गया। वह अष्टावक्र को समझ लेगा, आनंदित होगा, गदगद होगा। वह कहेगा, ठीक, बिलकुल बात यही तो है। ध्यान में ध्यान ही तो छूटता है। संन्यास में बंधन ही तो छूटते हैं। संन्यास कोई बंधन नहीं है। यह तो केवल और सारे बंधनों को छोड़ने का एक उपाय है। अंततः तो यह भी छूट जायेगा।
ऐसा ही समझो कि पैर में कांटा लगा, तो तुम दूसरा कांटा उठा कर पहले कांटे को निकाल लेते हो। दूसरा कांटा भी कांटा है; लेकिन पहले कांटे को निकालने के काम आ जाता है। फिर तो तुम दोनों को फेंक देते हो। फिर दूसरे कांटे को संभाल कर थोड़े ही रखते, कि इसने बड़ी कृपा की कि पहले कांटे को निकाल दिया! फिर ऐसा थोड़े ही करते कि अब पहला कांटा जहां लगा था, वहां दूसरा लगा लो, यह बड़ा प्रिय है!
संन्यास तो कांटा है। संसार का कांटा लगा है, उसे निकालने का एक उपाय है। अगर तुम बिना कांटे के निकाल सको, तो बड़ा शुभ। अष्टावक्र की बात समझ में आ जाये, तो इससे शुभ और क्या हो सकता है! फिर किसी संन्यास की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन जरा सोच लेना, कहीं यह बेईमानी न हो! अगर बेईमानी हो, तो हिम्मत करो और संन्यास में उतरो। कभी ऐसी घड़ी आयेगी, जब संन्यास को भी छोड़ने के तुम योग्य हो जाओगे।
लेकिन छोड़ना क्या है? जब समझ आती है, तो छोड़ने को कुछ भी नहीं--सब छूट जाता है। यही तो जनक ने कहा कि प्रभु, यह शरीर भी छूट गया! अभी जनक शरीर में हैं, शरीर छूट नहीं गया; लेकिन जनक कहते हैं, यह शरीर भी छूट गया! यह सारा संसार भी छूट गया! यह सब छूट गया! मैं बिलकुल अलिप्त, भावातीत हो गया! कैसी कुशलता आपके उपदेश की! यह कैसी कला! कुछ भी हुआ नहीं, न महल छूटा, न संसार छूटा, न शरीर छूटा--और सब छूट गया!
जिस दिन तुम समझोगे तो फिर कुछ छोड़ने को नहीं है--न संसार और न संन्यास! छोड़ने की बात ही उस आदमी की है, जो सोचता है कुछ पकड़ने को है। त्याग भी भोग की छाया है। त्यागी भी भोगी का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। जब भोग जाता है, त्याग भी जाता है। वे दोनों साथ रहते हैं, साथ जाते हैं। इसलिए तो तुम देखते हो, भोगियों को त्यागियों के पैर पड़ते! वे साथ-साथ

हैं। आधा काम त्यागी कर रहे, आधा भोगी कर रहे--दोनों एक-दूसरे के साथ जुड़े हैं। न भोगी जी सकते त्यागी के बिना, न त्यागी जी सकते भोगी के बिना। तुमने देखा यह षडयंत्र!
एक आदमी मेरे पास आया, कहा कि ध्यान सीखना है। वे संन्यासी थे--पुराने
ढब के संन्यासी! तो मैंने कहा कि ठीक है, कल सुबह ध्यान में आ जाओ। उन्होंने कहा, वह तो जरा मुश्किल है। मैंने कहा, "क्यों, इसमें क्या मुश्किल है?" उन्होंने कहा कि मुश्किल यह है कि ये मेरे साथ जो हैं, जब तक ये मेरे साथ न आएं, मैं नहीं आ सकता; क्योंकि पैसा ये रखते हैं, पैसा मैं नहीं छूता। इनको सुबह कहीं और जाना है, तो मैं कल सुबह तो न आ सकूंगा।
यह भी खूब मजा हुआ! पैसे की जरूरत तो तुम्हें है ही, फिर तुम अपनी जेब में रखो कि दूसरे की जेब में, इससे क्या फर्क पड़ता है? और यह तो और बंधन हो गया। इससे तो वे ही ठीक जो अपनी जेब में रखते हैं; कम-से-कम जहां जाना है, जा तो सकते हैं! अब यह एक अजीब मामला हो गया कि यह आदमी जब तक साथ न हो, तब तक तुम आ नहीं सकते, क्योंकि टैक्सी में पैसे देने पड़ेंगे--पैसा हम छूते नहीं हैं! तो तुम अपना पाप इस आदमी से करवा रहे हो? अपना पाप खुद करो। यह बड़े मजे की बात है कि टैक्सी में तुम बैठोगे, नरक यह जायेगा! इस पर कुछ दया करो। यह भोगीऱ्योगी का खूब जोड़ है!
तुम्हारे सारे त्यागी भोगियों से बंधे जी रहे हैं। और तुम्हारा भोगी
भी त्यागियों से बंधा जी रहा है, क्योंकि वह त्यागी के चरण छू कर सोचता है, "आज त्यागी नहीं तो कम-से-कम त्यागी के चरण तो छूता हूं, चलो कुछ तो तृप्ति, कुछ तो किया! आज नहीं कल, मैं भी त्यागी हो जाऊंगा। लेकिन अभी त्यागी की पूजा-अर्चना तो करता हूं!"
जैन कहते हैं, कहां जा रहे हो?--साधु जी की सेवा करने जा रहे हैं! सेवा करके सोचते हैं कि चलो, कुछ तो लाभ-अर्जन कर रहे हैं। उधर साधु बैठे हैं, वे राह देख रहे हैं, कि भोगी जी कब आयें! इधर भोगी जी हैं, वे देखते हैं कि साधु जी कब गांव में पधारें! तो भोगी जी और साधु जी, दोनों एक ही सिक्के के पहलू हैं।
तुम जरा सोचो, अगर भोगी साधुओं के पास जाना बंद कर दें, कितने साधु वहां बैठे रहेंगे! वे सब भाग खड़े होंगे। कौन इंतजाम करेगा, कौन व्यवस्था करेगा! वे सब जा चुके होंगे। लेकिन भोगी साधु को सम्हालता है; साधु भोगी को सम्हाले रखता है। यह पारस्परिक है।
वास्तविक ज्ञानी न तो त्यागी होता, न भोगी होता। वह इतना ही जान लेता
है कि मैं सिर्फ साक्षी हूं। अब पैसे दूसरे की जेब में रखो कि अपनी जेब में रखो, क्या फर्क पड़ता है? वह साक्षी है। हो, तो साक्षी है; न हो, तो साक्षी है। गरीब हो, तो साक्षी है; अमीर हो, तो साक्षी है। साक्षी में थोड़े ही गरीबी-अमीरी से फर्क पड़ता है! क्या तुम सोचते हो भिखमंगा साक्षी होगा तो उसका साक्षीपन थोड़ा कम होगा, और सम्राट साक्षी होगा तो उसका साक्षीपन थोड़ा ज्यादा होगा? साक्षीपन कहीं कम-ज्यादा होता है? गरीब हो कि अमीर, स्वस्थ हो कि अस्वस्थ, पढ़ा-लिखा हो कि बेपढ़ा-लिखा, सुंदर हो कि कुरूप, ख्यातिनाम हो कि बदनाम--इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। साक्षी कुछ ऐसी संपदा है, जो सभी के भीतर बराबर है, उसमें कुछ कम-ज्यादा नहीं होता।
हर स्थिति के हम साक्षी हो सकते हैं--सफलता के, विफलता के; सम्मान के, अपमान के।
साक्षी बनो, इतना ही अष्टावक्र का कहना है। लेकिन अगर पाओ कि कठिन है साक्षी बनना और अभी तो विधि का उपयोग करना होगा, तो विधि का उपयोग करो, घबड़ाओ मत। विधि का उपयोग कर-करके तुम इस योग्य बनोगे कि विधि के भी साक्षी हो जाओगे। इसलिए तो मैं कहता हूं, ध्यान करो, कोई फिक्र नहीं। क्योंकि मैं जानता हूं, ध्यान न करने से तुम्हें साक्षी-भाव नहीं आने वाला, ध्यान न करने से केवल तुम्हारे विचार चलेंगे। तो विकल्प "ध्यान और साक्षी" में थोड़े ही है; विकल्प "विचार और ध्यान" में है।
समझे मेरी बात? तुम जब नहीं ध्यान करोगे--सुन लिया अष्टावक्र को-- अष्टावक्र ने कहा ध्यान इत्यादि सब बंधन है--और बिलकुल ठीक कहा, सौ प्रतिशत ठीक कहा--तो तुमने ध्यान छोड़ दिया तो तुम क्या करोगे? साक्षी हो

जाओगे उस समय? तुम वही कूड़ा-कर्कट विचार दोहराओगे। तो यह तो बड़े मजे की बात हुई। यह तो अष्टावक्र के कारण तुम और भी संसार में गिरे। यह तो सीढ़ी, जिससे चढ़ना था, तुमने नर्क में उतरने के लिए लगा ली। सीढ़ी वही है।
मैं तुमसे कहता हूं, ध्यान करो। क्योंकि अभी तुम्हारे सामने विकल्प ध्यान और विचार, इसका है; अभी साक्षी का तो तुम्हारे सामने विकल्प नहीं है। हां, जब ध्यान कर-करके विचार समाप्त हो जायेगा, तब एक नया विकल्प आयेगा, कि अब चुनना है: साक्षी या ध्यान? तब साक्षी चुनना, और ध्यान को भी छोड़ देना।
अभी अगर तुमने तय किया कि संन्यास नहीं लेना है, तो तुम संसारी रहोगे। अभी विकल्प संन्यास और संसार में है। अभी मैं कहता हूं: लो संन्यास! फिर एक दिन ऐसी घड़ी आयेगी कि विकल्प संसार और संन्यास का नहीं रह जाएगा। संसार तो गया, संन्यास रह गया। तब परम संन्यास और संन्यास का विकल्प होगा। तब मैं तुमसे कहूंगा: जाने दो संन्यास! अब डूबो परम संन्यास में।
हां, अगर तुम क्षण भर में जनक जैसे जा सकते हो, तो मैं बाधा देने वाला नहीं! तुम सुखी हो जाओ! सुखी भव! न हो पाओ, तो इसमें कोई और निर्णय करेगा नहीं, तुम्हीं निर्णय करना कि अगर सुखी नहीं हो पा रहे, तो फिर कुछ करना जरूरी है।
सत्य भी तुम असत्य कर ले सकते हो, और फूल भी तुम्हारे लिए कांटे बन सकते हैं--तुम पर निर्भर है।
उजियारे में नैन मूंद कर भाग नहीं
मेरे भोले मन!
डगरें सब अनजानी हैं,
पथ में मिलते शूल-शिला
भीनी-भीनी गंध देख कर,
सुमनों का विश्वास न कर!
तुम जरा खयाल करना, जाग कर कदम उठाना! क्योंकि तुम जो कदम उठाओगे, वह कहीं भीनी-भीनी गंध को देख कर ही मत उठा लेना।
पथ में मिलते शूल-शिला
भीनी-भीनी गंध देख कर
सुमनों का विश्वास न कर।
वह जो तुम्हें भीनी गंध मिलती है, खयाल कर लेना, वह कहीं तुम्हारी आरोपित ही न हो! वह कहीं तुम्हारा लोभ ही न हो! वह तुम्हारा कहीं भय ही न हो! वह कहीं तुम्हारी कमजोरी ही न हो, जो तुम आरोपित कर लेते हो। और उस भीनी गंध में तुम भटक मत जाना।
बड़ा सुगम है कुछ न करना, सुन कर ऐसा लगता है। लेकिन जब करने चलोगे "कुछ
न करना", तो इससे ज्यादा कठिन और कोई बात नहीं। सुन कर तो साक्षी की बात कितनी सरल लगती है कि कुछ नहीं करना, सिर्फ देखना है; जब करने चलोगे तब पाओगे, अरे, यह तो बड़ी दुस्तर है!
ऐसा करना कि अपनी घड़ी को ले कर बैठ जाना। सेकेंड का कांटा एक मिनिट में चक्कर लगा लेता है। तुम उस सेकेंड के कांटे पर नजर रखना और कोशिश करना, कि मैं साक्षी हूं इस सेकेंड के कांटे का, और साक्षी रहूंगा। तुम पाओगे दो चार सेकेंड चले--गया साक्षी! कोई दूसरा विचार आ गया! भूल ही गये! फिर झटका लगेगा कि अरे, यह कांटा तो आगे सरक गया! फिर दो-चार सेकेंड साक्षी रहे, फिर भूल गये। एक मिनिट पूरे होने में तुम दो-चार-दस डुबकियां खाओगे। एक मिनिट भी साक्षी नहीं रह सकते हो! तो अभी साक्षी का तो सवाल ही नहीं है। अभी तो तुम विचार और ध्यान में चुनो; फिर धीरे-धीरे ध्यान और साक्षी में चुनाव करना संभव हो जायेगा।
संन्यास का पूछते हो तो संन्यास तो सिर्फ मेरे साथ होने की एक भावभंगिमा है। यह बंधन नहीं है। तुम मुझसे बंध नहीं रहे हो। मैं तुम्हें कोई अनुशासन नहीं दे रहा हूं, कोई मर्यादा नहीं दे रहा हूं। मैं तुमसे कह नहीं रहा--कब उठो; क्या खाओ, क्या पीयो; क्या करो, क्या न करो। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं कि साक्षी रहो। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं कि मेरा हाथ मौजूद है, मेरे हाथ में हाथ गहो; शायद दो कदम मेरे साथ चल लो, तो मेरी

बीमारी तुम्हें भी लग जाये। संक्रामक है यह बीमारी। बुद्ध के साथ थोड़ी देर चल लो, तो तुम उनके रंग में थोड़े रंग जाओगे; एकदम बच नहीं सकते। थोड़ी गंध उनकी तुममें से भी आने लगेगी। बगीचे से ही अगर गुजर जाओ, तो तुम्हारे कपड़ों में भी फूलों की गंध आ जाती है--फूल छुए भी नहीं, तो भी!
संन्यास तो मेरे साथ चलने की थोड़ी हिम्मत है, थोड़ी भावभंगिमा है। यह
तो मेरे प्रेम में पड़ना है। इस प्रेम की पूरी प्रक्रिया यही है कि तुम्हें मुक्त करने के लिए मैं आयोजन कर रहा हूं। तुम मेरे साथ चलो तो मुक्ति की गंध तुम्हें देना चाहता हूं।
सांस का पुतला हूं मैं
जरा से बंधा हूं,
और मरण को दे दिया गया हूं
पर एक जो प्यार है न,
उसी के द्वारा,
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूं! काल की दुर्वह गदा को
एक कौतुक-भरा बाल क्षण तौलता है।
हो क्या तुम?
सांस का पुतला हूं मैं
जरा से बंधा हूं,
और मरण को दे दिया गया हूं!
जन्म और मृत्यु, बस यही तो हो तुम। सांस आई और गई; इसके बीच की थोड़ी-सी कथा है, थोड़ा-सा नाटक है। इसमें अगर कुछ भी है, जो तुम्हें पार ले जा सकता है मृत्यु के और जन्म के...
पर एक जो प्यार है न,
उसी के द्वारा,
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूं!
अगर जन्म और मरण के बीच प्यार घट जाये...।
संन्यास तो मेरे साथ प्रेम में पड़ना है; इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। बस इतना ही, इतनी ही परिभाषा। अगर तुम मेरे साथ प्रेम में हो और थोड़ी दूर चलने को राजी हो, तो वह थोड़ी दूर चलना, तुम्हें बहुत दूर ले जाने वाला सिद्ध होगा।
और बाकी तो सब ऊपर की बातें हैं, कि तुमने कपड़े बदल लिये, कि माला डाल ली। वह तो केवल तुम्हें साहस जगे और तुम्हें आत्म-स्मरण रहे, इसलिए। वह तो केवल बाहर की शुरुआत है; फिर भीतर बहुत कुछ घटता है। तुम जिनको देख रहे हो गैरिक वस्त्रों में रंगे हुए उनके सिर्फ गैरिक वस्त्र ही मत देखना, थोड़ा उनके हृदय में झांकना--तो तुम वहां पाओगे प्रेम की एक नई धारा का आविर्भाव हो रहा है।
पर एक जो प्यार है न,
उसी के द्वारा
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूं!
मुझे गिरने दो तुम्हारे ऊपर! अभी तुम अगर पाषाण भी हो तो फिक्र मत करो:
यह जलधार तुम्हारे पाषाण को काट डालेगी।
किरण जब मुझ पर झरी,
मैंने कहा--
"मैं वज्र कठोर हूं,
पत्थर सनातन!"
किरण बोली--"भला ऐसा?
तुम्हीं को खोजती थी मैं
तुम्हीं से मंदिर गढूंगी
तुम्हारे अंतःकरण से तेज की प्रतिमा उकेरूंगी।" स्तब्ध मुझको, किरण ने अनुराग से दुलरा लिया। किरण जब मुझ पर झरी
मैंने कहा--

"मैं वज्र कठोर हूं,
पत्थर सनातन!"
तुम भी यही मुझसे कहते हो कि नहीं, आप हमें बदल न पायेंगे, कि हम पत्थर हैं, बहुत प्राचीन, कि न बदलने की हमने कसम खा ली है। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं:
किरण बोली--"भला ऐसा?
तुम्हीं को खोजती थी मैं
तुम्हीं से मंदिर गढूंगी,
तुम्हारे अंतःकरण से तेज की प्रतिमा उकेरूंगी।"
स्तब्ध मुझको किरण ने अनुराग से दुलरा लिया।
ये गैरिक वस्त्र तो केवल मेरे प्रेम की सूचना हैं--तुम्हारे प्रेम की मेरी तरफ; मेरे प्रेम की तुम्हारी तरफ। यह तो एक गठबंधन है।

आखिरी प्रश्न: हे प्रिय, प्यारे!
प्रणाम ले लो,
इन आंसुओं को मुकाम दे दो,
तुमने तो भर दी है झोली,
फिर भी मैं कोरी की कोरी।
हे प्रिय प्यारे!
मीत हमारे!
शीश श्रीफल चरण तुम्हारे!
जया ने पूछा है।
जया मेरे करीब है बहुत वर्षों से। ठीक मीरा जैसा हृदय है उसके पास; वैसा ही गीत है दबा उसके हृदय में; वैसा ही नृत्य है उसके हृदय में दबा। जब प्रगट होगा, जब वह अपनी महिमा में प्रगट होगी, तो एक दूसरी मीरा प्रगट होगी। ठीक समय की प्रतीक्षा है; कभी भी किरण उतरेगी और अंधकार कटेगा। और हिम्मतवर है--इसलिए भविष्यवाणी की जा सकती है कि होगा।
किंतु नहीं क्या यही धुंध है सदावर्त
जिसमें नीरंध्र तुम्हारी करुणा
बंटती रहती है दिनऱ्याम
कभी झांक जाने वाली छाया ही
अंतिम भाषा, संभव नाम
करुणाधाम
बीजमंत्र यह
सारसूत्र यह
गहराई का एक यही परिमाण
हमारा यही प्रणाम
धुंध ढंकी,
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
लघु अंजुली हमारी!
प्रभु के सामने तो हमारे हाथ सदा छोटे ही पड़ जाते हैं! हमारी अंजुली छोटी है!
धुंध ढंकी
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
लघु अंजुली हमारी!
जिनके हृदय में भी प्रेम है, उन्हें सदा ही लगेगा हमारी अंजुली बड़ी छोटी है।
पूछा है जया ने--
"हे प्रिय प्यारे, प्रणाम ले लो
इन आंसुओं को मुकाम दे दो
तुमने तो भर दी है झोली
फिर भी मैं कोरी की कोरी।"

यह कुछ ऐसा भराव है, कि इसमें आदमी और-और शून्य होता चला जाता है। यह शून्य का ही भराव है। यह शून्य से ही भराव है। तुम्हें कोरे करने का ही मेरा प्रयास है। अगर तुम कोरे हो गये तो मैं सफल हो गया। अगर तुम भरे रह गये तो मैं असफल हो गया। तुम जब बिलकुल कोरे हो जाओगे और तुम्हारे भीतर कुछ भी न रह जायेगा--कोई रेखा, कोई शब्द, कोई कूड़ा-कचरा--तुम्हारी उस शून्यता में ही परमात्मा प्रगट होगा।
जया से कहूंगा:
जा, आत्मा जा
कन्या वधु का,
उसकी अनुगा
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ लक्ष्य अन्य जल पालक
पति आलोक धर्म
तुझको वह एकमात्र सरसायेगा
ओ आत्मा री!
तू गई वरी
ओ संपृक्ता
ओ परिणीता,
महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं।
महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं! यह रिक्त होना, यह कोरा होते जाना--महाशून्य के साथ भांवरों का रच जाना है। नाचते, उस शून्य के महाभाव को प्रगट करते, गुनगुनाते, मस्त, खोते जाना है!
होते जाने का एक ही उपाय है--खोते जाना है। यहां तुम पूरे शून्य हुए कि वहां परमात्मा पूरी तरह उतरा। तुम ही बाधा हो। इसलिए घबड़ाओ मत! कोरे हो गये, तो सब हो गया।
महाराष्ट्र में कथा है कि एकनाथ ने निवृत्तिनाथ को पत्र लिखा--कोरा कागज! कुछ लिखा नहीं। निवृत्तिनाथ ने बड़े गौर से पढ़ा--कोरा कागज! पढ़ने को वहां कुछ था भी नहीं। खूब-खूब पढ़ा! बार-बार पढ़ा! फिर-फिर पढ़ा! पास मुक्ताबाई बैठी थी, फिर उसे दिया, फिर उसने पढ़ा। उसके तो आंसू बहने लगे! वह तो गदगद हो गई! और लोग मौजूद थे, वे कहने लगे, यह बड़ा पागलपन हुआ! पहले तो एकनाथ पागल कि कोरा कागज भेजा। चिट्ठी, कुछ लिखा तो हो! फिर वह निवृत्तिनाथ पागल, कि पढ़ रहा है; एक बार ही नहीं, बार-बार पढ़ रहा है। फिर हद मजा कि यह मुक्ताबाई, ये गदगद हो कर आंसू बहने लगे!
सब शास्त्र कोरे कागज हैं! और अगर कोरा कागज पढ़ना आ जाये, तो सब शास्त्र पढ़ने आ गये--वेद, कुरान, गुरुग्रंथ, गीता, उपनिषद, बाइबिल, धम्मपद। जिसने कोरा कागज पढ़ लिया, सब आ गया!
तुम कोरे कागज जैसे हो जाओ, इसी चेष्टा में संलग्न हूं। तुम्हें मिटाने में लगा हूं, क्योंकि तुम ही बाधा हो।
अरी ओ आत्मा री,
कन्या भोली क्वांरी
महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं।

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
नौवां प्रवचन

मेरा मुझको नमस्कार

जनक उवाच।

प्रकाशो में निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽऽहंभास एव हि।। 28।।
अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा।। 29।।
मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा।। 30।।
अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति में।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः।। 31।।
अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि।
क्वचिन्नगन्ता नागन्ता व्याप्त विश्वम्वास्थितः।। 32।।
अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्।। 33।।
अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किंचन।
अथवा यस्य में सर्वं यब्दाङमनसगोचरम्।। 34।।

धर्म अनुभूति है, विचार नहीं। विचार धर्म की छाया भी नहीं बन पाता। और
जो विचार में ही उलझ जाते हैं, वे धर्म से सदा के लिए दूर रह जाते हैं।
विचारक जितना धर्म से दूर होता है उतना कोई और नहीं!
जैसे प्रेम एक अनुभव है, ऐसे ही परमात्मा भी एक अनुभव है। और अनुभव करना हो, तो समग्रता से ही संभव है।
विचार की प्रक्रिया मनुष्य का छोटा-सा अंश है--और अंश भी बहुत सतही, बहुत गहरा नहीं। अंश भी अंतस्तल का नहीं; केंद्र का नहीं, परिधि का; न हो तो भी आदमी जी सकता है। और अब तो विचार करने वाले यंत्र निर्मित हुए हैं, उन्होंने तो बात बहुत साफ कर दी कि विचार तो यंत्र भी कर सकता है; मनुष्य की कुछ गरिमा नहीं!
अरिस्टोटल या उस जैसे विचारकों ने मनुष्य को विचारवान प्राणी कहा है।
अब उस परिभाषा को बदल देना चाहिए, क्योंकि अब तो कंप्यूटर विचार कर लेता है--और मनुष्य से ज्यादा दक्षता से, ज्यादा निपुणता से; मनुष्य से तो भूल भी होती है, कंप्यूटर से भूल की संभावना नहीं।
मनुष्य की गरिमा उसके विचार में नहीं है। मनुष्य की गरिमा उसके अनुभव में है।
जैसे तुम स्वाद लेते हो किसी वस्तु का, तो स्वाद केवल विचार नहीं है। घटा! तुम्हारे रोएं-रोएं में घटा। तुम स्वाद से मगन हुए।
जैसे तुम शराब पी लेते हो, तो पीने का परिणाम तुम्हारे विचार में ही नहीं होता, तुम्हारे हाथ-पैर भी डांवांडोल होने लगते हैं। शराबी को चलते देखा? शराब रोएं-रोएं तक पहुंच गयी! चाल में भी झलकती है, आंख में भी झलकती है, उसके उठने-बैठने में भी झलकती है, उसके विचार में भी झलकती है; लेकिन उसके समग्र को घेर लेती है।
धर्म तो शराब जैसा है--जो पीयेगा, वही जानेगा; जो पी कर मस्त होगा, वही अनुभव करेगा।
जनक के ये वचन उसी मदिरा के क्षण में कहे गये हैं। इन्हें अगर तुम बिना स्वाद के समझोगे, तो भूल हो जाने की संभावना है। तब इनका अर्थ तुम्हें कुछ और ही मालूम पड़ेगा। तब इनमें तुम ऐसे अर्थ जोड़ लोगे जो तुम्हारे हैं।
जैसे कि कृष्ण कहते हैं गीता मेंः सर्व धर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज। --सब छोड़-छाड़ अर्जुन, तू मेरी शरण आ!

जब तुम पढ़ोगे तो ऐसा लगेगा यह घोषणा तो बड़े अहंकार की हो गयी; "सब छोड़-छाड़, मेरी शरण में आ! मेरी शरण में!"
तो इस "मेरे" का जो अर्थ तुम करोगे, वह तुम्हारा होगा, कृष्ण का नहीं होगा। कृष्ण में तो कोई "मैं" बचा नहीं है। यह तो सिर्फ कहने की बात है। यह तो प्रतीक की बात है। तुमने प्रतीक को बहुत ज्यादा समझ रखा है। तुम्हारी भ्रांति के कारण प्रतीक तुम्हें सत्य हो गया है। कृष्ण के लिए केवल व्यवहारिक है, पारमार्थिक नहीं।
तुमने देखा, अगर कोई आदमी राष्ट्रीय झंडे पर थूक दे, तो मार-काट हो जाये, झगड़ा हो जाये, युद्ध हो जायेः "राष्ट्रीय झंडे पर थूक दिया!" लेकिन तुमने कभी सोचा कि राष्ट्रीय झंडा राष्ट्र का प्रतीक है, और राष्ट्र पर तुम रोज थूकते हो, कोई झगड़ा खड़ा नहीं करता! पृथ्वी पर तुम थूक दो, कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता। जब भी तुम थूक रहे हो, तुम राष्ट्र पर ही थूक रहे हो--कहीं भी थूको। राष्ट्र पर थूकने से कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता। राष्ट्र का जो प्रतीक है, संकेत-मात्र, ऐसे तो कपड़े का टुकड़ा है--लेकिन उस पर अगर कोई थूक दे तो युद्ध भी हो सकते हैं।
मनुष्य प्रतीकों को बहुत मूल्य दे देता है--इतना मूल्य, जितना उनमें नहीं है। मनुष्य अपने अंधेपन में प्रतीकों में जीने लगता है।
कृष्ण जब "मैं" शब्द का प्रयोग करते हैं, तो केवल व्यावहारिक है; बोलना है, इसलिए करते हैं; कहना है, इसलिए करते हैं। लेकिन कहने और बोलने के बाद वहां कोई "मैं" नहीं है। अगर तुम आंख में आंख डाल कर कृष्ण की देखोगे तो वहां तुम किसी "मैं" को न पाओगे। वहां परम सन्नाटा है, शून्य है। वहां मैं विसर्जित हुआ है। इसलिए तो इतनी सरलता से कृष्ण कह पाते हैं कि आ, मेरी शरण आ जा! जब वे कहते हैं कि आ, मेरी शरण आ जा, तो हमें लगेगा बड़े अहंकार की घोषणा हो गयी। क्योंकि हम "मैं" का जो अर्थ जानते हैं वही अर्थ तो करेंगे।
जनक के ये वचन तो तुम्हें और भी चकित कर देंगे। ऐसे वचन पृथ्वी पर दूसरे हैं ही नहीं। कृष्ण ने तो कम-से-कम कहा था, "आ, मेरी शरण आ"; जनक के ये वचन तो कुछ ऐसे हैं कि तुम भरोसा न करोगे।
इन वचनों में जनक कहते हैं कि "अहो! अहो, मेरा स्वभाव! अहो, मेरा प्रकाश! आश्चर्य! यह मैं कौन हूं! मैं अपनी ही शरण जाता हूं! नमस्कार मुझे!" यह तुम हैरान हो जाओगे।
इन वचनों में जनक अपने को नमस्कार करते हैं। यहां तो दूसरा भी नहीं बचा। बार-बार कहते हैं, "मैं आश्चर्यमय हूं! मुझको नमस्कार है!"
अहो अहं नमो मह्मं विनाशो यस्य नास्ति मे।
मैं इतने आश्चर्य से भर गया हूं, मैं स्वयं आश्चर्य हूं। मैं अपने को नमस्कार करता हूं। क्योंकि सभी नष्ट हो जायेगा, तब भी मैं बचूंगा। ब्रह्मा से ले कर कण तक सब नष्ट हो जायेगा, फिर भी मैं बचूंगा। मुझे नमस्कार है! मुझ जैसा दक्ष कौन! संसार में हूं--और अलिप्त! जल में कमलवत! मुझे नमस्कार है!
मनुष्य-जाति ने ऐसी उदघोषणा कभी सुनी नहींः "अपने को ही नमस्कार!" तुम कहोगे, यह तो अहंकार की हद हो गयी। दूसरे से कहते, तब भी ठीक था, यह अपने ही पैर छू लेना... !
ऐसा उल्लेख है रामकृष्ण के जीवन में कि एक चित्रकार ने रामकृष्ण का चित्र उतारा। वह जब चित्र लेकर आया, तो रामकृष्ण के भक्त बड़े संकोच में पड़ गये; क्योंकि रामकृष्ण उस चित्र को देख-देख कर उसके चरण छूने लगे। वह उन्हीं का चित्र था। उसे सिर से लगाने लगे। किसी भक्त ने कहा, परमहंसदेव, आप पागल तो नहीं हो गए हैं? यह चित्र आपका है।
रामकृष्ण ने कहा, खूब याद दिलायी, मुझे तो चित्र समाधि का दिखा। जब मैं समाधि की अवस्था में रहा होऊंगा, तब उतारा गया। खूब याद दिलायी, अन्यथा लोग मुझे पागल कहते। मैं तो समाधि को नमस्कार करने लगा। यह चित्र समाधि का है, मेरा नहीं।
लेकिन जिन्होंने देखा था, उन्होंने तो यही समझा होगा न कि हुआ पागल आदमी। अपने ही चित्र के पैर छूने लगा! अपने चित्र को सिर से लगाने लगा! अब

और क्या पागलपन होगा? अहंकार की यह तो आखिरी बात हो गयी, इसके आगे तो अहंकार का कोई शिखर नहीं हो सकता।
जनक इन वचनों में मस्ती में बोल रहे हैं। एक स्वाद उत्पन्न हुआ है! मगन हो गये हैं! नाच सकते होते मीरा जैसे, तो नाचे होते। गा सकते होते चैतन्य जैसे, तो गाते। बांसुरी बजा सकते कृष्ण जैसी, तो बांसुरी बजाते। हर व्यक्ति की अलग-अलग संभावना है अभिव्यक्ति की। जनक सम्राट थे, सुसंस्कृत पुरुष थे, सुशिक्षित पुरुष थे, प्रतिभावान थे, नवनीत थे प्रतिभा के--तो उन्होंने जो वचन कहे वे मनुष्य-जाति के इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। इन वचनों को समझने के लिए तुम अपने अर्थ बीच से हटा देना।
करना है हमें कुछ दिनसंसार का नजारा
इंसान का जीवन तोदर्शन का झरोखा है
ये अक्ल भी क्या शै है
जिसने दिले-रंगीं कोहर काम से रोका है
हर बात पे टोका है
आरास्ता ए मानी
तखईल है शायर की
लफ्जों में उलझ जाना
फन काफिया-गो का है
ये अक्ल भी क्या शै है
जिसने दिले-रंगीं को
हर काम से रोका है,
हर बात पे टोका है!
जब भी हृदय में कोई तरंग उठती है, तो बुद्धि तत्क्षण रोकती है। जब भी कोई भाव गहन होता है, बुद्धि तत्क्षण दखलंदाजी करती है।
ये अक्ल भी क्या शै हैजिसने दिले-रंगीं कोहर काम से रोका है, हर बात पे टोका है!
तुम इस अक्ल को थोड़ा किनारे रख देना--थोड़ी देर को ही सही, क्षण भर को
ही सही। उन क्षणों में ही बादल हट जाएंगे, सूरज का दर्शन होगा। अगर इस अक्ल को तुम हटा कर न रख पाओ, तो यह टोकती ही चली जाती है। टोकना इसकी आदत है। टोकना इसका स्वभाव है। दखलंदाजी इसका रस है।
और धर्म का संबंध है हृदय से, वह तरंग खराब हो जायेगी। उस तरंग पर बुद्धि का रंग चढ़ जायेगा, और बात खो जायेगी। तुम कुछ का कुछ समझ लोगे। आरास्ता ए मानी,
तखईल है शायर की!
जो वास्तविक कवि है, मनीषी है, ऋषि है, वह तो अर्थ पर ध्यान देता है। आरास्ता ए मानी,
तखईल है शायर की!
उसकी कल्पना में तो अर्थ के फूल खिलते हैं, अर्थ की सुगंध उठती है। लफ्जों में उलझ जाना फन काफिया-गो का है।
लेकिन जो तुकबंद है, काफिया-गो, वह शब्दों में ही उलझ जाता है। वह कवि नहीं है। तुकबंद तो शब्दों के साथ शब्दों को मिलाए चला जाता है। तुकबंद को अर्थ का कोई प्रयोजन नहीं होता; शब्द से शब्द मेल खा जाएं, बस काफी है। बुद्धि तुकबंद है, काफिया-गो है। अर्थ का रहस्य, अर्थ का राज, तो हृदय में छिपा है। तो बुद्धि को हटा कर सुनना, तो ही तुम सुन पाओगे।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक कपड़े वाले की दुकान पर गये, और एक कपड़े की ओर इशारा करके पूछने लगे, भाई, इस कपड़े का क्या भाव है?
दुकानदार बोला, मुल्ला, पांच रुपये मीटर!
मुल्ला ने कहा, साढ़े चार रुपये में देना है?
दुकानदार बोला, बड़े मियां, साढ़े चार में तो घर में पड़ता है।
तो मुल्ला ने कहा, ठीक, फिर ठीक। तो ठीक है, घर से ही ले लेंगे।
आदमी अपना अर्थ डाले चला जाता है।

एक रोगी ने एक दांत के डाक्टर से पूछा, कि क्या आप बिना कष्ट के दांत निकाल सकते हैं?
डाक्टर ने कहा, हमेशा नहीं। अभी कल की ही बात है। एक व्यक्ति का दांत मरोड़ कर निकालते समय मेरी कलाई उतर गयी!
डाक्टर का दर्द अपना है। दांत निकलवाने जो आया है, उसकी फिक्र दूसरी है; उसका दर्द अपना है।
मुल्ला नसरुद्दीन को एक जगह नौकरी पर रखा गया। मालिक ने कहा, जब तुम्हें नौकरी पर रखा गया था, तब तुमने कहा था कि तुम कभी थकते नहीं, और अभी-अभी तुम मेज पर टांग पसार कर सो रहे थे।
मुल्ला ने कहा, मालिक, मेरे न थकने का यही तो राज है।
हम अपने अर्थ डाले चले जाते हैं। और जब तक हम अपने अर्थ डालने बंद न करें, तब तक शास्त्रों के अर्थ प्रगट नहीं होते! शास्त्र को पढ़ने के लिए एक विशेष कला चाहिए, शास्त्र को पढ़ने के लिए धारणा-रहित, धारणा-शून्य चित्त चाहिए। शास्त्र को पढ़ने के लिए व्याख्या करने की जल्दी नहीं; श्रवण का, स्वाद का, संतोष-पूर्वक, धैर्यपूर्वक आस्वादन करने की क्षमता चाहिए। सुनो इन सूत्रों को--
"प्रकाश मेरा स्वरूप है। मैं उससे अलग नहीं हूं जब संसार प्रकाशित होता है, तब वह मेरे प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।"
प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यह सारा जगत मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित है, कहते हैं जनक।
निश्चित ही यह प्रकाश "मैं" का प्रकाश नहीं हो सकता, जिसकी जनक बात कर रहे हैं। यह प्रकाश तो "मैं-शून्यता" का ही प्रकाश हो सकता है। इसलिए भाषा पर मत जाना, काफिया-गो मत बनना, बुद्धि की दखलंदाजी मत करना। सीधा-सादा अर्थ है, इसे इरछा-तिरछा मत कर लेना।
"प्रकाश मेरा स्वरूप है।"
कहने को तो ऐसा ही कहना पड़ेगा, क्योंकि भाषा तो अज्ञानियों की है। ज्ञानियों की तो कोई भाषा नहीं। इसलिए कभी अगर दो ज्ञानी मिल जायें तो चुप रह जाते हैं, बोलें भी क्या? न तो भाषा है कुछ, न बोलने को है कुछ। न विषय है बोलने के लिए कुछ, न जिस भाषा में बोल सकें वह है।
कहते हैं, फरीद और कबीर का मिलना हुआ था, दो दिन चुप बैठे रहे। एक दूसरे का हाथ हाथ में ले लेते, गले भी लग जाते, आंसुओं की धार भी बहती, खूब मगन होकर डोलने भी लगते!
शिष्य तो घबड़ा गये। शिष्यों की बड़ी आकांक्षा थी कि दोनों बोलेंगे, तो
हम पर वर्षा हो जायेगी। कुछ कहेंगे, तो हम सुन लेंगे। एक शब्द भी पकड़ लेंगे तो सार्थक हो जायेगा जीवन।
लेकिन बोले ही नहीं। दो दिन बीत गए। वे दो दिन बड़े लंबे हो गये। शिष्य प्रतीक्षा कर रहे हैं, और कबीर और फरीद चुप बैठे हैं। अंततः जब विदा हो गये, कबीर विदा कर आये फरीद को, तो फरीद के शिष्यों ने पूछा, क्या हुआ? बोले नहीं आप? ऐसे तो आप सदा बोलते हैं। हम कुछ भी पूछते हैं तो बोलते हैं। और हम इसी आशा में तो आपको मिलाए कबीर से कि कुछ आप दोनों के बीच होगी बात, कुछ रस बहेगा, तो हम अभागे भी थोड़ा-बहुत उसमें से पी लेंगे। दोनों किनारों को पास कर दिया था--गंगा बहेगी, हम भी स्नान कर लेंगे; लेकिन गंगा बही ही नहीं। मामला क्या हुआ?
फरीद ने कहा, कबीर और मेरे बीच बोलने को कुछ न था, न बोलने की कोई भाषा थी। न पूछने को कुछ था, न कहने को कुछ था। था बहुत कुछ, धारा बही भी, गंगा बही भी; लेकिन शब्द की न थी, मौन की थी।
यही कबीर से उनके शिष्यों ने पूछा कि क्या हुआ? आप चुप क्यों हो गये?
आप तो ऐसे हो गये जैसे सदा से गूंगे हों!
कबीर ने कहा, पागलो! अगर फरीद के सामने बोलता, तो अज्ञानी सिद्ध होता।
जो बोलता वही अज्ञानी सिद्ध होता। न बोले ही जहां काम चलता हो, वहां बोलने की बात ही कहां? जहां सूई से काम चलता हो वहां तलवार पागल उठाते हैं। यहां बिना बोले चल गया। खूब धारा बही! देखा नहीं, कैसे आंसू बहे, कैसी मस्ती रही!

शब्द की कोई जरूरत नहीं दो ज्ञानियों के बीच। दो अज्ञानियों के बीच शब्द ही शब्द होते हैं, अर्थ बिल्कुल नहीं होता। दो ज्ञानियों के बीच अर्थ ही अर्थ होता है, शब्द बिल्कुल नहीं होते। अज्ञानी और ज्ञानी के बीच शब्द भी होते हैं, अर्थ भी होते हैं। संभाषण के लिए एक ज्ञानी चाहिए, एक अज्ञानी चाहिए।
दो अज्ञानी हों तो विवाद होता है। संभाषण तो हो नहीं सकता, संवाद हो नहीं सकता; सिर- फुटौवल हो सकती है। दो ज्ञानी हों, शब्द से संवाद नहीं होता, किसी और गहन लोक में केंद्रों का मिलन होता है। सम्मिलन हो जाता है, संवाद की जरूरत क्या? बिन कहे बात पहुंच जाती है, बिन बताये दर्शन हो जाता है। एक अज्ञानी और एक ज्ञानी के बीच संवाद की संभावना है। ज्ञानी बोलने को राजी हो, अज्ञानी सुनने को राजी हो, तो संवाद हो सकता है।
शास्त्रों के वचन एक अर्थ में सदा विरोधाभासी हैं; पैराडाक्सिकल हैं। क्योंकि शास्त्र जो कहते हैं, वह कहा नहीं जा सकता, और जो नहीं कहा जा सकता, उसको कहने की चेष्टा करते हैं। अनुकंपा है कि किन्हीं बुद्धपुरुषों ने कहने की चेष्टा की है--उसको--जो नहीं कहा जा सकता। आंखें हमारी उठाने की आकांक्षा की है उस तरफ, जहां हम आंखें उठाना भूल ही गये। हमें आकाश के थोड़े दर्शन कराये। हम तो जमीन पर सरकते, रेंगते, हमने सिर उठाना बंद कर दिया है। कहते हैं, मंसूर को जब फांसी लगी, और जब वह सूली पर लटका हुआ हंसने लगा। तो कोई एक लाख लोगों की भीड़ थी, उनमें से किसी ने पूछा, मंसूर, तुम हंस क्यों रहे हो?
मंसूर ने कहा, मैं इसलिए हंस रहा हूं कि चलो यह अच्छा ही हुआ कि फांसी लगी, तुमने कम से कम थोड़ा आंख तो ऊपर उठाकर देखा!
सूली पर लटका था तो लोगों को सिर ऊपर करके देखना पड़ रहा था। तो मंसूर
ने कहा, तुमने कम से कम--चलो इस बहाने सही--थोड़ा आकाश की तरफ तो आंखें उठाईं। इसलिए प्रसन्न हूं कि यह सूली ठीक ही हुई। शायद मुझे देखते-देखते तुम्हें वह दिख जाये, जो मेरे भीतर छिपा है। शायद इस मृत्यु की घड़ी में, मृत्यु के आघात में, तुम्हारे विचार की प्रक्रिया बंद हो जाये, और क्षण भर को आकाश खुल जाये! और तुम्हें उसके दर्शन हो जायें, जो मैं हूं!
प्रकाशो मे निजं रूपं
--प्रकाश मेरा स्वरूप है।
नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः
--मैं उससे अलग नहीं, प्रकाश से अलग नहीं।
यह जो प्रकाश का अंतःस्रोत है, यह तभी उपलब्ध होता है, जब "मैं" चला जाता है। लेकिन कहो, तो कैसे कहो? जब कहना होता है तो "मैं" को फिर ले आना होता है।
"जब संसार प्रकाशित होता है, तब वह मेरे प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।"
निश्चित ही जनक यहां जनक नाम के व्यक्ति के संबंध में नहीं बोल रहे हैं। व्यक्ति तो खो गया, व्यक्ति की लहर तो गई--यह तो सागर बचा! यह सागर हम सबका है। यह घोषणा जनक की, उनके ही संबंध में नहीं, तुम्हारे संबंध में भी है; जो कभी हुए, उनके संबंध में; जो कभी होंगे, उनके संबंध में! यह समस्त अस्तित्व के संबंध में घोषणा है।
तुम जरा मिटना सीखो, तो इसका स्वाद लगने लगे। और स्वाद लगेगा, तो ऐसी घोषणाएं तुमसे भी उठेंगी। इन्हें रोकना मुश्किल है।
मंसूर को पता था कि अगर उसने इस तरह की बात कहीः "अनलहक", "अहं ब्रह्मास्मि", कि "मैं ही परमात्मा हूं," तो सूली लगेगी; मुसलमानों की भीड़ उसे बर्दाश्त न कर सकेगी; अंधों की भीड़ उसे देख न पायेगी। फिर भी उसने घोषणा की। उसके मित्रों ने उसे कहा भी ऐसी घोषणा न करो, ऐसी घोषणा खतरनाक होगी। मंसूर भी जानता है कि ऐसी घोषणा खतरनाक हो सकती है, लेकिन यह घोषणा रुक न सकी। जब फूल खिलता है तो सुगंध बिखरेगी ही। जब दीया जलेगा तो प्रकाश फैलेगा ही। फिर जो हो, हो।
रहीम का एक वचन हैः
खैर, खून, खांसी, खुशी, वैर, प्रीत, मधुपान,

रहिमन दाबे न दबे, जानत सकल जहान।
कुछ बातें हैं, जो दबाये नहीं दबतीं। साधारण मदिरा पी लो, तो कैसे दबाओगे? अक्सर ऐसा होता है कि शराब पीने वाला जितना दबाने की कोशिश करता है उतना ही प्रगट होता है। ख्याल किया तुमने? शराबी बड़ी चेष्टा करता है कि किसी को पता न चले! सम्हल कर बोलता है। उसी में पता चलता है। सम्हल कर चलता है, उसी में डांवांडोल हो जाता है। होशियारी दिखाना चाहता है कि किसी को पता न चले।
मुल्ला नसरुद्दीन एक रात पी कर घर लौटा। तो बहुत विचार करके लौटा कि
आज पत्नी को पता न चलने देगा। क्या करना चाहिए? सोचा कि चल कर कुरान पढूं। कभी सुना कि शराबी और कुरान पढ़ता हो! जब कुरान पढूंगा तो साफ हो जायेगा कि शराब पी कर नहीं आया हूं। कभी शराबियों ने कुरान पढ़े!
घर पहुंचा, प्रकाश जला कर बैठ गया, कुरान पढ़ने लगा। आखिर पत्नी आई, और उसने उसे झकझोरा और कहा कि बंद करो यह बकवास! यह सूटकेस खोले किसलिए बैठे हो?
कुरान शराबी खोजे कैसे? सूटकेस मिल गया उनको, उसे खोल कर पढ़ रहे थे!
ऐसे छिपाना संभव नहीं है। और जब साधारण मदिरा नहीं छिपती तो प्रभु- मदिरा कैसे छिपेगी? आंखों से मस्ती झलकने लगती है। आंखें मदहोश हो जाती हैं। वचनों में किसी और लोक का रंग छा जाता है। वचन सतरंगे हो जाते हैं। वचनों में इंद्रधनुष फैल जाते हैं। साधारण गद्य भी बोलो तो पद्य हो जाता है। बात करो तो गीत जैसी मालूम होने लगती है। चलो तो नृत्य जैसा लगता है। नहीं, छिपता नहीं!
खैर, खून, खांसी, खुशी, वैर, प्रीत, मधुपान,
रहिमन दाबे न दबे, जानत सकल जहान।
उदघोषणा होकर रहती है।
सत्य स्वभावतः उदघोषक है। जैसे ही सत्य की घटना भीतर घटती, तुम्हारे अनजाने उदघोषणा होने लगती है।
जनक ने ये शब्द सोच-सोच कर नहीं कहे हैं; सोच-सोच कर कहते तो संकोच खा जाते। अभी-अभी अष्टावक्र को लाये हैं, अभी-अभी अष्टावक्र ने थोड़ी-सी बातें कही हैं--और जनक को घटना घट गई! संकोच करते, अगर बुद्धि से हिसाब लगाते, कहते, "क्या सोचेंगे अष्टावक्र कि मैं अज्ञानी, और ऐसी बातें कह रहा हूं! ये तो परम ज्ञानियों के योग्य हैं। इतने जल्दी कहीं घटना घटती है! अभी सुना और घट गई, ऐसा कहीं हुआ है! समय लगता है, जनम-जनम लगते हैं, बड़ी दूभर यात्रा है; खड्ग की धार पर चलना होता है।" सब बातें याद आई होतीं, और सोच कर कहा होता कि इतने दूर तक ऐसी घोषणा मत करो।
लेकिन यह घोषणा अपने से हो रही है, यह मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूं। जनक कह रहे हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं; जनक से कहा जा रहा है, ऐसा कहना ठीक है।
"आश्चर्य है कि कल्पित संसार अज्ञान से मुझमें ऐसा भासता है, जैसे सीपी में चांदी, रस्सी में सांप, सूर्य की किरणों में जल भासता है।"
अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा।।
जैसे सीपी में चांदी का भ्रम हो जाता, रस्सी में कभी अंधेरे में सांप
की भ्रांति हो जाती है और मरुस्थल में सूर्य की किरणों के कारण कभी-कभी मरूद्यान का भ्रम हो जाता है, मृग-मरीचिका पैदा हो जाती है।
आश्चर्य है! यह घटना इतनी आकस्मिक घटी है, यह घटना इतनी तीव्रता से घटी है, यह जनक को बोध इतना त्वरित हुआ है कि जनक सम्हल नहीं पाये! आश्चर्य से भरे हैं। जैसे एक छोटा-सा बच्चा परियों के लोक में आ गया हो, और हर चीज लुभावनी हो, और हर चीज भरोसे के बाहर हो।
तरतूलियन ने कहा हैः जब तक परमात्मा का दर्शन नहीं हुआ, तब तक अविश्वास रहता है; और जब परमात्मा का दर्शन हो जाता है, तब भी अविश्वास रहता है।
उसके शिष्यों ने पूछाः हम समझे नहीं। हमने तो सुना है कि जब परमात्मा
का दर्शन हो जाता है, तो विश्वास आ जाता है।

तरतूलियन ने कहाः जब तक दर्शन नहीं हुआ, अविश्वास रहता है कि परमात्मा हो कैसे सकता है? असंभव! अनुभव के बिना कैसे विश्वास! और जब परमात्मा का अनुभव होता है, तो भरोसा नहीं आता कि इतना आनंद हो सकता है! इतना प्रकाश! इतना अमृत! तब भी असंभव लगता है। जब तक नहीं हुआ, तब तक असंभव लगता है; जब हो जाता है, तब और भी असंभव लगता है।
ठीक उसी दशा में हैं जनक।
आश्चर्य! सिर्फ कल्पित है सब कुछ। मैं ही केवल सत्य हूं, साक्षी- मात्र सत्य है और सब भासमान, और सब माया!
"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, सोने में आभूषण लय होते हैं।"
फर्क देख रहे हैं? जनक का मनुष्य-रूप खो रहा है, परमात्म-रूप प्रगट हो रहा है।
स्वामी रामतीर्थ अमरीका गये। वे मस्त आदमी थे। किसी ने पूछा, दुनिया
को किसने बनाया? वे मस्ती में होंगे, समाधि का क्षण होगा--कहा, "मैंने!" अमरीका में ऐसी बात, कोई भरोसा नहीं करेगा। चलती है, भारत में चलती है। इस तरह के वक्तव्य भी चल जाते हैं। बड़ी सनसनी फैल गई--लोगों ने पूछा, "आप होश में तो हैं? चांद-तारे आपने बनाये?" कहा--"मैंने बनाये, मैंने ही चलाये, तब से चल रहे हैं।"
इस वक्तव्य को समझना कठिन है। और अगर उनके अमरीकी श्रोता न समझ सके,
तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। स्वाभाविक है। यह वक्तव्य राम का नहीं है; या अगर है, तो असली राम का है--रामतीर्थ का तो नहीं है। इस घड़ी में रामतीर्थ लहर की तरह नहीं बोल रहे हैं, सागर की तरह बोल रहे हैं; सनातन, शाश्वत की तरह बोल रहे हैं, सामयिक की तरह नहीं बोल रहे; शरीर और मन में सीमित-परिभाषित मनुष्य की तरह नहीं बोल रहे--शरीर और मन के पार, अपरिभाषित, अज्ञेय की भांति बोल रहे हैं। राम से राम ही बोले, रामतीर्थ नहीं। यह उदघोषणा परमात्मा की है!
मगर बड़ा कठिन है, बड़ा मुश्किल है तय करना।
फिर राम भारत लौटे... तो गंगोत्री की यात्रा पर जाते थे। गंगा में स्नान कर रहे थे। छलांग लगा दी पहाड़ से। लिख गए एक छोटा-सा पत्र, रख गये कि "अब राम जाता है अपने असली स्वरूप से मिलने। पुकार आ गई है; अब इस देह में न रह सकूंगा। विराट ने बुलाया!"
अखबारों ने खबर छापी की आत्महत्या कर ली। ठीक है, अखबार भी ठीक कहते हैं। नदी में कूद गये, आत्महत्या हो गई। राम से पूछे कोई, तो राम कहेंगे, "तुम आत्महत्या किये बैठे हो, मुझको कहते हो मैंने आत्महत्या कर ली? मैंने तो सिर्फ सीमा तोड़ कर विराट के साथ संबंध जोड़ लिया। मैंने तो बाधा हटा दी बीच से। मैं मरा थोड़ी। मरा-मरा था, अब जीवंत हुआ, अब विराट के साथ जुड़ा। वह जो छोटी-सी जीवन की धार थी, अब सागर बनी। मैंने सीमा छोड़ी, आत्मा थोड़ी! आत्मा तो मैंने अब पाई, सीमा छोड़ कर पाई।"
इसलिए इसे सदा याद रखना जरूरी है, कि जब कभी तुम्हारे भीतर समाधि सघन होती है, जब समाधि के मेघ तुम्हारे भीतर घिरते हैं, तो जो वर्षा होती है, वह तुम्हारे अहंकार, अस्मिता की नहीं है। वह वर्षा तुमसे पार से आती है, तुमसे अतीत है।
इस घड़ी में जनक का व्यक्तित्व तो जा रहा है।
"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, सोने में आभूषण लय होते हैं।"
न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता। डुबोया मुझको होने नेन होता मैं तो क्या होता?
डुबोया मुझको होने ने! हम कहेंगे रामतीर्थ ने आत्महत्या कर ली। रामतीर्थ कहेंगे, डुबोया मुझको होने ने! यह तो डूब कर गंगा में मैं पहली दफे हुआ। जब तक था, तब तक डूबा था।
न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता। डुबोया मुझको होने नेन होता मैं तो क्या होता?
खुदा होते! परमात्मा होते!

यह जो होने की सीमा है, इस सीमा को जब वस्त्र की भांति कोई उतारकर रख देता है, तो सत्य के दर्शन होते हैं। जैसे सांप अपनी केंचुली से निकल जाता है सरक कर, ऐसी ही घटना जनक को घटी। अष्टावक्र ने कैटेलिटिक की तरह काम किया होगा।
वैज्ञानिक कैटेलिटिक एजेंट की बात करते हैं। वे कहते हैं कि कुछ तत्व किन्हीं घटनाओं में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेते, लेकिन उनकी मौजूदगी के बिना घटना नहीं घटती।
तुमने देखा, वर्षा में बिजली चमकती है! वैज्ञानिक कहते हैं कि आक्सीजन और हाइड्रोजन के मिलने से पानी बनता है, लेकिन हाइड्रोजन और आक्सीजन का मिलन तभी होता है जब बिजली मौजूद हो। अगर बिजली मौजूद न हो तो मिलन नहीं होता। यद्यपि बिजली कोई भी हिस्सा नहीं लेती, हाइड्रोजन और आक्सीजन के मिलने में बिजली कोई भी हाथ नहीं बटाती--सिर्फ मौजूदगी... ! इस तरह की मौजूदगी को वैज्ञानिकों ने नाम दिया हैः कैटेलिटिक एजेंट।
गुरु कैटेलिटिक एजेंट है। वह कुछ करता नहीं, पर उसकी बिना मौजूदगी के कुछ होता भी नहीं। उसकी मौजूदगी में कुछ हो जाता है। यद्यपि करता वह कुछ भी नहीं, लेकिन सिर्फ उसकी मौजूदगी! इसे समझना। सिर्फ उसकी ऊर्जा तुम्हें घेरे रहती है। उस ऊर्जा के घिराव में तुममें बल उत्पन्न हो जाता है--बल तुम्हारा है। गीत फूटने लगते हैं--गीत तुम्हारे हैं। घोषणाएं घटने लगती हैं--घोषणाएं तुम्हारी हैं! लेकिन गुरु की मौजूदगी के बिना शायद घटतीं भी नहीं।
अष्टावक्र की मौजूदगी ने कैटेलिटिक एजेंट का काम किया। देखकर उस सौम्य, शांत, परम अवस्था को, जनक को अपना भूला घर याद आ गया होगा, झांक कर उन आंखों में, देखकर अपरंपार विस्तार, अपनी भूली-बिसरी संभावना स्मरण में आ गई होगी। सुनकर अष्टावक्र के वचन--सत्य में पगे, अनुभव में पगे--स्वाद जग गया होगा।
कहते हैं, एक व्यक्ति ने सिंह पाल रखा था। छोटा-सा बच्चा था, आंखें भी
न खुली थीं--तब उसे घर ले आया था। उस सिंह ने कभी मांसाहार न किया था, खून का उसे कोई स्वाद भी न था। वह शाकाहारी सिंह था। शाक-सब्जी खाता, रोटी खाता। उसे पता ही न था। पता का कोई कारण भी न था। लेकिन एक दिन यह आदमी बैठा था अपनी कुरसी पर, इसके पैर में चोट लगी थी, और खून थोड़ा-सा झलका था। सिंह भी पास में बैठा था। बैठे-बैठे उसने जीभ से वह खून चाट लिया। बस! एक क्षण में रूपांतरण हो गया। सिंह गुर्राया। उस गुर्राहट में हिंसा थी। अभी तक वह जैनी था, अचानक सिंह हो गया। अभी तक शाकाहारी था। तो शुद्ध साक-सब्जी खाकर जैसी आवाज निकल सकती थी, निकलती थी। हालांकि अभी कोई मांसाहार कर नहीं लिया था, जरा-सा खून चखा था; लेकिन याद आ गई। रोएं-रोएं में सोई हुई सिंह की विस्मृत क्षमता जाग गई! कोई जग उठा! किसी ने अंगड़ाई ले ली! जो सोया था उसने आंख खोली। वह गुर्रा कर उठ खड़ा हुआ। फिर उसने हमले शुरू कर दिये। फिर उसे घर में रखना मुश्किल हो गया। फिर उसे जंगल में छोड़ देना पड़ा। इतने दिन तक वह सोया-सोया था, आज पहली दफा उसे याद आई कि मैं कौन हूं! अष्टावक्र की छाया में जनक को याद आई कि मैं कौन हूं। और ये वचन, अगर जनक ने सोच कर कहे होते तो कह ही न सकते थे, संकोच पकड़ लेता। यह कोई आसान है कहना?
"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, और सोने में आभूषण लय होते हैं।" अष्टावक्र की छाया, अष्टावक्र की मौजूदगी, जगा गई। सोया था जो जन्मों-जन्मों से सिंह, गर्जना करने लगा! अपने स्वरूप की याद आ गई, आत्म-स्मृति हुई! यही तो सत्संग का अर्थ है।
सत्संग को पूरब में बहुत मूल्य दिया गया है, पश्चिम की भाषाओं में सत्संग के लिए कोई ठीक-ठीक शब्द ही नहीं है। क्योंकि सत्संग का कोई मूल्य पश्चिम में समझा नहीं गया।
सत्संग का अर्थ इतना ही हैः जिसने जान लिया हो, उसके पास बैठकर स्वाद संक्रामक हो जाता है। जिसने जान लिया हो, उसकी तरंगों में डूबकर, तुम्हारे भीतर की सोई हुई विस्मृत तरंगें सक्रिय होने लगती हैं, कंपन आने लगता है।

सत्संग का इतना ही अर्थ है कि जो तुमसे आगे जा चुका हो, उसे जाया हुआ देखकर तुम्हारे भीतर चुनौती उठती हैः तुम्हें भी जाना है। रुकना फिर मुश्किल हो जाता है।
सत्संग का अर्थ गुरु के वचन सुनने से उतना नहीं, जितनी गुरु की मौजूदगी पीने से है, जितना गुरु को अपने भीतर आने देने, जितना गुरु के साथ एक लय में बद्ध हो जाने से है।
गुरु एक विशिष्ट तरंग में जी रहा है। तुम जब गुरु के पास होते हो, तब उसकी तरंगें, तुम्हारे भीतर भी वैसी ही तरंगों को पैदा करती हैं। तुम भी थोड़ी देर को ही सही, किसी और लोक में प्रवेश कर जाते हो, गेस्टाल्ट बदलता है। तुम्हारे देखने का ढांचा बदलता है। थोड़ी देर को तुम गुरु की आंखों से देखने लगते हो, गुरु के कान से सुनने लगते हो।
मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि जब जनक ने ये वचन बोले, तो ये वचन भी अष्टावक्र के ही वचन हैं। कहते तो हैं--"जनक उवाच", लेकिन मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूं यह "अष्टावक्र उवाच" ही है। वह जो अष्टावक्र ने कहा था, और वह जो अष्टावक्र की मौजूदगी थी, वही इतनी सघन हो गई है कि जनक तो गए, जनक तो बह गए बाढ़ में, उनका तो कोई पता-ठिकाना नहीं है, वह घर तो गिर गया। यह तो कोई और ही बोलने लगा!
"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार, मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, सोने में आभूषण लय होते हैं।"
मैं वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं, कि आप अपनी मंजिल हूंमुझे हस्ती से क्या हासिल, मैं खुद हस्ती का हासिल हूं।
वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं--मैं एक ऐसा भटका यात्री हूं, भूला-भटका यात्री, बटोही। कि आप अपनी मंजिल हूं--कि मुझे पता नहीं, लेकिन हूं मैं अपनी मंजिल।
मंजिल कहीं बाहर नहीं है। भटका हूं इसलिए कि भीतर झांक कर नहीं देखा है; अन्यथा भटकने का कोई कारण नहीं है। भटका हूं इसलिए कि आंख बंद करके नहीं देखा है। भटका हूं इसलिए कि अपने को पहचानने की कोई कोशिश नहीं की।
और वहां खोज रहा हूं मंजिल, जहां मंजिल हो नहीं सकती।
वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं, कि आप अपनी मंजिल हूं।
यही तो भटकाव का कारण है, कि मंजिल भीतर है, हम बाहर खोज रहे हैं।
रोशनी भीतर जल रही है। प्रकाश बाहर पड़ रहा है। बाहर प्रकाश को पड़ते देखकर हम दौड़े जा रहे हैं कि प्रकाश का स्रोत भी बाहर ही होगा। बाहर जो प्रकाश पड़ रहा है वह हमारा है। बाहर से जो गंध आ रही है, वह हमारी दी हुई गंध है; वह प्रतिफलन है, प्रतिध्वनि है। हम उस प्रतिध्वनि के पीछे भाग रहे हैं। यूनानी कथा है नार्सीसस की। एक युवक--बहुत सुंदर! बड़ी मुश्किल में पड़ गया है। वह बैठा है एक झील के किनारे--शांत, सुंदर झील; तरंग भी नहीं! उसमें अपनी छाया देखी। वह मोहित हो गया अपनी छाया पर। वह अपनी छाया से प्रेम करने लगा। वह इतना पागल हो गया कि वहां से हटे ही न। उसे भूख-प्यास भूल गई। वह मजनू हो गया, और अपनी ही छाया को लैला समझ लिया। छाया सुंदर थी, बार-बार वह झील में उतरे उसे पकड़ने को; लेकिन जब उतरे तो झील कंप जाये, लहरें उठ आयें, छाया खो जाये। फिर किनारे पर बैठ जाये। जब झील शांत हो तब फिर दिखाई पड़े। कहते हैं, वह पागल हो गया। ऐसे ही वह मर गया।
तुमने नार्सीसस नाम का पौधा देखा होगा। पश्चिमी पौधा है। वह नदी के किनारे होता है, नार्सीसस की याद में ही उसको नाम दिया गया। वह नदी के किनारे ही होता है, और झांककर अपनी छाया, अपने फूलों को पानी में देखता रहता है।
लेकिन हर आदमी नार्सीसस है। जिसे हम खोज रहे वह भीतर है। जहां हम खोज रहे, वहां केवल प्रतिबिंब है, वहां केवल प्रतिध्वनियां हैं। निश्चित ही प्रतिध्वनियों को खोजने का कोई उपाय नहीं, जब तक हम मूलस्रोत की तरफ न आयें।
मैं वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं, कि आप अपनी मंजिल हूंमुझे हस्ती से क्या हासिल...
--जीवन से मुझे क्या लेना देना है?

मैं खुद हस्ती का हासिल हूं।
--मैं खुद जीवन का निष्कर्ष हूं।
जीवन से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। जीवन के माध्यम से मुझे कुछ अर्थ नहीं खोजना है--मैं खुद जीवन का अर्थ हूं; मैं खुद जीवन की निष्पत्ति हूं, निष्कर्ष हूं; उसका आखिरी फूल हूं, अंतिम चरण हूं, उच्चतम शिखर हूं। लेकिन जो व्यक्ति जीवन में अर्थ खोज रहा है, वह निरंतर अर्थहीनता को अनुभव करता है। यही तो हुआ आधुनिक युग मेंः अर्थ खो गया है! लोग कहते हैं, जीवन में अर्थ कहां? ऐसी दुर्घटना पहले कभी न घटी थी। ऐसा नहीं कि पहले बुद्धिमान आदमी न थे--बहुत बुद्धिमान लोग हुए हैं, उनके साथ तुलना भी करनी कठिन है। बुद्ध भी हुए हैं; जरथुस्त्र भी हुए हैं; लाओत्सु भी हुए हैं; अष्टावक्र भी हुए हैं। बुद्धि के और क्या शिखर हो सकते हैं? इससे बड़ी और क्या मेधा होगी? लेकिन कभी किसी ने नहीं कहा कि जीवन में अर्थ नहीं है। आधुनिक युग के जो बुद्धिमान लोग हैं--सार्त्र हों, कामू हों, काफका हों--वे सब कहते हैं कि जीवन में कोई अर्थ नहीं है; अर्थहीन, वितण्डा, मूर्ख के द्वारा कही गई कथा--ए टेल टोल्ड बाइ एन ईडियट! एक मूर्ख के द्वारा कहा गया अर्थहीन वक्तव्य! अनर्गल प्रलाप! "ए टेल टोल्ड बाइ एन ईडियट फुल आफ फ्यूरी एंड न्वाएज सिग्नीफाइंग नथिंग!" नहीं कुछ अर्थ, नहीं कुछ मूल्य, व्यर्थ की बकवास है--ऐसा है जीवन!
क्या हुआ? जीवन अचानक अर्थहीन क्यों मालूम होने लगा? कहीं ऐसा तो नहीं कि अर्थ हम गलत दिशा में खोज रहे हैं? क्योंकि कृष्ण तो कहते हैं, जीवन महासार्थक है। क्योंकि कृष्ण तो कहते हैं कि जीवन तो परम अर्थ और विभा से भरा हुआ है। और बुद्ध तो कहते हैं, परम शांति, परम आनंद, जीवन में छिपा है। अष्टावक्र तो कहते हैं, जीवन स्वयं परमात्मा है। कहीं भूल हो रही है, कहीं चूक हो रही है। हम कहीं गलत दिशा में खोज रहे हैं।
मुझे हस्ती से क्या हासिल, मैं खुद हस्ती का हासिल हूं।
जब हम बाहर खोजते हैं, जीवन अर्थहीन मालूम होता है। जब हम भीतर खोजते हैं, जीवन अर्थपूर्ण मालूम होता है, क्योंकि हम ही जीवन के अर्थ हैं। "मैं आश्चर्यमय हूं! मुझको नमस्कार है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यंत जगत के नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं। मैं नित्य हूं।"
ऐसा अदभुत वचन न तो पहले कभी कहा गया, न फिर पीछे कभी कहा गया। इस वचन
की अदभुतता देखते होः मुझको नमस्कार है! निश्चित ही यह जनक का वक्तव्य नहीं है। यह परम घटना घट गई, उस घटना का ही वक्तव्य है। यह समाधिस्थ स्वर है। यह संगीत समाधि का है!
अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।
सब मिटेगा, मैं नहीं मिटूंगा! सब जन्मता है, मरता है--मैं न जन्मता हूं, न मरता हूं! आश्चर्यमय हूं! मैं स्वयं आश्चर्य हूं! मुझे मेरा नमस्कार! छोटे से छोटे तृण से लेकर ब्रह्मा तक बनते हैं और मिटते हैं; उनका समय आता और जाता। वे सब समय में घटी हुई घटनाएं हैं, तरंगें हैं। मैं साक्षी हूं! मैं उन्हें बनते और मिटते देखता हूं। वे मेरी ही आंखों के सामने चल रहे अभिनय, खेल और नाटक हैं। मेरी ही आंखों के प्रकाश में वे प्रकाशित होते और लीन हो जाते हैं।
ब्रह्मा भी! जिनकी तुम मंदिरों में पूजा करते हो--ब्रह्मा, विष्णु, महेश--वे आते हैं और जाते हैं। सिर्फ एक तत्व इस जगत में न आता न जाता--वह तुम्हीं हो। तुम से मुक्त--तुम्हीं! और जब तुम से मुक्त हो, तब तुम पाओगे कि चरणों में अपने ही झुक गये! तब तुम पाओगे, भीतर विराजमान है परम प्रभु! तब तुम पाओगे, जिसे तुम खोजते थे, वह तुम्हारे भीतर सदा से मौजूद प्रतीक्षा करता था! मैं आश्चर्यमय हूं! मुझको नमस्कार है।
"मैं आश्चर्यमय हूं। मैं देहधारी होता हुआ भी अद्वैत हूं।"
दो दिखाई पड़ता हूं, फिर भी अद्वैत हूं। वह दो दिखाई पड़ना सिर्फ ऊपर-ऊपर है। जैसे एक वृक्ष में बहुत-सी शाखाएं दिखाई प.ड़ती हैं। अगर तुम शाखायें गिनो, तो अनेक हैं; अगर तुम वृक्ष के नीचे उतरने लगो तो पीड़ में आकर एक हो जाती हैं। ऐसे ही ये जो अनेक-रूप दिखता है संसार, वह भी अपने मूल में आकर एक हो जाता है। यह एक का ही फैलाव है।

"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मैं देहधारी होता हुआ भी अद्वैत हूं। न कहीं जाता हूं, न कहीं आता हूं, और संसार को घेर कर स्थित हूं।"
सुनो! जनक कह रहे हैं कि संसार को घेर कर स्थित हूं, संसार को मैंने घेरा है! मैं संसार की परिभाषा हूं! मैं असीम हूं! संसार मेरे भीतर है! साधारणतः हम देखते हैं, हम संसार के भीतर हैं। यह तो अपूर्व क्रांति हुई। यह तो गेस्टाल्ट पूरा बदला। जनक कहते हैं, संसार मेरे भीतर है! जैसे आकाश में बादल उठते हैं, और खो जाते हैं, ऐसे ही युग मुझमें आते और विलीन हो जाते हैं। मैं निराकार, साक्षी-रूप, द्रष्टा-मात्र, सब को घेर कर खड़ा हूं!
इसे तुम समझो। बच्चे थे तुम कभी, तब एक आकार घिरा था तुम्हारे आकाश में--बचपन का। फिर तुम जवान हो गए, वह रूप खो गया। फिर दूसरा बादल घिरा। नया आकार तुमने लिया, तुम जवान हो गए! बच्चे थे, तब तुम्हें कामवासना का कोई भी पता न था। कोई समझाता तो भी तुम समझ न पाते। फिर तुम जवान हुए, नई वासना उठी, वासना ने नये वस्त्र पहने, नया रंग खिला, तुम्हारे जीवन ने नया ढांचा पकड़ा। फिर तुम बूढ़े होने लगे। जवानी भी गई! जवानी का शोरगुल भी गया! वह वासना भी बह गई! अब तुम्हें हैरानी होती है कि कैसे तुम उन वासनाओं में उतर सके! अब तुम चकित होकर सोचते हो कि मैं ऐसा मूढ़ था, कि मैं ऐसा अज्ञानी था!
हर बूढ़े को एक न एक दिन, अगर वह सच में जीवन को जरा भी देखने में सफल हो पाया है--तो यह बात आश्चर्य से भरती है, कि मैं कैसी-कैसी चीजों के पीछे भागा--धन, पद, मोह, स्त्री-पुरुष, कैसी-कैसी चीजों के पीछे भागा! क्या-क्या खोजता फिरा! मैं खुद खोजता फिरा! भरोसा नहीं आता कि मैं और ऐसे सपने में हो सकता था!
अरब में एक कहावत है कि अगर जवान आदमी रो न सके तो जवान नहीं; और अगर बूढ़ा आदमी हंस न सके तो बूढ़ा नहीं। जवान आदमी अगर रो न सके, तो जवान नहीं; क्योंकि जो रो नहीं सकता, जो अभी आंसू नहीं बहा सकता, उसका भाव कुंठित है, उसके जीवन में तरंग नहीं है, मौज नहीं है। जो पीड़ित नहीं हो सकता, वह जवान नहीं है, पथरीला है; उसका हृदय खिला नहीं, अनखिला रह गया है। और बूढ़ा, जो हंस न सके--पूरे जीवन पर और अपने पर, कि कैसी मूढ़ता है! कैसा मजाक है! --तो बूढ़ा नहीं। बूढ़ा वही है, जो हंस सके सारी मूढ़ता पर, अपनी और सबकी, और कहे खूब मजाक चल रहा है! लोग पागल हुए भागे जा रहे हैं--उन चीजों के पीछे, जिनका कोई भी मूल्य नहीं। उसे अब दिखाई पड़ता है, कोई भी मूल्य नहीं है! कभी तुम जवान, कभी तुम बूढ़े! कभी बादल एक रूप लेता, कभी दूसरा, कभी तीसरा! लेकिन तुमने ख्याल किया कि भीतर तुम एक ही हो? जिसने देखा था बचपन, उसी ने जवानी देखी। जिसने देखी जवानी, उसी ने बुढ़ापा देखा। तुम द्रष्टा हो! वह जो देखने वाला पीछे खड़ा है, वह वही का वही है। रात तुम सोते हो, तब तुम्हारा द्रष्टा सपने देखता है। जब सपने भी नहीं रह जाते, सिर्फ गहरी तंद्रा होती है, सुषुप्ति होती है--तब तुम्हारा द्रष्टा सुषुप्ति देखता है कि खूब गहरी नींद... ! इसीलिए तो सुबह उठकर तुम कभी कहते हो कि रात खूब गहरी नींद लगी। किसने देखी! अगर तुम पूरे के पूरे सो गए थे, और तुम्हारे भीतर कोई देखने वाला न बचा था, तो किसने देखी? किसने जानी? किसको यह खबर मिली? कौन यह कह रहा है? सुबह उठकर कौन कहता है कि रात मैं गहरी नींद सोया? अगर तुम सो ही गये थे तो जानने वाला कौन था? जरूर तुम्हारे भीतर कोई जागता रहा, कोई एक कोने में दीया जलता रहा, और देखता रहा कि गहरी नींद, बड़ी विश्रांतिमयी, बड़ी आह्लादकारी, बड़ी शांत, स्वप्न की भी कोई तरंग नहीं, कोई तनाव नहीं, कोई विचार नहीं! कोई देखता रहा है। सुबह उसी देखने वाले ने कहा है कि रात बड़ी गहरी नींद रही। रात सपने भरे रहे तो सुबह तुम कहते हो, रात सपनों में गई, न मालूम कैसे-कैसे दुख-स्वप्न देखे! जरूर, देखने वाला सपनों में खो नहीं गया था। जरूर देखने वाला सपना हो नहीं गया था। देखने वाला अलग ही खड़ा रहा!
फिर दिन में तुम खुली आंख की दुनिया देखते हो। दुकान पर तुम दुकानदार हो, मित्र के साथ तुम मित्र हो, शत्रु के साथ तुम शत्रु हो। घर आते हो--

पत्नी के साथ पति हो, बेटे के साथ पिता हो, पिता के साथ बेटे हो। फिर हजार-हजार रूप... ! यह भी तुम देखते हो। लेकिन तुम इन सबके पार देखने वाले हो। कभी सफलता देखते हो कभी विफलता, कभी बीमारी कभी स्वास्थ्य, कभी सौभाग्य के दिन कभी दुर्भाग्य के दिन; लेकिन एक बात तय है, कि ये सब आते और जाते; तुम न आते, तुम न जाते।
"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मैं देहधारी होता हुआ अद्वैत! न कहीं जाता न कहीं आता... ।"
न क्वचित गंता, न क्वचित आगंता
न जाता न आता। बस हूं। यह होना मात्र ही स्वरूप है।
"... और संसार को घेर कर स्थित हूं।"
और संसार को मैंने घेरा! यही तो तुम्हारा संसार है। यह संसार तुम्हारे भीतर है, तुम इस संसार के भीतर नहीं। तुम इसके मालिक हो, तुम इसके गुलाम नहीं। तुम जिस क्षण चाहो, पंख फैला दो और उड़ जाओ! अगर तुम इसके भीतर हो तो अपनी मर्जी से हो, किसी की जबर्दस्ती से नहीं।
इतना तुम्हें ख्याल रहे, फिर कुछ अड़चन नहीं है। फिर अगर तुम बंधन में पड़े हो अपनी मर्जी से, तो बंधन भी बंधन नहीं है। फिर तुम्हारी जो मर्जी, फिर तुम्हें जो करना हो करो। लेकिन एक बात भर मत भूलना कि तुम कर्ता नहीं हो, कर्ता फिर एक रूप है; भोक्ता नहीं हो, भोक्ता एक रूप है। तुम साक्षी हो! वही तुम्हारी शाश्वतता है।
पूरब में, हमारा सबसे बड़ा खोज का जो लक्ष्य रहा है, वह उसे खोज लेना है, जो समयातीत है, कालातीत है। जो समय की धारा में बनता-बिगड़ता है, वह प्रतिबिंब है। जो समय के पार खड़ा है-- साक्षीवत--वही सत्य है।
"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मेरे समान निपुण कोई नहीं!" सुनते हो? जनक कहते हैं, मेरे समान निपुण कोई भी नहीं!
"क्योंकि शरीर से स्पर्श किये बिना ही, मैं इस विश्व को सदा-सदा धारण किये रहा हूं।"
यही तो कला, कुशलता!
अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
"मुझ जैसा कौन दक्ष, मुझ जैसा कौन कुशल! छुआ भी नहीं शरीर को!"
कभी नहीं छुआ है। छूने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव और शरीर का स्वभाव इतना भिन्न है कि छूना हो नहीं सकता, छूने की घटना घट नहीं सकती। तुम सिर्फ साक्षी हो! तुम सिर्फ देख ही सकते हो। शरीर दृश्य है; वह सिर्फ दिखाई पड़ सकता है। तुम्हारा और शरीर का मिलना हो नहीं सकता। तुम शरीर में खड़े रहो, शरीर तुम में खड़ा रहे--लेकिन अस्पर्शित, जैसे अनंत दूरी पर! दोनों का स्वभाव इतना भिन्न है कि तुम मिला न सकोगे।
तुम दूध में पानी मिला सकते हो, लेकिन पानी को तेल में न मिला सकोगे; उनका स्वभाव अलग है। दूध में पानी मिल जाता है, क्योंकि दूध पहले से ही पानी है, नब्बे प्रतिशत से भी ज्यादा पानी है। इसलिए दूध में पानी मिल जाता है। लेकिन तेल में तुम पानी न मिला सकोगे; वे मिलेंगे ही नहीं; वे मिल ही नहीं सकते; उनका स्वभाव अलग है।
फिर भी ध्यान रखना, शायद वैज्ञानिक कोई विधि निकाल लें तेल और पानी को मिलाने की; क्योंकि कितना ही स्वभाव भिन्न हो, दोनों ही पदार्थ हैं। लेकिन चेतना और जड़ को मिलाने का कोई उपाय नहीं; क्योंकि जड़ पदार्थ है, और चेतना पदार्थ नहीं है। दृश्य और द्रष्टा को मिलाने का कोई उपाय नहीं। द्रष्टा, द्रष्टा रहेगा; दृश्य, दृश्य रहेगा।
इसलिए जनक कहते हैं कि आश्चर्य से भर गया हूं मैं। आश्चर्य ही हो गया हूं! कैसी मेरी निपुणता कि इतने-इतने कर्म किये, और फिर भी अलिप्त हूं! इतना-इतना भोगा, फिर भी भोग की कोई भी रेखा मुझ पर नहीं पड़ी है!
जैसे पानी पर तुम लिखते रहो, लिखते रहो और कुछ लिखा नहीं जाता--ऐसे ही तुम साक्षी के साथ कर्म करते रहो, भोग करते रहो, कुछ लिखा नहीं जाता, सब पानी की लकीरों की भांति मिट जाता है! तुम लिख नहीं पाये, और मिट जाता है। "मेरे समान निपुण कोई नहीं, क्योंकि शरीर से स्पर्श किये बिना ही मैं
इस विश्व को सदा-सर्वदा धारण किये हूं।"

दिल में वो तेरे है मकींदिल से तेरे अलग नहीं, तुझसे जुदा वो लाख होतू
न उसे जुदा समझ।
हम लाख समझें अपने को कि शरीर से जुड़े हैं, हम जुड़ नहीं सकते। और हम लाख समझें अपने को कि हम परमात्मा से अलग हैं, हम अलग नहीं हो सकते। और ये दोनों बातें एक साथ समझ में आती हैं, जब भी समझ में आती हैं। जब तक तुम सोचते हो कि तुम शरीर से जुड़ सकते हो, तब तक इसका एक दूसरा पहलू भी है कि तुम सोचोगे तुम परमात्मा से टूट गए। जिस दिन तुम जानोगे परमात्मा से जुड़े हो, उस दिन तुम जानोगेः अरे! आश्चर्यों का आश्चर्य कि मैं शरीर से कभी भी जुड़ा न था!
दिल में वो तेरे है मकीं, दिल से तेरे अलग नहीं।
--वह परम सत्य तेरे दिल में बसा है।
दिल में वो तेरे है मकीं,
--उसने वहीं मकान बनाया है।
दिल से तेरे अलग नहीं। तुझसे जुदा वो लाख हो, तू न उसे जुदा समझ।
भला कितना ही तुझे प्रतीत होता रहे कि जुदा है, जुदा है, तो जुदा मत समझना, क्योंकि जुदा होने का कोई उपाय नहीं। परमात्मा से अलग होने की कोई व्यवस्था नहीं है और संसार के साथ एक होने का कोई उपाय नहीं है। यद्यपि जो नहीं हो सकता, उसी को करने में हम जन्मों-जन्मों से लगे रहे। जिस दिन तुम भी जागोगे--और निश्चित किसी दिन जागोगे; क्योंकि जो सोया है, वह कब तक सोयेगा? क्योंकि जो सोया है, जागना उसका स्वभाव है--तभी तो सो गया है। जो सोया है, सोने में ही खबर दे रहा है कि जाग भी सकता है, जागना उसकी संभावना है। जो जाग नहीं सकता, वह सोयेगा कैसे? जो जाग सकता है, वही सो सकता है। किसी न किसी दिन तुम जागोगे। जब जागोगे, तब तुम्हें भी लगेगाः
"मेरे समान निपुण कोई भी नहीं! शरीर से स्पर्श किये बिना मैं इस विश्व
को सदा-सदा धारण किये हुए हूं।"
और मैं ही इस विश्व को धारण किये हूं, कोई और इसे नहीं सम्हाले है। छुआ
भी नहीं है इसे, और मैं सम्हाले हूं।
झेन फकीर कहते हैं कि गुजरना नदी से, लेकिन ध्यान रखना, पानी तुम्हें छूने न पाये। वे इसी बात की खबर दे रहे हैं कि अगर तुम्हें समझ आ जाये साक्षी की, तो तुम गुजर जाओगे नदी से। पानी शरीर को छुएगा, तुम्हें नहीं छू सकेगा। तुम साक्षी ही बने रहोगे।
इस संसार में साक्षी बनना सीखो। थोड़ा-थोड़ा कोशिश करो। राह पर चलते कभी इस भांति चलो कि तुम नहीं चल रहे, सिर्फ शरीर चल रहा है। तुम तो वही हो--न क्वचित गंता, न क्वचित आगंता--न कभी जाता कहीं, न कभी आता कहीं। राह पर अपने को चलता हुआ देखो और तुम द्रष्टा बनो। भोजन की टेबल पर भोजन करते हुए देखो अपने को कि शरीर भोजन कर रहा है, हाथ कौर बनाता, मुंह तक लाता, तुम चुपचाप खड़े-खड़े देखते रहो! प्रेम करते हुए देखो अपने को, क्रोध करते हुए देखो अपने को। सुख में देखो, दुख में देखो। धीरे-धीरे साक्षी को सम्हालते जाओ। एक दिन तुम्हारे भीतर भी उदघोष होगा, परम वर्षा होगी, अमृत झरेगा! तुम्हारा हक है, स्वरूप-सिद्ध अधिकार है! तुम जिस दिन चाहो, उस दिन उसकी घोषणा कर सकते हो।
"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मेरा कुछ भी नहीं है, अथवा मेरा सब कुछ है--जो वाणी और मन का विषय है।"
कहते हैं जनक कि एक अर्थ में मेरा कुछ भी नहीं है, क्योंकि मैं ही नहीं हूं। मैं ही नहीं बचा, तो मेरा कैसा? तो एक अर्थ में मेरा कुछ भी नहीं है, और एक अर्थ में सभी कुछ मेरा है। क्योंकि जैसे ही मैं नहीं बचा, परमात्मा बचता है--और उसी का सब कुछ है। यह विरोधाभासी घटना घटती है, जब तुम्हें लगता है मेरा कुछ भी नहीं और सब कुछ मेरा है।
अहो अहं नमो मह्मं यस्य मे नास्ति किंचन।
अथवा यस्य में सर्वं यब्दाङमनसगोचरम्।।
जो भी दिखाई पड़ता है आंख से, इंद्रियों से अनुभव में आता है, कुछ भी मेरा नहीं है, क्योंकि मैं द्रष्टा हूं। लेकिन जैसे ही मैं द्रष्टा हुआ,

वैसे ही पता चलता है, सभी कुछ मेरा है, क्योंकि मैं इस सारे अस्तित्व का केंद्र हूं।
द्रष्टा तुम्हारा व्यक्तिगत रूप नहीं है। द्रष्टा तुम्हारा समष्टिगत रूप है। भोक्ता की तरह हम अलग-अलग हैं, कर्ता की तरह हम अलग-अलग हैं--द्रष्टा की तरह हम सब एक हैं। मेरा द्रष्टा और तुम्हारा द्रष्टा अलग-अलग नहीं। मेरा द्रष्टा और तुम्हारा द्रष्टा एक ही है। तुम्हारा द्रष्टा और अष्टावक्र का द्रष्टा अलग-अलग नहीं। तुम्हारा और अष्टावक्र का द्रष्टा एक ही है। तुम्हारा द्रष्टा और बुद्ध का द्रष्टा अलग-अलग नहीं। तो जिस दिन तुम द्रष्टा बने उस दिन तुम बुद्ध बने, अष्टावक्र बने, कृष्ण बने, सब बने। जिस दिन तुम द्रष्टा बने, उस दिन तुम विश्व का केंद्र बने। इधर मिटे, उधर पूरे हुए। खोया यह छोटा-सा मैं, यह बूंद छोटी-सी--और पाया सागर अनंत का!
ये सूत्र आत्म-पूजा के सूत्र हैं। ये सूत्र कह रहे हैं कि तुम्हीं हो भक्त, तुम्हीं हो भगवान। ये सूत्र कह रहे हैं, तुम्हीं हो आराध्य, तुम्हीं हो आराधक। ये सूत्र कह रहे हैं कि तुम्हारे भीतर दोनों मौजूद हैं; मिलन हो जाने दो दोनों का! ये सूत्र बड़ी अनूठी बात कह रहे हैं, झुक जाओ अपने ही चरणों में; मिट जाओ अपने ही भीतर; डूब जाओ अपने ही भीतर! तुम्हारा भक्त और तुम्हारा भगवान तुम्हारे भीतर है। हो जाने दो मिलन वहां, हो जाने दो सम्मिलन, वहीं घटेगी क्रांति जब भीतर तुम्हारा भक्त और भगवान मिल कर एक हो जायेगा। न भगवान बचेगा न भक्त; कोई बचेगा--अरूप, निर्गुण, सीमातीत, कालातीत, समयातीत, क्षेत्रातीत! द्वैत नहीं बचेगा, अद्वैत बचेगा!
इन अद्वैत के क्षणों की जो पहली झलकें हैं, उन्हीं को हम ध्यान कहते हैं। इसी अद्वैत की झलकें जब थिर होने लगती हैं तो हम सविकल्प समाधि कहते हैं। और जब इस अद्वैत की झलक शाश्वत हो जाती है, ऐसी थिर हो जाती है कि फिर छूटने का उपाय नहीं रह जाता--तब इसी को हम निर्विकल्प समाधि कहते हैं।
यह दो तरह से घट सकता है। या तो मात्र बोधपूर्वक--जैसा जनक को घटा; सिर्फ समझ लेने मात्र से! पर बड़ी प्रज्ञा चाहिए, बड़ी प्रखरता चाहिए, बड़ी त्वरा चाहिए! बड़ी धार चाहिए तुम्हारे भीतर फिर चैतन्य की तो यह घटना तत्क्षण घट सकती है। अगर तुम पाओ, ऐसा घटता है, तो ठीक। अगर तुम पाओ ऐसा नहीं घटता, तो इन सूत्रों को बैठ कर दोहराते मत रहना, इन सूत्रों को दोहराने से न घटेगा। ये सूत्र ऐसे हैं कि अगर सुन कर घट गया, तो घट गया; चूक गए सुनते वक्त, तो फिर इनको तुम लाख दोहराओ, न घटेगा; क्योंकि पुनरुक्ति से नहीं घटने वाला है। पुनरुक्ति से तुम्हारे मस्तिष्क में धार नहीं आती, धार मरती है।
तो एक तो उपाय है कि इन सूत्रों को सुनते ही घट जाये। घट जाये तो घट जाये, तुम कुछ कर नहीं सकते उसमें; अगर न घटे, तो फिर तुम्हें धीरे-धीरे ध्यान, ध्यान से फिर सविकल्प समाधि, सविकल्प समाधि से फिर निर्विकल्प समाधि--उसकी यात्रा करनी पड़े। छलांग लग जाये तो ठीक, नहीं तो फिर सीढ़ियों से उतरना पड़े। छलांग लग जाये तो लग जाये। किसी को लग सकती है। सभी आश्चर्य संभव हैं, क्योंकि तुम आश्चर्यों के आश्चर्य हो!
इसलिए इसमें असंभव कुछ भी नहीं है। यहां मुझे सुनते-सुनते किसी को छलांग लग सकती है। अगर तुम बीच में न आओ; अगर तुम अपने को अलग रख दो, अगर तुम अपनी बुद्धि को उतार कर रख दो जैसे जूते और कपड़े उतार कर रख देते हो; अगर तुम शुद्ध, नग्न चैतन्य से मेरे सामने हो जाओ--तो यह छलांग लग सकती है। जैसी जनक को लगी, वैसी तुम्हें लग सकती है। लग जाये, ठीक; उपाय नहीं है इसमें फिर। तुम यह नहीं पूछ सकते कि हम कैसे इंतजाम करें इसके लगाने का? अगर इंतजाम पूछा तो यह नहीं लगती। फिर दूसरा उपाय है। फिर पतंजलि तुम्हारा मार्ग हैं, फिर महावीर, फिर बुद्ध। फिर अष्टावक्र तुम्हारे मार्ग नहीं हैं।
इसीलिए तो अष्टावक्र की गीता अंधेरे में पड़ी रही है। इतनी त्वरा, इतनी तीव्रता, इतनी मेधा, मुश्किल से मिलती है। जन्मों-जन्मों तक कोई निखार कर आया होता है, तो यह घटना घटती है। मगर घटती है! कभी सौ में एकाध

को, मगर घटती है! ऐसे मनुष्य-जाति के इतिहास में बहुत-से उल्लेख हैं, जब कोई छोटी-मोटी घटना ने क्रांति कर दी।
मैंने सुना है, बंगाल में एक साधु हुए, अदालत में क्लर्क थे, हेड-क्लर्क थे। रिटायर हो गए। राजा बाबू नाम था। बंगाली थे, सो बाबू। साठ के ऊपर उम्र हो गई थी, एक दिन सुबह घूमने निकले थे। ब्रह्ममुहूर्त, सूरज अभी उगा नहीं। कोई स्त्री अपने घर में, दरवाजा बंद है, किसी को जगाती थी। होगी उसका बेटा, होगा उसका देवर--किसी को जगाती थी। कहती थी, "राजा बाबू उठो, बहुत देर हो गई!" राजा बाबू बाहर से निकल रहे थे अपनी छड़ी लिए, सुबह घूमने निकले थे। अचानक सुबह उस ब्रह्ममुहूर्त के क्षण में, सूरज अभी उगने-उगने को है, आकाश पर लाली फैली है, पक्षी गीत गुनगुनाने लगे, सारी प्रकृति जागरण से भरी--घट गई बात! स्त्री तो किसी और को जगाती थी, इन राजा बाबू से तो कुछ कहा ही न था। उसे तो पता भी न था कि ये राजा बाबू बाहर से निकल रहे हैं। ये तो अपने घूमने निकले थे, वह किसी को भीतर कहती थी कि "राजा बाबू उठो, सुबह हो गई, बहुत देर हो गई! अब उठो भी, कब तक सोये रहोगे?" सुनाई पड़ा-- घट गई घटना। घर नहीं लौटे। चलते ही गए। जंगल पहुंच गए। घर के लोगों को पता चला। घर के लोग खोजने गए, मिले जंगल में। पूछा, "क्या हो गया?" हंसने लगे! कहा, "बस हो गया! राजा बाबू जग गए, अब जाओ!" उन्होंने कहा, "क्या मतलब? क्या कहते हैं आप?" उन्होंने कहा, "अब कहने-सुनने को कुछ भी नहीं। बहुत देर वैसे ही हो गई थी। बात समझ में आ गई। सुबह का वक्त था, सारी प्रकृति जाग रही थी--उसी जागरण में मैं भी जाग गया! कोई स्त्री कहती थीः उठो बहुत देर हो गई! पड़ गई चोट।"
अब स्त्री तो अष्टावक्र भी न थी, खुद भी जागी न थी! तो कभी-कभी ऐसा भी हुआ है, अगर तुम्हारी मेधा प्रगाढ़ हो, तुम्हारा फल पक गया हो, तो हवा का झोंका--या न चले हवा, तो भी कभी पका फल बिना झोंके के भी गिर जाता है। हो जाये तो हो जाये! लेकिन अगर न हो, तो निराश मत हो जाना, उदास मत हो जाना। अगर आकस्मिक न हो तो क्रमिक हो सकता है। आकस्मिक कभी-कभी होता है, अपवाद-स्वरूप है। इसलिए अष्टावक्र की गीता अपवाद-स्वरूप है। इसमें कोई विधि नहीं है। कोई मार्ग नहीं है।
जापान में झेन परंपरा के दो स्कूल हैं। दो परंपरायें हैं। एक परंपरा हैः सडन एनलाइटेनमेंट; तत्क्षण संबोधि। वे जो कह रहे हैं, वह वही जो अष्टावक्र कहते हैं। उनका गुरु कुछ नहीं सिखाता। आकर बैठ जाता है, कुछ मौज हुई तो बोल देता है। हो जाये, हो जाये।
ऐसे एक गुरु को एक सम्राट ने अपने महल में आमंत्रित किया। वह गुरु आया, वह मंच पर चढ़ा। सम्राट बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता था; वह बैठा है शिष्य-भाव से। उस गुरु ने मंच पर बैठ कर थोड़ी देर इधर-उधर देखा, जोर से टेबिल पर मुक्के मारे, उठा और चला गया!
वह सम्राट चौंक कर रह गया कि यह क्या हुआ! उसने अपने वजीर से पूछा। वजीर ने कहा, "उन्हें मैं जानता हूं। इससे ज्यादा महत्वपूर्ण व्याख्यान उन्होंने कभी दिया ही नहीं। मगर समझे तो समझे, नहीं समझे तो नहीं समझे।" सम्राट ने कहा, "यह व्याख्यान! ये टेबिल पर तीन दफे घूंसे मारना और चले जाना--बस हो गई बात?"
उस वजीर ने कहा कि वह जगाने की कोशिश करके चले गये। जगो तो जग जाओ। राजा बाबू उठो, सुबह हो गई। वह अलार्म बजा कर चल दिये!
उस वजीर ने कहा, "मैंने इन गुरु के और भी व्याख्यान सुने हैं, मगर इससे ज्यादा प्रगाढ़ और इससे ज्यादा सचेतन करने वाला व्याख्यान उन्होंने कभी दिया ही नहीं। मगर आप चिंतित न हों, क्योंकि मैंने बहुत सुने, मैं भी अभी जागा नहीं। आपने तो पहला ही व्याख्यान सुना है। सुनते रहें, हो जाये शायद!"
यह आकस्मिक घटना है, इसमें कार्य-कारण का कोई संबंध नहीं। अभूतपूर्व! जिससे तुम्हारे अतीत का कोई लेना-देना नहीं है--हो जाये तो हो जाये! यह कोई वैज्ञानिक घटना नहीं है कि सौ डिग्री तक पानी गर्म करेंगे तो भाप बनेगा। यह मामला कुछ ऐसा है कि कभी बिना गर्म किये भाप बन जाता है। इसकी वैज्ञानिक कोई व्याख्या नहीं है।

अष्टावक्र विज्ञान के बाहर हैं। अगर तुम्हारी बुद्धि वैज्ञानिक हो
और तुम कहो, "ऐसे कैसे होगा? कुछ करेंगे तब होगा।" तो फिर तुम वैज्ञानिक बुद्धि से चलो। फिर तुम बुद्ध को पूछो तो आष्टांगिक योग है। फिर तुम पतंजलि को पूछो तो उनका भी योग है। फिर प्रक्रियाएं हैं। यह योग नहीं है; यह सांख्य का शुद्ध वक्तव्य है।
इसलिए अष्टावक्र बहुतों को जगा सके होंगे, ऐसा भी नहीं! कोई एकाध जनक
जग गया होगा, बस! जनक जग गया, यह भी बहुत है; जरूरी न था। और तो कुछ खबर भी नहीं कि अष्टावक्र से कोई और भी जगा।
बुद्ध ने बहुतों को जगाया, पतंजलि अब भी जगाये चले जाते हैं। अष्टावक्र ने तो केवल एक व्यक्ति को जगाया। वह भी अष्टावक्र ने जगाया, कहना कठिन है। जनक जागने की क्षमता में थे, अष्टावक्र तो केवल निमित्त बन गए। कारण नहीं--निमित्त।
तो जो सडल एनलाइटेनमेंट, तत्क्षण बोधि-संबोधि के उपाय हैं, उनमें तो गुरु केवल निमित्त है। वह कोशिश करेगा--हो जाये, हो जाये। कोई विज्ञान नहीं है। न हो तो निराश मत होना। तुम्हें हो ही जायेगा, ऐसा गुरु मान कर भी नहीं चलता है। किसी को हो जायेगा! जिनको न हो जायेगा, उनमें कम से कम होने की प्यास जगेगी; वे विधि की तलाश करेंगे, उन्हें विधि से होगा।
नियम तो विधि से ही होने का है। बिना विधि के होना तो अपवाद-स्वरूप है;
वह नियम के बाहर है।
तो यहां सुनना ध्यानपूर्वक! हो जाये, शुभ; न हो जाये तो निराश मत होना!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक दसवां प्रवचन

हरि ओम् तत्सत्

पहला प्रश्नः आपने कल बताया कि तत्क्षण संबोधि, सडन एनलाइटेनमेंट किसी भी कार्य- कारण के नियम से बंधा हुआ नहीं है; लेकिन यदि अस्तित्व में कुछ भी अकस्मात, दुर्घटना की तरह नहीं घटता, तो संबोधि जैसी महानतम घटना कैसे इस तरह घट सकती है?

अस्तित्व में कुछ भी अकारण नहीं घटता, यह सच है; लेकिन अस्तित्व स्वयं अकारण है। परमात्मा स्वयं अकारण है, उसका कोई कारण नहीं है। संबोधि यानी परमात्मा। संबोधि यानी अस्तित्व। फिर और सब घटता है, परमात्मा घटता नहीं..है। ऐसा कोई क्षण न था, जब नहीं था; ऐसा कोई क्षण नहीं होगा, जब नहीं होगा। और सब घटता है..आदमी घटता है, वृक्ष घटते हैं, पशु-पक्षी घटते हैं; परमात्मा घटता नहीं..परमात्मा है। संबोधि घटती नहीं। संबोधि घटना नहीं है; अन्यथा अकारण घटती, तो दुर्घटना हो जाती। संबोधि घटती नहीं है, संबोधि तुम्हारा स्वभाव है; संबोधि तुम हो। इसलिए तत्क्षण घट सकती है, और अकारण घट सकती है।
कहा है कि "संबोधि जैसी महानतम घटना कैसे इस तरह घट सकती है?"
महानतम है..इसीलिए। क्षुद्र तो सभी सकारण घटता है। अगर समाधि भी और ही वस्तुओं की तरह सकारण घटती होती, तो वह भी क्षुद्र और साधारण हो जाती। पानी को सौ डिग्री तक गर्म करो, भाप बन जाता है..ऐसी ही अगर समाधि भी होती कि सौ डिग्री तक तपश्चर्या करो और समाधि घट जाती है, तो विज्ञान की प्रयोगशाला में पकड़ ली जायेगी फिर तुम्हारी समाधि; फिर ज्यादा देर धर्म के बचने का कोई उपाय नहीं। क्योंकि जो भी सकारण घटता है, वह विज्ञान के हाथ के भीतर आ ही जायेगा; जिसका कारण है, वह विज्ञान की सीमा में घिर जायेगा। संबोधि अकारण है। इसलिए धर्म, धर्म रहेगा; विज्ञान उसे कभी भी आच्छादित न कर सकेगा। जो भी सकारण घटता है, सब धीरे-धीरे वैज्ञानिक हो जायेगा; सिर्फ एक चीज रह जायेगी, जो कभी वैज्ञानिक न होगी, वह स्वयं अस्तित्व है। क्योंकि अस्तित्व अकारण है; बस है। विज्ञान के पास उसका कोई उत्तर नहीं। विराट, समग्र का कारण हो भी कैसे सकता है? क्योंकि जो भी है, सब उसमें समाहित है, उसके बाहर तो कुछ भी नहीं।. समाधि इसीलिए नहीं घटती, क्योंकि क्षुद्र नहीं है, विराट है।
तुमने पूछा है कि "संबोधि जैसी महानतम घटना...।"
महानतम इसीलिए है, उसके महान होने का और कोई कारण नहीं कि तुम्हारे क्षुद्र कार्य-कारण के नियम के बाहर है। इतना पुण्य करो और समाधि घटती हो; इतना दान दो और समाधि घटती हो; इतना त्याग करो और समाधि घटती हो..तो समाधि गणित के भीतर आ जायेगी, खाते-बही में आ जायेगी, महान न रह जायेगी। अकारण घटती है।
भक्त इसीलिए कहते हैं: प्रसाद-रूप घटती है। तुम्हारे घटाये नहीं घटती। बरसती है तुम पर..अनायास, भेंट-रूप, प्रसाद-रूप!
फिर श्रम और चेष्टा, जो हम करते हैं, उसका क्या परिणाम? अगर अष्टावक्र तुम्हें समझ में आ जाते हों, तब तो तुम व्यर्थ ही श्रम करते हो, तब तो तुम व्यर्थ ही अनुष्ठान करते हो। अनुष्ठान की कोई भी जरूरत नहीं; समझ पर्याप्त है। इतना समझ लेना कि परमात्मा तो है ही, और उसकी खोज छोड़ देना। इतना समझ लेना कि जो हम हैं वह मूल से जुड़ा ही है इसलिए जोड़ने की चेष्टा और दौड़-धूप छोड़ देनी है..और मिलन घट जायेगा। मिलन घट जायेगा..मिलने के प्रयास से नहीं; मिलने के प्रयास को छोड़ देने से। मिलने के प्रयास से तो दूरी बढ़ रही है..जितनी तुम मिलन की आकांक्षा करते हो, उतना ही भेद बढ़ता जाता है। जितना तुम खोजने निकलते हो, उतने ही खोते चले जाते हो; क्योंकि जिसे तुम खोजने निकले हो, उसे खोजना ही नहीं है। जागकर देखना है; वह मौजूद है, वह द्वार पर खड़ा है; वह मंदिर के भीतर, तुम्हारे भीतर विराजमान है। एक क्षण को उसने तुम्हें छोड़ा नहीं, एक क्षण को जुदा हुआ नहीं। जो जुदा नहीं हुआ,

जिससे कभी विदाई नहीं हुई, जिससे विदाई हो ही नहीं सकती, उसे तुम खोज-खोजकर खो रहे हो।
तो तुम्हारे अनुष्ठानों का एक ही परिणाम हो सकता है कि तुम थक जाओ, कि तुम्हारी सारी चेष्टा एक दिन ऐसी जगह आ जाये कि चेष्टा कर-करके ही तुम ऊब जाओ; तुम उस ऊब के क्षण में चेष्टा छोड़ दो, और तत्क्षण तुम्हें दिखाई पड़े: अरे! मैं भी कैसा पागल था!
कल मैं किसी की जीवनकथा पढ़ रहा था। उस व्यक्ति ने लिखा है कि वह एक अनजान नगर में यात्रा पर गया हुआ था और एक अनजान नगर में खो गया। वहां की भाषा उसे समझ में नहीं आती। तो वह बड़ा घबड़ा गया। और उस घबड़ाहट में उसे अपने होटल का नाम भी भूल गया, फोन नंबर भी भूल गया। तब तो उसकी घबड़ाहट और बढ़ गई कि अब मैं पूछूंगा कैसे? तो वह बड़ी उत्सुकता से देख रहा है रास्ते पर चलते- चलते कि कोई आदमी दिखाई पड़ जाये जो मेरी भाषा समझता हो। पूरब का कोई देश, सुदूर पूर्व का, और यह अमरीकन! यह देख रहा है कि कोई सफेद चमड़ी का आदमी दिख जाये, जो मेरी भाषा समझता हो, या किसी दुकान पर अंग्रेजी में नाम-पट्ट दिख जाये, तो मैं वहां जाकर पूछ लूं। वह इतनी आतुरता से देखता चल रहा है, और पसीने-पसीने है कि उसे सुनाई ही न पड़ा कि उसके पीछे पुलिस की एक गाड़ी लगी हुई है और बार-बार हार्न बजा रही है। क्योंकि उस पुलिस की गाड़ी को भी शक हो गया है कि यह आदमी भटक गया है। दो मिनिट के बाद उसे हार्न सुनाई पड़ा। चैंक कर वह खड़ा हो गया, पुलिस उतरी और उसने कहा, तुम होश में हो कि बेहोश हो? हम दो मिनिट से हार्न बजा रहे हैं, हमें शक हो गया है कि तुम भटक गये हो, खो गए हो, बैठो गाड़ी में!
उसने कहा, यह भी खूब रही! मैं खोज रहा था कि कोई बताने वाला मिल जाये, बताने वाले पीछे लगे थे। मगर मेरी खोज में मैं ऐसा तल्लीन था कि पीछे से कोई हार्न बजा रहा है, यह मुझे सुनाई ही न पड़ा। पीछे मैंने लौटकर ही न देखा।
जिसे तुम खोज रहे हो, वह तुम्हारे पीछे लगा है। निश्चित ही परमात्मा हार्न नहीं बजाता, जोर से चिल्लाता भी नहीं; क्योंकि जोर से चिल्लाना तुम्हारी स्वतंत्रता पर बाधा हो जायेगी। फुसफुसाता है, कान में गुपचुप कुछ कहता है। मगर तुम इतने व्यस्त हो, कहां उसकी फुसफुसाहट तुम्हें सुनाई पड़े! तुम इतने शोरगुल से भरे हो, तुम्हारे मन में इतना ऊहापोह चल रहा है, तुम खोज में इस तरह संलग्न हो...।
स्वामी रामतीर्थ ने कहा है, एक छोटी-सी कहानी कही कि एक प्रेमी दूर देश गया। वह लौटा नहीं वापिस। उसकी प्रेयसी राह देखती रही, देखती-देखती थक गई। वह पत्र लिखता है, बार-बार कहता है: अब आता हूं, तब आता हूं; इस महीने, अगले महीने। वर्ष पर वर्ष बीतने लगे, एक दिन वह प्रेयसी तो घबड़ा गई। प्रतीक्षा की भी एक सीमा होती है। उसने यात्रा की और वह परदेश के उस नगर पहुंच गई, जहां उसका प्रेमी है। पूछताछ करके उसके घर पहुंच गई। द्वार खुला है, सांझ का वक्त है, सूरज ढल गया है, वह द्वार पर खड़े होकर देखने लगी। बहुत दिन से अपने प्यारे को देखा नहीं। वह बैठा है सामने, मगर किसी गहरी तल्लीनता में डूबा है, कुछ लिख रहा है! वह इतना तल्लीन है कि प्रेयसी को भी लगा कि थोड़ी देर रुकूं, उसे बाधा न दूं, न मालूम किस विचार-तंतु में है...कौन-सी बात खो जाए। वह ऐसा भाव-विभोर है, उसकी आंखों से आंसू बह रहे हैं, और वह कुछ लिख रहा है, और वह लिखता ही चला जाता है। घड़ी बीत गई, दो घड़ी बीत गई, तब उसने आंख उठा कर देखा, उसे भरोसा न आया, वह घबड़ा गया।
वह अपनी प्रेयसी को ही पत्र लिख रहा था। इसी को पत्र लिख रहा था, जो दो घड़ी से उसके सामने बैठी थी, और प्रतीक्षा कर रही थी कि तुम आंख उठाओ! उसे तो भरोसा न आया, वह तो समझा कि कोई धोखा हो गया, कोई भ्रम हो गया, शायद कोई आत्म-सम्मोहन! मैं इतना ज्यादा भावातिरेक में भरा हुआ इस प्रेयसी के संबंध में सोच रहा था, शायद इसीलिए एक सपने की तरह वह दिखाई पड़ रही है। कोई भ्रम तो नहीं...। उसने आंखें पोंछीं। वह प्रेयसी हंसने लगी। उसने कहा कि क्या सोचते हो? मुझे क्या भ्रम समझते हो?

वह कंप गया। उसने कहा, तू लेकिन आई कैसे और मैं तुझी को पत्र लिख रहा था। पागल, तूने रोका क्यों नहीं? तू सामने थी और मैं तुझी को पत्र लिख रहा था।
परमात्मा सामने है और हम उसी से प्रार्थना कर रहे हैं कि मिलो, हे प्रभु तुम कहां हो? आंखों से आंसू बह रहे हैं, लेकिन हमारी आंसुओं की दीवाल के कारण, जो सामने है, दिखाई नहीं पड़ रहा है। हम उसी को तलाश रहे हैं। तलाश के कारण ही हम उसे खो रहे हैं।
अष्टावक्र की बात तो बड़ी सीधी-साफ है। वे कहते हैं: बंद करो यह लिखा- पढ़ी! बंद करो अनुष्ठान!
समाधि घटती नहीं। हां, अगर समाधि भी एक घटना होती, तो फिर कार्य-कारण
से घटती। कार्य-कारण से घटती तो बाजार की चीज हो जाती। समाधि अछूती और कुंआरी है; बाजार में बिकती नहीं।
तुमने कभी ख्याल किया, तुम्हारा बाजारू दिमाग परमात्मा को भी बाजार में रख लेता है! तुम सोचते हो कि इतना करेंगे तो परमात्मा मिल जाएगा, जैसे कोई सौदा है! पुण्य करेंगे तो परमात्मा मिल जाएगा। तुम्हारे तथाकथित साधु-संत भी तुमसे यही कहे चले जाते हैं: पुण्य करो, अगर परमात्मा को पाना है। जैसे परमात्मा को पाने के लिए कुछ करना पड़ेगा! जैसे परमात्मा बिना किये मिला हुआ नहीं है! जैसे परमात्मा को खरीदना है, मूल्य चुकाना पड़ेगा। इतने पुण्य करो, इतनी तपश्चर्या, इतना ध्यान, इतना मंत्र, जप, तप..तब मिलेगा! बाजार में रख लिया तुमने। बिकने वाली एक चीज बना दी। खरीददार खरीद लेंगे। जिनके पास है पुण्य, वे खरीद लेंगे। जिनके पास पुण्य नहीं है वे वंचित रह जायेंगे। पुण्य के सिक्के चाहिए; खनखनाओ पुण्य के सिक्के, तो मिलेगा।
अष्टावक्र कह रहे हैं: क्या पागलों जैसी बात कर रहे हो? पुण्य से मिलेगा परमात्मा? तब तो खरीददारी हो गई। पूजा से मिलेगा परमात्मा? तो तुमने तो खरीद लिया। प्रसाद कहां रहा? और जो कारण से मिलता है, वह कारण अगर खो जायेगा, तो फिर खो जायेगा। जो अगर कारण से मिलता हो, तो कारण के मिट जाने से फिर छूट जायेगा।
तुमने धन कमा लिया। तुमने खूब मेहनत की, तुमने खूब स्पर्धा की बाजार में..धन कमा लिया। लेकिन क्या तुम सोचते हो, धन कमाया हुआ टिकेगा? चोर इसे चुरा सकते हैं। चोर का मतलब है, जो तुमसे भी ज्यादा जीवन को दांव पर लगा देता है। दुकानदानर भी मेहनत करता है; लेकिन चोर अपने जीवन को भी दांव पर लगा देता है। वह कहता है, लो हम मरने-मारने को तैयार हैं, लेकिन लेकर जायेेंगे। तो वह ले जाता है।
जो कारण से मिला है, वह तो छूट सकता है। परमात्मा अकारण मिलता है। लेकिन हमारा अहंकार मानता नहीं। हमारा अहंकार कहता है, अकारण मिलता है, तो इसका मतलब यह कि जिन्होंने कुछ भी नहीं किया, उनको भी मिल जायेगा? यह बात हमें बड़ी कष्टकर मालूम होती है कि जिन्होंने कुछ भी नहीं किया, उनको भी मिल जायेगा।
वहां सामने "अरूप" बैठे हंस रहे हैं। वे कल मुझसे कह रहे थे कि कुछ करने का मन नहीं होता। मैंने कहा, चलो न करने में डूबो। परमात्मा को पाने के लिए करने की जरूरत क्या है? कहो भी तो भरोसा नहीं आता। क्योंकि हमारा मन कहता है, बिना किये? बिना किये तो क्षुद्र चीजें नहीं मिलतीं.. मकान नहीं मिलता, कार नहीं मिलती, दुकान नहीं मिलती, धन, पद, प्रतिष्ठा नहीं मिलती..परमात्मा मिल जायेगा बिना किये? भरोसा नहीं आता। करना तो पड़ेगा ही। कोई तरकीब होगी इसमें। इस "न करने" को भी करना पड़ेगा। इसलिए तो हम ऐसे-ऐसे शब्द बना लेते हैं..कर्म में अकर्म, अकर्म में कर्म..मगर हम कर्म को डाल ही देते हैं। "अकर्म में कर्म"..करेंगे इस भांति, मगर करेंगे जरूर! बिना किये कहीं मिलेगा?
मैं तुमसे कहता हूं, वही अष्टावक्र कह रहे हैं: मिला ही हुआ है। मिलने
की भाषा ही गलत है। मिलने की भाषा में तो दूरी आ गई; जैसे छूट गया। छूट जाये तो तुम क्षण भर जी सकते हो? परमात्मा से छूट कर कैसे जीयोगे? परमात्मा से छूट कर तो तुम्हारी वही गति हो जायेगी जो मछली की सागर से छूट कर हो जाती

है। फिर मछली तो सागर से छूट भी सकती है, क्योंकि सागर के अलावा कुछ और स्थान भी है, लेकिन तुम परमात्मा से कैसे छूटोगे..वही है, बस वही है, सब जगह वही है, सब जगह उसी में है; तुम छूटोगे कहां, तुम जाओगे कहां? किनारा है कोई परमात्मा का? सागर ही सागर है। उसके बाहर होने का उपाय नहीं है। अष्टावक्र तुमसे कह रहे हैं कि तुम उससे कभी दूर गए ही नहीं हो, इसलिए
घट सकता है अकारण। खोया ही न हो तो मिलना हो सकता है अकारण।
संबोधि कोई घटना नहीं है, स्वभाव है। लेकिन, ऐसा कहीं हो सकता है कि बिना किये प्रसाद बरस जाये?
हम बड़े दीन हो गए हैं। दीन हो गए हैं जीवन के अनुभव से। यहां तो कुछ भी नहीं मिलता बिना किये, तो हम बड़े दीन हो गए हैं। हम तो सोच भी नहीं सकते कि परमात्मा, और बिना किये मिल सकता है। हमारी दीनता सोच नहीं सकती।
हम दीन नहीं हैं। इसलिए तो जनक कहते हैं कि "अहो! मैं आश्चर्य हूं! मुझको मेरा नमस्कार! मुझको मेरा नमस्कार! इसका अर्थ हुआ कि भक्त और भगवान दोनों मेरे भीतर हैं। दो कहना भी ठीक नहीं, एक ही मेरे भीतर है, भूल से उसे मैं भक्त समझता हूं; जब भूल छूट जाती है तो उसे भगवान जान लेता हूं।
ऐसा ही समझो कि तुम्हारे कमरे में तुमने दो कुर्सियां ले जा कर रखीं; फिर और दो कुर्सियां ले जा कर रखीं, गलती से तुम ने जोड़ लीं पांच, मगर कमरे में तो चार ही हैं। तुम चाहे गलती से पांच जोड़ो चाहे छह, चाहे पचास जोड़ो, तुम्हारे गलत जोड़ने से कमरे में कुर्सियां पांच नहीं होतीं; कुर्सियां तो चार ही हैं, तुम चाहे तीन जोड़ो चाहे पांच जोड़ो। तुम्हारा तीन-पांच तुम जानो, कुर्सियों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, कुर्सियां तो चार ही हैं। यह तुम जो सोच रहे हो कि परमात्मा को खोजना है, यह तुम्हारा तीन-पांच है। परमात्मा तो मिला ही हुआ है; कुर्सियां तो चार ही हैं। जब भी गणित ठीक बैठ जायेगा, तुम कहोगे, अहो! पहले पांच कुर्सियां थीं, अब चार हो गईं..ऐसा तुम कहोगे? तुम कहोगे, बड़ी भूल हो रही थी, कुर्सियां तो सदा से चार थीं, मैंने पांच जोड़ ली थीं। भूल सिर्फ जोड़ने की थी।
भूल अस्तित्व में नहीं है..भूल केवल स्मरण में है। भूल अस्तित्व में नहीं है..भूल केवल तुम्हारे गणित में है। भूल ज्ञान में है।
इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, कुछ करने का सवाल नहीं है। पांच कुर्सियों
को चार करने के लिए एक कुर्सी बाहर नहीं ले जानी है; या तीन तुमने जोड़ी हैं, तो चार करने को एक बाहर से नहीं लानी है..कुर्सियां तो चार ही हैं। सिर्फ भूल है जोड़-तोड़ की। जोड़-तोड़ ठीक बिठा लेना है। तो जब जोड़ ठीक बैठ जायेगा, तब तुम क्या कहोगे कि अकारण तीन से कुर्सियां चार हो गईं, अकारण पांच से चार हो गईं? नहीं, तब तुम हंसोगे। तुम कहोगे, होने की तो बात ही नहीं, वे थीं ही; भूल सिर्फ हम सोचने की कर रहे थे; सिर्फ भूल मन की थी, अस्तित्व की नहीं थी। भक्त तुम अपने को जानते हो..यह जोड़ की भूल। इसलिए तो जनक कह सके: अहो! मेरा मुझको नमस्कार! कैसा पागल मैं! कैसा आश्चर्य कि अपने ही माया-मोह में भटका रहा! जो सदा था उसे न जाना, और जो कभी भी नहीं था, उसे जान लिया! रस्सी में सांप देखा! सीपी में चांदी देखी! किरणों के जाल से मरूद्यान के भ्रम में पड़ गया, जल देख लिया! जो नहीं था, देखा! जो था, वह इस माया में, झूठे भ्रम में छिप गया और दिखाई न पड़ा!
संबोधि महान घटना है, क्योंकि घटना ही नहीं है। संबोधि महान घटना है, क्योंकि कार्य-कारण के बाहर है। संबोधि घटी ही हुई है। तुम्हें जिस क्षण तैयारी आ जाये, तुम्हें जिस क्षण हिम्मत आ जाये, जिस क्षण तुम अपनी दीनता छोड़ने को तैयार हो जाओ, और जिस क्षण तुम अपना अहंकार छोड़ने को तैयार हो जाओ..उसी क्षण घट जायेगी। न तुम्हारे तप पर निर्भर है, न तुम्हारे जप पर निर्भर है। जप-तप में मत खोये रहना।
मैं एक घर में मेहमान हुआ एक बार। तो वह पूरा घर पुस्तकों से भरा था। मैंने पूछा कि बड़ा पुस्तकालय है? घर के मालिक ने कहा, बड़ा पुस्तकालय नहीं है; बस इन सब किताबों में राम-राम लिखा है। बस मैं जनम भर से यही कर रहा हूं पुस्तकें खरीदता हूं, राम-राम-राम-राम दिन भर लिखता रहता हूं। इतने करा.ेड बार लिख चुका हूं! इसका कितना पुण्य होगा, आप तो कुछ कहें।

इसका क्या पुण्य होगा? इसमें पाप भला हो! इतनी कापियां बच्चों के काम
आ जातीं स्कूल में, तुमने खराब कर दीं..तुम पूछ रहे हो पुण्य? तुम्हारा दिमाग खराब है? यह राम राम लिखने से किताबों में...!
उनको बड़ा धक्का लगा, क्योंकि संत और भी उनके यहां आते रहते थे, वे कहते थे: बड़े पुण्यशाली हो! इतनी बार राम लिख लिया, इतनी बार माला जप ली, इतनी बार राम का स्मरण कर लिया..अरे एक बार करने से आदमी स्वर्ग पहुंच जाता है, तुमने इतना कर लिया! मुझसे नाराज हुए, तो फिर मुझे कभी दोबारा नहीं बुलाया..यह आदमी किस काम का, जो कहता है पाप हो गया? उनको बड़ा धक्का लगा। उन्होंने कहा: आप हमारे भाव को बड़ी चोट पहुंचाते हैं।
तुम्हारे भाव को चोट नहीं पहुंचाता; सिर्फ इतना ही कह रहा हूं कि यह क्या पागलपन है? राम-राम लिखने से क्या मतलब? जो लिख रहा है, उसको पहचानो, वह राम है; उसको कहां के काम में लगाए हुए हो, राम-राम लिखवा रहे हो! बोलो, राम को फंसा दो, बिठा दो कि लिखो, छोड़ो धनुष-बाण, पकड़ो कलम, लिखो राम-राम, यह कहां फिर रहे हो सीता की तलाश में और यह क्या कर रहे हो..तो पाप होगा कि पुण्य? और रामचंद्र जी अगर भले आदमी मान लें कि चलो ठीक है, अब यह आदमी पीछे पड़ा है, न लिखें तो बुरा न मान जाये, तो बैठ राम-राम लिख रहे हैं..तो उनका जीवन तुमने खराब किया।
तुम भी जब लिख रहे हो तो तुम राम से ही लिखवा रहे हो। यह कौन है जो लिख रहा है? इसे पहचानो। यह कौन है जो रटन लगाये हुए है राम-राम की? यह कहां उठ रही है रट? उसी गहराई में उतरो। अष्टावक्र कहते हैं, वहां तुम राम को पाओगे।

दूसरा प्रश्नः कल आपने कहा कि हृदय के भाव पर बुद्धि का अंकुश मत लगाओ। लेकिन मुझे तो भगवान श्री, आपके प्रवचन बहुत- बहुत तर्कपूर्ण लगते हैं। तो क्या तर्क की संतुष्टि से दिमाग की पुष्टि होती है? तो क्या मेरे लिए यह खतरा नहीं है कि तर्क-पोषित दिमाग, दिल पर हावी हो जाये और भावों की अनुभूति को दबा डाले? कृपाकर मुझे राह बताएं।

मैं जो बोल रहा हूं, वह निश्चित ही तर्कपूर्ण है; लेकिन सिर्फ तर्कपूर्ण ही नहीं है, थोड़ा ज्यादा भी है। तर्कपूर्ण बोलता हूं..तुम्हारे कारण; थोड़ा ज्यादा जो है..वह मेरे कारण। तर्कपूर्ण न बोलूंगा, तुम समझ न पाओगे। वह जो तर्कातीत है, वह न बोलूंगा, तो बोलूंगा ही नहीं; बोलने में सार क्या फिर?
तो जब मैं बोल रहा हूं तो मेरे बोलने में दो हैं, तुम हो और मैं हूं; सुनने वाला भी है और बोलने वाला भी है।
अगर मेरा बस चले, तब तो मैं तर्कातीत ही बोलूं, तर्क बिल्कुल छोड़ दूं; लेकिन तब तुम मुझे पागल समझोगे। तब तुम्हारी समझ में कुछ भी न आयेगा। तब तो तुम्हें लगेगा, यह तो तर्क-शून्य शोरगुल हो गया। तुम्हारी तर्क-सरणी में बैठ सके, इसलिए तर्कपूर्ण बोलता हूं। लेकिन अगर उतना ही तुम्हें समझ में आये, तो तुम बेकार आए और गए।
ऐसा समझो कि जैसे चम्मच में हम दवा भरते हैं और तुम्हारे मुंह में डाल देते हैं..चम्मच नहीं डाल देते। तर्क की चम्मच में जो तर्कातीत है, वह डाल रहा हूं। तुम चम्मच मत गटक जाना; नहीं तो और झंझट में पड़ जाओगे। चम्मच का उपयोग कर लो, लेकिन चम्मच में जो भरा है, उस रस को पीयो। तर्क की तो चम्मच है, तर्क का तो सहारा है; क्योंकि तुम अभी इतनी हिम्मत में नहीं हो कि तर्कातीत को सुन सको।
अगर तर्कातीत ही सुनना है तो पक्षियों के गीत सुन कर भी वही काम हो जायेगा जो अष्टावक्र की गीता सुनने से होता है! वे तर्कातीत हैं। हवाओं का वृक्षों से गुजरना, सरसराहट की आवाज; सूखे पत्तों का राह पर उड़ना, खड़खड़ाहट की आवाज; नदी की धारा में उठती आवाज; आकाश में मेघों का गर्जन..वह सब तर्कातीत है। अष्टावक्र बोल रहे आठों दिशाओं से, सब ओर से! मगर वहां तुम्हें कुछ समझ में न आयेगा। यह चिड़ियों की चहचहाहट, तुम कितनी देर सुन सकोगे? तुम कहोगे, हो गई बकवास; थोड़ा बहुत सुन लो, ठीक है..लेकिन इस चहचहाहट

में कुछ अर्थ तो है ही नहीं! वह जो तर्कातीत है, वह तो चिड़ियों की चहचहाहट जैसा ही है; लेकिन तुम्हारे तक पहुंचाने के लिए सेतु बनाता हूं तर्क का। अब अगर तुम सेतु को ही पकड़ लो और मंजिल को भूल जाओ, शब्द को ही पकड़ लो,
और शब्द से जो पहुंचाया था वह भूल जाओ..तो तुम कंकड़-पत्थर बीन कर चले गए, जहां से हीरे- जवाहरात से झोली भर सकते थे।
मित्र ने पूछा है, "हृदय के भाव पर बुद्धि का अंकुश मत लगाओ, ऐसा आप कहते हैं।"
निश्चित। बुद्धि से समझो, लेकिन हृदय को मालिक रहने दो। बुद्धि को गुलाम बनाओ, हृदय को मालिक के सिंहासन पर विराजमान करो। नौकर बहुत दिन सिंहासन पर बैठ चुका है। बुद्धि के लिये तुम नहीं जीते हो; जीते तो हृदय के लिए हो। इसलिए तो बुद्धि से कभी भराव नहीं आता। कितने ही बड़े गणितज्ञ हो जाओ, उससे थोड़े ही हृदय को शांति मिलेगी! और कितने ही बड़े तर्कनिष्ठ विचारक हो जाओ, उससे थोड़े ही प्रफुल्लता जगेगी! और कितना ही दर्शन-शास्त्र इकट्ठा कर लो, उससे थोड़े ही समाधि बनेगी! हृदय मांगेगा प्रेम, हृदय मांगेगा प्रार्थना। हृदय की अंतिम मांग तो समाधि की रहेगी, कि लाओ समाधि, लाओ समाधि! बुद्धि ज्यादा से ज्यादा समाधि के संबंध में तर्कजाल ला सकती है, समाधि के संबंध में सिद्धांत ला सकती है; लेकिन सिद्धांतों से क्या होगा?
कोई भूखा बैठा है, तुम पाक-शास्त्र देते हो उसे कि इसमें सब लिखा है,
पढ़ लो, मजा करो! वह पढ़ता भी है कि भूख लगी है, चलो शायद यही काम करे। बड़े-बड़े सुस्वादु भोजनों की चर्चा है..कैसे बनाओ, कैसे तैयार करो..मगर इससे क्या होगा? वह पूछता है कि पाक-शास्त्र से क्या होगा? भोजन चाहिए। भूखे को भोजन चाहिए। प्यासे को पानी चाहिए।
तुम प्यासे आदमी को लिख कर दे दो..उसको लगी है प्यास और तुम लिख कर दे
दो "एच टू ओ"..यह पानी का सूत्र! वह आदमी कागज लेकर बैठा रहेगा, क्या होगा? ऐसे ही तो लोग राम-राम लिए बैठे हैं। सब मंत्र "एच टू ओ" जैसे हैं। निश्चित ही पानी आक्सीजन और हाइड्रोजन से मिल कर बनता है, लेकिन कागज पर "एच टू ओ" लिखने से प्यास नहीं बुझती।
तर्क से समझो, हृदय से पीयो। तर्क का सहारा ले लो, लेकिन बस सहारा ही समझना; उसी को सब कुछ मत मान लेना। मालिक हृदय को रहने दो। प्रेम और प्रार्थना में, पूजा और अर्चना में, ध्यान और समाधि में, बुद्धि बाधा न दे, इसका स्मरण रखना। सहयोगी जितनी बन सके, उतना शुभ है। इसलिए तो तर्क के सहारे तुमसे बोलता हूं, कि तुम्हारी बुद्धि को फुसला लूं, राजी कर लूं। तुम दो कदम राजी होकर हृदय की तरफ चले जाओ। वहां थोड़ा-सा भी स्वाद आ जायेगा, तो मगन हो जाओगे। फिर तुम खुद ही बुद्धि की चिंता छोड़ दोगे। स्वाद जब आ जाता है तो शब्दों की कौन फिक्र करता है!
"लेकिन मुझे तो भगवान श्री, आपके प्रवचन बहुत-बहुत तर्कपूर्ण लगते हैं।"
वे तर्कपूर्ण हैं। मेरी पूरी चेष्टा है कि तुम से जो कहूं वह तर्कपूर्ण हो, ताकि तुम राजी हो सको मेरे साथ चलने को। एक बार राजी हो गए, फिर तो गड्ढे में गए, फिर तो तुम्हारी पटरी उतार दूंगा! एक बार राजी भर हो जाओ, एक बार हाथ में हाथ आ जाये, फिर कोई चिंता नहीं है। एक दफे तुम्हारा हाथ हाथ में आ गया तो तुम ज्यादा देर हाथ के बाहर न रहोगे। पहुंचा पकड़ा, फिर कलाई पकड़ ली, फिर...आदमी गया!
तो तर्क से तो पहला संबंध बनाता हूं, क्योंकि वहां तुम जी रहे हो; वहीं
से संबंध बन सकता है; वहां तुम हो। इसलिए मेरे पास नास्तिक भी आ जाते हैं; मुझसे नास्तिक भी राजी हो जाते हैं। मुझसे नास्तिक को कोई झगड़ा नहीं होता, क्योंकि मैं नास्तिक की भाषा बोलता हूं। मगर वह तो जाल है। वह भाषा तो जाल है। वह तो ऐसे ही है जैसे हम मछली पकड़ने जाते हैं, तो कांटे पर आटा लगा देते हैं। वह तो आटा है। अगर बचना हो तो आटे ही से बच जाना, क्योंकि आटा मुंह में लिया, तब पता चलेगा कि यह तो कांटा था।
तर्क तो आटा है, तर्कातीत कांटा है। तुम्हें फुसलाते हैं, कड़वी भी दवा पिलानी हो तो शक्कर की पर्त चढ़ाते हैं। छोटे-छोटे बच्चों जैसी हालत है

आदमी की, वह शक्कर के रस में कड़वी दवा भी गटक जाता है। जहर भी पी सकते हो तुम। लेकिन अगर सीधा ही तुम्हारे सामने तर्कातीत को खड़ा कर दिया जाये तो तुम भाग खड़े होओगे। तुम कहोगे, "नहीं इस पर तो हमारी बुद्धि को भरोसा नहीं आता।"
तो मैं तुम्हारी बुद्धि को भरोसा लाना चाहता हूं। लेकिन अगर वहीं तुम रुक गए और तुमने सोचा कि आ गया बुद्धि को भरोसा, अब घर जायें..तो तुम चूक गए। तो तुमने ऐसा समझो कि दवा के ऊपर तो चढ़ी शक्कर थी, उसको तो उतार कर पी लिया और दवा को फेंक दिया।
"तर्क की संतुष्टि से क्या दिमाग की पुष्टि होती है?"
तुम पर निर्भर है। अगर सिर्फ तर्क ही तर्क को सुनोगे, तो दिमाग की पुष्टि होगी; लेकिन तर्कों के बीच में अगर तुमने अतक्र्य को भी थोड़ा-सा जाने दिया, बूंद-बूंद सही, तो वह बूंद तुम्हारे मस्तिष्क में, हृदय की क्रांति को उपस्थित कर देगी।
यह तुम पर निर्भर है। कुछ लोग हैं, जो सिर्फ तर्क ही तर्क को सुनते हैं; जो-जो तर्क के बाहर पड़ता है, उसे वे हटा देते हैं। फिर वे मेरे पास आये ही नहीं; आये या न आये, बराबर। वे जैसे आये थे, वैसे ही वापस गए..और मजबूत होकर गए। उन्होंने अपने-अपने हिसाब का चुन लिया, मतलब की बात चुन ली। जो उनके तर्क के साथ बैठती थी, वह चुन ली; जो नहीं बैठती थी, वह छोड़ दी। जो नहीं बैठती थी तुम्हारे तर्क के साथ, वही तुम्हारे भीतर क्रांति की चिनगारी बनती। जो तुम्हारे तर्क के साथ बैठती थी, वह तो तुम्हीं को मजबूत करेगी। तुम्हारी बीमारी, तुम्हारी चिंता, तुम्हारा संताप, और मजबूत हो जाएगा। तुम्हारा अहंकार और मजबूत हो जाएगा।
तो थोड़ी कुशलता बरतना। इसलिए तो जनक कहते हैं अष्टावक्र से: कैसी कुशलता! कि क्षण में दिखाई पड़ गया! कैसी मेरी दक्षता! कैसी मेरी निपुणता!! उस निपुणता को ध्यान में रखना, उस दक्षता को ध्यान में रखना। तुम पर निर्भर है।
यहां जो मैं बोल रहा हूं, बोलना मुझ पर निर्भर है, लेकिन सुनना तो तुम
पर निर्भर है। बोलने के बाद तो फिर मैंने जो कहा, उस पर मेरी कोई मालकियत नहीं रह जाती। इधर बोला कि वह मेरे हाथ के बाहर हुआ। छूटा तीर! फिर तो तुम्हारे हाथ में है कि कहां लगेगा, कहां तुम लगने दोगे? लगने दोगे कि बच जाओगे? बुद्धि में लगने दोगे? ..तो तुम यहां से और भी पंडित होकर लौट जाओगे, और तर्क-कुशल हो जाओगे, विवाद में और प्रवीण हो जाओगे। मगर चूक गए तुम। हृदय में लगने देते तो तुम और आनंदित होते, तुम और अहोभाव से भरते; तो धन्यता का द्वार खुलता; तो प्रसाद की वर्षा की थोड़ी संभावना बढ़ती; तो अमृत की तरफ तुम थोड़े सरकते; दो कदम तुमने उठाये होते उस अंतिम पड़ाव की तरफ।
पंडित होकर मत लौट जाना। थोड़े प्रेमी होकर लौटना।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।
वे ढाई अक्षर जो प्रेम के हैं, वह मत भूलना।
तो सुनो मेरे तर्क को, राजी होओ मेरे तर्क से..पर साधन की भांति। साध्य यही है कि एक दिन तुम हिम्मत जुटा लोगे, और तर्कातीत में छलांग लगा दोगे। तर्क के माध्यम से तुम्हें वहां तक ले चलूंगा, जहां तक तुम्हारी बुद्धि जा सकती है; फिर सीमांत आयेगा, फिर सीमा आयेगी, फिर तुम्हारे ऊपर निर्भर होगा। सीमा पर खड़े होकर तुम देख लेना..अपना अतीत और अपना भविष्य। फिर तुम देख लेना..पीछे जिस बुद्धि में तुम चल कर आये हो, वह; और आगे जो संभावना खुलती है, वह। आगे की संभावना हृदय की है।
विचार से कभी कोई जीवन की संपदा को उपलब्ध नहीं हुआ ध्यान से, साक्षी- भाव से, प्रेम से, प्रार्थना से, भक्ति के रस से, कोई उपलब्ध हुआ है। फिर तुम्हारे हाथ में है, अगर तुम्हें बंजर रेगिस्तान रह जाना हो, तुम्हारी मर्जी, तुम मालिक हो अपने।
लेकिन एक बार तुम्हें मैं किनारे तक ले आऊं, जहां से तुम्हें सुंदर उपवन दिखाई पड़ने लगें, हरियालियां, घाटियां और वादियां, और पहाड़, हिम-शिखर! बस एक दफे तुम्हें दिखा देना है वहां तक लाकर, फिर तुम्हारी मौज! फिर लौटना

तो लौट जाना। लेकिन तब तुम जानोगे कि अपने ही कारण लौटे हो। तब उत्तरदायित्व तुम्हारा है।
तो तुम्हारे तर्क को मैं वहां तक ले चलता हूं, जहां से तुम्हें पहली झलक मिल जाये स्वर्ण-शिखरों की; जहां से तुम्हें पहली दफा आकाश का थोड़ा-सा दर्शन हो जाये, फिर वह दर्शन तुम्हारा पीछा करेगा। फिर वह मंडरायेगा तुम्हारे भीतर। फिर वह पुकार बढ़ती चली जायेगी। फिर धीरे-धीरे जो बूंद-बूंद गिरा था, वह बड़ी धार की तरह गिरने लगेगा; तुम बच नहीं सकोगे। क्योंकि एक बार हृदय की थोड़ी-सी भी झलक मिल जाये तो फिर बुद्धि कूड़ा-कचरा है। जब तक झलक नहीं मिली, तब तक कूड़ा-कचरा ही हीरा-जवाहरात मालूम होता है।
"क्या मेरे लिए यह खतरा नहीं है कि तर्क-पोषित दिमाग दिल पर हावी हो जाये?"
खतरा है। जरा सजगता रखना। हम चाहें तो राह में पड़े हुए पत्थर को बाधा बना सकते हैं, और वहीं रुक जायें; और हम चाहें तो राह में पड़े पत्थर को सीढ़ी बना सकते हैं, उस पर चढ़ जायें और पार हो जायें। तुम पर निर्भर है कि तुम तर्क-पोषित मस्तिष्क को बाधा बनाओगे कि सीढ़ी बनाओगे। जिन्होंने सीढ़ी बनाई, वे महायात्रा पर निकल गए; जिन्होंने बाधा बना ली, वे डबरे बन कर रह गए।
नास्तिक एक डबरा है। आस्तिक सागर की तरफ दौड़ती हुई सरिता है। नास्तिक सड़ता है। जैसे ही पानी की धारा बहने से रुक जाती है, वैसे ही सड़ांध शुरू हो जाती है। पानी निर्मल होता है, जब बहता रहता है। लेकिन बहने के लिये तो सागर चाहिए; नहीं तो बहोगे क्यों? बहने के लिए परमात्मा चाहिए; नहीं तो बहोगे क्यों? कुछ है ही नहीं पाने को, कुछ है ही नहीं होने को..जो हो गया, बस वही काफी है...।
इसे ख्याल रखना, दुनिया में दो तरह के लोग हैं, दुनिया दो तरह के वर्गों में विभाजित है। एक वर्ग है, जो बाहर की चीजों से कभी संतुष्ट नहीं..यह मकान, तो दूसरा चाहिए; इतना धन, तो और धन चाहिए; यह स्त्री, तो और तरह की स्त्री चाहिए..जो बाहर की चीजों से कभी संतुष्ट नहीं, और भीतर, जिसके भीतर कोई असंतोष नहीं। भीतर, जिसके भीतर असंतोष उठता ही नहीं, बस बाहर ही बाहर असंतोष है। यह सांसारिक आदमी है। फिर एक और दूसरी तरह का आदमी है, जो बाहर जो भी है, उससे संतुष्ट है; लेकिन भीतर जो है, उससे संतुष्ट नहीं है। उसके भीतर एक ज्वाला है..एक दिव्य असंतोष। वह सतत प्रक्रिया में, सतत रूपांतरण में, सतत क्रांति में जीता है। तर्क-निष्ठता तुम्हारी क्रांति में सहयोगी बने, तुम्हें रूपांतरित करे..इतना ख्याल रखना। जहां तर्क पत्थर बनने लगे और क्रांति में रुकावट डालने लगे, वहां तर्क को छोड़ना, क्रांति को मत छोड़ना। मैं कह सकता हूं, अंतिम निर्णय तुम्हारे हाथ में है।
अक्ल की सतह से कुछ और उभर जाना था,
इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था;
ये तो क्या कहिए, चला था मैं कहां से हमदम,
मुझको ये भी न था मालूम, किधर जाना था।
बुद्धि को कुछ भी पता नहीं है कि कहां जाना है! इसलिए बुद्धि कहीं जाती ही नहीं; घूमती रहती है कोल्हू के बैल की तरह। कोल्हू का बैल देखा? आंख पर पट्टी बंधी रहती, घूमता रहता है! आंख पर पट्टी बंधी होने से उसे लगता है कि चल रहे हैं, कहीं जा रहे हैं, कुछ हो रहा है।
तुमने देखा, तुम कैसे घूम रहे हो! वही सुबह, वही उठना, वही दिन का काम, वही सांझ, वही रात, वही सुबह फिर, फिर वही सांझ..यूं ही उम्र तमाम होती है, फिर सुबह होती है, फिर शाम होती है! एक कोल्हू के बैल की तरह तुम घूमते चले जाते हो।
ये तो क्या कहिए, चला था मैं कहां से हमदम,
मुझको ये भी न था मालूम, किधर जाना था।
अक्ल की सतह से कुछ और उभर जाना था,
इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था।

जब तुम बुद्धि की सतह से थोड़ा ऊपर उठते हो, तब आकाश में उठते हो, पृथ्वी छूटती है; सीमा छूटती है, असीम आता है; बंधन गिरते, मोक्ष की थोड़ी झलक मिलती।
इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था।
फिर एक ऐसी घड़ी भी आती है..पहले तो बुद्धि से तुम हृदय की तरफ आते हो..फिर एक ऐसी घड़ी आती है, हृदय से भी गहरे जाते हो।
इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था।
फिर प्रेम, प्रेम-पात्र से भी मुक्त हो जाता है। फिर भक्त, भगवान से भी मुक्त हो जाता है। फिर पूजक, पूजा से भी मुक्त हो जाता है।
तो पहले तो तर्क से चलना है प्रेम की तरफ और फिर प्रेम से चलना है शून्य की तरफ। उस महाशून्य में ही हमारा घर है।
बुद्धि में तुम हो, हृदय में तुम्हें होना है। इसलिए बुद्धि से मैं शुरू करता हूं, हृदय की तरफ तुम्हें ले चलता हूं। जो हृदय में पहुंच गए हैं, उनको वहां भी नहीं बैठने देता। उनको कहता हूं: चलो आगे, और आगे!
हर नये क्षण को पुराने की तरह
एक परिचित प्रीति गाने की तरह
वक्ष में भर, तार पर तार बोते चलो!
और बीती रागिनी रीते नहीं
इस तरह हर तार के होते चलो!
नये कदम अज्ञात में, अनजान में, अपरिचित में उठाना है! परिचित में ही
मत अटके रह जाना।
बुद्धि का क्या अर्थ होता है, तुमने सोचा कभी? ..जो तुम जानते हो उसका जोड़। बुद्धि का क्या अर्थ होता है? ..इतना ही कि तुम्हारा अतीत का संग्रह। बुद्धि में वही तो संगृहीत है जो तुमने सुना, पढ़ा, जाना, अनुभव किया; जो हो चुका, वही तो संगृहीत है। जो अभी होने को है, उसका तो बुद्धि को कोई भी पता नहीं।
तो बुद्धि तो अतीत है..जा चुका, मृत! बुद्धि तो राख है! बुद्धि में ही अटक गए, तो तुम अतीत के ही रास्तों पर भटकते रहोगे; ज्ञात में ही चलते रहोगे। अज्ञात में गति है; ज्ञात में गति नहीं है, कोल्हू के बैल की तरह भ्रमण है।
हृदय का अर्थ है: अज्ञात, अनजान, अपरिचित, अभियान! पता नहीं क्या होगा? पक्का नहीं, क्योंकि जाना ही नहीं कभी तो पक्का कैसे होगा? नक्शा हाथ में नहीं, अज्ञात की यात्रा है। न मील के पत्थर हैं वहां, न राह पर खड़े पुलिस के सिपाही हैं मार्ग बताने को।
लेकिन जो आदमी अज्ञात की तरफ यात्रा करता है, वही परमात्मा की तरफ यात्रा करता है। परमात्मा इस जगत में सबसे ज्यादा अज्ञात घटना है..जिसे हम जान कर भी कभी जान नहीं पाते; जो सदा अनजाना ही रह जाता है; जानते जाओ, जानते जाओ, फिर भी अनजाना रह जाता है। जितना जानो, उतना ही लगता है, और जानने को शेष है। चुनौती बढ़ती ही जाती है। शिखर पर नये शिखर उभरते ही आते हैं। एक शिखर पर चढ़ते वक्त लगता है कि आ गई मंजिल; जब शिखर पर पहुंचते हैं, तो सिर्फ और बड़ा शिखर आगे दिखाई पड़ता है। एक द्वार से गुजरते हैं, नये द्वार सामने आ जाते हैं।
इसलिए तो हम परमात्मा को अनंत रहस्य कहते हैं। रहस्य का अर्थ है: जिसे
हम जान भी लेंगे, फिर भी जान न पायेंगे। इसलिए तो हम कहते हैं, परमात्मा बुद्धि से कभी उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि बुद्धि तो उसी को जान सकती है, जो जानने में चुक जाता है; परमात्मा चुकता नहीं।

तो तुम चुक मत जाना बुद्धि के साथ। तुम मुर्दा अतीत के साथ बंधे मत रह जाना। तुम किसी लाश से अपने को बांध लो, तो तुमको समझ में आयेगा कि बुद्धि की क्या हालत है। एक लाश से अपने शरीर को बांध लो, तो वह लाश तो मरी हुई है, उसकी वजह से तुम भी न चल पाओगे, उठ न पाओगे, बैठ न पाओगे; क्योंकि वह लाश सड़ रही है, गल रही है और वह बोझ बनी है। बुद्धि लाश है, हृदय नया अंकुर है..नव अंकुर जीवन के! और जाना तो है हृदय के भी पार।

हर नये क्षण को पुराने की तरहएक परिचित प्रीति गाने की तरहवक्ष में भर, तार पर तार बोते चलो! और बीती रागिनी रीते नहींइस तरह हर तार के होते चलो!
हर नये कदम के होते चलो। और हर आने वाली संभावनाओं के लिए वक्ष खुला रखो.. स्वागतम! हृदय तैयार रखो!
अनजान जब पुकारे तो सकुचाना मत। अपरिचित जब बुलाये तो ठिठकना मत। अज्ञेय जब द्वार पर दस्तक दे तो भयभीत मत होना, चल पड़ना। यही धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है।

तीसरा प्रश्नः आपकी जय हो! मैं हजार जन्मों में भी इतना नहीं प्राप्त
कर सकता था, जितना आपने अनायास मुझे दे दिया है। मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करें!

लिया तुमने, तो शिष्य हो गये।
शिष्य का होना मेरी स्वीकृति पर निर्भर नहीं है; शिष्य का होना तुम्हारी स्वीकृति पर निर्भर है। शिष्य का अर्थ होता है: जो सीखने को तैयार है। शिष्य का अर्थ होता है: जो झुकने को, झोली भरने को राजी है। शिष्य का अर्थ होता है: विनम्रता से सुनने को, शांत भाव से मनन करने को, ध्यान करने को उत्सुक।
तुम शिष्य हो गए..अगर तुमने लिया, तो लेने में ही तुम शिष्य हो गए।
शिष्य का होना मेरी स्वीकृति पर निर्भर नहीं होता। मैं स्वीकार भी कर लूं और तुम अगर न लो, तो मैं क्या करूंगा? मैं स्वीकार न भी करूं और तुम लेते चले जाओ, तो मैं क्या करूंगा?
शिष्यत्व तुम्हारी स्वतंत्रता है। यह किसी का दान नहीं है। शिष्यत्व तुम्हारी गरिमा है। इसके लिए किसी प्रमाण-पत्र की जरूरत नहीं है। इसलिए तो एकलव्य जंगल में भी जाकर बैठ गया था। देखा! द्रोणाचार्य ने तो इनकार भी कर दिया था, फिर भी उसने फिक्र न की। गुरु ने तो इनकार ही कर दिया; लेकिन शिष्य, शिष्य बनने को राजी था, तो गुरु क्या कर सका? एक दिन गुरु ने पाया कि गुरु को हरा दिया शिष्य ने। एकलव्य तो मिट्टी की मूर्ति बनाकर बैठ गया, उसी के सामने अभ्यास करने लगा; उसी की आज्ञा मानने लगा; उसी के चरण छूने लगा।
जब द्रोण को खबर लगी कि एकलव्य बहुत निष्णात हो गया है तो वे देखने गए। चकित हो गए; चकित ही न हुए, घबड़ा भी गए। इतने घबड़ा गए, क्योंकि एकलव्य ने इस तरह साधा था कि अर्जुन फीका पड़ता था। द्रोण कोई बहुत बड़े गुरु न रहे होंगे; एकलव्य बहुत बड़ा शिष्य था। द्रोण तो साधारण गुरु रहे होंगे..अति साधारण! गुरु कहे जा सकें, ऐसे गुरु नहीं। कुशल होंगे, पारंगत होंगे, लेकिन गुरुत्व की बात नहीं थी कुछ भी। पहले तो इसलिए इनकार कर दिया कि वह शूद्र था। यह भी कोई गुरु की बात हुई? अभी भी गुरु को ब्राह्मण और शूद्र दिखाई पड़ते हैं! नहीं, दुकानदार रहे होेंगे, बाजारी बुद्धि रही होगी। क्षत्रियों के गुरु, शूद्र को कैसे स्वीकार करें! समाज से बहुत घबड़ाये हुए रहे होेंगे। समाज-पोषक, और समाज के नियंत्रण में रहे होेंगे। क्षुद्र बुद्धि के रहे होंगे।
जिस दिन द्रोण ने एकलव्य को इनकार किया कि वह शूद्र था, उसी दिन द्रोण शूद्र हो गए। यह कोई बात हुई? लेकिन अदभुत था एकलव्य! गुरु के इनकार की भी फिक्र न की। उसने तो मान लिया था हृदय में गुरु..बात हो गई थी। गुरु के इनकार ने भी उसकी गुरु की प्रतिमा खंडित न की। अनूठा शिष्य रहा होगा।
और फिर बेईमानी की हद हो गईः एकलव्य को जब प्रतिष्ठा मिल गई और जब उसकी कुशलता का आविर्भाव हुआ, तो द्रोण कंप गए; क्योंकि वे चाहते थे, उनका शिष्य अर्जुन जगत में ख्यातिलब्ध हो। यह भी उनका ही शिष्य था, लेकिन उनकी अस्वीकृति से था; इसमें तो गुरु की बड़ी हार थी। गुरु जिसको सिखा-सिखा कर, प्राणपण लगाकर, सारी चेष्टा में संलग्न थे, वह भी फीका पड़ रहा था इस आदमी के सामने..जिसने सिर्फ मिट्टी की अनगढ़ प्रतिमा बना ली थी अपने ही हाथों से

और उसी के सामने अभ्यास कर-करके कुशलता को उपलब्ध हुआ था। उससे अंगूठा मांग लिया।
बड़ी आश्चर्य की बात है: दीक्षा देने को तैयार न हुए थे, दक्षिणा लेने पहुंच गए! लेकिन अदभुत शिष्य रहा होगा एकलव्यः जिसने दीक्षा देने से इनकार कर दिया था, उसको उसने दक्षिणा देने से इनकार न किया। एकलव्य जैसा शिष्य ही शिष्य है। उसने तत्क्षण अपना अंगूठा काट कर दे दिया। दांये हाथ का अंगूठा मांगा था..चालबाजी थी, राजनीति थी कि अंगूठा कट जायेगा, तो एकलव्य की धनुर्विद्या व्यर्थ हो जायेगी।
ये द्रोण निश्चित ही दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति रहे होंगे। गुरु तो दूर, इनको सज्जन कहना भी कठिन है। यह भी क्या चाल खेली और भोले-भाले शिष्य से खेली! और फिर भी हिंदू द्रोण को गुरु माने चले जाते हैं, गुरु कहे चले जाते हैं। सिर्फ ब्राह्मण होने से थोड़े ही कोई ब्राह्मण होता है? ब्राह्मण था एकलव्य और द्रोण शूद्र थे। उनकी वृत्ति शूद्र की है। उस ब्राह्मण एकलव्य ने काट कर दे दिया अपना अंगूठा, जरा भी ना-नुच न की। यह भी न कहा कि यह क्या मांगते हैं आप? देते वक्त इनकार किया था। तुमसे मैंने कुछ सीखा भी नहीं है।
नहीं, लेकिन यह बात ही गलत थी। यह तो उसके मन में भी न उठी। उसने तो कहा, सीखा तुम्हीं से है। तुम्हारे इनकार करने से क्या फर्क पड़ता है? सीखा तो तुम्हीं से है! तुम इनकार करते रहे, फिर भी तुम्हीं से सीखा। देखो तुम्हारी प्रतिमा बनाये बैठा हूं, तो तुम्हारा ऋणी हूं। अंगूठा मांगते हो, अंगूठा तो क्या प्राण भी मांगो तो दे दूंगा। अंगूठा दे दिया।
शिष्य होना तुम पर निर्भर है। यह किसी की स्वीकृति-अस्वीकृति की बात नहीं। तो अगर तुम्हें लगता है कि खूब तुम्हें मिला, तो बात हो गई। इसी भाव में गहरे बने रहना। शिष्य का भाव कभी खोना मत, तो अपूर्व तुम्हारा विकास होगा; मिलता ही चला जायेगा। शिष्यत्व तो सीखने की कला है।

चौथा प्रश्नः सुना था कि शराब कड़वी होती है और सीने को जलाती है; पर आपकी शराब का स्वाद ही कुछ और है।

तो जिस शराब से तुम परिचित रहे, वह शराब न रही होगी; क्योंकि शराब न तो कड़वी होती और न सीने को जलाती। और जो सीने को जलाती है और कड़वी है, वह शराब का धोखा है, शराब नहीं। तो तुम्हें शराब का पहली दफे ही स्वाद आया।
अब झूठी शराब में मत उलझना। अब तुम पहली दफा मधुशाला में प्रविष्ट हुए। अब अपने हृदय को पात्र बनाना और जी भर कर पी लेना; क्योंकि इसी पीने से क्रांति होगी। यह शराब विस्मरण नहीं लायेगी; यह शराब स्मरण लायेगी। वह शराब भी क्या जो बेहोश बना दे? शराब तो वही, जो होश में ला दे। यह शराब तुम्हें जगायेगी। यह शराब तुम्हें उससे परिचित करायेगी, जो तुम्हारे भीतर छिपा बैठा है। यह शराब तुम्हें तुम बनायेगी।
बाहर से शायद तुम दूसरे लोगों को पियक्कड़ मालूम पड़ो..घबड़ाना मत! तुम्हारी मस्ती शायद बाहर के लोग गलत भी समझें, पागल समझें, बेहोश समझें..तुम फिक्र मत करना; कसौटी तुम्हारे भीतर है। अगर तुम्हारा होश बढ़ रहा हो तो दुनिया कुछ भी समझे, तुम फिक्र मत करना।
मजाज की कुछ पंक्तियां हैं..
मेरी बातों में मसीहाई है
लोग कहते हैं कि बीमार हूं मैं
खूब पहचान लो असरार हूं मैं
जिन्से-उल्फत का तलबगार हूूं मैं
इश्क ही इश्क है दुनिया मेरी फितना-ए-अक्ल से बेजार हूं मैं ऐब जो हाफिज-ओ-खय्याम में था हां, कुछ उसका भी गुनहगार हूं मैं जिंदगी क्या है गुनाहे-आदम जिंदगी है तो गुनहगार हूं मैं

मेरी बातों में मसीहाई है,
लोग कहते हैं कि बीमार हूं मैं!
जीसस को भी लोग बीमार ही कहते थे, मसीहा तो बड़ी मुश्किल से कहा। सुकरात को भी लोग पागल ही कहते थे, तभी तो जहर दिया। मंसूर को लोगों ने बुद्धिमान थोड़े ही माना, अन्यथा फांसी लगाते? और अष्टावक्र की कथा तो मैंने तुमसे कहीः खुद बाप ही इतने नाराज हो गए कि अभिशाप दे दिया, कि आठ अंगों से तिरछा हो जा।
जीसस तो तैंतीस साल जमीन पर रहे तब सूली लगी; सुकरात तो बूढ़ा होकर मरा,
तब जहर दिया गया; महावीर और बुद्ध पर पत्थर फेंके गए, ठीक..लेकिन अष्टावक्र की तो पूछो: अभी जन्मा भी नहीं और अभिशाप मिला; अभी गर्भ में ही था कि जीवन विकृत कर दिया गया। और किसी दूसरे ने किया होता तो भी ठीक था, क्षमा-योग्य था..खुद अपने ही बाप ने कर दिया; जो जन्म देने जा रहा था वही नाराज हो गया। ज्ञान की बात लोगों को जमती नहीं। ज्ञान की बात लोगों को कष्ट देती है। मस्ती में आया हुआ आदमी लोगों को बेचैनी से भरता है। तुम दुखी हो, किसी को कोई अड़चन नहीं, मजे से दुखी रहो। लोग कहते हैं: दिल खोल कर दुखी रहो, कोई हर्जा नहीं। बिल्कुल जैसा होना चाहिए वैसा हो रहा है! तुम हंसे कि लोग बेचैन हुए। हंसी स्वीकृत नहीं है। लोगों को शक होता है कि पागल हुए! कहीं होशियार आदमी हंसते हैं? कहीं समझदार आदमी हंसते देखे? कहीं बुद्धिमान आदमियों को नाचते देखा, गीत गुनगुनाते देखा? बुद्धिमान आदमी गंभीर होते, लंबे उनके चेहरे होते, उदास उनकी वृत्ति होती। उनको हम साधु-संत कहते, महात्मा कहते। जितना रुग्ण आदमी हो, उतना बड़ा महात्मा हो जाता है। मुर्दे की तरह कोई बैठ जाये, रुग्ण, दीन-हीन..लोग कहते हैं, कैसी तपश्चर्या! कैसा त्याग!!
एक गांव में मैं गया था। कुछ लोग एक महात्मा को ले आये मुझसे मिलाने।
वे कहने लगे, ब.ड़े अदभुत हैं, भोजन तो कभी-कभार लेते हैं, सोते भी ज्यादा नहीं। बड़े शांत हैं। बोलते-करते भी ज्यादा नहीं। और तपश्चर्या का ऐसा प्रभाव कि चेहरा कुंदन जैसा निखर आया है, स्वर्ण जैसा!
जब वे लाये तो मैंने कहा, इस आदमी को क्यों तुम परेशान किये हो? यह बीमार है। यह चेहरा कुंदन जैसा नहीं है, यह केवल भूखा-प्यासा आदमी है..चेहरा पीला पड़ गया है; अनीमिया हो गया है। तुम महात्मा समझ रहे हो? और यह बोले क्या खाक! इसमें बोलने की शक्ति भी नहीं है। यह आदमी थोड़ा मूढ़ प्रवृत्ति का मालूम होता है। आंखों में कोई तेज नहीं है, कोई व्यक्तित्व नहीं है, कोई उमंग नहीं है। हो भी कैसे? न सोता है ठीक से, न खाता-पीता है ठीक से। और तुम इसकी पूजा कर रहे हो! बस इसको एक ही रस आ गया है कि यह जो काम कर रहा है, उससे इसे पूजा मिलती है। बस उसी पूजा की खातिर यह किये चला जा रहा है।
तुम जरा पूजा देना बंद करो। और तुम पाओगे तुम्हारे सौ में से निन्यानबे प्रतिशत महात्मा विदा हो गए, उसी रात विदा हो गए, तुम पूजा देना बंद करो। क्योंकि वे पूजा की खातिर सब तरह की नासमझियां कर रहे हैं; तुम जो करवाओ वही कर रहे हैं। तुम कहो, बाल लोंचो, तो वे बाल लोंच रहे हैं; केश-लुंच कर रहे हैं। तुम कहो, नंगे रहो, तो वे नंगे खड़े हैं। तुम कहो, भूखे रहो, तो वे भूखे हैं। एक बात भर तुम पूरी करो कि तुम सम्मान दो, उनके अहंकार को पुष्ट करो।
वास्तविक धर्म तो सदा हंसता हुआ है। वास्तविक धर्म तो सदा स्वस्थ है, प्रफुल्लित है, जीवन- स्वीकार का है। वास्तविक धर्म तो फूलों जैसा है, उदासी वहां नहीं है। उदासी को लोग शांति समझते हैं! उदासी शांति नहीं है। शांति तो बड़ी गुनगुनाती होती है। शांति तो बड़ी मगन होती है। शांति तो बड़ी शराबी है..पैर लड़खड़ाते हैं; एक मस्ती घेरे रहती है; चलते जमीन पर हैं, और जमीन पर नहीं चलते, आकाश में चलते हैं; जैसे पंख उग आते हैं; अब उड़े तब उड़े की हालत होती है।
ठीक हुआ, अगर मेरी शराब का स्वाद आ जाये, तो असली शराब का स्वाद आ गया,
अब किसी और मधुशाला में जाने की जरूरत न पड़ेगी।
खूब पहचान लो असरार हूं मैं,

जिन्से-उल्फत का तलबगार हूं मैं।
बस एक ही प्यास रखो..जिन्से-उल्फत..प्रेम नाम की वस्तु की। बस एक ही मांग रखो.. प्रेम नाम की वस्तु!
जिन्से-उल्फत का तलबगार हूं मैं।
इश्क ही इश्क है दुनिया मेरी।
और तुम्हारी सारी दुनिया, और तुम्हारा सारा अस्तित्व प्रेममय हो जाये, बस काफी है।
फितना-ए-अक्ल से बेजार हूं मैं।
और बुद्धि के उपद्रव को छोड़ो, उतरो प्रेम की छाया में।
इश्क ही इश्क है दुनिया मेरी
फितना-ए-अक्ल से बेजार हूं मैं
ऐब जो हाफिज-ओ-खय्याम में था
हां, कुछ उसका भी गुनहगार हूं मैं
ऐब जो, जो बुराई हाफिज और खय्याम में थी, उमरखय्याम में...।
उमरखय्याम को समझा नहीं गया। उमरखय्याम के साथ बड़ी ज्यादती हुई है।
एक दिन बंबई में मैं निकल रहा था एक जगह से, होटल पर लिखा हुआ था: "उमरखय्याम"। उमरखय्याम के साथ बड़ी ज्यादती हुई है। फिट्जराल्ड ने जब उमरखय्याम का अंग्रेजी में अनुवाद किया तो बड़ी भूल-चूक हो गई। फिट्जराल्ड समझ नहीं सका उमरखय्याम को। समझ भी नहीं सकता था, क्योंकि उमरखय्याम को समझने के लिए सूफियों की मस्ती चाहिए, सूफियों की समाधि चाहिए। उमरखय्याम एक सूफी संत है। थोड़े-से पहुंचे हुए महापुरुषों में एक, बुद्ध और अष्टावक्र और कृष्ण और जरथुस्त्र की कोटि का आदमी!
उसने जिस शराब की बात की है, वह परमात्मा की शराब है। उसने जिस हुस्न
की चर्चा की है, वह परमात्मा का हुस्न है। लेकिन फिट्जराल्ड नहीं समझा। पश्चिमी बुद्धि का आदमी, उसने समझा: शराब यानी शराब। उसने अनुवाद कर दिया। फिट्जराल्ड का अनुवाद खूब प्रसिद्ध हुआ। अनुवाद बड़ा सुंदर है, काव्य बड़ा सुंदर है। फिट्जराल्ड निश्चित बड़ा कवि है। लेकिन वह समझ नहीं पाया। सूफियों की जो खूबी थी, वह खो गई कविता में से। और उमरखय्याम जाना गया फिट्जराल्ड के माध्यम से।
तो उमरखय्याम के संबंध में बड़ी भूल हो गई। उमरखय्याम ने शराब कभी पी
ही नहीं, किसी मधुशाला में कभी गया नहीं; लेकिन उसने कोई एक शराब जरूर पी, जिसको पी लेने के बाद और सब शराबें फीकी पड़ जाती हैं। गया एक मधुशाला में, जिसको हम मंदिर कहें, जिसको हम प्रभु का मंदिर कहें।
ऐब जो हाफिज-ओ-खय्याम में था
हां, कुछ उसका भी गुनहगार हूं मैं।
"मजाज" खुद भी, जिनकी ये पंक्तियां हैं, उमरखय्याम को गलत समझा। वह भी यही समझा कि शराब यानी शराब। मजाज शराब पी-पी कर मरा। जिस शराब की तुम बात कर रहे हो कि जो हृदय को जलाती, और कड़वी और तिक्त होती है, मजाज उसी को पी- पीकर जवानी में मरा। बुरी तरह मरा! बड़ी बुरी मौत हुई!
मैं जिस शराब की बात कर रहा हूं, कहीं गलती से तुम कुछ और मत समझ लेना।
जो भूल उमरखय्याम के साथ हुई वह मेरे साथ मत कर लेना। उसकी संभावना है। मैं तुमसे कहता हूं: भोगो जीवन को साक्षी-भाव से। साक्षी-भाव को छोड़ देने का मन होता है; भोगने की बात पकड़ में आ जाती है। भोगो जीवन को; लेकिन अगर बिना साक्षी-भाव के भोगा तो भोगा ही नहीं। साक्षी-भाव से भोगा, तो ही भोगा। पीयो शराब लेकिन अगर होश खो गया तो पी ही नहीं शराब। अगर पी-पी कर होश बढ़ा तो ही पी। तो समाधि के अतिरिक्त कोई शराब नहीं है।
मेरे देखे, मनुष्य-जाति में तब तक शराब का असर रहेगा, जब तक समाधि का असर नहीं बढ़ता। जब तक असली शराब उपलब्ध नहीं है लोगों को, तब तक लोग नकली शराब पीते रहेंगे। नकली सिक्के तभी तक चलते हैं, जब तक असली सिक्के उपलब्ध न हों। सारी दुनिया की सरकारें कोशिश करती हैं कि शराब बंद हो जाये, यह होगा नहीं। यह तो सदा से वे कोशिश कर रहे हैं। साधु-महात्मा सरकारों के पीछे पड़े रहते हैं कि शराबबंदी करो, अनशन कर देंगे, यह कर देंगे, वह कर

देंगे, शराब बंद होनी चाहिए! लेकिन कोई शराब बंद कर नहीं पाया। अलग-अलग नामों से, अलग-अलग ढंगों से आदमी मादक द्रव्यों को खोजता रहा है।
मेरे देखे, सरकारों के बस के बाहर है कि शराब बंद हो सके। लेकिन अगर समाधि की शराब जरा फैलनी शुरू हो जाये, असली सिक्का उतर आये पृथ्वी पर, तो नकली बंद हो जाये। अगर हम मंदिरों को मधुशालाएं बना लें, और वहां मस्ती और गीत और आनंद और उत्सव होने लगें, और अगर हम जीवन को गलत धारणाओं से न जीयें, स्वस्थ धारणाओं से जीयें, और जीवन एक अहोभाग्य हो जाये..तो शराब अपने-आप खो जाएगी।
आदमी शराब पीता है दुख के कारण। दुख कम हो जाये, तो शराब कम हो जाये। आदमी शराब पीता है अपने को भुलाने के लिए; क्योंकि इतनी चिंताएं हैं, इतनी तकलीफें हैं, इतनी पीड़ा है..न भुलायें तो क्या करें? अगर चिंता, दुख, पीड़ा कम हो जाये तो आदमी की शराब कम हो जाये।
और एक अनूठी घटना मैंने घटते देखी, कई बार कुछ शराबियों ने आकर मुझसे संन्यास ले लिया। फंस गए भूल में। सोच कर यह आये कि यह आदमी तो कुछ मना करता ही नहीं है, कि पीओ कि न पीओ, कि खाओ, कि यह न खाओ, वह न खाओ, कोई हर्जा नहीं। वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि आप की बात हमें बिल्कुल जंचती है, यह किसी ने बताई ही नहीं। लेकिन जैसे-जैसे ध्यान बढ़ा, जैसे-जैसे संन्यास का रंग छाया, वैसे-वैसे उनके पैर मधुशाला की तरफ जाने बंद होने लगे; दूसरी मधुशाला पुकारने लगी।
एक शराबी ने छह महीने ध्यान करने के बाद मुझे कहा कि पहले मैं शराब पीता था क्योंकि मैं दुखी था, तो दुख भूल जाता था; अब मैं था.ेड़ा सुखी हूं, शराब पीता हूं, तो सुख भूल जाता है। अब बड़ी मुश्किल हो गई। सुख तो कोई भुलाना नहीं चाहता। यह आपने क्या कर दिया?
मैंने कहा, अब तुम चुन लो।
वह कहने लगा कि अब शराब पी लेता हूं, तो ध्यान खराब हो जाता है; नहीं तो ध्यान की धीमी-धीमी धारा भीतर बहती रहती है, शीतल-शीतल, मंद-मंद बयार बहती रहती है। शराब पी लेता हूं तो दो-चार दिन के लिए ध्यान की धारा अस्तव्यस्त हो जाती है; फिर बामुश्किल सम्हाल पाता हूं। अब बड़ी मुश्किल हो गई है।
तो मैंने कहा, अब तुम चुन लो, तुम्हारे सामने है। ध्यान छोड़ना है, ध्यान छोड़ दो; शराब छोड़नी है, शराब छोड़ दो। दोनों साथ तो चलते नहीं; तुम्हें दोनों साथ चलाना हो, साथ चला लो।
उसने कहा, अब मुश्किल है। क्योंकि ध्यान से जो रसधार बह रही है, वह इतनी पावन है और वह मुझे ऐसी ऊंचाइयों पर ले जा रही है, जिनका मुझे कभी भरोसा न था कि मुझ जैसा पापी और कभी ऐसे अनुभव कर पायेगा! आपको छोड़ कर किसी दूसरे को तो मैं कहता ही नहीं; क्योंकि मैं दूसरों को कहता हूं तो वे समझते हैं कि शराबी है, ज्यादा पी गया होगा। वे कहते हैं: होश में आओ, होश की बातें करो। मैं भीतर के भाव की बात करता हूं, तो वे समझते हैं कि ज्यादा पी गया होगा। उन्हें भरोसा नहीं आता। मेरी पत्नी तक को भरोसा नहीं आता। वह कहती है कि बकवास बंद करो। तुम ये ज्ञान-वान की बातें नहीं, तुम ज्यादा पी गए हो। मैं कहता हूं, मैंने आज महीने भर से छुई नहीं है।
तो आप से ही कह सकता हूं, वह शराबी कहने लगा, आप ही समझेंगे। और अब छोड़ना मुश्किल है ध्यान।
जीवन को विधायक दृष्टि से लो। तुम सुखी होने लगो, तो जो चीजें तुमने दुख के कारण पकड़ रखी थीं, वे अपने-आप छूट जायेंगी। ध्यान आये तो शराब छूट जाती है। ध्यान आये तो मांसाहार छूट जाता है। ध्यान आये तो धीरे-धीरे काम-ऊर्जा ब्रह्मचर्य में रूपांतरित होने लगती है। बस ध्यान आये।
तो मैं ध्यान की शराब पीने को तुमसे कहता हूं; समाधि की मधुशाला में पियक्कड़ों की जमात में सम्मिलित हो जाने को कहता हूं।
सुख की यह घड़ी, एक तो जी लेने दो
चादर यह फटी स्वप्न की, सी लेने दो
ऐसी तो घटा, फिर न कभी छाएगी;
प्याला न सही, आंख से पी लेने दो।

इस सत्संग में तुम पीयो..प्याला न सही, आंख से! इस सत्संग में तुम पीयो,
इस सत्संग से तुम मदहोश होकर लौटो। लेकिन यह जो मदहोशपन है, इसमें तुम्हारा होश न खोये। मस्ती हो, और भीतर होश का दीया जला हो।
ऐसी तो घटा, फिर न कभी छाएगी;
प्याला न सही, आंख से पी लेने दो।

पांचवां प्रश्नः क्या धारणा और स्व-सुझाव या आटो-सजेशन एक ही हैं? धारणा और स्वभाव या बोध में क्या भेद है? रामकृष्ण परमहंस की काली क्या सर्वथा धारणा की बात थी, या उनका अपना अस्तित्व है? विभूति या भगवान के साथ संवाद क्या संभव नहीं है?

धारणा और सुझाव, आटो-सजेशन, एक ही बात हैं। आटो-सजेशन वैज्ञानिक नाम
है धारणा का दोनों में कोई भेद नहीं। और स्वभाव और धारणा बड़ी भिन्न बात है। स्वभाव तो वही है, जो सभी धारणाओं के छूट जाने पर प्रगट होता है। स्वभाव तो वही है, जब तुम्हारे मन से सभी विचार और सभी धारणाएं तिरोहित हो जाती हैं; तब उसका दर्शन होता है। स्वभाव की धारणा नहीं करनी होती।
एक संन्यासी मेरे घर मेहमान हुए। तो वे सुबह-सांझ बैठ कर बस एक ही धारणा करते..अहं ब्रह्मास्मि मैं ब्रह्म हूं, मैं देह नहीं; मैं मन नहीं; मैं ब्रह्म हूं..ऐसा दो-चार दिन मैंने उन्हें सुना। मैंने कहा कि अगर तुम हो, तो हो; यह बार-बार क्या दोहराते हो? अगर नहीं हो, तो बार-बार दोहराने से क्या होगा? भ्रांति हो सकती है। बार-बार पुनरुक्ति करने से "अहं ब्रह्मास्मि," ऐसा पुनरुक्ति करते रहो, करते रहो तो भ्रांति हो सकती है कि हो गए ब्रह्म; लेकिन यह भ्रांति स्वभाव का दर्शन नहीं है। अगर तुम्हें पता है कि तुम ब्रह्म हो, तो दोहरा क्या रहे हो? अगर कोई पुरुष रास्ते पर दोहराता चले कि मैं पुरुष हूं, मैं पुरुष हूं, तो सभी को शक हो जायेगा कि कुछ गड़बड़ है! लोग कहेंगे: रुको, कुछ गड़बड़ है! यह क्या दोहरा रहे हो? अगर हो तो बात खत्म हो गई। शक है तुम्हें कुछ?
अहं ब्रह्मास्मि, इसको दोहराना थोड़े ही है! यह तो एक बार का उदघोष है।
यह तो बोध की एक बार उठी उदघोषणा है। बात खत्म हो गई। यह कोई मंत्र थोड़े ही है। मंत्र तो सुझाव ही है। मंत्र शब्द का अर्थ भी सुझाव होता है। इसलिए तो हम सलाह देने वाले को, सुझाव देने वाले को मंत्री कहते हैं। मंत्र यानी सुझाव, बार-बार दोहराना। बार-बार दोहराने से मन पर एक लकीर खिंचती जाती है। और उस लकीर के कारण हमें भ्रांतियां होने लगती हैं।
"रामकृष्ण को जो काली के दर्शन हुए, क्या सर्वथा धारणा की बात थी?" सर्वथा धारणा की बात थी। न कहीं कोई काली है, न कहीं कोई पीली। सब मन
की धारणा है। और सब धारणायें गिरनी चाहिए। इसलिए तो जब रामकृष्ण की काली की धारणा गिर गई तो उन्होंने कहा: अंतिम बाधा गिर गई। अपनी ही धारणा थी। और जब रामकृष्ण ने तलवार उठाकर अपनी काली की धारणा को काटा, तो क्या तुम सोचते हो खून वगैरह निकला? कुछ नहीं निकला। धारणा भी झूठी थी, तलवार भी झूठी थी, झूठ से झूठ की टकराहट हुई, कुछ और हुआ नहीं।
"विभूति या भगवान के साथ संवाद क्या संभव नहीं है?"
नहीं! जो भी संवाद तुम करोगे, वह कल्पना होगी। क्योंकि जब तक तुम हो,
तब तक भगवान नहीं; और जब भगवान है, तब तुम नहीं..संवाद कैसे होगा? संवाद के लिए तो दो चाहिए। तुम और भगवान साथ-साथ खड़े होओ, तो संवाद हो सकता है। जब तक तुम हो, तब तक कहां भगवान? और जब भगवान है, तब तुम कहां?
प्रेम-गली अति सांकरी तामें दो न समायें। उस गली में दो तो नहीं समाते, एक ही बचता है, संवाद कैसा? संवाद के लिए तो दो चाहिए, कम से कम दो तो चाहिए ही।
तो तुम जिससे बातें कर रहे हो, वह तुम्हारी ही कल्पना का जाल है, वह वास्तविक भगवत्ता नहीं। भगवत्ता जब घटती है तो संवाद नहीं होता; निनाद होता है, संवाद नहीं। एक, जिसको पूरब के मनीषियों ने अनाहत-नाद कहा है, वह होता है। एक गुनगुनाहट! पर एक में ही होती है वह गुनगुनाहट; कोई दूसरे से

बातचीत नहीं हो रही है। वह ओंकार की ध्वनि का उठना है। लेकिन वह किसी दूसरे से बातचीत नहीं हो रही है; दूसरा तो कोई बचता नहीं।
कभी किसी भक्त ने भगवान का दर्शन नहीं किया। जब तक भगवान का दर्शन होता रहता है, तब तक भक्त भी मौजूद है; तब तक कल्पना का ही दर्शन है। इसलिए तो ईसाई जीसस से मिल लेता है, जैन महावीर से मिल लेता है, हिंदू राम से मिल लेता है। तुमने कभी हिंदू को जीसस से मिलते देखा? ..भूल-चूक से कहीं रास्ते पर जीसस मिल जायें..मिलते ही नहीं। जो अपनी धारणा में नहीं है, वह मिलेगा कैसे? तुमने कभी ईसाई को कहते देखा कि बैठे थे ध्यान करने और बुद्ध भगवान प्रगट हो गए? वे होते ही नहीं। वे होंगे कैसे? जिसका बीज धारणा में नहीं है, वह कल्पना में कैसे होगा? जो तुम्हारी धारणा है, उसी का कल्पना- विस्तार हो जाता है।
अष्टावक्र का सूत्र तो यही है कि तुम सब धारणाओं, सब मान्यताओं, सब कल्पनाओं, सब प्रक्षेपों से मुक्त हो जाओ, सब अनुष्ठान-मात्र से! अनुष्ठान-मात्र बंधन है। जब कोई भी नहीं बचता तुम्हारे भीतर..न भक्त, न भगवान..एक शून्य विराजमान होता है। उस शून्य में अहर्निश एक आनंद की वर्षा होती है। उस घड़ी कैसा संवाद, कैसा विवाद? नहीं, सब संवाद कल्पना के ही हैं। कभी रात मुझे घेरती है
कभी मैं दिन को टेरता हूं
कभी एक प्रभा मुझे हेरती है
कभी मैं प्रकाश-कण बिखेरता हूं
कैसे पहचानूं कब प्राण-स्वर मुखर है,
कब मन बोलता है?
मैं तुमसे कहूंगा, पहचान सीधी है: जब भी कुछ बोले, मन ही बोलता है। जब
भी कुछ दिखाई पड़े, मन ही दिखाई पड़ता है। जब कुछ भी दिखाई न पड़े, कुछ भी न बोले..तब जो बचा, वही अ-मन है, वही समाधि है। जब तक अनुभव हो, तब तक मन है। इसलिए परमात्मा का अनुभव, ये शब्द ठीक नहीं; क्योंकि अनुभव-मात्र तो
मन के होते हैं। अनुभव-मात्र तो द्वंद्व और द्वैत के होते हैं, द्वि के होते हैं। जब अद्वैत बचा, तो कैसा अनुभव? इसलिए "आध्यात्मिक अनुभव" यह शब्द ठीक नहीं है।
जहां सब अनुभव समाप्त हो जाते हैं, वहां अध्यात्म है। नहीं तो तुम खेल खेलते रह सकते हो। यह खेल धूप-छाया का खेल है।
जो तुम श्रद्धा नमन बनो तो
मैं सुरभित चंदन बन जाऊं
यदि तुम पावन प्रतिमा हो तो
मैं जीवन का अध्र्य चढ़ाऊं
तुम तो छिपे सीप-मोती-से
मैं सागर का ज्वार बन गया जो तुम स्वाति-बूंद बन बरसो मैं सौ-सौ सावन पी जाऊं
अंजुरी भर सपनों की आशा
खोज रही जीवन-परिभाषा
जो तुम मंगल-दीप बनो तो
मैं जीवन की ज्योति जलाऊं मौन साध आतुर अभिलाषा
खोल रही नैनों की भाषा
जो तुम चरण धरो धरणी पर
मैं मोतिन से हंस चुगाऊं
कस्तूरी मृग की सी छलना
झुला रही मायावी पलना
जो तुम मानस-दीप धरो तो
मैं सौ-सौ बंदन बन जाऊं!
पर यह सब कल्पना का खेल है। खेलना हो, खेलो। सुखद कल्पना का खेल है, बड़ा प्रतिकर, बड़ा रसभरा..पर है कल्पना का खेल! इसे सत्य मत मान लेना। सत्य

तो वहां है जहां न मैं, न तू। सत्य तो वहां है जहां द्वि गई, द्वंद्व गया, द्वैत गया; बचा एक..एक ओंकार सतनाम।

आखिरी प्रश्नः ओश्ल्ला, कोटि-कोटि नमन! आबू की पावन पहाड़ी पर, आपके वरदहस्त की छाया में आने का सौभाग्य हुआ, तब से कितना खोया है, कितना पाया है, उसका हिसाब नहीं है। धन्य-धन्य हो गया है जीवन! प्रश्न बनता नहीं, जबर्दस्ती बना रहा हूं। आपके मुखारविंद से शिविर-समापन के दिन दो शब्द सुनने के लिए बेचैन हो रहा हूं, भिक्षा-पात्र में दो फूल डालने की अनुकंपा आज जरूर करें!

दो क्यों, तीन सही.
हरि ओम् तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
ग्यारहवां प्रवचन

दुख का मूल द्वैत है

जनक उवाच।

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरंजनः।। ३५।।
द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः।। ३६।।
बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृश्यतो नित्य निर्विकल्पे स्थितिर्मम।। ३७।।
न मे बंधोऽस्ति मोक्षो वा भ्रांतिः शांता निराश्रया।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।। ३८।।
सशरीरमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चितम्।
शुद्ध चिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन् कल्पनाधुना।। ३९।।
शरीरं स्वर्गनरकौ बंधमोक्षौ भयं तथा।
कल्पनामात्रमेवैतत किं मे कार्यं चिदात्मनः।। ४०।।

जनक ने कहा: "ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ये तीनों यथार्थ नहीं हैं।
जिसमें ये तीनों भासते हैं, मैं वही निरंजन हूं।"
ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
जो भी दिखाई पड़ रहा है, जिसे दिखाई पड़ रहा है, और इन दोनों के बीच जो संबंध है--ज्ञान का या दर्शन का--जनक कहते हैं, आज मैं जागा, और मैंने देखा, यह सब स्वप्न है। जो जागा है और जिसने इन तीनों को देखा, स्वप्न की भांति तिरोहित होते, वही केवल सत्य है।
तो तुम साक्षी को द्रष्टा मत समझ लेना। भाषाकोश में तो साक्षी का अर्थ द्रष्टा ही लिखा है; लेकिन साक्षी द्रष्टा से भी गहरा है। द्रष्टा में साक्षी की पहली झलक मिलती है। साक्षी में द्रष्टा का पूरा भाव, पूरा फूल खिलता है। द्रष्टा तो अभी भी बंटा है। द्रष्टा है तो दृश्य भी होगा।
और दृश्य और द्रष्टा हैं, तो दोनों के बीच का संबंध, दर्शन, ज्ञान भी होगा।
तो अभी तो खंड हैं।
जहां-जहां खंड हैं, वहां-वहां स्वप्न हैं; क्योंकि अस्तित्व अखंड है।
जहां-जहां हम बांट लेते हैं, सीमायें बनाते हैं, वे सारी सीमायें व्यावहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं।
अपने पड़ोसी के मकान से अलग करने को तुम एक रेखा खींच लेते, एक दीवाल खड़ी कर देते, बागुड़ लगा देते, लेकिन पृथ्वी बंटती नहीं। हिंदुस्तान पाकिस्तान को अलग करने के लिए तुम नक्शे पर सीमा खींच देते; लेकिन सीमा नक्शे पर ही होती है, पृथ्वी अखंड है।
तुम्हारे आंगन का आकाश और तुम्हारे पड़ोसी के आंगन का आकाश अलग-अलग नहीं है। तुम्हारे आंगन को बांटने वाली दीवाल आकाश को नहीं बांटती। जहां- जहां हमने बांटा है, वहां जरूरत है, इसलिए बांटा है। उपयोगिता है बांटने की, सत्य नहीं है बांटने में। सत्य तो अनबंटा है।
और जो गहरे से गहरा विभाजन है हमारे भीतर, वह है देखने वाले का, दिखाई पड़ने वाले का। जिस दिन यह विभाजन भी गिर जाता है, तो आखिरी राजनीति गिरी, आखिरी नक्शे गिरे, आखिरी सीमायें गिरीं। तब जो शेष रह जाता है अखंड, उसे क्या कहें? वह द्रष्टा नहीं कहा जा सकता अब, क्योंकि दृश्य तो खो गया। दृश्य के बिना द्रष्टा कैसा? इस द्रष्टा को जो हो रहा है, वह दर्शन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्शन तो बिना दृश्य के न हो सकेगा। तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तो एक साथ ही बंधे हैं; तीनों होंगे तो साथ होंगे, तीनों जायेंगे तो साथ जायेंगे।
तुमने देखा! कोई भी स्वप्न जाता है तो पूरा, होता है तो पूरा। तुम ऐसा नहीं कर सकते कि स्वप्न में से थोड़ा-सा हिस्सा बचा लूं, या कि कर सकते हो?

रात तुमने एक स्वप्न देखा कि तुम सम्राट हो गये, बड़ा सिंहासन है, राजमहल है, बड़ा फौज-फांटा है। सुबह जाग कर क्या तुम ऐसा कर सकते हो कि सपने में से कुछ बचा लो। तुम कहो, जाये सब, यह सिंहासन बचा लूं; जाये सब, कम से कम पत्नी तो बचा लूं; जाये सब, कम से कम अपना मुकुट तो बचा लूं। नहीं, या तो सपना पूरा रहता या पूरा जाता। अगर तुम जागे, तो यह संभव नहीं है कि तुम सपने का खंड बचा लो।
द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, एक ही स्वप्न के तीन अंग हैं। जब पूरा स्वप्न गिरता है और जागरण होता है, तो जो शेष रह जाता है, उसे तो तुमने स्वप्न में जाना ही नहीं था, वह तो स्वप्न में सम्मिलित ही नहीं हुआ था; वह तो स्वप्न से पार ही था, सदा पार था। वह अतीत था। वह स्वप्न का अतिक्रमण किये था। स्वप्न में जिसे तुमने जाना था, वह सब खो जायेगा--समग्ररूपेण सब खो जायेगा! इसलिए तुमने परमात्मा की जो भी धारणा बना रखी है, जब तुम्हें परमात्मा का अनुभव होगा, तो तुम चकित होओगे, तुम्हारी कोई धारणा काम न आयेगी; तुम्हारी सब धारणाएं खो जायेंगी। जो तुम जानोगे, उसे स्वप्न में सोये-सोये जानने का कोई उपाय नहीं; धारणा बनाने का भी कोई उपाय नहीं। इसलिए तो कहते हैं, परमात्मा की तरफ जिसे जाना हो उसे सब धारणायें छोड़ देनी चाहिए। उसे सब सिद्धांत कचरे-घर में डाल देना चाहिए। उसे शब्दों को नमस्कार कर लेना चाहिए; विदा दे देनी चाहिए कि तुमने खूब काम किया संसार में, उपयोगी थे तुम, लेकिन पारमार्थिक नहीं हो।
इसे भी समझ लें सूत्र के भीतर प्रवेश करने के पहले।
व्यावहारिक सत्य पारमार्थिक सत्य नहीं है। व्यावहारिक सत्य की उपयोगिता है, वास्तविकता नहीं। पारमार्थिक सत्य की कोई उपयोगिता नहीं है, सिर्फ वास्तविकता है।
अगर तुम पूछो कि परमात्मा का उपयोग क्या है, तो कठिनाई हो जायेगी। क्या उपयोग हो सकता है परमात्मा का? क्या करोगे परमात्मा से? न तो पेट भरेगा, न प्यास बुझेगी। करोगे क्या परमात्मा का? कौन-से लोभ की तृप्ति होगी? कौन-सी वासना भरेगी? कौन-सी तृष्णा पूरी होगी? परमात्मा का कोई उपयोग नहीं। परमात्मा के कारण तुम महत्वपूर्ण न हो जाओगे। परमात्मा के कारण तुम शक्तिशाली न हो जाओगे। परमात्मा के कारण इस संसार में तुम्हारी प्रतिष्ठा न बढ़ जायेगी। परमात्मा का कोई भी तो उपयोग नहीं है। इसलिए तो जो लोग उपयोग के दीवाने हैं, वे परमात्मा की तरफ नहीं जाते। परमात्मा का आनंद है, उपयोग बिलकुल नहीं।
मेरे पास लोग आते हैं, वे पूछते हैं: "ध्यान करेंगे तो लाभ क्या होगा?" लाभ! तुम बात ही अजीब-सी कर रहे हो। तो तुम समझे ही नहीं, कि ध्यान तो वही करता है जिसने लाभ-लोभ छोड़ा; जिसके मन में अब लाभ व्यर्थ हुआ, जिसने बहुत लाभ करके देख लिये और पाया कि लाभ कुछ भी नहीं होता। धन मिल जाता है, निर्धनता नहीं कटती। पद मिल जाता है, दीनता नहीं मिटती। सम्मान- सत्कार मिल जाता है, भीतर सब खाली का खाली रह जाता है। नाम जगत भर में फैल जाता है, भीतर सिर्फ दुर्गंध उठती है, कोई सुगंध नहीं उठती है, कोई फूल नहीं खिलते। भीतर कांटे ही कांटे, पीड़ा और चुभन, संताप और असंतोष, चिंता ही चिंता घनी होती चली जाती है। भीतर तो चिता सज रही है, बाहर महल खड़े हो जाते हैं। बाहर जीवन का फैलाव बढ़ता जाता है, भीतर मौत रोज करीब आती चली जाती है।
जिसको यह दिखाई पड़ा कि लाभ में कुछ लाभ नहीं, वही ध्यान करता है। लेकिन कुछ लोग हैं, जो सोचते हैं शायद ध्यान में भी लाभ हो, तो चलो ध्यान करें। वे पूछते हैं: ध्यान में लाभ क्या? इससे क्या फायदा होगा? सुख-समृद्धि आयेगी? पद-प्रतिष्ठा मिलेगी? धन-वैभव मिलेगा? हार, जीत में परिणत हो जायेगी? यह जीवन का विषाद, यह जीवन की पराजय, यह जीवन में जो खाली- खालीपन है--यह बदलेगा? हम भरे-भरे हो जायेंगे?
वे प्रश्न ही गलत पूछते हैं। अभी उनका संसार चुका नहीं। वे जरा जल्दी
आ गये। अभी फल पका नहीं। अभी मौसम नहीं आया। अभी उनके दिन नहीं आये। ध्यान तो वही करता है, या ध्यान की तरफ वही चल सकता है, जिसे एक बात दिखाई पड़ गई कि इस संसार में मिलता तो बहुत कुछ और मिलता कुछ भी नहीं। सब मिल जाता है और सब खाली रह जाता है। जिसे यह विरोधाभास दिखाई पड़ गया, फिर

वह यह न पूछेगा कि ध्यान में लाभ क्या है? क्योंकि लाभ होता है व्यावहारिक बातों में। ध्यान पारमार्थिक है।
आनंद है ध्यान में, लाभ बिलकुल नहीं। तुम ध्यान को तिजोड़ी में न रख सकोगे। ध्यान से बैंक-बैलेंस न बना सकोगे। ध्यान से सुरक्षा, सिक्योरिटी न बनेगी।
ध्यान तो तुम्हें छोड़ देगा अज्ञात में। ध्यान में तो तुम्हारी जो सुरक्षा थी वह भी चली जायेगी। ध्यान तो तुम्हें छोड़ देगा अपरिचित लोक में। उस अभियान पर भेज देगा, जहां तुम धीरे-धीरे गलोगे, पिघलोगे, बह जाओगे। ध्यान से लाभ कैसे होगा? ध्यान से तो हानि होगी--और हानि यह कि तुम न बचोगे। ध्यान तो मृत्यु है। लेकिन तब, जब तुम मर जाते हो--शरीर से ही नहीं, शरीर से तो तुम बहुत बार मरे हो; उस मरने से कोई मरता नहीं; वह मरना तो वस्त्र बदलने जैसा है। पुराने वस्त्रों की जगह नये वस्त्र मिल जाते हैं, बूढ़ा बच्चा हो कर आ जाता है। उस मरने से कोई कभी मरा नहीं। मरे तो हैं कुछ थोड़े-से लोग--कोई अष्टावक्र, कोई बुद्ध, कोई महावीर--वे मरे। उनकी मृत्यु पूरी है; फिर वे वापस नहीं लौटते।
ध्यान मृत्यु है। ध्यान में तुम तो मरोगे, तुम तो मिटोगे, तुम्हारी तो छाया भी न रह जायेगी। तुम्हारी तो छाया भी अपवित्र करती है। तुम तो रंचमात्र न बचोगे, तुम ही न बचोगे, तुम्हारे लाभ का कहां सवाल?
तुम स्वयं एक व्यावहारिक सत्य हो। तुम सिर्फ एक मान्यता हो, तुम हो नहीं। तुम सिर्फ एक धारणा हो, तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। तुम्हारी धारणा तो बिखर जायेगी। सब धारणायें बिखर जायेंगी तुम्हारे बिखरते ही। क्योंकि जब मालिक ही न रहा, तो जो सब साज-सामान इकट्ठा कर लिया था, वह सब बिखर जायेगा। जब संगीतज्ञ ही न रहा, तो वीणा क्या बजेगी? कहते हैं: "न रहा बांस न बजेगी बांसुरी।" तुम ही गये तो बांस ही गया, अब बांसुरी का कोई उपाय न रहा। तब जो शेष रह जायेगा, वही समाधि है--वह है पारमार्थिक!
पारमार्थिक का अर्थ है: जो है! परम आनंदमय! परम विभामय! बरसेगा आशीष, अमृत का अनुभव होगा; लेकिन लाभ! कुछ भी नहीं। व्यावहारिक अर्थों में कोई लाभ नहीं। उससे तुम किसी तरह की संपदा निर्मित न कर पाओगे।
वही व्यक्ति ध्यान की तरफ आना शुरू होता है, जिसे संसार स्वप्नवत हो गया; जो इस संसार में से अब कुछ भी नहीं बचाना चाहता; जो कहता है यह पूरा सपना है, जाये पूरा; अब तो मैं उसे जानना चाहता हूं जो सपना नहीं है।
ये सूत्र उसी खोजी के लिये हैं।
जनक ने कहा: "ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ये तीनों यथार्थ नहीं हैं। जिसमें ये तीनों भासते हैं, मैं वही निरंजन हूं।"
जिसके ऊपर यह सपना चलता संसार का...। रात तुम सोते हो, तुम सपना देखते हो। सपना सत्य नहीं है, लेकिन जिसके ऊपर सपने की तरंगें चलती हैं, वह तो निश्चित सच है। सपना जब खो जायेगा तब भी सुबह तुम तो रहोगे। तुम कहोगे, रात सपना देखा, बड़ा झूठा सपना था। एक बात तय है, जो देखा, वह तो झूठ था, लेकिन जिसके ऊपर बहा, उसे तो झूठ नहीं कह सकते। अगर देखने वाला भी झूठ हो, तब तो सपना बन ही नहीं सकता। सपने के बनने के लिये भी कम से कम एक तो सत्य चाहिये--वह सत्य है तुम्हारा होना। और सुबह जाग कर जब तुम पाते हो कि सपना झूठा था, तो तुम जरा खयाल करना: जिसने सपने को देखा, और जो सपने में भरमाया, जो सपने का द्रष्टा बना था, वह भी झूठा था।
रात तुमने सपना देखा कि एक सांप, बड़ा सांप चला आ रहा है, फुफकारें मारता तुम्हारी ओर। जिसने देखा सपने में, वह कंप गया, वह घबड़ा गया। वह पसीने-पसीने हो भागने लगा। पहाड़-पर्वत पार करने लगा, और सांप पीछा कर रहा है। और तुम भागते हो, और उसकी फुफकार तुम्हें सुनाई पड़ रही है। वह जब तुम सुबह जागोगे, तो सांप तो झूठा हो गया। और जिसने सांप को देखा था, जो देख कर भागा था, जो भाग-भाग कर घबड़ाया, पसीने से लथपथ हो कर गिर पड़ा था--क्या वह सच था? वह भी झूठ हो गया। सपना भी झूठ हो गया, सपने का द्रष्टा भी झूठ हो गया। लेकिन फिर भी इन दोनों के पार कोई है, जिस पर दोनों घटे। नहीं तो सुबह याद कौन करेगा? यह किसको आती याद? यह कौन कहता सुबह कि सपना झूठ था?

खयाल रखना, दृष्य तो झूठ था ही; वह जो द्रष्टा था सपने में, वह भी झूठ था, क्योंकि वह झूठ के मोह में आ गया था। झूठ से जो प्रभावित हो जाये, वह भी झूठ। झूठ से जो आतंकित हो जाये, वह भी झूठ।
सत्य कहीं झूठ से प्रभावित हुआ है? झूठे से जो भयभीत हो जाये, वह भी झूठ। झूठ को जो मान ले कि सच है, वह भी झूठ। झूठ को मानने में ही हम झूठ हो जाते हैं। दोनों गये।
जैसे सुबह जागता कोई, ऐसे ही एक दिन अंतिम जागरण आता--ध्यान का, समाधि का, साक्षी का। उस दिन तुम पाते हो, सब झूठ था। तब तुम यह नहीं कहते कि पत्नी ही झूठ थी--पति भी झूठ था। तब तुम यह नहीं कहते कि धन झूठ था; वह जो धन को इकट्ठा कर रहा था, वह भी झूठ था। तब तुम यह नहीं कहते सिर्फ कि मेरे बाहर जो झूठ था वही झूठ था; तब तुम जानते हो कि तुम्हारे भीतर भी बहुत कुछ था, जो झूठ था। और जो अब बचा है, वह तो न तुम्हारे बाहर था और न भीतर था; वह तो बाहर-भीतर दोनों के पार था।
आत्मा भीतर नहीं है। बाहर शरीर दिखाई पड़ रहा है, भीतर मन है। आत्मा न बाहर है न भीतर है। आत्मा तो आकाश जैसी है। सब उसमें घट रहा।
यह जो सूत्र है: "जिसमें ये तीनों भासते हैं, मैं वही निरंजन हूं।"
और "निरंजन" कहते हैं जनक। निरंजन का अर्थ होता है: निर्दोष। ऐसी निर्दोषता जिसे खंडित करने का कोई उपाय नहीं। ऐसा क्वांरापन जो कभी व्यभिचारित नहीं होता।
निरंजन का अर्थ होता है: ऐसी पवित्रता, जिसके अपवित्र होने की कोई संभावना नहीं है, कोई उपाय ही नहीं है। जो अपवित्र हो जाये, वह निरंजन नहीं। जो सपने में दब जाये और सपने में खो जाये, वह निरंजन नहीं जो झूठ से आंदोलित हो जाये, वह निरंजन नहीं। जो झूठ से इतना प्रभावित हो जाये कि झूठ के पीछे दौड़ने लगे, वह निरंजन नहीं। निरंजन तो सदा पवित्र, शांत, आकाश जैसा निर्मल!
आकाश में देखा, कितने धूल के बवंडर उठते हैं, काले बादल छाते हैं; आते हैं, चले जाते हैं--आकाश का निरंजनपन शेष रहता है। न तो धूल के बादल आकाश को गंदा कर पाते, न काले बादल आकाश को गंदा कर पाते। सब कुछ होता रहता है, लेकिन आकाश की निर्दोषता शाश्वत है; उस पर कोई खंडन नहीं होता। ऐसी दशा को कहते हैं निरंजन।
फिर से दोहरा दूं: तुमने जो अब तक जाना है, उसमें से कुछ भी सच नहीं है। तुमने अब तक जो माना है, उसमें से कुछ भी सच नहीं है। तुम्हारा सब असत्य है, क्योंकि अभी तो तुम ही असत्य हो। असत्य असत्य का मेल होता है। सत्य असत्य का कोई मेल नहीं होता। उन्हें मिश्रित नहीं किया जा सकता।
अभी तक तुमने जो भी जाना है, वह सभी असत्य है। तुमने वेद पढ़े, कुरान पढ़ी, बाइबिल पढ़ी, गीता पढ़ी--तुमने जो पढ़ लिया, वह वहां लिखा नहीं। तुमने वही पढ़ लिया जो तुम अपनी अज्ञान की दशा में पढ़ सकते हो। तुमने बहुत-से संयम साधे, मगर तुम्हारे सब संयम झूठ को ही साधने में सहयोगी होते हैं। क्योंकि तुम ही अभी झूठ हो, तुम संयम कैसे साधोगे? तुम्हारा संयम भी एक सपना ही होगा। तुमने तप भी किये, दान भी दिये, तुमने उपवास भी किये, तुमने पूजा- प्रार्थना भी की, लेकिन सब व्यर्थ गई, सब पानी में बह गई। क्योंकि मौलिक बात, आधारभूत बात तुम्हें खयाल में नहीं आई।
कल मैं बच्चों का एक गीत पढ़ रहा था:
नदी घाट से बांझ लदे
चले शहर को पांच गधे
पहला बोला--मैं राजा!
कहा दूसरे ने--जा जा!
बोला तीसरा--बंद करो झगड़ा! क्योंकि तीसरा था तगड़ा।
चौथे ने प्रस्ताव किया,
चालाकी से काम लिया,
लड़ने से पहले सुन लो,
मुझको निर्णायक चुन लो।

आया ताव पांचवें को,
शुरू किया: रेंको-रेंको।
खूब चली फिर दुलत्ती,
कुचल गई पत्ती-पत्ती।
मालिक आया तभी सधे,
बदले बिलकुल नहीं गधे।
मालिक को देख कर सध भी गये, शांत भी खड़े हो गये--बदले बिलकुल नहीं गधे! लेकिन कहीं मालिक को देख कर सध कर खड़े हो जाने से, सधे हो जाने से कहीं गधे बदले?
तो कुछ गधे हैं जो बाजार में तुम्हें मिलेंगे, कुछ गधे तुम्हें आश्रमों में मिलेंगे--सधे-बधे गधे, मगर बदले बिलकुल नहीं गधे। कोई धन के पीछे पागल है, कोई धन छोड़ने के पीछे पागल है--लेकिन धन का प्रभाव दोनों पर है। धन से छूट होती नहीं दिखती। धन छूट जाता है, तो भी धन से छूट होती नहीं दिखती। कोई स्त्रियों के पीछे दीवाना है, कोई स्त्रियों से घबड़ा कर भाग गया है। फर्क कहां? दिशा बदल गई, मूढ़ता नहीं बदली।
बदले बिलकुल नहीं गधे!
घबड़ाहट है कि कहीं स्त्री न छू जाये, कि कहीं स्त्री दिखाई न पड़ जाये!
यह घबड़ाहट कैसी? अगर तुम्हें दिखाई पड़ गया कि सब सपना है, तो घबड़ाहट कैसी? सुबह जागकर अगर कोई कहे कि रात देखा कि सब सपना है--इस कमरे में सांप ही सांप थे, कि सिंह दहाड़ते थे, सब सपना है। लेकिन सुबह हम उससे कहें कि चलो कमरे के भीतर, वह कहे कि मैं नहीं जाता; सब सपना है, बाकी मैं जाता नहीं, क्यों जायें? अगर तुम्हें दिखाई पड़ गया कि सपना है, तो अब क्या घबड़ाहट? अब तो कमरे के भीतर आ जाओ। नहीं, वह कहता है, सब सपना है, सब समझ में आ गया, मगर जायें क्यों कमरे के भीतर? कमरे के भीतर हम नहीं जाएंगे, हमने कमरे का त्याग कर दिया है।
जनक जैसा ज्ञानी बहुत मुश्किल से मिलेगा। क्योंकि जनक ज्ञान को उपलब्ध हुए, और महल छोड़ा नहीं। यह परम ज्ञानी की दशा है। क्योंकि जब जान ही लिया, तो छोड़ने को कुछ न बचा। जनक ज्ञान को उपलब्ध हो गये, रत्ती भर भी बदलाहट न की। क्योंकि बदलाहट कहां करें? सपना तो गया। अब जो जैसा है, है। अगर ज्ञान के बाद त्याग की चेष्टा चले, तो समझना ज्ञान अभी घटा नहीं। मूढ़ों के सिवाय त्याग कभी कोई करता ही नहीं। ज्ञानी क्यों त्याग करेगा? ज्ञानी का तो बोध-मात्र पर्याप्त है। उसे तो दिखाई पड़ गया कि यह सब मायाजाल है, बस ठीक है! वह उससे आंदोलित नहीं होता न पक्ष में, न विपक्ष में। उस पर इसकी छाया नहीं पड़ती--न तो आकर्षण की, न विकर्षण की।
ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति न तो रागी होता न विरागी। ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति न भोगी हो सकता, न रागी, न त्यागी। क्योंकि भोगी और योगी होने के लिये, भोगी और त्यागी होने के लिये, सपना चाहिये वही। दोनों का सपना एक है। दोनों की मान्यता एक है। एक कहता है धन में सब है, और एक कहता है धन मिट्टी है।
मैंने सुना है, महाराष्ट्र की एक प्राचीन कथा है: रांका और बांका पति- पत्नी थे। रांका पति था, बांका उसकी पत्नी का नाम था। थी भी वह बांकी औरत।
रांका बड़ा त्यागी था। उसने सब छोड़ दिया था। वह भीख भी नहीं मांगता था। वह रोज जा कर जंगल से लकड़ी काट लाता और बेच देता, जो बचता, उससे भोजन कर लेता।
सांझ अगर कुछ बच जाता, तो उसको बांट देता। रात फिर भिखमंगे हो कर सो जाते। सुबह फिर लकड़ी काटने चला जाता।
एक दिन ऐसा हुआ कि वह बीमार था और तीन दिन तक लकड़ी काटने न जा सका। तो तीन दिन घर में चूल्हा न जला। चौथे दिन कमजोर तो था, लेकिन जाना पड़ा। पत्नी भी साथ गई सहारा देने को। लकड़ियां काटीं। रांका अपने सिर पर लकड़ियों का गट्ठा लिये चलने लगा। पीछे-पीछे उसकी पत्नी चलने लगी। राह के किनारे अभी- अभी कोई घुड़सवार निकला है, घोड़े के पदचाप बने हैं, और धूल अभी तक उड़ रही है। और देखा उन्होंने कि किनारे एक अशर्फियों से भरी थैली पड़ी है, शायद घुड़सवार की गिर गई है। रांका आगे है। उसके मन में सोच उठा कि मैं तो हूं त्यागी, मैंने तो विजय पा ली, मेरे लिये तो धन मिट्टी है; मगर पत्नी तो

पत्नी है, कहीं उसका मन न आ जाये, लोभ न आ जाये; कहीं सोचने न लगे रख लो, कभी दुर्दिन में काम आ जायेगी; अब तीन दिन भूखे रहना पड़ा, एक पैसा पास न था। ऐसा सोच कर उसने जल्दी से अशर्फियों से भरी थैली पास के एक गङ्ढे में सरका कर उसके ऊपर मिट्टी डाल दी। वह मिट्टी डाल कर चुक ही रहा था कि पत्नी आ गई। उसने पूछा, क्या करते हो?
तो रांका ने कसम खाई थी झूठ कभी न बोलने की, बड़ी मुश्किल में पड़ गया। कहे, तो डर लगा कि यह पत्नी झंझट न करने लगे; और कहे कि रख लो, हर्ज क्या है, भाग्य ने दी है, भगवान ने दी है, रख लो--कहीं ऐसा न कहने लगे! स्त्री का भरोसा क्या! साधु-संन्यासी स्त्री से सदा डरे रहे। मगर झूठ भी न बोल सका, क्योंकि कमस खा ली थी। तो उसने मजबूरी में कहा कि सुन, मुझे क्षमा कर, और कोई और बात मत उठाना, सत्य कहे देता हूं: यहां थैली पड़ी थी, यह सोच कर कि तेरा लोभ न जग जाये, मैं तो खैर लोभ का त्याग कर चुका, मगर तेरा क्या भरोसा! स्त्री यानी स्त्री। स्त्री का कहीं मोक्ष होता है! जब तक वह पुरुष न हो जाये, तब तक मोक्ष नहीं कहते धर्मशास्त्र--सब धर्मशास्त्र पुरुषों ने लिखे हैं; वहां भी बड़ी राजनीति है--तो तू स्त्री है, कमजोर हृदय की है, रागात्मक तेरी प्रवृत्ति है। तू कहीं उलझ न जाये, इसलिए तेरे को ध्यान में रख कर मैंने ये अशर्फियां मिट्टी में ढक दी हैं और ऊपर से मिट्टी डाल रहा हूं।
रांका की बात सुन कर बांका खूब हंसने लगी। उसे नाम इसीलिए तो बांका मिला। वह कहने लगी, यह भी खूब रही! मिट्टी पर मिट्टी डालते तुम्हें शर्म नहीं आती? और जरूर तुम्हारे भीतर कहीं लोभ बाकी है। जो तुम मुझ में सोचते हो, वह तुम्हारे भीतर कहीं छिपा होगा। जो तुम मुझ पर आरोपित करते हो, वह कहीं तुम्हारे भीतर दबा पड़ा होगा। तुम्हें अभी सोना, सोना दिखाई पड़ता है? तुम्हें अभी भी सोने और मिट्टी में फर्क मालूम होता है?
वह तो रोने लगी, वह तो कहने लगी कि मैं तो सोचती थी कि तुम त्यागी हो गये! यह क्या हुआ, अभी तक धोखा ही चला! तुम मिट्टी पर मिट्टी डाल रहे हो! यह बांका समझती जनक का सूत्र। जनक परम ज्ञान को उपलब्ध हो गये और कुछ
भी न छोड़ा!
भोग और त्याग दोनों ही अज्ञानी के हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।
मेरे पास एक संन्यासी एक दफा मिलने आये। जो उनको साथ ले आये थे मेरे पास तक, उन्होंने कहा कि योगीजी बड़े महात्मा हैं, बड़े पहुंचे हुए हैं! रुपये-पैसे को हाथ भी नहीं लगाते! कोई रुपया-पैसा सामने कर दे, तो इधर मुंह फेर लेते हैं। और इसलिए तो मैं इनके साथ चलता हूं, क्योंकि टिकिट लेनी, टैक्सी का भाड़ा चुकाना, तो पैसे मैं रखता हूं।
मैंने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?"
कहा, "भोगीलाल भाई।"
योगी-भोगी का खूब मेल मिला! "पैसे वस्तुतः किसके हैं?"
"मेरे तो नहीं है," भोगीलाल भाई ने कहा, "क्योंकि मुझे कौन देता है! देते तो लोग स्वामी जी को हैं, रखता मैं हूं। हैं तो स्वामी जी के, अगर सच पूछें तो; क्योंकि मैं कौन हूं, मेरी स्थिति क्या! मैं तो साधारण आदमी हूं। चढ़ाते उनको हैं, सम्हालता मैं हूं। बाकी वे छूते नहीं। वे खड़े योगी हैं।" योगी और भोगी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां तुम योगीलाल भाई को पाओगे वहीं भोगीलाल भाई को भी पाओगे। उन दोनों का एक-दूसरे के बिना चल भी नहीं सकता। असंभव है, क्योंकि सिक्का कहीं एक पहलू का हुआ है? उसमें दोनों पहलू ही चाहिये।
वीतराग पुरुष तो वही है, जिसकी न तो पकड़ अब भोग की है और न योग की है। जिसने जान लिया कि सब सपना है, अब भागना कहां है? न भोगना है, न भागना है। अब तो जो हो उसे देखते रहना है। अब तो साक्षी-भाव में जीना है। ऐसा हो तो ठीक, वैसा हो तो ठीक। महल हो तो ठीक, झोपड़ी हो तो ठीक। कुछ हो तो ठीक, कुछ न हो तो ठीक।
वीतराग चित्त की दशा भोग और त्याग के पार की दशा है। क्योंकि भोग भी
एक सपना है और त्याग भी एक सपना है। दोनों से जो जाग गया, वही साक्षी है।

लेकिन हमारे सोचने के ढंग होते हैं, हमारे सोचने की बंधी हुई व्यवस्थायें होती हैं। हमने जीवन भर धन को बहुत मूल्य दिया, फिर एक दिन हमें दिखाई पड़ा कि धन व्यर्थ है, तो भी हमारे जीवन भर का ढांचा इतनी आसानी से तो नहीं बदलता। तब हम विपरीत ढंग से धन को मूल्य देने लगते हैं। हम कहते हैं, धन व्यर्थ है, हम धन को देखेंगे भी नहीं। पुरानी आदत जारी रही।
मैंने सुना कि मुल्ला नसरुद्दीन एक बार नास्तिक हो गया! और मुसलमान साधारणतः नास्तिक होते नहीं, इतनी हिम्मत मुसलमान जुटा ही नहीं पाते। नास्तिक तो हो गया, लेकिन पुरानी आदत तो नहीं छूटी। मुझे मिलने आया तो मैंने पूछा कि मुल्ला, मैंने सुना, तुम नास्तिक हो गये! चलो अच्छा किया, कुछ तो हुए। अब तुम्हारा सिद्धांत क्या है?
उसने कहा, "मेरा सिद्धांत बिलकुल साफ है। मैंने टांग रखा है अपनी दीवाल पर कि कोई ईश्वर नहीं है, और पैगंबर मुहम्मद उसके पैगंबर हैं।"
कोई ईश्वर नहीं है, और मुहम्मद उसके पैगंबर हैं! वह पुरानी आदत कि एक
ही अल्लाह, और एक ही पैगंबर मुहम्मद! उसमें से आधा तो बदला, उतनी तो हिम्मत जुटाई कि कोई ईश्वर नहीं है, लेकिन पुरानी आदत! अब ईश्वर नहीं है तो भी मुहम्मद तो पैगंबर हैं ही।
हमारी आदतें ऐसी ही चलती हैं। बड़ी सूक्ष्म हैं।
एक मित्र मुल्ला नसरुद्दीन को मिल गया होटल में। तो उसने कहा, यार, एक-
एक पैग हो जाये तो कैसा रहे? मुल्ला ने कहा, नहीं भाई, शुक्रिया, बहुत-बहुत धन्यवाद! नहीं, इसलिए कि एक तो मेरे धर्म में शराब पीने की मनाही है। दूसरे जब मेरी पत्नी मरने को थी, तो मैंने उसके सामने कसम खा ली है कि कभी शराब न पीऊंगा। और तीसरे अभी-अभी मैं घर से पी कर चला आ रहा हूं।
आदमी बिना देखे, बिना द्रष्टा बने, कसमें खाता, व्रत ले लेता, त्याग कर देता, संकल्प बना लेता--उससे क्या होगा? उसके सोचने के ढंग तो नहीं बदलते। उसके सोचने की मौलिक प्रक्रिया तो नहीं बदलती। वह पुराने ही ढांचे में नये सिक्के ढालने लगता है; लेकिन नये सिक्कों पर मोहरें तो पुरानी ही होती हैं, हस्ताक्षर तो पुराने ही होते हैं।
तुम अगर ऐसे ऊपर-ऊपर बदलने में लगे रहे, तो कभी न बदलोगे; यह तुम बदलने
का धोखा दे रहे हो। बदलाहट तो आमूल होती है, जड़मूल से होती है। बदलाहट तो एक झंझावात है, एक क्रांति है, जिसमें तुम्हारा सब उखड़ जाता; जिसमें तुम्हारे देखने, सोचने, विचारने की प्रक्रियाएं समाप्त हो जाती हैं। अभिनव का जन्म होता है। अतीत से तुम्हारा समस्त संबंध विच्छेद हो जाता है। उसमें से कुछ भी तुम बचा कर नहीं लाते--किसी भी बहाने से बचा कर नहीं लाते।
धन में रस था, तो तुम त्यागी बन सकते हो; लेकिन तुम्हारा रस धन में ही रहेगा। यह हो सकता है, फिर तुम लोगों को समझाओ कि बचो कामिनी-कांचन से! कामिनी-कांचन में बड़ा खतरा है! लेकिन तुम चर्चा कामिनी-कांचन की ही करोगे। कभी-कभी शास्त्रों को देख कर बड़ी हैरानी होती है। ऋषि-मुनि निरंतर कामिनी-कांचन की बात करते रहते हैं--बचो कामिनी-कांचन से! ऐसा लगता है, अभी भी डरे हुए हैं, और शायद दूसरों को समझाने के बहाने अपने को समझा रहे हैं। यह बात ही क्या है? ठीक है, समझाने के लिये एकाध बार कह दी, तो ठीक है, मगर यह चौबीस घंटे का राग, कि बचो कामिनी-कांचन से। ऐसा लगता है, पीछे अचेतन में अभी भी कामिनी-कांचन काम कर रहे हैं। अभी भी डरे हुए हैं। अभी भी लगता है, भय है। अभी भी लगता है, अगर यह बात बार-बार न दोहराई, तो खतरा है कि कहीं फिर न पड़ जायें उसी जाल में। तो यह आत्म-सम्मोहन का प्रयोग कर रहे हैं, वे बार-बार दोहरा रहे हैं।
फ्रांस में सम्मोहक हुआ: इमाइल कुए। वह अपने शिष्यों को कहता था कि बस
एक ही बात को रोज सुबह-शाम दोहराओ कि मैं रोज अच्छा हो रहा हूं, स्वस्थ हो रहा हूं--तुम हो जाओगे। ये सारे लोग इमाइल कुए के अनुयायी मालूम होते हैं। तुम दोहराते रहो कि कामिनी-कांचन पाप है, कामिनी-कांचन पाप है। लेकिन तुमने खयाल किया? तुम उसी चीज को पाप कहते हो, जिसमें तुम्हारा रस भी होता है। सच तो यह है कि अगर चीजें पाप न हों तो उनमें रस ही खो जाता है। जिस चीज को पाप बना दो, उसमें रस आने लगता है। कहो कि पाप है तो आकर्षण पैदा होता

है। तुम छोटे से बच्चे को कहो कि वहां मत जाना--बस सारी दुनिया बेकार हुई, अब वहीं जाने में रस मालूम होता है।
ईसाई कथा है कि परमात्मा ने जब बनाया आदम और हव्वा को, तो उसने कहा कि देखो और सब फल तो खाना इस बगीचे के, सिर्फ यह जो बीच में एक वृक्ष लगा है, यह ज्ञान का वृक्ष है, इसका फल मत खाना। फिर मुश्किल हो गई। मुश्किल खुद परमात्मा ने पैदा करवा दी। इतना बड़ा विराट जंगल था, कि अगर आदम-हव्वा को खुद पर छोड़ दिया होता, तो शायद अभी तक भी वे खोज न पाये होते उस वृक्ष को। अनंत! मगर वह परमात्मा का कहना, और तख्ती लगा देना कि यहां इस फल को मत खाना, बस वही बना उत्तेजना का कारण। फिर सारा बगीचा व्यर्थ हो गया। फिर रात सपना भी आदम और हव्वा यही देखते रहे होंगे कि कब, कैसे! आखिर परमात्मा ने मना क्यों किया? जरूर कुछ राज होगा। और तभी तो वह सांप उनको, शैतान उनको भटका सका। उसने कहा कि अरे पागलो! परमात्मा खुद इसका फल खाता है! तुम खाओगे, तुम भी परमात्मा जैसे हो जाओगे। इसलिए तो रोका-र्-ईष्यावश!
अब अगर दुबारा परमात्मा संसार बनाये तो उससे मैं कहना चाहूंगा कि अब
की बार तुम यह कह देना कि इस सांप को मत खाना, बस। आदम-हव्वा सांप को खा जाते, अगर परमात्मा ने कहा होता कि सांप को मत खाना, और सब खाना! शैतान को खा जाते, अगर तख्ती लगा दी होती कि शैतान को छोड़ना, बाकी सब खा जाना। मगर वह तख्ती लगाई थी ज्ञान के वृक्ष पर।
निषेध आमंत्रण बन जाता है। निषेध बड़ा निमंत्रण बन जाता है। कहो, "नहीं"--और प्राणों में कोई छटपटाहट होती है कि करके रहो, देखो, जरूर कुछ होगा। कामिनी-कांचन को संतपुरुष निरंतर भजते हैं कि पाप, बचो, घबड़ाओ! तो सुनने वालों को लगता है कि जरूर कुछ राज होगा, जब महापुरुष इतनी ज्यादा चर्चा करते हैं!
मेरे देखे, अगर दुनिया में धन और काम की निंदा बंद हो जाये, तो धन और काम का जितना प्रभाव है, वह अति शून्य हो जाये, उसका कोई मूल्य न रह जाए। उपयोगिताएं हैं ये। न तो इनको इकट्ठा करने में कोई सार है और न इनको त्यागने में कोई सार है।
तुम जरा सोचो तो अगर जिस चीज को इकट्ठा करने से कुछ नहीं मिलता, उसको छोड़ने से कैसे मिल जायेगा? इकट्ठा करने से संसार नहीं मिलता और छोड़ने से परमात्मा मिल जाएगा? तो त्यागी तो भोगी से भी ज्यादा भ्रांत मालूम होता है। भोगी तो इतना ही कह रहा है कि अगर हम धन इकट्ठा कर लेंगे तो संसार मिल जायेगा। त्यागी इससे भी बड़े भ्रम में है--वह कह रहा है, धन अगर छोड़ देंगे तो परमात्मा मिल जायेगा। लेकिन लगता ऐसा है कि धन से ही सब मिलता है--चाहे संसार, चाहे परमात्मा!
जनक ने कुछ छोड़ा नहीं, और वे महात्याग को उपलब्ध हुए। इस क्रांति के सूत्र को समझो।
"अहो! दुख का मूल द्वैत है, उसकी औषधि कोई नहीं। यह सब दृश्य झूठ है, मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"
यह सूत्र महाक्रांतिकारी है।
"दुख का मूल द्वैत है।"
चीजों को खंडित करके देखना दुख का मूल है। मैं अलग हूं अस्तित्व से, ऐसा मानना दुख का मूल है। जैसे ही तुम मान लो, जान लो--"तुम अलग नहीं हो"-- दुख विसर्जित हो जाता है।
अहंकार दुख है। अहंकार का अर्थ है: हम भिन्न हैं, हम अलग हैं। मैं अकेला हूं, और सारे संसार से मुझे लड़ना है। जीत मुझ पर निर्भर होगी, सारा संसार दुश्मन है। यह सारा अस्तित्व मेरे विरोध में है, मुझे मिटाने को तत्पर है।
तो बड़ी प्रतिस्पर्धा है, बड़ी प्रतियोगिता है। ऐसा व्यक्ति रोज-रोज दुख में पड़ता चला जायेगा। क्योंकि वह जिससे लड़ रहा है, उससे हम अलग नहीं हैं। यह तो ऐसे हुआ कि सागर की एक लहर सागर से लड़ने लगे। तो कष्ट में पड़ जायेगी, पागल हो जायेगी; जल्दी ही तुम उसे किसी मनोवैज्ञानिक के कोच पर लेटा हुआ पाओगे इलाज करवाते। जल्दी ही किसी पागलखाने में कैद पाओगे, अगर कोई लहर सागर से लड़ने लगे।

लहर सागर से कैसे लड़ेगी? लहर तो सागर ही है। सागर ही लहराया है लहर में। हम उस अरूप के रूप हैं। हम उस एक के भिन्न-भिन्न आकार हैं। हम उस अनंत की ही लहरें हैं, तरंगें हैं। हम में वही तरंगायित हुआ है। वही तुम्हारे भीतर सुन रहा है, वही मेरे भीतर बोल रहा है। वही तुम्हारी आंखों से देख रहा है, वही तुम्हारे कानों से सुन रहा है। वही यहां बैठा है। वही बरस रहा बाहर, वही वृक्षों में हरा-भरा है। एक ही है!
जनक कहते हैं, जिसने दो माना, वह भ्रांति में पड़ा, वह दुख में पड़ा। क्योंकि दो मानते ही हिंसा शुरू हो जाती है, संघर्ष शुरू हो जाता है, लड़ाई शुरू हो जाती है। फिर विश्राम कहां!
जिसने एक जाना, फिर लड़ना किससे है? तुम्हारे शत्रु में भी वही है, और
जब मौत आये तुम्हारे द्वार, तो मौत में भी वही आयेगा; उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं। तुम्हारी बीमारी में भी वही है, स्वास्थ्य में भी वही है। जवानी में, बुढ़ापे में भी वही है। सफलता और विफलता में भी वही है। अनेक-अनेक रूपों में वही आता--बस वही आता है, कोई और आने को नहीं है!
ऐसी जिसकी प्रतीति गहन हो जाये, फिर उसे दुख कहां?
द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वं एकोऽहं चिद्रसोऽमलः।।
"दुख का मूल द्वैत, उसकी औषधि कोई नहीं।"
अमरीका के एक बहुत विचारशील व्यक्ति ने, फ्रेंकलिन जोन्स ने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है: नो रेमेडी। औषधि कोई नहीं! इस सूत्र की व्याख्या है पूरी किताब। शायद इस सूत्र का फ्रेंकलिन जोन्स को कोई पता भी नहीं है। लेकिन बस इस एक छोटे-से सूत्र की व्याख्या है: औषधि कोई नहीं--तस्य भेषजम् अन्यत् अस्ति--बस! कोई औषधि नहीं।
इससे तुम थोड़े चौंकोगे भी, घबड़ाओगे भी। क्योंकि तुम बीमार हो और औषधि
की तलाश कर रहे हो। तुम उलझे हो और कोई सुलझाव चाहते हो। तुम परेशानी में हो, तुम कोई हल खोज रहे हो। तुम्हारे पास बड़ी समस्याएं हैं, तुम समाधान की तलाश कर रहे हो। इसलिए तुम मेरे पास आ गये हो। और अष्टावक्र की इस गीता में जनक का उदघोष है कि औषधि कोई नहीं।
इसे समझना। यह बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे महत्वपूर्ण कोई बात खोजनी मुश्किल है। और इसे तुमने समझ लिया तो औषधि मिल गई। औषधि कोई नहीं, यह समझ में आ गया, तो औषधि मिल गई।
जनक यह कह रहे हैं कि बीमारी झूठी है। अब झूठी बीमारी का कोई इलाज होता है? झूठी बीमारी का इलाज करोगे तो और मुश्किल में पड़ोगे। झूठी बीमारी के लिये अगर दवाइयां लेने लगोगे, तो बीमारी तो झूठ थी; लेकिन दवाइयां नयी बीमारियां पैदा कर देंगी। इसलिए पहले ठीक-ठीक निर्णय कर लेना जरूरी है कि बीमारी सच है या झूठ?
एक आदमी के संबंध में मैंने सुना, वह बड़ा परेशान था। उसे एक वहम हो गया
कि रात उसने एक सपना देखा--वह मुंह खोल कर सोता था, बचपन से उसकी खराब आदत पड़ गई थी--रात उसने सपना देखा कि मुंह उसका खुला है, और एक सांप उसमें घुस गया। घबड़ाहट में नींद तो खुल गई, लेकिन जब उसकी नींद खुली, तब भी सपना ऐसा प्रगाढ़ था कि उसने बराबर सांप की पूंछ सरकते देखी--अंतिम पूंछ। वह चीखा भी, चिल्लाया भी, लेकिन तब तक वह कंठ के अंदर उतर गया। अब उसके बड़े इलाज किये गये, एक्सरे लिये गये, दवाइयां दी गयीं। डाक्टर कहें उससे कि कोई सांप नहीं है, क्योंकि एक्सरे में आता नहीं। वह कहे, हम तुम्हारी मानें कि अपनी? वह पेट में चलता है!
अब तुम थोड़ा सोचो उस आदमी को, अगर तुम भी ऐसा विचार करो तो चलने लगेगा। विचार की बड़ी क्षमता है। कल्पना की बड़ी शक्ति है। उसकी कल्पना प्रगाढ़ हो गई। वह बैठ न सके, पेट में दर्द हो; कहीं सांप यहां सरक रहा है, कहीं वहां सरक रहा है! और उसका जीवन बेचैनी से भर गया। वह रात सो न सके। काम-धाम सब बंद हो गया। चिकित्सकों के पास जाये, वे कहें कि सांप हो भीतर तो हम इलाज करें, कुछ है ही नहीं।
संयोग की बात, वह एक सम्मोहनविद के पास गया। उसने कहा कि सांप है। कौन कहता है नहीं है? कहने वाले गलत। एक्सरे गलत होगा। लेकिन सांप है।

उसकी बात सुनते ही वह आदमी आश्वस्त हुआ, उसने कहा कि गुरु मिले! आप की
ही तलाश कर रहा था। मानते ही नहीं लोग। अब मैं मरा जा रहा हूं...।
और उसकी तकलीफ तो सच थी, चाहे सांप झूठ हो। इसे थोड़ा समझ लेना। उसकी तकलीफ तो सच थी, चाहे सांप झूठ हो। सांप झूठ हो या सच हो, इससे क्या फर्क पड़ता है? उसकी तकलीफ तो सच थी। वह दुबला हो गया, सूख कर हड्डी-हड्डी हो गया। उसकी एक ही घबड़ाहट, एक ही बेचैनी, कि इस सांप से कैसे छुटकारा होगा। सब अस्तव्यस्त उसका जीवन हो गया।
लेकिन उस सम्मोहनविद ने कहा, हम हल कर लेंगे। उसने इंतजाम किया। उसने उसकी संडास में एक सांप रखवा दिया। जब वह सुबह जाये मल-विसर्जन को, तो घर के लोगों को कहा कि सांप छोड़ देना। बस बाकी मैं निपटा लूंगा।
जब वह मल-विसर्जन को गया, तो सांप उसने सरकता देखा। नीचे देखा, तो भागा, खुश हो कर बाहर आया। उसने कहा कि देखो, लाओ तुम्हारे एक्सरे! वह डाक्टरों के पास गया, उसने कहा कि देखो, सांप था, निकल गया!
उसी दिन से वह ठीक हो गया।
"कोई औषधि नहीं" का अर्थ यह होता है कि बीमारी झूठ है। इस झूठ बीमारी
को झूठ जान लेने में ही छुटकारा है। अगर बीमारी सच होती तो इलाज हो सकता था। अगर तुम परमात्मा से दूर हो गये होते तो मिलने की कोई व्यवस्था हो सकती थी। तुम दूर हुए नहीं, और तुम सोचते हो कि दूर हो गये। अगर तुमने अपनी आत्मा से संबंध छोड़ दिया होता तो कोई रास्ता बना लेते, कोई सेतु बनता, विज्ञान कोई उपाय खोज लेता कि फिर से कैसे जुड़ा जाये। लेकिन तुम कभी आत्मा से अलग हुए नहीं। तुम जुड़े हो। अगर मछली सागर के बाहर चली गई होती तो हम सागर में वापिस फेंक देते। मछली सागर में है--और चीख-पुकार मचा रही है और तड़प रही है और कहती है कि मुझे सागर में वापस भेजो। मैं तड़प रही हूं इस रेत पर, मेरे प्राण जल रहे हैं।
तो क्या करोगे? एक ही उपाय है कि हम मछली को जगायें कि सागर तेरे चारों तरफ है, तू कभी छूटी नहीं सागर से।
अगर तुम्हें यह बात खयाल में आ जाये, तो परमात्मा को पाने के जितने उपाय हैं, वे झूठी बीमारी को मिटाने की औषधियां हैं। इसलिए मैं कहता हूं, यह वचन महाक्रांतिकारी है। यह वचन यह कह रहा है कि तुम परमात्मा हो, तुम्हें होना नहीं है। तुम्हें उपाय नहीं करना है परमात्मा होने का। सब उपाय व्यर्थ हैं। और जितने तुम उपाय, अनुष्ठान करोगे, उतने ही तुम भटकते रहोगे।
अनुष्ठान बंधन है--इस सूत्र का ठीक-ठीक अर्थ होगा: योग में मत भटकना; उपाय में मत लगना। उपाय तुम्हें दूर ले जायेगा। क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो, उसे कभी खोया नहीं है। अभी मौजूद है। यहीं मौजूद है। इसी क्षण तुम परमात्मा हो। बेशर्त तुम परमात्मा हो! परमात्मा होना तुम्हारा स्वभाव है।
विवेकानंद कहा करते थे, एक सिंहनी गर्भवती थी। वह छलांग लगाती थी एक टीले पर से। छलांग के झटके में उसका बच्चा गर्भ से गिर गया, गर्भपात हो गया। वह तो छलांग लगा कर चली भी गई, लेकिन नीचे से भेड़ों का एक झुंड निकलता था, वह बच्चा भेड़ों में गिर गया। वह बच्चा बच गया। वह भेड़ों में बड़ा हुआ। वह भेड़ों जैसा ही रिरियाता, मिमियाता। वह भेड़ों के बीच ही सरक- सरक कर, घिसट-घिसट कर चलता। उसने भेड़-चाल सीख ली। और कोई उपाय भी न था, क्योंकि बच्चे तो अनुकरण से सीखते हैं। जिनको उसने अपने आस-पास देखा, उन्हीं से उसने अपने जीवन का अर्थ भी समझा, यही मैं हूं। और तो और, आदमी भी कुछ नहीं करता, वह तो सिंह-शावक था, वह तो क्या करता? उसने यही जाना कि मैं भेड़ हूं। अपने को तो सीधा देखने का कोई उपाय नहीं था; दूसरों को देखता था अपने चारों तरफ वैसी ही उसकी मान्यता बन गई, कि मैं भेड़ हूं। वह भेड़ों जैसा डरता। और भेड़ें भी उससे राजी हो गईं; उन्हीं में बड़ा हुआ, तो भेड़ों ने कभी उसकी चिंता नहीं ली। भेड़ें भी उसे भेड़ ही मानतीं।
ऐसे वर्षों बीत गये। वह सिंह बहुत बड़ा हो गया, वह भेड़ों से बहुत ऊपर उठ गया। उसका बड़ा विराट शरीर, लेकिन फिर भी वह चलता भेड़ों के झुंड में। और जरा-सी घबड़ाहट की हालत होती, तो भेड़ें भागतीं, वह भी भागता। उसने कभी जाना

ही नहीं कि वह सिंह है। था तो सिंह, लेकिन भूल गया। सिंह से "न होने" का तो कोई उपाय न था, लेकिन विस्मृति हो गई।
फिर एक दिन ऐसा हुआ कि एक बूढ़े सिंह ने हमला किया भेड़ों के उस झुंड पर।
वह बूढ़ा सिंह तो चौंक गया, वह तो विश्वास ही न कर सका कि एक जवान सिंह, सुंदर, बलशाली, भेड़ों के बीच घसर-पसर भागा जा रहा है, और भेड़ें उससे घबड़ा नहीं रहीं। और इस बूढ़े सिंह को देखकर सब भागे, बेतहाशा भागे, रोते- चिल्लाते भागे। इस बूढ़े सिंह को भूख लगी थी, लेकिन भूख भूल गई। इसे तो यह चमत्कार समझ में न आया कि यह हो क्या रहा है? ऐसा तो कभी न सुना, न आंखों देखा। न कानों सुना, न आंखों देखा; यह हुआ क्या?
वह भागा। उसने भेड़ों की तो फिक्र छोड़ दी, वह सिंह को पकड़ने भागा। बामुश्किल पकड़ पाया: क्योंकि था तो वह भी सिंह; भागता तो सिंह की चाल से था, समझा अपने को भेड़ था। और यह बूढ़ा सिंह था, वह जवान सिंह था। बामुश्किल से पकड़ पाया। जब पकड़ लिया, तो वह रिरियाने लगा, मिमियाने लगा। सिंह ने कहा, अबे चुप! एक सीमा होती है किसी बात की। यह तू कर क्या रहा है? यह तू धोखा किसको दे रहा है?
वह तो घिसट कर भागने लगा। वह तो कहने लगा, क्षमा करो महाराज, मुझे जाने दो! लेकिन वह बूढ़ा सिंह माना नहीं, उसे घसीट कर ले गया नदी के किनारे। नदी के शांत जल में, उसने कहा, जरा झांक कर देख। दोनों ने झांका। उस युवा सिंह ने देखा कि मेरा चेहरा और इस बूढ़े सिंह का चेहरा तो बिलकुल एक जैसा है। बस एक क्षण में क्रांति घट गई। "कोई औषधि नहीं!" हुंकार निकाल गया, गर्जना निकल गई, पहाड़ कंप गये आसपास के! कुछ कहने की जरूरत न रही। कुछ उसे बूढ़े सिंह ने कहा भी नहीं--सदगुरु रहा होगा! दिखा दिया, दर्शन करा दिया। जैसे ही पानी में झलक देखी-- हम तो दोनों एक जैसे हैं--बात भूल गई। वह जो वर्षों तक भेड़ की धारणा थी, वह एक क्षण में टूट गई। उदघोषणा करनी न पड़ी, उदघोषणा हो गई। हुंकार निकल गया। क्रांति घट गई।
ऐसा ही ठीक अष्टावक्र और जनक के बीच हुआ। अष्टावक्र यानी बूढ़ा सिंह। जनक यानी जवान सिंह। पकड़े गये! अष्टावक्र के सत्संग में झलक दिखाई पड़ी। अष्टावक्र की घोषणा में अपने स्वभाव की पहचान हुई।
अब तुम पूछो कि अगर कोई सिंह भेड़ों में खो गया हो, तो उसे वापस सिंह बनाने की औषधि क्या है? औषधि कोई नहीं--नो रेमेडी! उसे कितने ही इंजेक्शन लगाओ, कितना ही वेटेनरी डाक्टर के पास ले जाओ, दवाइयां पिलवाओ--उससे कुछ लाभ न होगा। तुम्हारी दवाइयां, तुम्हारे इंजेक्शन, तुम्हारा वेटेनरी डाक्टर के पास ले जाना, उसे और कमजोर करता जायेगा। तुम्हारी दवाइयां और उसे भ्रांति से भर देंगी कि हूं तो मैं भेड़ ही, देखो इतने उपाय किये जा रहे हैं मुझे सिंह बनाने के, फिर भी कुछ हो नहीं रहा। मैं सिंह तो हो नहीं पा रहा हूं। और अगर मैं सिंह ही था, तो उपाय क्यों किये जाते? जरूर मैं भेड़ हूं, जबर्दस्ती ये लोग सिंह बनाने की चेष्टा कर रहे हैं।
फिर अगर समझा-बुझा कर किसी तरह, तुम इसको यह भी भरोसा दिलवा दो कि तू
रट रोज, सुबह ध्यान कर बैठ कर कि मैं सिंह हूं, मैं सिंह हूं, ऐसा रोज रट-- अहं ब्रह्मास्मि--धीरे-धीरे हो जायेगा। रोज दोहरा कि मैं सिंह होता जा रहा हूं। जैसा कुए कहता है कि रोज मैं स्वस्थ होता जा रहा हूं, सुंदर होता जा रहा हूं। ऐसा अगर यह सिंह वर्षों तक भी कहता रहे, और वर्षों कहने के बाद मान भी ले, तो भी क्या यह सिंह हो जायेगा? यह मान्यता ही रहेगी। यह विचार की पतली पर्त ही रहेगी। मगर उस बूढ़े सिंह ने ठीक किया। उसने इसे कुछ मंत्र नहीं दिया, जपत्तप नहीं दिया। घसीट कर ले गया, एक स्थिति पैदा की, जिसमें इसे अपने स्वभाव की झलक मिल गई।
सदगुरु के सत्संग का इतना ही अर्थ होता है कि वह तुम्हें घसीट कर वहां
ले जाये, जहां तुम उसके चेहरे और अपने चेहरे को मिला कर देख पाओ; जहां तुम उसके भीतर के अंतरतम को, अपने अंतरतम के साथ मिला कर देख पाओ। गर्जना हो जाती है, एक क्षण में हो जाती है।
सत्संग का अर्थ ही यही है कि किसी ऐसे व्यक्ति के पास बैठना, उठना, जिसे अपने स्वरूप का बोध हो गया है; शायद उसके पास बैठते-बैठते संक्रामक

हो जाये बात; शायद उसकी मौजूदगी में, उसकी आंखों में, उसके इशारों में तुम्हारे भीतर सोया हुआ सिंह जाग जाये।
औषधि कोई भी नहीं, उपाय कोई भी नहीं, विधि कोई भी नहीं।
तस्य भेषजम् अन्यत् अस्ति।
न कोई औषधि है, क्योंकि यह सब दृश्य झूठ है। उस सिंह का भेड़ होना झूठ था। वह सारा दृश्य झूठ था। माना था, इसलिए सच मालूम हो रहा था। जिस क्षण जाना, उसी क्षण झूठ हो गया। वह स्वप्नवत था।
"मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"
सुनो इस शब्द को: "मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"
अहो द्वैतमूलम् यत् दुःखम्
--सभी दुख द्वैत से पैदा होते हैं।
तस्य भेषजम् अन्यत् अस्ति
--इस दुख से छुटकारे के लिए कोई औषधि नहीं है।
सतत् सर्वम् दृश्यम् मृषा
--क्योंकि सब झूठ है, सब स्वप्नवत है।
अहं एकः अमलः चिद्रसः
--मैं एक शुद्ध चैतन्य-रस हूं।
यह गर्जना तुम्हारे भीतर उठेगी। इसे तुम पुनरुक्त मत करना। तुम सिर्फ समझना। तुम सिर्फ आंख खोल कर देखना, कान खोल कर सुनना।
अष्टावक्र की गीता में कोई विधि नहीं है--यही उसकी महिमा है। उसमें कोई उपाय नहीं बताया है कि कैसे परमात्मा तक पहुंचो। उसमें तो इतना ही कहा है कि तुमने कभी परमात्मा को खोया नहीं। बस जागो! खोलो आंख, और पहचानो अपने स्वरूप को!
"मैं शुद्ध बोध हूं। मुझसे अज्ञान के कारण उपाधि की कल्पना की गई है।
इस प्रकार नित्य विचार करते हुए मैं निर्विकल्प में स्थित हूं।"
जिस क्षण तुम्हें दिखाई पड़ना शुरू हो जायेगा कि स्थिति क्या है, उस क्षण तुम छोड़ोगे नहीं, कुछ त्यागने को न बचेगा, सारा स्वप्न खो जायेगा, तुम सिर्फ एक अहोभाव से भरे रह जाओगे। अगर तुमने सोच-विचार करके, तर्क से, चिंतन-मनन से अपने को राजी कर लिया कि नहीं, यह सब स्वप्न है--तो इससे कुछ हल न होगा। यह तुम्हारी बौद्धिक धारणा नहीं होनी चाहिए, यह तुम्हारा अस्तित्वगत अनुभव होना चाहिए।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन से उसकी एक पड़ोसी महिला ने कहा, पांच वर्ष पूर्व मेरा पति आलू खरीदने गया था, परंतु आज तक लौटा नहीं, बताइये मैं क्या करूं? मुल्ला ने खूब सोचा, सिर मारा, आंखें बंद कीं, बड़ा ध्यान लगाया-- फिर बोला: ऐसा है, मेरी सलाह मानिये, आप गोभी पका लीजिए। पांच साल हो गये, पति आलू लेने गया था, नहीं लौटा, जाने दीजिये; आप गोभी पका लें, या और कोई सब्जी पका लें।
महिला कुछ पूछ रही है, मुल्ला कुछ उत्तर दे रहा है।
तुम जब किसी से पूछते हो कि मैं दुखी हूं, क्या करूं? तो अष्टावक्र को छोड़ कर जो भी उत्तर दिये गये हैं, वे बस ऐसे हैं कि गोभी पका लीजिये। कोई न कोई उपाय बताया जाता है कि यह उपाय कर लो, इस उपाय से सब ठीक हो जायेगा। उपाय से भ्रांति कटती नहीं।
समझने की कोशिश करें। एक आदमी हिंसक है। वह सुनता है, हिंसा बुरी है, हिंसा पाप! उसके मन में भी भाव उठता है अहिंसक होने का। क्योंकि हिंसा पाप ही नहीं है, हिंसक को दुख भी देती है। जो दूसरे को दुख देना चाहता है, देने के पहले अपने को दुख दे लेता है। जो दूसरे को दुख देता है, वह देने के बाद भी उस दुख को भोगता रहता है। यह असंभव है कि दूसरे को हम दुख दें और खुद दुखी न हो जायें। जो हम देंगे, उसे हमें अपने हृदय में पालना पड़ेगा। और जो हमने दिया है, उसकी पश्चात्ताप की छाया हमें काटती रहेगी।
तो जो आदमी हिंसक है, वह धीरे-धीरे अनुभव कर लेता है कि हिंसा है तो बुरी, लेकिन करूं क्या? अहिंसक कैसे बनूं? वह पूछता है, अहिंसक कैसे बनूं? फिर उसे अहिंसक बनने की विधि बताने वाले लोग हैं। वह हिंसक आदमी उन विधियों का पालन भी करने लगता है, लेकिन उन विधियों के पालन करने से उसकी

हिंसा थोड़े ही मिटती है! वह उन विधियों के पालन करने में ही हिंसक हो जाता है। वह दूसरों के साथ हिंसा बंद कर देता है, अपने साथ शुरू कर देता है। उसकी हिंसक वृत्ति कैसे जायेगी? कल तक वह दूसरों के साथ हिंसा कर रहा था, अब अपने साथ करता है।
मैंने सुना है, एक आदमी बहुत हिंसक था। उसने अपनी पत्नी को धक्का दे दिया, वह कुएं में गिर कर मर गई। उसे बड़ा दुख हुआ। किसी तरह अदालत से तो बच गया, सिद्ध न हो सका; लेकिन उसके प्राणों में बड़ा झंझावात हो गया। उसने कहा, अब बहुत हो गया। गांव में एक जैन मुनि आये थे, वह उनके पास गया। उसने कहा कि महाराज, मुझे मुक्त करो, आप जैन मुनि हैं और अहिंसक! और अहिंसा आपका परम धर्म! मैं हिंसक हूं। मुझे किसी तरह मुक्त करो।
मुनि ने कहा कि तुम मुनि-दीक्षा ले लो। उसने कहा, मैं अभी तैयार हूं, इसी वक्त!
हिंसक आदमी! क्रोधी आदमी कोई भी चीज शीघ्रता से कर लेता है। जो किसी
की हत्या कर दे शीघ्रता से, वह अपनी भी हत्या कर ले शीघ्रता से, कुछ अड़चन नहीं है।
मुनि ने कहा, बहुत लोग आते हैं, लेकिन तुम जैसा संकल्पवान...! वह संकल्प नहीं था, वह तो सिर्फ हिंसक आदमी की वृत्ति है, वह क्षण में कर गुजरता है। फिर पछताता रहे चाहे जिंदगी भर, लेकिन उसकी मूर्च्छा इतनी प्रगाढ़ होती है कि वह कुछ भी करना चाहे तो क्षण में कर लेता है। और चुनौती दे दी। मुनि ने कहा कि तुम फिर मुनि हो जाओ। उसने कहा मैं अभी तैयार हूं। इधर मुनि सोच ही रहे थे कि कपड़े गिरा कर वह नग्न खड़ा हो गया। उसने कहा, कि दें दीक्षा। मुनि ने कहा, बहुत देखे लोग, तुम बड़े तपस्वी हो! बड़े तुम्हारे पुण्यों
का फल है।
वे मुनि हो गये! मुनि ने उनको नाम "शांतिनाथ" दे दिया। अब वे ऐसे अशांतिनाथ थे, मगर मुनि ने नाम शांतिनाथ दे दिया इसी आशा में कि चलो अब ये...। उनकी बड़ी ख्याति हो गई, क्योंकि उन्होंने सब मुनियों को प्रतियोगिता में पछाड़ दिया। कोई दो दिन का उपवास करे, तो वे चार दिन का करें। कोई चार घंटे सोये, तो वे दो घंटे सोयें। कोई छाया में बैठे तो वे धूप में खड़े रहें। पुराने हिंसक! हिंसा का सारा का सारा ढंग अपने पर ही लौटा लिया। हिंसा खुद पर लौटने लगी, आत्महिंसा हो गई। उन्होंने सब को मात कर दिया। वे तो धीरे-धीरे बड़े ख्यातिलब्ध हो गये। दिल्ली पहुंच गये। दूर-दूर से लोग उनके दर्शन करने को आने लगे।
एक पुराने मित्र उनके दर्शन करने को आये। उन्होंने सुना कि वे जो अशांतिनाथ थे, शांतिनाथ हो गये। चलो दर्शन कर आयें, क्रांति हुई! ऐसा मुश्किल है कि शांति हो जाये उनके जीवन में। वहां जा कर पहुंचे तो वे अकड़े बैठे थे। सब चला गया था, सब छोड़ दिया था--लेकिन अकड़! और सब छोड़ने की अकड़ और आंखों में वही हिंसा थी और वही क्रोध था और वही आग जल रही थी! शरीर दुर्बल हो गया था, शरीर सूख गया था! खूब तपश्चर्या की थी, लेकिन भीतर की आग शुद्ध हो कर जल रही थी। देख तो लिया मित्र को, पहचान भी गये, लेकिन अब इतने महातपस्वी, एक साधारण आदमी को कैसे पहचानें! मित्र ने भी देख लिया, पहचान भी गया कि उन्होंने भी पहचान लिया है, लेकिन वे पहचान नहीं रहे हैं, इधर-उधर देखते, देखते ही नहीं उसकी तरफ।
आखिर उस मित्र ने पूछा कि महाराज! बड़ी दूर से दर्शन को आया हूं, आपका नाम क्या है? उन्होंने कहा, "शांतिनाथ! अखबार नहीं पढ़ते? रेडियो नहीं सुनते? टेलीविजन नहीं देखते? सारी दुनिया जानती है। कहां से आ रहे हो?" उसने कहा, "महाराज गांव का गंवार हूं, कुछ ज्यादा जानता-करता नहीं, पढ़ा-लिखा भी ज्यादा नहीं हूं।"
फिर थोड़ी देर ऐसी और बात चलती रही, उस आदमी ने फिर पूछा कि महाराज, नाम भूल गया आपका! महाराज तो भनभना गये। कहा, कह दिया एक दफे कि शांतिनाथ, समझ में नहीं आया? बहरे हो?
वह आदमी बोला कि नहीं महाराज, जरा बुद्धि मेरी कमजोर है।
मगर शांतिनाथ का असली रूप प्रगट होने लगा। वह फिर थोड़ी देर बैठा रहा
और उसने फिर पूछा कि महाराज, नाम भूल गया। तो वह जो उन्होंने पिच्छी रख

छोड़ी थी--जैन मुनि रखते हैं पिच्छी--उठा कर उसके सिर पर दे मारी बोले, हजार दफे समझा दिया तू ऐसे नहीं समझेगा! शांतिनाथ...!
उसने कहा, "महाराज बिलकुल समझ गया, अब कभी नहीं भूलेगा। इतना ही हम जानना चाहते थे कि कुछ फर्क हुआ कि नहीं हुआ? आप बिलकुल वही हैं।"
फर्क इतना आसान नहीं। अगर ऊपर-ऊपर से विधि और व्यवस्थायें की जायें
तो फर्क होता ही नहीं; दिखाई पड़ता है।
इसलिए मैं इस सूत्र को महाक्रांति का सूत्र कहता हूं। तुम औषधियों में मत पड़ना। जागो! जागने के उपाय करने की जरूरत नहीं है। जागने के उपाय करना, सोने की तरकीबें खोजना है। जागना है तो अभी और यहीं। या तो अभी या कभी नहीं। कल पर मत छोड़ो। विधि का तो मतलब यह होता है: कल पर छोड़ दिया, स्थगित कर दिया। सुन ली बात, ठीक है, अब साधेंगे; जन्म-जन्म लगते हैं, तब कहीं मिलता है।
यही तो तरकीब है।
जनक का वचन है: अहो! दुख का मूल द्वैत है! उसकी औषधि कोई नहीं। क्योंकि मूलतः तुम दो नहीं हुए हो, इसलिए औषधि की कोई जरूरत नहीं है। टूटे नहीं, इसलिए जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम जुड़े ही हो। सिर्फ देखो, जागो, पहचानो। अलग हो कैसे सकते हो जीवन से? अस्तित्व से भिन्न हो कैसे सकते हो? श्वास-श्वास जुड़ी है।
तुम कभी देखते नहीं, जीवन का जोड़ कैसा रसपूर्ण है। रस बह रहा है सबके भीतर; एक-दूसरे में बदलता जा रहा है। जो श्वास अभी मेरे भीतर है, क्षण भर बाद तुम्हारे भीतर हो जाती है। फिर भी तुम नहीं देखते। क्षण भर पहले मैं कहता था, मेरी श्वास, क्षण भर बाद तुम्हारी हो गई। तो हम और तुम बहुत अलग नहीं हो सकते। क्षण भर पहले जो तुम्हारी श्वास थी, अब मेरी हो गई, तो हम और तुम बहुत अलग नहीं हो सकते। यह श्वास का धागा जोड़े हुए है। मैं अगर कहूं कि मैं तो अपनी ही श्वास से जीऊंगा, हर किसी की ऐसी बासी और उधार श्वास नहीं लूंगा--तो मर जाऊंगा। मैं कहूं कि न हम दूसरों के जूते पहनते न दूसरों के कपड़े, दूसरों की श्वास कैसे ले सकते हैं--तो यह सारी हवा दूसरों की श्वास है। यह हजारों नासापुटों में जा रही, आ रही। और ध्यान रखना, आदमियों की ही नहीं है इसमें सम्मिलित; पशु, पक्षी, गधे, घोड़े, सब; वृक्ष भी श्वास ले रहे, छोड़ रहे। हम सब जुड़े हैं। देखो तुम, प्राण का यह सागर, उसमें हम सब जुड़े हैं।
अभी नाशपाती का फल लगा, या आम लगा, या सेव लगा, वृक्ष पर लगा, इसे तुम खा जाओ--जो रसधार नाशपाती में बहती थी, चौबीस घंटे भर बाद तुम्हारा खून हो जायेगी, तुम्हारी हड्डी बनने लगेगी, तुम्हारी मज्जा हो जायेगी, तुम्हारा मस्तिष्क बन जायेगी। फिर एक दिन तुम मरोगे, फिर तुम खाद बन जाओगे; फिर कोई वृक्ष तुममें से रस ले लेगा, फिर फल बन जायेगा। तुम जब वृक्ष से एक नाशपाती को तोड़ कर ला रहे हो, तो ऐसा मत सोचना, सिर्फ नाशपाती है, तुम्हारे बाप-दादे उसमें हो सकते हैं। क्योंकि सभी जमीन में गिर जाते हैं, फिर जमीन में मिल जाते हैं, सब खाद बन जाते हैं, फिर फल बनते हैं। वृक्ष आदमियों में उतरते रहते हैं, आदमी वृक्षों में उतरते रहते हैं। एक वर्तुल है। एक वर्तुल घूम रहा है। जो चांदत्तारों में है वह तुम्हारे शरीर में आ जाता है; जो तुम्हारे शरीर में है, वह चांदत्तारों में चला जाता है।
हम सब जुड़े हैं। हम पृथक नहीं हैं। हम पृथक हो नहीं सकते। हम सब परस्पर निर्भर हैं। न तो कोई परतंत्र है और न कोई स्वतंत्र है। हमारे जीवन की स्थिति को ठीक नाम अगर देना हो तो वह है "परस्परत्तंत्रता"। इंटरडिपेंडेंस!
हम एक-दूसरे से जुड़े हैं। जैसे लहरें जुड़ी हैं, ऐसे हम जुड़े हैं। इस जोड़ के प्रति जागो!
"औषधि कोई भी नहीं है।"
और औषधियां बड़ी उलझन लाती हैं। कामवासना से थक गये, परेशान हो गये, तो ब्रह्मचर्य की औषधि मिल जाती है, कि चलो ब्रह्मचर्य साधो। फिर तुम ब्रह्मचर्य थोपने लगते हो। फिर जबर्दस्ती थोपा हुआ ब्रह्मचर्य और नई उलझनें लाता है। फिर तुम्हारा चित्त और भी काम-विकार से ग्रस्त हो जाता

है। जिसे तुमने बाहर से रोक दिया, फिर वह भीतर चलने लगता है, घाव बन जाता है। इन घावों से सावधान रहना। ये घाव बना-बना कर ही तुम रुग्ण और बीमार हो गये हो।
जीवन को सहज स्वीकार करो। जीवन जैसा है, उससे अन्यथा होने की चेष्टा
भी मत करो। जीवन जैसा है, ऐसा ही परमात्मा ने चाहा है। तुम इस चाह में अपने को विसर्जित कर दो। तुम कह दो: "तेरी मर्जी पूरी हो!" तुम अपनी मर्जी बीच में मत लाओ। तुम कहो: जो तू दिखायेगा, देखेंगे। जैसा तू चलायेगा, चलेंगे। जहां तू पहुंचायेगा, पहुंचेंगे। तू डुबायेगा मंझधार में, तो वही हमारा किनारा! पहुंचा देगा तो पहुंच जायेंगे; नहीं पहुंचायेगा, तो भी पहुंच गये-- क्योंकि हम तेरे ऊपर छोड़ते हैं!
समर्पण की यह दशा, तुम्हें एकदम निर्भार कर जायेगी। इसको अष्टावक्र
ने कहा है: चित्त की आंतरिक स्थिति में विश्राम! चैतन्य में विश्राम! फिर कहीं जाना नहीं, कुछ होना नहीं, कुछ बनना नहीं। ये सब अहंकार के ही खेल हैं। तुम कहते हो, यह बन कर रहूंगा...! किसी को सिकंदर बनना है, किसी को बुद्ध बनना है, किसी को महावीर बनना है--लेकिन बनने का पागलपन है! तुम हो ही, इससे बेहतर कुछ हो नहीं सकता। पूर्ण तुममें विराजमान है। तुम लाख उपाय करो, तो तुम पूर्ण से नीचे नहीं गिर सकते, क्योंकि पूर्ण तुम्हारा स्वभाव है। तुम कितने ही पाप करो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; तुम्हारी पूर्णता अकलुषित रह जाती है। तुम निरंजन हो। तुम्हारे अशुद्ध होने का कोई उपाय नहीं है। इस सत्य में अपने को समर्पित कर देते ही, क्षण भर में क्रांति घटित हो जाती है।
"अहो! दुख का मूल द्वैत है। उसकी औषधि कोई नहीं। यह सब दृश्य झूठ है। मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"
उस रस को पहचानो। वही रस सब में बह रहा है--कहीं वृक्षों में हरा हो कर, कहीं पक्षियों में गुनगुनाहट हो कर! वही रस मुझसे बोल रहा है, वही रस तुम में सुनने चला आया है। हम उस एक ही महत रस की तरंगें हैं। फिर कहां जाना, फिर क्या होना? फिर न कोई भविष्य है, न कोई लक्ष्य; न जीवन में फिर कोई प्रयोजन है। फिर जीवन तो एक महोत्सव है। यह प्रतिपल चल रहा नृत्य, इसमें सम्मिलित हो जाओ। इससे झगड़ो मत। इसमें व्यर्थ तनाव मत खड़े करो। छोड़ दो अपने को इस बहाव में--यह गंगा जा रही है सागर!
मैंने सुना है, एक सम्राट आता था, उसने राह में एक भिखारी को देखा चलते, गठरी रखे सिर पर। दया आ गई। कह दिया भिखारी को कि तू भी आ कर बैठ जा रथ में। कहां जाना है, उतार देंगे।
भिखारी पहले तो बहुत सकुचाया, सम्राट का रथ, स्वर्ण-रथ! लेकिन इंकार करना भी कठिन था; सम्राटों की बात इंकार नहीं की जाती। चढ़ गया रथ पर, सिकुड़ कर बैठ गया; लेकिन पोटली सिर पर रखे था, सो रखे ही रहा। सम्राट ने कहा, अरे पागल! अब पोटली तो नीचे रख दे। उसने कहा कि नहीं मालिक, मुझको बिठाया, यही क्या कम है! अब और पोटली का बोझ भी आपके रथ पर रखूं? नहीं, नहीं!
अब तुम जब खुद ही चढ़ बैठे हो रथ पर तो पोटली तुम सिर पर रखो कि नीचे रखो, क्या फर्क पड़ता है? वजन तो रथ पर ही है।
यह जो विराट का रथ चल रहा है, इसमें तुम नाहक ही पोटली सिर पर रखे बैठे हो। तुम कहते हो कि नहीं महाराज, आपने बिठा लिया, इतना ही बहुत! पोटली भी आप पर रखें--नहीं, नहीं।
लेकिन तुम हर क्षण परमात्मा में ही हो। सारा बोझ उसका है। तुम नाहक बीच में यह पोटली बांधे बैठे हो। यह पोटली है अहंकार की। यह पोटली है भ्रांति की। यह पोटली है द्वैत की, द्वंद्व की यह पोटली है संघर्ष की। इसे रखो, करो समर्पण, और बह चलो! बहाव धर्म है। समर्पण धर्म की संक्रांति है।
"मैं शुद्ध बोध हूं, मुझसे अज्ञान के कारण उपाधि की कल्पना की गई है।
इस प्रकार नित्य विचार करते हुए मैं निर्विकल्प में स्थित हूं।"
संस्कृत में जो शब्द है "विमर्श", उसका ठीक अर्थ विचार नहीं होता।
अहम् बोध मात्रः।
मैं केवल बोध-मात्र हूं, होश-मात्र हूं, होश मेरा स्वभाव है। शेष सब स्वप्नवत है।

मया अज्ञानात् उपाधि कल्पितः।
और शेष सब मेरी कल्पना के कारण पैदा हुआ है।
एवम् नित्यम् विमर्श्यतः मम स्थिति निर्विकल्पे।
और मेरा विमर्श...।
"विमर्श" शब्द समझने जैसा है। अंग्रेजी में एक शब्द है "रिफ्लैक्शन",
वह ठीक अर्थ है विमर्श का। विचार का तो अर्थ होता है, तुम्हें पता नहीं, और तुम सोचते हो। तुम कहते हो, हम विचार करते हैं। विमर्श का अर्थ होता है, जैसे दर्पण में प्रतिबिंब बनता है। दर्पण सोचता थोड़े ही है! जब तुम सामने आये, तो सोचता थोड़े ही है, कि देखें कौन है, आदमी है कि औरत? सुंदर है कि असुंदर? फिर वैसा ही रूप बता दें। न, दर्शन दर्पण में सिर्फ प्रगट होता है, तुम्हारी छवि बन जाती है। रिफ्लैक्शन, विमर्श!
जनक कहते हैं: इस प्रकार नित्य विमर्श करते हुए, इस प्रकार नित्य क्षण-क्षण इस शाश्वत एकता को देखते हुए, यह हृदय के दर्पण में बनते प्रतिबिंब को निहारते हुए, मैं निर्विकल्प चित्त-दशा में स्थित हूं। शुद्ध बोध हूं। जो हुआ, सब मेरी कल्पना से हुआ। जो हुआ, सब मेरी कल्पना का खेल है।
कल्पना मनुष्य की शक्ति है। पूरब के शास्त्र कहते हैं कि कल्पना परमात्मा की शक्ति है। कल्पना का ही दूसरा नाम माया। माया अर्थात परमात्मा ने कल्पना की है। परमात्मा की ही कल्पना का परिणाम है यह विराट विश्व। और आदमी जो कल्पना करता है, उसका परिणाम है हम सबकी छोटी-छोटी दुनियाएं। हर आदमी अपनी-अपनी दुनिया में रहता है--अपनी-अपनी दुनिया में बंद।
तुम ऐसा मत सोचना कि हम सब एक ही दुनिया में रहते हैं! जितने आदमी हैं यहां, उतनी दुनियाएं एक साथ। इसलिए तो दो आदमी मिलते हैं, तो टकराहट होती है। दो दुनियाएं टक्कर खाती हैं। कठिन हो जाता है। अकेले-अकेले सब ठीक चलता है; दूसरे के साथ जुड़े कि अड़चन हुई। क्योंकि दो दुनियाएं, दो ढंग, दो विचार की शैलियां, एक-दूसरे के साथ संघर्ष करने लगती हैं। हमारी कल्पना ही हमारी दुनिया बन जाती है।
कल्पना की शक्ति बड़ी है। कल्पना का अर्थ है, जो हम सोचते हैं, वैसा होने लगता है। जो हम सोचते हैं, उसके परिणाम बनने लगते हैं; उसके चित्र उभरने लगते हैं।
ठीक कल्पना वैसी है जैसी स्वप्न की शक्ति है। रात कुछ भी तो नहीं होता, परदा भी नहीं होता। रात सपने में तुम्हीं अभिनेता होते हो, तुम्हीं दिग्दर्शक होते हो, तुम्हीं कथाकार, तुम्हीं मंच, तुम्हीं दर्शक--सभी कुछ तुम्हीं होते हो। फिर भी एक पूरा खेल बन जाता है। थोड़ा सोचो!
मैं एक महिला को देखने गया था, वह नौ महीने से बेहोश है, कोमा में है।
और डाक्टर कहते हैं, वह कोई तीन-चार साल भी रह सकती है इस अवस्था में। उसका बेटा भी वहां मौजूद था। वह मुझसे पूछने लगा कि एक बात मुझे आपसे पूछनी है-- मैं सभी से पूछता हूं, कोई उत्तर नहीं देता--अगर मेरी मां सपना देख रही हो तो नौ महीने तक उसको पता ही न चला होगा कि यह सपना है। बात तो उसने बड़ी गहरी पूछी। यह महिला जो नौ महीने से बेहोश है, वह बेटा पूछता है कि अगर यह सपना देख रही होगी, तो हम तो रोज सुबह उठ आते हैं तो पता चल जाता है कि अरे, सपना था; यह तो उठती नहीं। यह नौ महीने से सपना चल रहा होगा, तो देख ही रही होगी सपना और मान रही होगी कि सच है। नौ महीने में इसको एक क्षण भी खयाल नहीं आया होगा कि यह सपना है। बात तो ठीक है।
सच तो यह है कि जब हम आंख खोल लेते हैं, तब भी सपना बंद नहीं होता; सपना
तो भीतर चलता ही जाता है। इसलिए कभी भी तुम आंख बंद करो, भीतर थोड़ा खोजो, तुम पाओगे कि सपना चल रहा है। दिवास्वप्न शुरू हो जाता है।
जैसे दिन को सूरज निकलता है, आकाश के तारे खो जाते हैं--क्या तुम सोचते
हो कहीं चले जाते हैं? जाएंगे कहां? जहां हैं, वहीं हैं। सिर्फ दिन की रोशनी में ढंक जाते हैं। रात सूरज विदा हो जाता है, फिर तारे प्रगट होने लगते हैं। तारे तो वहीं के वहीं हैं, सिर्फ सूरज की रोशनी में ढंक जाते हैं; रोशनी खो जाती है, फिर प्रगट हो जाते हैं। ऐसे ही तुम्हारे सपने की

धारा तो चल ही रही है। जब तुम आंख खोलते हो, तो दुनिया के काम-धाम में भूल जाते हो, भीतर धारा चलती रहती है; फिर आंख बंद की--कभी करके देख लो, आराम कुर्सी पर बैठ जाओ, आंख बंद कर लो--थोड़ी देर में तुम पाओगे: सपना चल रहा है, इलेक्शन लड़ रहे, जीत भी गये, प्रधानमंत्री हो गये। और इतना ही नहीं, प्रधानमंत्री हो कर जिन-जिन को तुम्हें मारना है उनका सफाया भी कर दिया; जिन-जिन को जेल भेजना है, उनको जेल भी भेज दिया; और जिन-जिन को तुम्हें मंत्री बनाना है, उनको मंत्री भी बना लिया। तभी पत्नी आ गई चाय ले कर कि यह चाय तैयार है, चौंक कर तुम बैठ गये, अपनी चाय पीने लगे। तब तुमको समझ में आया कि अरे, कहां खो गये थे! जागे-जागे भी सपने की धारा भीतर बह रही है। तुमने शेखचिल्ली की कहानियां पढ़ी होंगी। वे सब तुम्हारी कहानियां हैं। वे आदमी की कहानियां हैं। हम सब शेखचिल्ली हैं, जब हम कल्पना में पड़े होते हैं। जब तक कल्पना पूरी समाप्त न हो जाये, तब तक शेखचिल्लीपन समाप्त नहीं होता।
ऐसा हुआ कि पंडित जवाहरलाल नेहरू एक पागलखाने गये, देखने। उस गांव में गये थे तो पागलखाना देखने गये। अब ऐसा अक्सर होता है, जब चर्चिल ताकत में था, तो इंग्लैंड के पागलखानों में कम से कम चार-पांच आदमी बंद थे जो अपने को चर्चिल मानते थे। ऐसा नेहरू के साथ भी था। जब नेहरू यहां जिंदा थे, तो हिंदुस्तान के पागलखानों में कोई दस-बारह आदमी थे, जो अपने को पंडित नेहरू मानते थे।
उस पागलखाने में भी एक आदमी था, जो बिलकुल ठीक हो गया था, उसी दिन विदा
हो रहा था। तो पागलखाने के अधिकारियों ने कहा कि पंडित नेहरू आते हैं, उन्हीं के हाथ से इसको छुटकारा दिला देंगे। वह आदमी लाया गया। पंडित नेहरू ने पूछा कि कभी कोई ठीक भी होते हैं? उन्होंने कहा, आज ही एक आदमी आपके हाथों से विदा करने को रोक रखा है। वह आदमी आया, पंडित नेहरू ने उसे फूल भेंट किये, और कहा कि स्वागत कि तुम ठीक हो गये। उस आदमी ने देखा पंडित नेहरू की तरफ, पूछा, "आपका नाम?"
उन्होंने कहा, मेरा नाम पंडित जवाहरलाल नेहरू है।
उसने कहा, घबड़ाओ मत अगर तीन साल रह गये यहां, तुम भी ठीक हो जाओगे। यही बीमारी मुझे भी थी। मगर इन डाक्टरों की कृपा, ठीक कर दिया।
वह आदमी, पंडित जवाहरलाल नेहरू अपने को समझता था।
तुम हंसते हो, लेकिन तुमने जो अपने को समझा है, वह इससे बहुत भिन्न नहीं है। वह जरा हिम्मतवर रहा होगा तो उसने अपने को पंडित जवाहरलाल नेहरू समझ लिया। तुम उतने हिम्मतवर नहीं हो, या किसी से कहते नहीं; मन में तो समझते ही हो। मगर हर आदमी कुछ अपने को समझ रहा है, कल्पना को पोषित कर रहा है। यह कल्पना का जाल गिर जाये तो धर्म का आविर्भाव होता है।
"मेरा बंध या मोक्ष नहीं है। आश्रय-रहित हो कर, भ्रांति शांत हो गई है। आश्चर्य है कि मुझमें स्थित हुआ जगत, वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है।" न मे बंधोऽस्ति मोक्षो वा भ्रांतिः शांता निराश्रया।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।
मे बंधः वा मोक्षः न अस्ति
--मेरा बंध या मोक्ष नहीं है।
सुनो! कैसी अदभुत बात जनक कह रहे हैं: "न मेरा बंधन है, न मेरा मोक्ष है!"
तुमने यह तो सुना कि बंधन है संसार। छोड़ो बंधन! बंधन से मोक्ष की खोज करो। लेकिन सुना तुमने, जनक क्या कह रहे हैं? वे कह रहे हैं, न मेरा बंधन है, न मोक्ष!
ऐसी चित्तदशा का नाम ही मोक्ष है, जहां तुम्हें पता चलता है: न बंधन है
न मोक्ष। बंधन भी कल्पित थे, तो मोक्ष भी कल्पित है।
कथा है जीसस के जीवन में कि वे एक गांव में आये, और उन्होंने एक वृक्ष
के नीचे कुछ लोगों को बड़े उदास देखा, बड़े परेशान देखा, बड़े दीन, दुर्बल! उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या हुआ? तुम पर कौन-सी विपदा आ गई?" उन लोगों ने कहा, "विपदा हम पर बड़ी आई। हम लोग बहुत घबड़ा गये हैं, हमने बड़े पाप किये हैं। और हम नर्क से डर रहे हैं, हम थर-थर कांप रहे हैं।"

अब मुसलमानों का नर्क खतरनाक तो होने ही वाला है। अगर नर्क जाओ, तो हिंदुओं का चुनना, वहां थोड़ी अस्तव्यस्तता रहेगी, मुसलमानों का मत चुनना। अगर वहां कोई चुनाव हो तो भारतीयों का चुन लेना, जर्मन या इस तरह के लोगों का नर्क मत चुन लेना; क्योंकि वहां बड़ी चुस्ती है, वहां सब नियम की पाबंदी है। वहां रिश्वत भी नहीं चलेगी, कि जरा रिश्वत दे दी, और आग से जरा बच गये, कि जरा ठंडी आग में डलवा लिया अपने को। कुछ न चलेगा वहां। अब मुसलमानों का नर्क! वे तो ठीक से सतायेंगे; छोड़ेंगे नहीं। वे तो बड़े धार्मिक रूप से सतायेंगे।
उन्होंने कहा, हम बड़े घबड़ा गये हैं। पाप बहुत किये हैं, हम घबड़ा रहे हैं, हम कंप रहे हैं। और मरने का दिन करीब आ रहा है, दोजख में पड़ेंगे, नर्क में सड़ेंगे। तो हमें चैन नहीं है।
जीसस और आगे बढ़े, एक वृक्ष के नीचे उन्होंने और लोगों को बैठे देखा।
वे बड़े आशा से भरे बैठे थे। लेकिन आशा में भी भय था। और उन्होंने बड़ी तपश्चर्या की थी, उपवास किये थे, धूप में शरीर को गलाया-सताया था, सूखे, हड्डियां हो गये थे। उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या हुआ? तुम पर कौन-सी विपदा पड़ी?"
उन्होंने कहा, हम स्वर्ग की तैयारी कर रहे हैं। नर्क का भय है तो हम स्वर्ग की तैयारी कर रहे हैं। हम पुण्य-अर्जन कर रहे हैं। मगर फिर भी डर लगता है, कहीं चूक तो न जायेंगे! सब दांव पर लगा दिया है, जीवन दांव पर लगा दिया है; लेकिन स्वर्ग ले कर रहेंगे, बहिश्त में पहुंच कर रहेंगे। मगर उसी चिंता में हम परेशान भी हैं, तनाव भी मन में बना है।
जीसस और आगे बढ़े। उन्होंने एक तीसरे वृक्ष के नीचे कुछ लोगों को बैठे देखा, जो बड़े मस्त थे। उनकी हालत बिलकुल अलग थी। न तो नर्क से घबड़ाये जैसे लोग वैसे भी न थे; स्वर्ग के लोभ से भरे लोग, वैसे भी न थे। वे बड़े मस्त थे। वे गीत गुनगुना रहे थे, नाच रहे थे, आनंद-मग्न थे। उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या हुआ? तुम बड़े खुश हो! तुम पर कोई विपत्ति नहीं आई?" उन्होंने कहा कि नहीं, क्योंकि हमने जान लिया कि न स्वर्र्ग है न नर्क है। सब मन का खेल है। दुख-सुख दोनों ही मन की धारणायें हैं। दुख का आत्यंतिक रूप नर्क है; सुख का आत्यंतिक रूप स्वर्ग है। सुख-दुख दोनों मन में हैं, स्वर्ग-नर्क भी दोनों मन में हैं। ऐसा जो जान लेता है कि सभी द्वंद्व मन में हैं, वही मुक्त है।
इस मुक्ति की आखिरी घोषणा जनक करते हैं: मेरा बंध या मोक्ष नहीं है। बंधन भी झूठे हैं, तो मोक्ष कैसा? बंधन हैं ही नहीं, तो मोक्ष कैसा? दोनों असत्य हैं।
"आश्रय-रहित हो कर भ्रांति शांत हो गई है।"
अब मेरा कोई आश्रय नहीं है। अब मैं किसी आशा के सहारे नहीं जी रहा। और
जब आशा नहीं है तो निराशा नहीं होती।
"आश्रय-रहित होकर भ्रांति शांत हो गई है। आश्चर्य है कि मुझमें स्थित हुआ जगत वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है।"
यह आश्चर्य की बात है कि सारा जगत है, फिर भी मैं अकलुषित, फिर भी मैं निरंजन, फिर भी मैं पार हूं!
एक बौद्ध कथा है, दो भिक्षु एक नदी से पार होते थे कि बूढ़े भिक्षु ने देखा कि एक युवती नदी पार करना चाहती है, तो वह घबड़ा गया। नदी गहरी है, शायद युवती कहे कि मेरा हाथ सम्हाल लो। वह अनजान मालूम होती है। सुंदर युवती है! वह उसके पास से निकला, युवती ने कहा भी कि मुझे नदी के पार जाना है, क्या आप मुझे सहारा देंगे? उसने कहा, मुझे क्षमा करो, मैं भिक्षु हूं, स्त्री को मैं छूता नहीं! और उसके हाथ-पैर कंप गये और वह भागा तेजी से नदी पार कर गया। बूढ़ा आदमी! बहुत दिन का दबाया हुआ काम, भीतर फुफकार मारने लगा वह; यह खयाल ही कि स्त्री का हाथ पकड़ ले, सपनों को जन्म देने लगा। वह तो नदी पार कर गया घबड़ाहट में। सोचा, भगवान को धन्यवाद दिया कि चलो बचे, एक झंझट आती थी, एक गङ्ढे में गिरने से बचे! तब पीछे लौट कर देखा तो बड़ा हैरान हो गया। हैरान भी हुआ, थोड़ार् ईष्या से भी भरा, थोड़ी जलन भी पैदा हुई। वह जो युवा संन्यासी पीछे आ रहा था, वह लड़की को कंधे पर बिठा कर नदी पार करवा रहा है।

कंधे पर बिठा कर! हाथ पकड़ना भी एक बात थी, स्पर्श भी वर्जित है, और मैं तो बूढ़ा हूं, और यह जवान है, और यह अभी नया-नया दीक्षित हुआ है! और यह क्या पाप हो रहा है?
फिर दो मील तक दोनों चलते रहे। आश्रम पहुंचने के पहले तक बूढ़ा फिर बोला नहीं, बहुत नाराज था, आगबबूला था। नाराजगी मेंर् ईष्या भी थी, नाराजगी में रस भी था, क्रोध भी था, अपने को ऊंचा और धार्मिक मानने की अस्मिता भी थी; और इसको निकृष्ट और अधार्मिक मानने का भाव भी था। सभी कुछ मिश्रित था। सीढ़ियां जब वे चढ़ने लगे आश्रम की, तब बूढ़े से न रहा गया; उसने कहा कि सुनो मुझे गुरु से जा कर कहना ही पड़ेगा, क्योंकि यह तो नियम का उल्लंघन हुआ है। और तुम युवा हो, और तुमने स्त्री को कंधे पर बिठाया, स्त्री सुंदर भी थी!
उस युवा ने कहा, आप भी आश्चर्य की बात कर रहे हैं। मैं तो उस स्त्री को नदी के किनारे उतार भी आया, क्या आप उसे अब भी अपने कंधे पर लिये हुए हैं? अब भी! आप भूले नहीं? दो मील पीछे की बात, आप अभी खींचे लिये जा रहे हैं? ध्यान रखना, यह संसार, है तुम्हारे पास, तुम में स्थित, तुम इसमें स्थित; मगर ऐसा भी जीने का ढंग है कि न तुम संसार को छुओ, न संसार तुम्हें छू पाये। तुम ऐसे गुजर जाओ, अस्पर्शित, क्वांरे के क्वांरे। यह कालख तुम्हें लगे न। ऐसे गुजरने का ढंग है--उस ढंग का नाम ही साक्षी है।
"शरीर सहित यह जगत कुछ नहीं है--अर्थात न सत है और न असत है और आत्मा शुद्ध चैतन्य-मात्र है। ऐसा निश्चय जान कर अब किस पर कल्पना को खड़ा करें?" अब कहां अपनी कल्पना को रोपें? सब आश्रय गिर गये। न सुख की कोई कामना है, और न दुख का कोई भय है। न कुछ होना है, न कुछ बचना है। न कहीं जाना है, न कुछ बनना है। सब आश्रय गिर गये, अब कल्पना को कहां खड़ा करें?
कुछ लोग धन पर कल्पना को खड़ा किये हुए हैं--वह उनका आश्रय है। वे हमेशा
धन ही गिनते रहते हैं। वे नींद में भी रुपये गिनते रहते हैं। रुपये की खनकार ही एकमात्र संगीत है, जिसे वे संगीत मानते हैं।
कुछ लोग हैं पद के दीवाने; वह बस उनकी कुर्सी ऊपर उठती जाये, इसकी ही फिक्र में लगे हैं। बड़ी से बड़ी कुर्सी पर बैठ जायें, चाहे फांसी क्यों न लगे बड़ी कुर्सी पर, कोई हर्जा नहीं, मगर कुर्सी बड़ी होनी चाहिए। वह उनका आश्रय है।
फिर कुछ लोग हैं, जो स्वर्ग की कामना कर रहे हैं, कि स्वर्ग में बैठेंगे, यहां क्या रखा है? यहां की कुर्सियां आज मिलती हैं, कल छिन जाती हैं, यहां बैठने में क्या सार है? बैठेंगे स्वर्ग में, वहां कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर भोगेंगे दिल खोल कर। फिर समय का कोई बंधन नहीं, सीमा नहीं है। मगर ये सब आश्रय हैं मन के।
"ऐसा निश्चय जान कर अब किस पर कल्पना को खड़ा करें?"
"यह शरीर, स्वर्ग, नर्क, बंध, मोक्ष और भय भी कल्पनामात्र हैं। मुझे उनसे क्या करना है? मैं तो शुद्ध चैतन्य हूं।"
खूब जागरण की घटना घटी जनक को। अष्टावक्र की मौजूदगी में विमर्श पैदा हुआ। अष्टावक्र के दर्पण में जनक ने अपना चेहरा देखा, उसे आत्मस्मृति आई। अनूठी घटना घटी।
बड़ी मुश्किल से ऐसा होता है कि ऐसा गुरु और ऐसा शिष्य मिल जाये। शिष्य
तो बहुत, गुरु बहुत; लेकिन ऐसा कभी-कभी घटता है, जबकि अष्टावक्र जैसा गुरु और जनक जैसा शिष्य मिल जाये। जब ऐसी घटना घटती है, ऐसे गुरु और शिष्य का मिलन होता है, तो सत्य का विस्फोट न होगा तो क्या होगा! ऐसे शुद्ध दर्पण के सामने, ऐसा सरल चित्त व्यक्ति, विनम्र भाव से झुका हुआ खड़ा हो गया, उसे दर्शन हो गये। हो गई सिंह-गर्जना। वह ऐसे बोलने लगा, जैसे कभी न बोला था। वह ऐसे बोलने लगा, जैसा अष्टावक्र बोलते थे; जैसे खुद तो खो गया और अष्टावक्र का ही गीत उसकी बांसुरी पर बजने लगा; जैसे अष्टावक्र ही उससे बोलने लगे।
शिष्य अगर मिटने को राजी हो तो गुरु उसके हृदय के गहरे कोने से बोलने लगता है। शिष्य अगर झुकने को राजी हो, तो गुरु बाहर नहीं रह जाता, गुरु तुम्हारे अंतरतम में प्रतिष्ठित हो जाता है।

ऐसा ही हुआ, ऐसी ही महत्वपूर्ण घटना घटी। विमर्श करो उस पर! ध्यान करो
उस पर! ऐसी घटना तुम्हें भी घट सकती है--कोई कारण नहीं, कुछ कमी नहीं है; सिर्फ तुम्हारी कल्पना के जाल, और तुम्हारी विधियां, और तुम्हारी औषधियों का अंबार, तुम्हें स्वस्थ नहीं होने दे रहा है। तुम स्वस्थ हो, ऐसा विमर्श करो। तुम परमात्मा हो, ऐसा विमर्श करो। जो होना था, हो ही चुका है। जो पाना था, मिला ही है। तुम अपने घर में बैठे हो, सिर्फ कल्पना के माध्यम से तुम दूर निकल गए हो। एक क्षण-मात्र में, क्षण के भी अंश-मात्र में वापसी हो सकती है।
मुल्ला नसरुद्दीन अपने डाक्टर के पास गया था। "डाक्टर साहब," कहने लगा वह, "अगर किसी दिन मैं यहां आ कर पतलून की जेब से इतने नोट निकालूं कि आपके पिछले सभी बिलों का भुगतान हो जाये, तो आप क्या मानेंगे? क्या समझेंगे?"
डाक्टर ने कहा, "यही कि तुम किसी दूसरे की पतलून पहने हुए हो।"
तुम्हें भरोसा नहीं आता। मैं कह भी रहा हूं, तो भी तुम सुनते हो, तुम कहते हो: हुआ होगा जनक को; मगर यह पतलून अपनी नहीं है। तुम तो जानते हो, अपनी पतलून में हाथ डालेंगे तो खाली है। हाथ ही तुमने नहीं डाला है। खाली का तुमने भरोसा कर लिया है, बिना खोजे।
तुम तो सदा यह देखते हो कि जहां भी आनंद है, वह किसी दूसरे के पास है; मेरे पास कहां? मुस्कुराहटें सब दूसरों की हैं; आंसू सिर्फ तुम्हारे हैं-- ऐसी तुम्हारी धारणा हो गई है। दुख केवल तुम्हारे हैं, सुख सब पराये हैं। ये गीत घटते हैं किसी और को; तुम्हारे जीवन में तो सदा दुख ही दुख बरसता है। यह अमृत बरसता होगा कहीं किसी सौभाग्यशाली को। तुम्हें भरोसा नहीं आता!
मैं कहता हूं, यह पतलून तुम्हारी है, हाथ तो डालो! तुम कहते हो, "क्या सार बार-बार हाथ डालने से? वहां कुछ भी नहीं है।" तुमने कभी हाथ डाला ही नहीं; और कुछ भी नहीं है, इस भ्रांति में तुम पड़ गये हो। एक बार अपने भीतर झांको तो!
मुल्ला नसरुद्दीन के घर एक आदमी आया हुआ था। वह पूछने लगा नसरुद्दीन से, यदि कोई बाहरी व्यक्ति आ कर ऐसा जम जाये कि जाने का नाम न ले, तो आप क्या उपाय करते हैं?
बहुत देर से जमे हुए इस आदमी ने मुल्ला नसरुद्दीन से ऐसा पूछा।
"मैं तो कुछ नहीं कर पाता, किंतु मेरी पत्नी बड़ी चतुर है। ऐसे मौकों पर
वह आकर, किसी न किसी बहाने मुझे अंदर बुला लेती है।" मुल्ला ने जवाब दिया। वह आदमी दूसरा सवाल पूछने जा ही रहा था कि परदा उठा, और एक महिला अंदर आई, और बोली, आप भी गजब करते हैं! शर्मा जी के घर छह बजे चलना है और आप बैठ कर गप्पे लगा रहे हैं?
गुरु का कुल काम इतना है कि जो तुम नहीं कर पा रहे हो, वह तुम्हें चौंका दे, वह कह दे आ कर कि छह बजे शर्मा जी के घर चलना है, और तुम बैठ कर गप्पें लगा रहे हो!
गुरु तुम्हें कहीं ले जाता नहीं; सिर्फ जगाता है; सिर्फ याद दिलाता है
कि छोड़ो ये गप्पें, समय और मत गंवाओ, ऐसे भी बहुत गंवा चुके हो।
अष्टावक्र की मौजूदगी में याद आ गई जनक को, कि हो गईं गप्पें सब व्यर्थ। ये सब गप्पें हैं कि कोई सम्राट कि कोई भिखारी। ये सब गप्पें हैं कि कोई धनिक कि कोई अमीर। ये सब गप्पें हैं कि कोई सफल कि कोई असफल। ये बस गप्पें हैं। ये सब कल्पनायें हैं। हम एक-दूसरे को सहारा दिये हैं, और इन कल्पनाओं में हम जीते चले जाते हैं। ये हमारे रचे हुए नाटक हैं, ये हमारे खेल हैं।
अगर किसी को सफल होना है, तो किसी को असफल होना पड़ेगा--इसलिए खेल में
तो दोनों की जरूरत पड़ती है। अगर सभी सफल होना चाहें, तो खेल बंद हो जाता है। सभी असफल हो जायें, तो खेल बंद हो जाता है। तो हमने एक खेल रच लिया है, उसमें कोई असफल होता है, कोई सफल होता है; कोई बुद्धिमान, कोई बुद्धू। हमने एक खेल रच लिया है। एक कल्पना का जाल है। हमने एक बस्ती बसा ली है।

इतना ही तुमसे कहना चाहता हूं: खूब समय हो गया, अब उठो! दर्पण तुम्हारे सामने है, थोड़ा अपने चेहरे को देखो! तुम्हें पकड़ कर नदी के किनारे ले आया हूं, जरा झांको, और सिंह-गर्जना किसी भी क्षण हो सकती है!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
बारहवां प्रवचन

प्रभु प्रसाद -- परिपूर्ण प्रयत्न से

पहला प्रश्न: मेरे इस प्रश्न का उत्तर अवश्य दें, ऐसी प्रार्थना है। गुरु-दर्शन को कैसे आऊं? जब शिष्य गुरु के पास जाए तो कैसे जाए? गुरु के पास शिष्य किस तरह रहे, क्या-क्या करे और क्या-क्या न करे?

पुछा है "विष्णु चैतन्य" ने।
शिष्य का अर्थ होता है, जिसे सीखने की दुष्पूर आकांक्षा उत्पन्न हुई है; जिसके भीतर सीखने की प्यास जगी है। सीखने की प्यास साधारण नहीं होती; सिखाने का मन बड़ा साधारण है। सीखने की प्यास बड़ी असाधारण है।
गुरु तो कोई भी होना चाहता है, शिष्य होना दुर्लभ है। जो तुम नहीं जानते, वह भी तुम दावा करते हो जानने का, क्योंकि जानने के दावे में अहंकार की तृप्ति है। जिन बातों का तुम्हें कोई भी पता नहीं है, उनका भी तुम उत्तर देते हो; क्योंकि यह तुम कैसे मानो कि उत्तर, और तुम्हें पता नहीं! तुम ऐसी सलाहें देते हो, जिन्हें कोई माने तो गङ्ढे में गिरेगा, क्योंकि तुम किसी अनुभव से सलाह नहीं दे रहे हो। तुम तो सलाह देने का मजा ले रहे हो।
देखा लोगों को, सलाह देने में कैसा मजा लेते हैं! फंस भर जाओ उनके चंगुल में, और हर कोई सलाह देने को उत्सुक है। वह तो अच्छा है कि लोग सलाह लेते नहीं। दुनिया में सबसे ज्यादा दी जानी वाली चीज सलाह है, और सबसे कम ली जाने वाली चीज भी सलाह है। कौन सुनता है? कौन लेता है? अच्छा है कि लोग लेते नहीं अन्यथा लोग पागल हो जायें। सलाह देने वाले इतने हैं, मार्गदर्शक इतने हैं!
सीखने की इच्छा अति दुर्लभ है। क्योंकि सीखने की इच्छा का अर्थ हुआ--
यह स्वीकार कि मुझे मालूम नहीं; यह स्वीकार कि मैं अज्ञानी हूं; यह स्वीकार कि मैं समर्पित होने को तैयार हूं, कि मैं भिक्षा की झोली फैलाने को राजी हूं। बेशर्म भिक्षा की झोली फैलाने की हिम्मत से कोई शिष्य बनता है। लाग-लपेट, संकोच, शर्म, सब छोड़ कर कोई शिष्य बनता है।
शिष्य बनने का अर्थ है, कि मेरा सारा अतीत व्यर्थ था, गलत था--इसे मैं स्वीकार करता हूं।
कल एक इटालियन युवती ने संन्यास लिया, वह केवल भूली-भटकी दो-चार दिन
के लिये यहां आ गई। घूमती रही पूरे देश में। गई बहुत आश्रमों में, बहुत सत्संगों में; भूली-भटकी, किसी ने बता दिया, तो यहां आ गई। आज ही उसे वापस लौटना है। वह कल बड़े हृदय से रोने लगी। और उसने कहा कि मुझे बड़ी अड़चन में डाल दिया। पूछा मैंने, क्या अड़चन है? उसने कहा, अड़चन यह है कि ये तीन दिन संकट के हो गये; न आती तो अच्छा था। क्योंकि इन तीन दिनों ने मुझे बता दिया कि अब तक जो मैं जानती थी, वह सब गलत है; और अब तक जो मैं सोचती थी ठीक है, वह बिलकुल ठीक नहीं। कुछ और ही ठीक है। अब तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया। और मुझे लौट कर आना पड़ेगा। अब मैं जा रही हूं--सिर्फ आने के लिये। शिष्यत्व का जन्म हो गया!
जिस क्षण तुम्हें पता लगता है कि मेरा सारा अतीत व्यर्थ था, कूड़ा- कर्कट था...। बहुत कठिन है यह स्वीकार करना, क्योंकि अतीत यानी तुम्हारा अहंकार। जो तुमने अब तक किया, सोचा, समझा, उसी पर तो तुम्हारा अहंकार खड़ा है। वह ठीक था तो अहंकार खड़ा हो सकता है। वह सब गलत था...।
जिस क्षण तुम्हें दिखाई पड़ता है कि मेरा अतीत, सारा का सारा एक अंधेरी रात था, उस क्षण तुम शिष्य बनते हो।
यहां यह भी खयाल रख लेना: तुम यह मत सोचना कि हम शिष्य बन सकते हैं; क्योंकि अतीत में कुछ बातें गलत थीं, वह हम मानते हैं; कुछ बातें ठीक थीं, वह हम मानते हैं। ऐसा होता ही नहीं। या तो तुम गलत होते हो, या तुम ठीक होते हो। कुछ बातें ठीक और कुछ बातें गलत--ऐसा होता ही नहीं।
यह जो सत्य की खोज है, यहां समझौते नहीं चलते। सत्य कोई समझौता नहीं है। अगर तुम ठीक थे तो ठीक थे; अगर गलत थे तो गलत थे। यह भी अहंकार की तरकीब

है कि अहंकार कहता है: हां, कुछ बातें हमारे जीवन में गलत रहीं, उनको ठीक कर लेंगे; ऐसे बाकी जीवन तो सब ठीक ही है।
तो तुम्हारे जीवन में क्रांति कभी न होगी, सुधार हो सकता है। और सुधार
की आकांक्षा शिष्य की आकांक्षा नहीं है। शिष्य की आकांक्षा तो महाक्रांति के लिए है। शिष्य तो कहता है कि मैं अपने पूरे अतीत से स्वयं को विच्छिन्न कर लेना चाहता हूं; मैं चाहता हूं कि फिर से मेरी शुरुआत हो, मैं चाहता हूं कि फिर क ख ग से शुरुआत हो; मैं चाहता हूं कि फिर से मेरा जन्म हो। यही शिष्य की आकांक्षा है। एक जन्म हुआ था--मां से, पिता से; अब मैं चाहता हूं सदगुरु से जन्म हो। एक जन्म था शरीर का; अब मैं अपनी आत्मा का जन्म चाहता हूं।
बड़ी हिम्मत चाहिए! यहां तक भी तुम राजी हो जाते हो...। मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, हां, हमारे जीवन में कुछ गलत बातें हैं, लेकिन सभी गलत नहीं हैं।
इसे तुम फिर से सोच लो। अगर तुम गलत हो, तो कुछ ठीक और कुछ गलत हो नहीं सकता; सभी गलत होगा। क्योंकि जो तुमसे निकला है, जो तुम्हारी मूर्च्छा से निकला है, वह संयोगवशात ठीक मालूम पड़े, ठीक हो नहीं सकता। तुमने भला दान दिया हो, मगर तुम्हारे दान में भी लोभ होगा, अगर तुम लोभी हो। तो तुम कहोगे, लोभ तो बुरा है; लेकिन मैंने एक मंदिर बनाया, एक मस्जिद बनायी, एक गुरुद्वारा बनाया--यह तो बुरा नहीं हो सकता! लेकिन मैं तुमसे कहता हूं: मंदिर बनाओ, मस्जिद बनाओ, गुरुद्वारा बनाओ, अगर तुम लोभी हो तो तुम्हारे मंदिर में भी लोभ ही होगा। होगा परलोक का लोभ, होगा स्वर्ग पाने का लोभ-- मगर लोभ ही होगा। लोभी से दान नहीं हो सकता। लोभी दान भी करता है तो वहां, उस दूसरे किनारे पर हजार गुना पाने की आकांक्षा में करता है। यह भी कोई दान रहा? सौदा हो गया। दान का मतलब होता है: हम बेशर्त देते हैं। दान का मतलब होता है: देने में मजा है, इसलिए देते हैं। देने में मजा अभी और यहीं है, इसलिए देते हैं। दान का मतलब हुआ, आगे इससे कोई संबंध नहीं; आगे हम इसके संबंध में कोई प्रतिकार नहीं चाहते, कोई पुरस्कार नहीं चाहते हैं। देने में मजा आया, इसलिए दिया है। अब देने से कोई और फल मिलना चाहिए, तो फिर लोभ आ गया।
लोभ का मतलब होता है: फल की आकांक्षा, फलाकांक्षा। दान का अर्थ होता है: फलाकांक्षा- शून्य देना; देने का मजा, देने का आनंद।
तुमने किसी को दिया, और अगर धन्यवाद की भी आकांक्षा रखी तो दान भ्रष्ट
हो गया। तुमने अगर लौट कर यह भी देखा कि इस आदमी ने शुक्रिया कहा या नहीं कहा, तुम सोचने लगे बाद में कि यह भी कैसे अपात्र को दे दिया कि उसने धन्यवाद भी न दिया...।
एक झेन फकीर के पास एक आदमी हजारों स्वर्ण-अशर्फियां ले कर आया। उसने बड़े जोर से अशर्फियों का थैला पटका। उनकी खनखनाहट पूरे मंदिर में गूंज गई। लोग ऐसे ही दान देते हैं--खनखनाहट की आवाज! उस फकीर ने जोर से कहा कि झोला धीमे से नहीं रख सकते? वह आदमी थोड़ा हैरान हुआ, क्योंकि वह करोड़पति था, उस गांव का सबसे धनपति था। और यह फकीर...! और वह देने आया है; धन्यवाद की तो बात दूर रही, यह उससे कहता है, झोला शांति से नहीं रख सकते? पर उसने कहा, आप सुनें महाराज! लाखों रुपये लाया हूं आपको भेंट करने! उसने कहा, ठीक! मगर उसने धन्यवाद भी न दिया। वह धनपति जरा बेचैन होने लगा। उसने कहा, महाराज कुछ तो कहें।
उसने कहा, अब कुछ क्या कहना है? मुझको तुम धन्यवाद दो और जाओ।
वह धनपति बोला, यह जरा सीमा के बाहर की बात हो गई। धन्यवाद मैं आपको दूं और जाऊं--मतलब?
तो उसने कहा, दान स्वीकार कर लिया है, इसकी दक्षिणा न दोगे? तुम्हारा दान स्वीकार कर लिया, इसके लिए धन्यवाद न करोगे? तुम्हारा दान इंकार भी किया जा सकता था, फिर क्या करते? तो या तो धन्यवाद दो, या उठा लो झोला, जाओ अपने घर; फिर दुबारा इस तरफ मत आना।
दान का अर्थ ही यह होता है।

इसलिए तुमने देखा, हिंदू दान देते हैं, फिर दक्षिणा देते हैं! दक्षिणा
का मतलब है धन्यवाद, कि आपने स्वीकार कर लिया। दान दक्षिणा के बिना अधूरा रह जाता है। लोभ से दिया गया दान तो दान नहीं, लोभ का ही विस्तार है।
तुम अगर गलत हो तो तुम जो करोगे, वह सब गलत होगा। तुम्हारा मंदिर जाना गलत, तुम्हारी पूजा गलत, तुम्हारी प्रार्थना गलत, तुमसे निकलेगी--सही हो कैसे सकती है? और अगर तुम सही हो, तो तुम जो करोगे, वह सही है। इसलिए तो कृष्ण अर्जुन से कह सके कि लड़, बस तू भीतर सही हो जा; तू भीतर परमात्मा से जुड़ जा; तू भीतर अनुभव कर ले कि मैं नहीं हूं, वही है; फिर तू काट, बेफिक्री से काट; फिर हिंसा में भी पाप नहीं है।
इसे तुम समझना। कृष्ण कह रहे हैं कि अगर तू परमात्मा को समर्पित हो कर हिंसा भी करता है, तो भी पाप नहीं है। और अगर--मैं तुमसे कह रहा हूं--लोभ की आकांक्षा से तुम दान भी करते हो तो पाप है। तुम्हारी प्रार्थना में अगर मांग है, तो पाप हो गया। तुम्हारी प्रार्थना अगर सिर्फ अहोभाव की अभिव्यक्ति है तो पुण्य हो गया।
पूछा है, "गुरु-दर्शन को कैसे आऊं? जब शिष्य गुरु के पास जाए तो कैसे जाए? गुरु के पास शिष्य किस तरह रहे, क्या-क्या करे, और क्या-क्या न करे?" पहली बात, आंतरिक शिष्यता को जन्म दे। जो मैं कह रहा हूं, उसे सुन कर सीख लेना, उसका ज्ञान बना लेना, उससे स्मृति को परिपुष्ट कर लेना--शिष्यता नहीं है। विद्यार्थी हो तुम शिष्य नहीं। तो विद्यार्थी और शिष्य का भेद समझ लो। विद्यार्थी, विद्या का अर्जन करता; जो कहा जाता है, उसे संयोजित करके रखता, उसकी मंजूषा बनाता, उसको कंठस्थ करता, जानकारी इकट्ठी करता; उसकी बुद्धि ज्यादा संपन्न हो जाती; उसकी स्मृति ज्यादा भरी-पूरी हो जाती; वह हर प्रश्न के उत्तर भीतर इकट्ठे करता जाता। वह संग्राहक है। जैसे कोई धन इकट्ठा करता है, ऐसे वह ज्ञान इकट्ठा करता है। यह विद्यार्थी है। शिष्य विद्यार्थी नहीं है। शिष्य आत्मार्थी है। शिष्य सत्यार्थी है। उसको इसकी कोई आकांक्षा नहीं है कि स्मृति बहुत पुष्ट हो जाये, जानकारी का बहुत अंबार लग जाये। नहीं, इससे उसे प्रयोजन नहीं। वह चाहता है, उसकी आत्मा प्रगट हो जाये। जानकारी रहे न रहे; कोरा हो जाऊं, फिक्र नहीं--मेरी आत्मा विकसित हो जाये।
अंग्रेजी में दो शब्द हैं: बीइंग और नॉलेज; आत्मा और ज्ञान। विद्यार्थी की आकांक्षा नॉलेज, ज्ञान की है। शिष्य की आकांक्षा बीइंग की, आत्मा की है--मैं और गहन हो जाऊं, और विराट हो जाऊं, और विस्तीर्ण हो जाऊं; मेरी सीमायें टूटें; मैं आकाश में उडूं, विराट और विभु में मेरा प्रवेश हो जाये। जान लूं परमात्मा के संबंध में तो विद्यार्थी--कैसे परमात्मा हो जाऊं; कैसे उसमें डूब जाऊं; कैसे उसमें पग जाऊं और खो जाऊं; कैसे यह मेरी छोटी-सी कल-कल करती सरिता उसके सागर में तिरोहित हो जाए?
तो विद्यार्थी तो कुछ लेने आता है, शिष्य कुछ खोने आता है। विद्यार्थी तो कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके, पोटली बांध कर चल देता है; शिष्य जाते वक्त पाएगा कि बचा ही नहीं। पोटली बांधनी तो दूर; जो आया था, वह भी गया। खाली हो कर लौटेगा शिष्य, विद्यार्थी भर कर लौटेगा। विद्यार्थी दुनिया के बाजार में बेचने योग्य कुछ ले जायेगा, कमायेगा। शिष्य बिलकुल शून्य हो कर लौटेगा। शून्यता की तैयारी शिष्यतत्व है। बड़ी कठिन है।
रहीम का वचन है:
अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम।।
अब रहीम मुश्किल पड़ी--अब बड़ी झंझट में पड़े रहीम! गाढ़े दोऊ काम--अब तो दोनों काम मुश्किल हो गये। सांचे तो जग नहीं--अगर सत्य की खोज करो तो बाजार खोता है। अगर सत्य की खोज करो, तो संसार खोता है। सांचे तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम--और अगर झूठ से चलो, तो परमात्मा की कोई उपलब्धि नहीं होती।
अब रहीम मुश्किल पड़ी...!
शिष्य ऐसी ही मुश्किल में पड़ जाता है।
अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।

अगर अपने को खोता है तो परमात्मा मिलता है; लेकिन अपने को खोने में वह
सब खो जाता है, जिसे हम संसार कहते हैं। अपने को खोता है तो सत्य मिलता है; लेकिन अपने को खोने में वह सब खो जाता है, जिसके कारण हम सत्य को खोजने निकले थे।
अब रहीम मुश्किल पड़ी...।
जब तुम पहली दफा सत्य की खोज करने निकलते हो तो इसीलिए कि सत्य भी तुम्हारी मुट्ठी में हो। जब तुम परमात्मा की खोज करने निकलते हो तो इसीलिए कि और सब तो पा लिया, अब परमात्मा को भी पा लें; यह चुनौती भी खाली न रह जाए।
सुना है मैंने, महावीर गुजरते थे एक गांव से। उस नगर का महाअधिपति, सम्राट उनके दर्शन को आया। प्रसेनजित उसका नाम था। उस सम्राट ने कहा, प्रभु! सब है मेरे पास, मगर इधर आपने एक अड़चन कर दी--ध्यान, ध्यान, ध्यान! इससे मन में एक बेचैनी रहती है। सब है मेरे पास, यह ध्यान भर की कमी अखरती है। इसके कारण ऐसा लगता है कि कुछ कम है। यह ध्यान मुझे चाहिए। और मैं इस ध्यान को पाने के लिए, जो भी आप मूल्य चुकाने को कहें, चुकाने को राजी हूं। सुना होगा उसने गांव में, महावीर के आने से ध्यान की चर्चा होने लगी।
वह जरा बेचैन हुआ होगा। उसके पास सब है--तिजोरी में सब बंद है; धन, पद, प्रतिष्ठा, सब बंद है। देखा होगा खाता- बही खोल कर, ध्यान नहीं है, यह क्या मामला है? लोग ध्यान की बात करने लगे, गांव में कुछ लोग ध्यानी भी होने लगे, कुछ लोग ध्यान की मस्ती में भी चलने लगे, कुछ लोगों की आंखों में ध्यान का नशा भी दिखाई पड़ने लगा--यह मामला क्या है? वह थोड़ा बेचैन हो गया। उसने महावीर से कहा, मैं सब कुछ करने को तैयार हूं! जो भी कीमत हो, चुका दूंगा।
महावीर थोड़ी मुश्किल में पड़े: इस पागल प्रसेनजित को क्या कहें? यह कोई कीमत चुकाने से मिलने वाली बात नहीं। थोड़े झिझके होंगे, इसको उत्तर क्या दें, क्योंकि कहीं यह अकारण दुखी न हो। यह बात ही मूढ़तापूर्ण पूछ रहा है, लेकिन सम्राट है। यह बात ही व्यर्थ पूछ रहा है। उनको थोड़ा झिझकता देख कर प्रसेनजित ने कहा, आप संकोच न करें, लाख अशर्फी, दो लाख अशर्फी, दस लाख अशर्फी--जितना कहें, मुंह मांगा देने को तैयार हूं, मगर यह बात अखरती है कि गांव में कुछ लोग ध्यान की बात करते हैं, मेरे पास ध्यान नहीं है।
महावीर को मजाक सूझी। उन्होंने कहा, ऐसा करो, तुम्हारे गांव में एक गरीब आदमी है, उसको ध्यान उपलब्ध हो गया है, तुम उसी से खरीद लो।
उसने कहा, यह आपने ठीक कहा। मैं अभी जाता हूं।
वह अपने रथ पर सवार हो कर गरीब के झोपड़े पर पहुंच गया, गरीब तो घबड़ा गया। वह गरीब आदमी बाहर आ कर चरणों में गिर पड़ा। सम्राट ने कहा, फिक्र मत कर। जो तेरी मांग हो, बोल, मुंहमांगा दाम देने को तैयार हूं। यह ध्यान क्या बला है? यह तू मुझे दे दे। और महावीर ने कहा कि तुझे मिल गया है।
उसने कहा कि मिल तो गया है और मैं देने को भी तैयार हूं; लेकिन आप लेने
को तैयार नहीं। सम्राट ने कहा, पागल! होश की बातें कर रहा है? मैं जो भी मूल्य चुकाना हो, चुकाने को तैयार हूं। और तू कहता है, लेने को तैयार नहीं! उसने कहा, इसलिए तो मैं कहता हूं आप लेने को तैयार नहीं। आप ध्यान को
भी कोई संपदा समझ रहे हैं! यह कोई वस्तु है जो मैं दे दूं? जिसका हस्तांतरण कर दूं? इसके लिए तो तुम्हें रूपांतरित होना पड़ेगा। यह मूल्य से नहीं मिलेगी, इसके लिये तो तुम्हें पूरा आत्म-विसर्जन करना होगा। इसके लिए तो तुम जैसे हो वैसे न रहोगे; तुम्हारे भीतर एक नए चैतन्य, एक नई ऊर्जा का जन्म होगा तो मिलेगी। तुम मुझसे प्राण मांगो, मैं प्राण दे दूं; मगर ध्यान मत मांगो, क्योंकि ध्यान मैं कैसे दूं? प्राण मांगो, देने को तैयार हूं; अभी यहीं छुरा मारूं, मर जाऊं; तुम्हारे लिए सब निछावर कर दूं। तुम सम्राट हो, इस गांव के मालिक हो। मैं गरीब आदमी, सदा तुम्हारी सेवा में रहा हूं। प्राण ले लो, तो तैयार हूं; लेकिन ध्यान कैसे दूं?
प्राणों में छुरी भुंक जाए तो प्राण चले जाते हैं; ध्यान में छुरी भोंकने का भी उपाय नहीं। इसलिए तो कृष्ण कहते हैं, नैनं छिन्दंति शस्त्राणि! उसे शस्त्र भी नहीं छेद पाते। उसे आग भी नहीं जला पाती। उस

अवस्था की खोज में जब तुम निकलते हो, शुरू में, तो तुम्हें ठीक-ठीक पता भी नहीं होता कि तुम क्या खोजने निकले हो? तुम तो उसको भी ऐसे ही खोजने निकलते हो, जैसे तुम और चीजों को खोजने निकलते हो। वह भी एक महत्वाकांक्षा होती है। वह तो धीरे-धीरे गुरु के सत्संग में तुम्हें अनुभव होगा कि यह तो महत्वाकांक्षा छोड़ने से मिलेगा। ध्यान, महत्वाकांक्षा का हिस्सा नहीं हो सकता। आते तुम किसी और कारण से हो, लेकिन आने के बाद धीरे-धीरे, धीरे-धीरे तुम्हें पता चलता है कि तुम्हारा आने का कारण ही गलत था।
अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम।।
शिष्य ऐसी दुविधा में पड़ जाता है। इधर पुकारता है गुरु, दूर शिखरों की पुकार, अनंत का आकर्षण, थोड़ी-थोड़ी झलकें भी मिलनी शुरू हो जाती हैं, थोड़ी- थोड़ी रस की बूंदें भी बरसने लगतीं, थोड़ी-थोड़ी बरखा भी होती--और उधर संसार, और जन्मों-जन्मों की वासनाओं का बल और जोर, पुकारती हुई कामवासना, पुकारता हुआ अहंकार, वे सब चीखते-पुकारते हैं कि कहां चले?
अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
और शिष्य बीच में झूल जाता है।
तो तुम मुझसे पूछते हो कि "गुरु-दर्शन को कैसे आऊं?"
गुरु-दर्शन को आने का एक ही अर्थ होता है: अपने को मिटाने की तैयारी। गुरु को देखना चर्म-चक्षुओं की बात नहीं। मेरे पास जब कोई शिष्य आता है, तब वह ऐसी आंखें ले कर आता है कि मैं उसे दिखाई पड़ता हूं। जब कोई विद्यार्थी आता है, तब वह दूसरे ढंग की आंखें ले कर आता है; उसे मैं दिखाई नहीं पड़ता। उसे भी दिखाई पड़ता हूं, लेकिन उसकी आंखों के अनुकूल। कोई मित्र आता है सहानुभूति से, प्रेम से समझने--उसे कुछ और दिखाई पड़ता हूं। कोई शत्रु आता है--विवाद लिए मन में, शास्त्रार्थ लिए मन में--उसे कुछ और दिखाई पड़ता हूं। तुम्हारी आंख पर निर्भर है।
अगर तुम शिष्य की भांति आना चाहते हो, तो शून्य की भांति आना सीखो। जब मेरे पास आओ तो अपने को बाहर ही छोड़ आना। अगर तुम अपने को ले कर मेरे पास आए, तो तुम ही तुमको दिखाई पड़ते रहोगे, तुम मुझे न देख पाओगे; मैं तुम्हारी ओट में पड़ जाऊंगा।
जब तुम अपने को रख कर आओगे बाहर, ऐसे आओगे जैसे एक शून्य आया, एक कोरे कागज की तरह आओगे, तब तुम मुझे देख पाओगे। तब उस संबंध की घटना घटेगी जिसको गुरु-शिष्य का संबंध कहें; तब एक सेतु निर्मित होता है।
प्रीतम छवि नैनन बसी, पर-छवि कहां समाए?
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाए।
और जब तुम मुझसे भरने लगोगे...।
प्रीतम छवि नैनन बसी...।
शिष्य और गुरु का संबंध तो अथाह प्रेम का संबंध है; ज्ञान का संबंध नहीं, प्रेम का संबंध; बुद्धि का संबंध नहीं, हृदय का संबंध।
तुम्हारे विचार मुझसे मेल खाते हैं, उससे थोड़े ही तुम मेरे शिष्य हो जाओगे। तुमसे मेरे विचार मेल खाते हैं, इसलिए तुम मेरे साथ खड़े हो; कल अगर तुमसे मेरे विचार मेल न खाएं तो फिर? तुम मुझसे अलग हो जाओगे।
बहुत लोग मेरे पास आए हैं और बहुत लोग मेरे पास से चले गए हैं। आए थे,
तो उन्हें लगा उनके विचार मेल खाते हैं। असल में वे मेरे साथ न थे; उन्हें लगा कि मैं उनके साथ हूं। मेरे विचार उनसे मेल खाते हैं; वे केंद्र रहे। मेरे विचारों ने उनकी पुष्टि की। वे बड़े प्रफुल्लित हुए। लेकिन जब उन्हें पता लगा कि मेरे सभी विचार उनसे मेल नहीं खाते, तब अड़चन शुरू हो गई। तब वे न रुक सके। तब वे हट गए। तब वे घबड़ा गए।
तुम्हारे विचार अगर मुझसे मेल खाते हैं, इसलिए तुम यहां हो, तो तुम ज्यादा से ज्यादा एक अनुयायी हो--शिष्य नहीं। शिष्य तो वही है, जो कहता है: छोड़ो विचार की बात। दिल से दिल मेल खाता है। विचार ऊपर-ऊपर की बातें हैं; दिल भीतर की बात है। आत्मा, आत्मा से मेल खाती है।
और शिष्य ऐसा नहीं सोचता कि गुरु से मेरे विचार का मेल बैठता है। शिष्य ऐसा सोचता है कि मैं गुरु के साथ मेल खाता हूं। किसी दिन मेल न खाए

तो शिष्य अपने भीतर कारण खोजता है; उन कारणों को हटाता है ताकि फिर मेल खा जाए।
जो लोग सोचते हैं कि मैं उनसे मेल खाऊं, जिस दिन भी अड़चन होती है, मैं उनसे मेल नहीं खाता, वे मुझे छोड़ देते हैं। क्योंकि उनमें तो बदलने का कोई सवाल ही नहीं, वे तो ठीक हैं ही। सत्य तो उन्हें मालूम ही है; वे सिर्फ आए थे प्रमाण-पत्र खोजने। वे शायद मेरी परीक्षा को आए थे, या शायद मुझसे अपने सत्य को भरने आए थे। जो उनका सत्य है, और सत्यतर मालूम होने लगे, और एक गवाही मिल जाए, इसके लिए आए थे। लेकिन सत्य तो उनके पास है ही। जिस दिन मैं उनसे मेल नहीं खाता, उसी दिन उनकी राह अलग हो जाती है।
शिष्य का जोड़ कुछ ऐसा है कि फिर उसकी राह अलग नहीं होती।
प्रीतम छवि नैनन बसी, पर-छवि कहां समाए?
गुरु ऐसा छा जाता है भीतर, शिष्य गुरु के रंग में डूब जाता है, शिष्य गुरु के रंग में रंग जाता है। शिष्य बचता ही नहीं। गुरु ही उससे बोलने लगता है। गुरु ही उसमें नाचने लगता। गुरु ही उसमें गुनगुनाने लगता। धीरे- धीरे शिष्य तो खो ही जाता है। गुरु की ही एक प्रतिछवि निर्मित हो जाती है। एक और गुरु की प्रतिमा खड़ी हो गई।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाए।
और जब सराय भरी हो, तो पथिक वापिस लौट जाते हैं। जब तुम्हारा हृदय गुरु से भरा हो, तो बहुत-से पथिक वापिस लौट जाएंगे, जिनको तुमने लाख-लाख बार उपाय किया था हटाने का और न हटा पाए थे, क्योंकि सराय खाली थी। जिन्हें तुमने बहुत बार सोचा था, किस तरह छुटकारा हो क्रोध से, काम से, लोभ से कैसे छुटकारा हो--और नहीं हो पाता था। जब तुम भीतर भर जाते हो गुरु से, अचानक तुम पाते हो बहुत-सी बातें जो छूटती नहीं थीं, छूट गईं, बिना चेष्टा के छूट गईं, गिर गईं।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाए।
गुरु के पास होने का अर्थ है: मृत्यु के पास होना। मरने की तैयारी चाहिए।
अगर गुरु नाराज भी हो, तो भी शिष्य जानता है, गुरु नाराज तो नहीं हो सकता; ऐसा तो असंभव है; तो यह भी कोई उपाय होगा।
गुरजिएफ ऐसा करता था। अपने शिष्यों पर कभी इस तरह पागल हो कर नाराज हो जाता था--अकारण; कोई कारण भी समझ में नहीं आता था। बहुत-से लोग तो उससे हट जाते थे। लेकिन जो टिके रह गए, उनके जीवन में उसने बड़ी क्रांति ला दी। धीरे-धीरे समझे राज कि वह नाराज क्यों हो जाता है। वह नाराज हो कर सिर्फ तुम्हें एक मौका देता है कि देखो, अब मैं नाराज हूं; तुम नाराज गुरु के साथ रुक सकते हो? प्यारे-प्यारे के साथ तो रुकने में क्या कठिनाई है। कोई भी रुक जाए। मीठे-मीठे के साथ रुकने में तो क्या अड़चन है? कोई भी रुक जाए। गुरजिएफ कहता है, जब मैं कड़वा होता हूं, तब भी तुम मेरे साथ रुक सकते हो? अगर तुम मेरे कड़वेपन में भी मेरे साथ रुक सकते हो, तो ही रुके। और जो गुरु के कड़वेपन में साथ रुक गया, उस पर गुरु का अमृत बरस जाता है।
गुरु के पास होना एक सतत साधना है। इस जगत में बहुत साधनाओं के रूप हैं; लेकिन गुरु के पास होने से बड़ी कोई साधना नहीं है। इसलिए तो हमने सत्संग की बड़ी महिमा कही है। गुरु के पास होने की महिमा इतनी है जिसका कोई हिसाब नहीं।
शास्त्र तो मुर्दा है; तुम लाख पढ़ो, तुम अपने ही अर्थ निकाल लोगे। शास्त्र तो तुम्हें नहीं बदल सकता, तुम शास्त्र को जरूर बदल सकते हो, क्योंकि शास्त्र क्या करेगा? तुम जो अर्थ चाहोगे, वही अर्थ निकाल लोगे।
तुम्हारा अर्थ तुम शास्त्र के ऊपर छाप दोगे, तुम्हारी व्याख्या शास्त्र पर सवार हो जाएगी। जीवित गुरु के ऊपर तुम अपनी व्याख्या नहीं थोप सकते।
जीवित गुरु पारे की भांति होता है; तुमने मुट्ठी बांधी कि वह हटा वहां से।
तुम्हारी मुट्ठी नहीं बंधने देता। तुम्हारी पकड़ में कभी आता भी नहीं।
क्योंकि उसकी सारी चेष्टा यही है कि तुम्हारी पकड़ छूट जाए, पकड़ने की आदत छूट जाए। उसकी सारी चेष्टा यही है कि तुम्हारी मुट्ठी बंद न रहे, खुल जाए।
उसकी सारी चेष्टा यही है कि तुम्हारे सब तनाव--पकड़ने के, आसक्ति के, राग के

विसर्जित हो जाएं। तो वह आलंबन नहीं बनता तुम्हारी पकड़ के लिए। वह तुम्हारा आश्रय भी नहीं बनता; बार-बार वह हट जाता है। जैसे ही तुम उसे अपना आश्रय और सुरक्षा मानने लगते हो, अचानक वह हट जाता है, धड़ाम से तुम जमीन पर गिरते हो। वह तुमसे यह कहना चाहता है कि मैं तुम्हें तुम्हारे पैर पर खड़ा करना चाहता हूं, मैं तुम्हें बल देना चाहता हूं कि तुम अपने पैर पर खड़े हो जाओ।
तो गुरु नाराज भी हो तो शिष्य नहीं देखता कि गुरु नाराज है।
उसकी जफा, जफा नहीं,
उसको न तू जफा समझ।
गुरु की निर्दयता, उसकी कठोरता, कठोरता नहीं है।
उसकी जफा, जफा नहीं,
उसको न तू जफा समझ।
हुस्न-ए-जहां फरेब की,
यह भी कोई अदा समझ।
अगर प्रेम है तो यह भी गुरु के सौंदर्य का एक ढंग है।
ऐसा हुआ, नाम तुमने सुना होगा नंदलाल बोस का। भारत के बड़े चित्रकार!
वे अवनींद्रनाथ ठाकुर के शिष्य थे। अवनींद्रनाथ ठाकुर रवींद्रनाथ के चाचा थे। महाचित्रकार थे अवनींद्रनाथ। एक दिन रवींद्रनाथ बैठे हैं अवनींद्रनाथ के साथ और नंदलाल आए--तब वे युवा थे--कृष्ण का एक चित्र बना कर लाए थे। रवींद्रनाथ ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि कृष्ण का ऐसा सुंदर चित्र मैंने देखा ही नहीं। रवींद्रनाथ खुद महाकवि थे, खुद भी बड़े चित्रकार थे, इसलिए उनकी परख पर तो कोई संदेह करने का सवाल नहीं। उन्होंने लिखा है कि मैं मंत्रमुग्ध हो गया। लेकिन मैं बड़ा चौंका। अवनींद्रनाथ ने चित्र को एक नजर देखा और बाहर फेंक दिया--दरवाजे के बाहर! और नंदलाल से कहा कि इसको तुम दिखानेऱ्योग्य समझते हो? तुम से अच्छे तो बंगाल के पटिए, जो कृष्णाष्टमी पर दो-दो पैसे के कृष्ण के चित्र बना कर बेचते हैं, वे बेहतर बना लेते हैं। जाओ, पटियों से सीखो।
यह तो बड़ी कठोर बात थी। यह तो बड़ी निर्दय बात थी। यह तो रवींद्रनाथ को
भी लगा कि रोक दूं अपने चाचा को और कहूं कि यह जरा ज्यादती हो रही है, सीमा के बाहर हुआ जा रहा है मामला। मैंने ऐसा सुंदर चित्र नहीं देखा किसी का बनाया हुआ।
रवींद्रनाथ ने लिखा है, मैं तो यह भी कहने को तैयार था कि आपने भी कृष्ण के चित्र बनाए, मगर इसका मुकाबला नहीं है। अवनींद्रनाथ के चित्र भी फीके हैं, यह रवींद्रनाथ कहना चाहते थे। मगर गुरु-शिष्य के बीच बोलना तो उचित नहीं। वे जानें, उनका ढंग जाने। वे चुपचाप बैठे रहे, अपने को सम्हाल कर।
नंदलाल ने पैर छुए, बाहर चला गया। तीन साल तक नंदलाल का कोई पता न चला। अवनींद्रनाथ बड़ी चिंता से उसकी प्रतीक्षा करते, खबरें भी भेजीं, लोगों को भी कहा: कहां गया, क्या हुआ? रवींद्रनाथ अनेक बार उनसे कहे भी कि यह ज्यादती थी। आपने उसको बुरी तरह चोट पहुंचा दी, उसके हृदय को आघात पहुंचा दिया। अवनींद्रनाथ रोते नंदलाल के लिए कि वह गया कहां? तीन साल बाद नंदलाल लौटे। लौटे तो उनकी हालत बंगाल में जैसे गरीब चित्रकार होते हैं, पटिए, उन जैसी हो गई थी। वही पुराने तीन साल पहले के कपड़े थे, फटे-पुराने, पहचानना मुश्किल था। शक्ल बदल गई थी, काली हो गई थी। लेकिन वे फिर कुछ चित्र बना कर ले आए थे। और उन्होंने फिर पैर छुए और कहा, आपने ठीक कहा था। इन तीन वर्षों में इतना सीखने को मिला, पटियों के पास। क्योंकि जो ख्यातिनाम चित्रकार हैं, वे तो अपने अहंकार के कारण बनाने लगते हैं। जिनकी कोई ख्याति नहीं, उनके चित्रों में एक निर्दोषता, एक सहजता है--वह सीखने को मिली। आपने खूब मुझे भेज दिया! आपकी बड़ी कृपा, अनुकंपा!
रवींद्रनाथ ने अवनींद्रनाथ को पूछा कि क्या अब मैं पूछ सकता हूं, मामला क्या था? चित्र मुझे तो बहुत सुंदर लगा था।
अवनींद्रनाथ ने कहा, चित्र मुझे भी बहुत सुंदर लगा था। और आज मैं तुमसे सच कह देना चाहता हूं कि मैंने भी चित्र बनाए हैं, लेकिन उसका कोई

मुकाबला नहीं। मगर फेंकना पड़ा, मजबूरी थी। क्योंकि नंदलाल से मुझे और भी बड़ी आशा थी। उस दिन अगर मैं कह देता कि ठीक, सुंदर--वहीं नंदलाल रुक जाता। जब गुरु ने कह दिया ठीक, सुंदर, हो गई बात--तो विकास अवरुद्ध हो जाता। अगर नंदलाल की प्रतिभा और बड़ी न होती तो मैंने उसे पुरस्कृत किया होता। लेकिन मैं जानता था, और भी छिपा पड़ा है, अभी इसे और खींचा जा सकता है, अभी इसमें से और बड़ा शिखर प्रगट हो सकता है।
उसकी जफा, जफा नहीं,
उसको न तू जफा समझ।
हुस्न-ए-जहां फरेब की,
यह भी कोई अदा समझ।
और यह पाठ धीरे-धीरे गुरु से सीखने के बाद, यही पाठ परमात्मा पर लागू
हो जाता है। फिर परमात्मा दुख दे, तो भी...!
हुस्न-ए-जहां फरेब की,
यह भी कोई अदा समझ।
फिर परमात्मा पीड़ा दे तो यह भी निखार का कोई उपाय समझ। फिर परमात्मा मृत्यु दे तो यह भी नए जीवन की कोई शुरुआत समझ।
गुरु के पास जैसा घटे, उसे हंसऱ्हंस कर स्वीकार कर लेने की कला शिष्यत्व है। बेमन से, उदास हो कर, जबर्दस्ती स्वीकार किया तो सारा मजा चला जाता है। स्वीकार होना चाहिए आनंदपूर्ण।
जीत अगर किस्मत में नहीं है, मात सही,
दिन जो नहीं तो, रात सही
हम से जहां तक मुमकिन हो,
यह मात ही हंसतेऱ्हंसते खा लें।
गाहे-गाहे अंधियारे में बिजली चमके,
गाहे-गाहे हंस लें, गा लें।
गुरु के पास कैसी ही अंधेरी रात हो, वह जो बिजली चमकती है कभी-कभी, उसको भी काफी समझना। अंधेरी रात में जब बिजली चमकती है, उसे सौभाग्य समझना। शायद बिजली चमकने के लिए अंधेरी रात चाहिए। दिन में तो बिजली चमकने का मजा नहीं। शायद गुलाब की झाड़ी पर फूलों के लिए कांटे चाहिए ही। तो गुरु के पास बहुत-सी अंधेरी रातें होंगी, उनकी गणना मत करना; कभी- कभी बिजली चमक जाए, उसे हृदय में संजो कर रख लेना। बहुत कांटे गड़ेंगे, उनका हिसाब मत रखना; कभी-कभी फूल की गंध आ जाए तो नाच लेना, गुनगुना लेना गीत धन्यवाद का।
गाहे-गाहे अंधियारे में बिजली चमके,
गाहे-गाहे हंस लें, गा लें।
शिष्य का अर्थ है, जिसने किसी में परमात्मा को देखना शुरू किया। यह बड़ी असंभव बात है। इसलिए दूसरों को तो बड़ी कठिनाई होती है।
तुमने देखा, तुम अगर किसी स्त्री के प्रेम में पड़ गए, तो प्रेम में पड़ते ही वह स्त्री इस जगत की सबसे सुंदर स्त्री हो जाती है। फिर क्लियोपैत्रा फीकी, फिर मर्लिन मनरो फीकी, फिर सारी दुनिया की सुंदरतम स्त्रियां उसके मुकाबले कुछ भी नहीं। अतीत फीका, भविष्य फीका, बस एक स्त्री केंद्र हो जाती। तुम्हारा सौंदर्य उसके भीतर दिव्यता को उभार देता, प्रगट कर देता।
और यह केवल प्रेम की कल्पना नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इतना ही सुंदर है--प्रेमी देख पाता, सभी देख नहीं पाते। जब किसी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में गुरु का भाव उदय होता है, तो तुम्हारे पास एक नई देखने की दृष्टि खुलती है। वह व्यक्ति तुम्हारे लिए परमात्मा हो गया। इसे तुम दूसरों के सामने सिद्ध न कर पाओगे, सिद्ध करना भी मत। यह कोई सिद्ध करने की बात भी नहीं है।
जैसे तुम प्रेमी से नहीं पूछते कि सिद्ध करो कि तुम्हारी जो प्रेयसी है, वही दुनिया की सबसे सुंदर स्त्री है, तुम इस तरह के वक्तव्य क्यों देते हो? तुम क्यों कहते हो कि यही स्त्री दुनिया की सबसे सुंदर स्त्री है? इसे

सिद्ध करो, प्रमाण जुटाओ--वैज्ञानिक, तार्किक। तुम उससे नहीं कहते। तुम कहते हो, पागल है, प्रेम में पागल है।
शिष्य भी प्रेम में पागल है। और किसी स्त्री का या किसी पुरुष का सौंदर्य तो क्षणभंगुर है। शिष्य एक ऐसे प्रेम में पागल है जो क्षणभंगुर नहीं है; एक ऐसी अनुभूति से आंदोलित हुआ है, जो शाश्वत है, जो समय की धारा से प्रभावित नहीं होती। समय आता है, जाता है। एक ऐसी श्रद्धा का जन्म हुआ है शिष्य में, जो रूपांतरित नहीं होती, जो थिर है। श्रद्धा, अगर है तो कभी पतित नहीं होती, और अगर पतित होती है तो इतना ही जानना कि थी ही नहीं; तुमने समझा था कि है, लेकिन थी नहीं; भ्रांत रही होगी, प्रतीति रही होगी, आभास रहा होगा।
किसी व्यक्ति में परमात्मा की प्रतीति होने लगे, यह बहुत असंभव घटना है, क्योंकि हमारा अहंकार बाधा डालता है। हमारा अहंकार यह तो मानने को राजी होता ही नहीं कि हमसे कोई श्रेष्ठतर हो सकता है। जैसे ही तुम यह जानने और मानने में उतरने लगते हो कि हमसे कोई श्रेष्ठतर है, हमसे कोई महानतर है, हमसे कोई विभु और प्रभु है, हमसे कोई ऊपर है--वैसे ही तुम्हारा अहंकार विसर्जित होने लगता है। और जिस दिन तुम्हारा अहंकार विसर्जित हो जाता है, एक दिन तुमने जिस परमात्मा को गुरु में देखा था, उसी परमात्मा को एक दिन तुम अपने में भी देख पाते हो। जिस घटना की शुरुआत गुरु पर हुई थी, उस घटना का अंत शिष्य पर होता है।
यह महानतम क्रांति है। इस क्रांति के लिए बड़ा संवेदनशील चित्त चाहिए। "गुरु के पास कैसे आएं, किस ढंग से उठे-बैठें?"
संवेदनशील होओ! कोई अपने प्रेमी के पास कैसे जाता है? कैसे भावों के फूल सजा लेता भीतर! कैसे पवित्र हृदय को ले कर जाता है! पापी से पापी भी जब किसी के प्रेम में पड़ता है, तो उन क्षणों में पुण्यात्मा हो जाता है। हत्यारे से हत्यारा आदमी भी अपनी प्रेयसी की हत्या तो नहीं करता! चोर से चोर आदमी भी अपने बेटे के खीसे से तो पैसे नहीं चुरा लेता।
तुमने देखा प्रेम का क्रांतिकारी रूप? दुष्ट से दुष्ट आदमी के पास भी उसकी प्रेयसी तो रात निश्चिंत सो जाती है; यह तो फिक्र नहीं होती कि रात को कहीं उठ कर गला न काट दे, यह आदमी हत्यारा है! नहीं, जहां प्रेम है, वहां पवित्रतम की अभिव्यक्ति शुरू हो जाती है।
चोर भी आपस में एक-दूसरे को धोखा नहीं देते--मैत्री। डाकू एक-दूसरे के प्रति बड़े निष्ठावान होते हैं; दूकानदार इतने निष्ठावान नहीं होते। और डाकू अगर वचन दे दे तो पूरा करेगा, दूकानदार का कोई पक्का भरोसा नहीं। बुरे से बुरा आदमी भी प्रेम की छाया में रूपांतरित हो जाता है, कुछ और
का और हो जाता है।
तो गुरु के पास जब आओ, तो अति प्रेम, संवेदना, उत्फुल्लता, आनंद, रसमग्न आओ। उदास नहीं, रोते नहीं। अगर रोते हुए भी आओ तो तुम्हारे आंसुओं में आनंद हो, शिकायत नहीं।
डबडबाया है जो आंसू यह मेरी आंखों में,
इसको तेरे किसी एहसान की दरकार नहीं।
जो इबादत भी करे और शिकायत भी करे,
प्यार का है वह बहाना तो, मगर प्यार नहीं।
जो इबादत भी करे और शिकायत भी करे,
जहां इबादत है, वहां शिकायत कैसी?
जो इबादत भी करे और शिकायत भी करे,
प्यार का है वह बहाना तो, मगर प्यार नहीं।
गुरु के पास इबादत से भरे हुए आओ। गुरु के पास ऐसे आओ जैसे मुसलमान जब मस्जिद में जाता है; गुरु के पास ऐसे आओ जैसे हिंदू जब मंदिर में जाता है, कि सिक्ख गुरुद्वारे में जाता है। गुरु के पास ऐसे आओ, जैसे कि तुम साक्षात परमात्मा के पास जा रहे हो--उतने ही पवित्र प्रसूनों से भरे--तो क्रांति घटेगी! क्योंकि घटना तो तुम्हारे भाव से घटने वाली है। पत्थर की मूर्ति के साथ भी घट सकती है, अगर भाव गहन हो; और जीवित परमात्मा के साथ भी नहीं घटेगी, अगर भाव मौजूद न हो।

गुरु के पास होना सुखद ही सुखद नहीं है, यह मैं जानता हूं। क्योंकि बहुत कुछ तुम्हें तोड़ना पड़ता, तोड़ने में पीड़ा होती। तुम्हें मिटाना पड़ता, मिटाने में दर्द होता। तुम्हें निखारना पड़ता, तुम्हें जलाना पड़ता, आग से गुजारना पड़ता--ये सब सुखद स्थितियां नहीं हैं। लेकिन शिष्य एक परम आशा से भरा होता, कि यह विध्वंस निर्माण के मार्ग पर है; कि यह मिटाना बनाने की तैयारी है।
जैसे हम एक पुराने मकान को गिराते हैं तो भी हम प्रफुल्लित होते हैं, क्योंकि नए मकान को बनाने के लिए जगह तैयार कर रहे हैं। जब तुम पुराने मकान को गिराने लगते हो, तो तुम रोते थोड़े ही हो! तुम प्रसन्न होते हो कि चलो घड़ी आ गई है, नए बनाने की सुविधा हो गई। कोई दूसरा तुम्हारे मकान को आ कर तोड़ने लगे तो तुम प्रसन्न न होओगे, क्योंकि तुम तब सिर्फ विध्वंस ही देखोगे। दोनों हालतों में घटना तो एक ही है--मकान तोड़ा जा रहा है। बनने वाली बात तो भविष्य की है--बने न बने। कल आए न आए, कल सूरज निकले न निकले-- किसको पता है? आज संभावना दिखती है, कल संभावना न रह जाए--किसको पता है? टूटने की बात तो दोनों में एक-सी है; लेकिन एक में तुम दुखी हो, एक में तुम प्रसन्न हो; एक में तुम्हारा हृदय उत्साह से भरा है, एक में तुम मुर्दे की तरह खड़े हो। सब निर्भर करता है इस बात पर कि विध्वंस सृजन के लिए हो रहा है या सिर्फ विध्वंस के लिए हो रहा है।
गुरु के पास बहुत कुछ टूटेगा; बहुत कुछ क्या, सब कुछ टूटेगा। तुम फिर
से बिखेर कर बनाए जाओगे, तुम्हें खंड-खंड किया जाएगा, ताकि फिर से तुम्हारे संगीत को जमाया जा सके। तुम्हारी वीणा अस्तव्यस्त है, तार उल्टे-सीधे कसे हैं। इसलिए जहां संगीत पैदा होना चाहिए, वहां केवल संताप पैदा हो रहा है; जहां आनंद का जन्म हो, वहां सिर्फ नर्क निर्मित हो रहा है। तुम्हारी दशा अति विकृत है। सोने में बहुत मिट्टी मिल गई है, बहुत कूड़ा- कर्कट मिल गया है। जन्मों-जन्मों तक सोना मिट्टी, कूड़ा-कर्कट में पड़ा रहा है। आग से गुजारना पड़ेगा। आग में वही जल जाएगा, जो तुम नहीं हो; वही बचेगा, जो तुम हो--शुद्ध कुंदन, शुद्ध स्वर्ण हो कर तुम निकलोगे। लेकिन आग से गुजरना पीड़ा तो है ही।
जख्मे-जिगर जो मुंदमिल गम में नहीं हुआ, न हो
दर्द की इंतिहा को तू शौक की इब्तदा समझ।
घाव एकदम से न भरे, न भरे...।
जख्मे-जिगर जो मुंदमिल गम में नहीं हुआ, न हो
जख्म एकदम से न भरे, न भरे। घाव तत्क्षण भर भी नहीं सकता।
दर्द की इंतिहा को तू शौक की इब्तदा समझ।
और पीड़ा की चरम सीमा भी आ जाए, तो तू यह याद रखना कि पीड़ा की चरम सीमा प्रेम की शुरुआत है।
दर्द की इंतिहा को तू शौक की इब्तदा समझ।
साधारणतः हम सब सुख के आकांक्षी हैं, दुख से भयभीत, सुख के लिए आतुर।
मिलता दुख ही है, आतुरता आतुरता ही रह जाती है, प्यास प्यास ही रह जाती है; तृप्ति होती कहां? सुख तो केवल उनको मिलता है जो दुख से गुजरने के लिए राजी हो जाते हैं। इस दुख से गुजरने का नाम ही तपश्चर्या है।
गुरु के पास होना, मैंने कहा, मृत्यु के पास होना है--तपश्चर्या है। तुम्हें निखारा जाएगा। तुम्हें उघाड़ा जाएगा। तुम्हें मिटाया जाएगा। तुम्हें पोंछा जाएगा। तुम्हारे भीतर छुपी हुई संभावनाओं को चेताया जाएगा, चुनौती दी जाएगी। श्रम होगा, तप होगा--तभी तुम उसे पा सकोगे, जिसे पाए बिना जीवन में कभी शांति नहीं। तभी तुम उसे पा सकोगे, जिसे पा कर फिर पाने की और कोई दौड़ नहीं रह जाती।
गुरु तुम्हें राह थोड़े ही दिखाता है सिर्फ। राह दिखाने की बात होती
तो बड़ा सरल हो जाता मामला। इतना ही थोड़े ही है कि तुमसे कह दिया, ऐसा कर लो। वस्तुतः तो जो गुरु तुम्हें सिर्फ राह दिखाता रहे कि ऐसा कर लो, वह बातचीत कर रहा है। गुरु तुम्हें करवाता है। राह दिखाता नहीं; राह पर धक्के देता है। राह पर चलाता भी है। तुम अपने से चल भी न पाओगे। तुम जड़ हो गए हो।

पक्षाघात तुम्हारे अंगों में समा गया है। तुमसे लाख बार कहा गया है कि यह है राह, चलो। तुमने सुन भी लिया, तुमने समझ भी लिया--चले तुम कभी नहीं।
संत अगस्तीन ने कहा है कि जो मुझे करना चाहिए, वह मुझे मालूम है; लेकिन
वह मैं करता नहीं। और जो मुझे नहीं करना चाहिए, वह भी मुझे मालूम है; लेकिन वही मैं करता हूं।
तुम्हें भी मालूम है, क्या ठीक है; अब राह क्या बतानी? ऐसा आदमी तुम पा सकते हो जिसको पता नहीं कि ठीक क्या है? सबको पता है। सबको पता है: सही क्या, गलत क्या? लेकिन इससे क्या होता है? राह बताने से क्या होता है? कोई चाहिए जो तुम्हें चलाए।
मंजिले-राहे-इश्क की उसको कोई खबर नहीं,
मंजिले-राहे-इश्क की उसको कोई खबर नहीं,
राह दिखाए जो तुझे, उसको न रहनुमा समझ।
वह जो ऐसा दूर खड़े हो कर राह बता दे, उसको रहनुमा मत समझ लेना। रहनुमा
तो तुम्हारे साथ चलेगा, तुम्हारे आगे, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे पूरब, तुम्हारे पश्चिम। रहनुमा तो तुम्हें घसीटेगा। रहनुमा तो तुम्हें धकाएगा। रहनुमा तो तुम्हें दौड़ाएगा। रहनुमा तो वहां तक आएगा, जहां तुम हो और वहां तक ले जाएगा, जहां तुम्हें होना चाहिए। रहनुमा तो ऐसा है जैसे कि कोई बाप अपने बेटे का हाथ पकड़ कर चलता हो।
मंजिले-राहे-इश्क की उसको कोई खबर नहीं,
राह दिखाए जो तुझे, उसको न रहनुमा समझ।
राह ही दिखाना होता तो मील के पत्थर पर लगे तीर के निशान बता देते हैं, आदमियों की जरूरत है? राह ही दिखाना हो तो शास्त्र दिखा देते हैं; शास्ता की जरूरत है? फिर शास्त्र और शास्ता में फर्क क्या रहेगा? फिर गीता और कृष्ण में फर्क क्या रहेगा, अगर राह ही दिखानी हो?
कृष्ण ने अर्जुन को राह ही थोड़े दिखाई। बड़ा संघर्ष किया। अर्जुन को खींच-खींच कर निकाला बाहर उसके अंधियारे से, जगाया उसकी नींद से, हिलाया- डुलाया। कई तरफ अर्जुन ने भागने की कोशिश की, सब तरफ से द्वार-दरवाजे बंद किए, भागने न दिया। खूब प्रश्न उठाए, खूब संदेह किए--उन सबकी तृप्ति की। अंततः ऐसी हालत में ला दिया, जहां सिवाय कृष्ण को मानने के और कृष्ण के साथ चलने के कोई उपाय न रहा।
क्षण होंगे निराशा के, क्षण होंगे दुख-पीड़ा के।
और "विष्णु चैतन्य" ऐसे ही क्षणों में से गुजर रहा है--डांवाडोल, दुविधा से भरा! मगर घबड़ाने की कोई बात नहीं, सभी को ऐसे ही गुजरना पड़ता है। स्वाभाविक है। इसमें विशेष कुछ भी नहीं। सभी डांवाडोल होते हैं। सभी पहले हजार तरह की चिंताओं में, शंकाओं में, संदेहों में भरते हैं। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे निखार आता है।
यह दर्द विराट जिंदगी में होगा परिणत
है तुम्हें निराशा, फिर तुम पाओगे ताकत
उन अंगुलियों के आगे कर दो माथा नत
जिनके छू लेने भर से, फूल सितारे बन जाते हैं
ये मन के छाले,
ओ मेजों की कोरों पर
माथा रख कर रोने वाले,
हर एक दर्द को, नए अर्थ तक जाने दो।
हर एक दर्द को, नए अर्थ तक जाने दो!
दर्द, दर्द ही नहीं है--दर्द नए अर्थ की शुरुआत है। जैसे किसी स्त्री
को बच्चा पैदा होता है तो बड़ी प्रसव की पीड़ा होती। वह प्रसव की पीड़ा से घबड़ा जाए...।
अभी दो-चार साल पहले इंग्लैंड में एक बहुत बड़ा मुकदमा चला। एक फार्मेसी ने, एक दवाइयों को बनाने वाले कारखाने ने एक दवा ईजाद की--शामक दवा, जो प्रसव की पीड़ा को दूर कर देती है। स्त्रियां उसे ले लें तो प्रसव की पीड़ा नहीं होती, बच्चा पैदा हो जाता है। लेकिन उसके बड़े घातक परिणाम हुए। बच्चे पैदा हुए--अपंग, अंधे, लंगड़े, लूले। सैकड़ों लोगों ने प्रयोग

किया और अब सैकड़ों मुकदमे चल रहे हैं उस फार्मेसी पर, कि उन्होंने उनके बच्चों की हालत खराब कर दी। मां को तो पीड़ा नहीं हुई, लेकिन जिस जहर ने मां की पीड़ा छीन ली, उस जहर ने बच्चे को विकृत कर दिया।
वह जिसको हम प्रसव की पीड़ा कहते हैं, वह स्वाभाविक है, वह आवश्यक है,
वह होनी ही चाहिए। उसको रोकना खतरनाक है।
जापान अकेला राष्ट्र है, जिसने कानून बनाया है कि प्रसव-पीड़ा को रोकने के लिए कोई दवा ईजाद नहीं की जा सकती। बड़ी समझदारी की बात है। सिर्फ अकेला राष्ट्र है सारी दुनिया में। क्योंकि प्रसव-पीड़ा बच्चे के जीवन की शुरुआत है। मां को ही पीड़ा होती है, ऐसा नहीं है; बच्चे को भी पीड़ा होती है। लेकिन उस पीड़ा से ही कुछ निर्मित होता है।
मैंने सुना है, एक किसान परमात्मा से बहुत परेशान हो गया। कभी ज्यादा वर्षा हो जाए, कभी ओले गिर जाएं, कभी पाला पड़ जाए, कभी वर्षा न हो, कभी धूप हो जाए, फसलें खराब होती चली जाएं, कभी बाढ़ आ जाए और कभी सूखा पड़ जाए। आखिर उसने कहा कि सुनो जी, तुम्हें कुछ किसानी की अक्ल नहीं, हमसे पूछो! परमात्मा कुछ मौज में रहा होगा उस दिन। उसने कहा, अच्छा, तुम्हारा क्या खयाल है? उसने कहा कि एक साल मुझे मौका दो, जैसा मैं चाहूं वैसा मौसम हो। देखो, कैसा दुनिया को सुख से भर दूं, धन-धान्य से भर दूं!
परमात्मा ने कहा, ठीक है, एक साल तेरी मर्जी होगी, मैं दूर रहूंगा। स्वभावतः किसान को जानकारी थी। काश, जानकारी ही सब कुछ होती! किसान ने जब धूप चाही तब धूप मिली, जब जल चाहा तब जल मिला, बूंद भर कम-ज्यादा नहीं, जितना चाहा उतना मिला। कभी धूप, कभी छाया, कभी जल--ऐसा किसान मांगता रहा और बड़ा प्रसन्न होता रहा; क्योंकि गेहूं की बालें आदमी के ऊपर उठने लगीं। ऐसी तो फसल कभी न हुई थी। कहने लगा, अब पता चलेगा परमात्मा को! न मालूम कितने जमाने से आदमियों को नाहक परेशान करते रहे। किसी भी किसान से पूछ लेते, हल हो जाता मामला। अब पता चलेगा।
गेहूं की बालें ऐसी हो गईं, जैसे बड़े-बड़े वृक्ष हों। खूब गेहूं लगे। किसान बड़ा प्रसन्न था। लेकिन जब फसल काटी, तो छाती पर हाथ रख कर बैठ गया। गेहूं भीतर थे ही नहीं, बालें ही बालें थीं। भीतर सब खाली था। वह तो चिल्लाया कि हे परमात्मा, यह क्या हुआ? परमात्मा ने कहा, अब तू ही सोच।
क्योंकि संघर्ष का तो तूने कोई मौका ही न दिया। ओले तूने कभी मांगे ही नहीं। तूफान कभी तुमने उठने न दिया। आंधी कभी तूने चाही नहीं। तो आंधी, अंधड़, तूफान, गड़गड़ाहट बादलों की, बिजलियों की चमचमाहट...तो इनके प्राण संगृहीत न हो सके। ये बड़े तो हो गए, लेकिन पोचे हैं।
संघर्ष आदमी को केंद्र देता है। नहीं तो आदमी पोचा रह जाता है। इसलिए
तो धनपतियों के बेटे पोचे मालूम होते हैं। जब धूप चाही धूप मिल गई, जब पानी चाहा पानी; न कोई अंधड़, न कोई तूफान। तुम धनपतियों के घर में कभी बहुत प्रतिभाशाली लोगों को पैदा होते न देखोगे--पोचे! गेहूं की बाल ही बाल होती है, गेहूं भीतर होता नहीं। थोड़ा संघर्ष चाहिए। थोड़ी चुनौती चाहिए।
जब तूफान हिलाते हैं और वृक्ष अपने बल से खड़ा रहता है, बड़े तूफानों को हरा कर खड़ा रहता है, आंधियां आती हैं, गिराती हैं और फिर गेहूं की बाल फिर-फिर खड़ी हो जाती है तो बल पैदा होता है। संघर्षण से ऊर्जा निर्मित होती है। अगर संघर्षण बिलकुल न हो, तो ऊर्जा सुप्त की सुप्त रह जाती है। प्रसव-पीड़ा मां के लिए ही पीड़ा नहीं है, बेटे के लिए भी पीड़ा है। लेकिन पीड़ा से जीवन की शुरुआत है--और शुभ है। नहीं तो पोचा रह जाएगा बच्चा। उसमें बल न होगा। और अगर बिना पीड़ा के बच्चा हो जाएगा, तो मां के भीतर जो बच्चे के लिए प्रेम पैदा होना चाहिए, वह भी पैदा न होगा। क्योंकि जब हम किसी चीज को बहुत पीड़ा से पाते हैं, तो उसमें हमारा एक राग बनता है।
तुम सोचो, हिलेरी जब चढ़ कर पहुंचा हिमालय पर तो उसे जो मजा आया, वह तुम हेलिकॉप्टर से जा कर उतर जाओ, तो थोड़े ही आएगा। उसमें सार ही क्या है? हेलिकॉप्टर भी उतार दे सकता है, क्या अड़चन है? मगर तब, तब बात खो गई। तुमने श्रम न किया, तुमने पीड़ा न उठाई, तो तुम पुरस्कार कैसे पाओगे?
यही गणित बहुत-से लोगों के जीवन को खराब किए है। मंजिल से भी ज्यादा मूल्यवान मार्ग है। अगर तुम मंजिल पर तत्क्षण पहुंचा दिए जाओ तो आनंद न

घटेगा। वह मार्ग का संघर्षण, वे मार्ग की पीड़ाएं, वे इंतजारी के दिन, वे प्रतीक्षा की रातें, वे आंसू, वह सब सम्मिलित है--तब कहीं अंततः आनंद घटता है।
हर एक दर्द को, नए अर्थ तक जाने दो!
तो विष्णु चैतन्य! दर्द है, मुझे पता है। आने में भी तुम मेरे पास डरते हो, वह भी मुझे पता है। घबड़ाओ मत, आओ! अपने को बाहर छोड़ कर आओ। बैठो मेरे पास एक शून्य, कोरी किताब की तरह, ताकि मैं कुछ लिख सकूं तुम पर। लिखे-लिखाए मत आओ, गुदे-गुदाए मत आओ; अन्यथा मैं क्या लिखूंगा? तुम मुझे लिखने का थोड़ा मौका दो। खाली आओ ताकि मैं तुममें उंडेलूं अपने को और भर दूं तुम्हें। शास्त्रों से भरे मत आओ। शास्त्र तो मैं तुम्हारे भीतर पैदा करने को तैयार हूं। तुम्हें शास्त्र ले कर आने की जरूरत नहीं। तुम सिद्धांतों और तर्कों के जाल में मत पड़ो।
तुम आओ चुप, तुम आओ हृदयपूर्वक, भाव से भरे। मुझे एक मौका दो, ताकि तुम्हें निखारूं, तुम्हारी प्रतिमा गढूं।

दूसरा प्रश्न: मैं तो लाख यतन कर हारयो,
अरे हां, रामरतन धन पायो।

पुछा है "अजित सरस्वती" ने।
ऐसा ही है। आदमी का यत्न कुछ काम नहीं आता। अंततः तो प्रभु-कृपा ही काम आती है। मगर प्रभु-कृपा उन्हें मिलती है जो यत्न करते हैं। अब जरा झंझट हुई, विरोधाभास हुआ।
समझने की कोशिश करना। प्रभु तो उन्हें ही मिलता है जो प्रभु-कृपा को उपलब्ध होते हैं। लेकिन प्रभु-कृपा को वे ही उपलब्ध होते हैं, जो अथक प्रयत्न करते हैं। प्रयत्न से प्रभु नहीं मिलता, लेकिन प्रभु-कृपा प्रयत्न से मिलती है। फिर प्रभु-कृपा से प्रभु मिलता है।
तो दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक तो हैं वे, जो कहते हैं हम अपने प्रयत्न से ही पा कर रहेंगे, हम तुझसे प्रसाद नहीं मांगते--ये बड़े अहंकारी लोग हैं। ये कहते हैं, हम तो खुद ही पा कर रहेंगे, हम मांगेंगे नहीं। हम मांगने वालों में नहीं। हम भिखमंगे नहीं हैं। हम तो छीन-झपट कर लेंगे। ये तो ईश्वर पर आक्रमण करने वाले लोग हैं। ये तो बैंड-बाजा ले कर और मशालें ले कर और हमला करते हैं। ये तो छुरे-भाले ले कर ईश्वर पर जाते हैं। ये तो आक्रमक हैं। इनको प्रभु कभी नहीं मिलता। और जब इनको नहीं मिलता, तो ये कहते हैं: प्रभु है नहीं; होता तो मिलना चाहिए था। यही तो विज्ञान की चेष्टा है।
विज्ञान आक्रमक है, बलात्कारी है; जबर्दस्ती जीवन के रहस्य को खोल देना चाहता है। जैसे कोई किसी फूल की कली को जबर्दस्ती खोल दे; सब खो जाता है उस जबर्दस्ती खोलने में; फूल का सौंदर्य ही नष्ट हो जाता है।
यह जीवन का रहस्य जब अपने से खुलता है--जब तुम प्रतीक्षा करते हो मौन, प्रार्थना करते हो, शांत-भाव से बैठते हो, और प्रभु को एक मौका देते हो कि खुले! तुम जल्दबाजी नहीं करते, तुम आग्रह नहीं करते। तुम कहते नहीं कि बहुत देर हो गई, मैं कितना यत्न कर चुका, अब खुलो! तुम कोई शर्त नहीं बांधते, तुम कोई सौदा नहीं करते। तुम कहते हो, जब तुम्हारी मर्जी हो, खुलना--मैं राजी हूं, मैं तैयार हूं! तुम मुझे पाओगे मौजूद। इस जन्म में तो इस जन्म में; अगले जन्म में तो अगले जन्म में; जल्दी मुझे कुछ नहीं है।
तो एक तो वे लोग हैं, जो आक्रमण करते हैं, वे तो कभी नहीं पाते। फिर दूसरी ओर अति पर दूसरे लोग हैं, वे कहते हैं: जब प्रयत्न से मिलता ही नहीं तो क्या करना; जब मिलेगा मिल जाएगा। वे कुछ करते ही नहीं। वे खाली बैठे रहते हैं। वे प्रतीक्षा तक नहीं करते। वे कहते हैं: जब करने से कुछ होता ही नहीं, भाग्य का मामला है, जब होना होगा, होगा; जब उसकी कृपा होगी, होगी। उसकी बिना आज्ञा के तो पत्ता भी नहीं हिलता, वे कहते हैं।
ये दोनों ही नासमझ हैं। एक से अति सक्रियता पैदा होती है, जो कि रुग्ण
और बुखार हो जाती है और विक्षिप्तता हो जाती है; और एक से अति अकर्मण्यता

पैदा होती है, जिससे सुस्ती और आलस्य और तमस घिर जाता है। दोनों के मध्य में मार्ग है। प्रयत्न भी करना होगा और प्रसाद भी मांगना होगा।
"मैं तो लाख यतन कर हारयो।"
मगर जल्दी मत हार जाना, लाख यतन कर हारना। कुछ लोग ऐसे हैं कि यतन तो करते नहीं, बैठे हैं; तो हारे ही नहीं। लाख यतन कर लेना। जो तुम कर सको, पूरा कर लेना। मगर अगर तुम्हारे करने से न मिले तो घबड़ा कर यह मत कहने लगना कि है ही नहीं। वहीं तो ठीक मौका आ रहा था, जब मिलने की घड़ी आ रही थी, उससे चूक मत जाना। जब तुम सब प्रयत्न कर चुको और हार जाओ...हारे को हरिनाम! फिर तुम हरिनाम लेना। उस परम हार में परम विजय फलित होगी।
"मैं तो लाख यतन कर हारयो,
अरे हां, रामरतन धन पायो।"
बस तुम हारे कि रामरतन धन मिला। इधर हारे, उधर मिला। क्योंकि इधर तुम हारे कि तुम मिटे। तुम मिटे कि परमात्मा बरसा। तुम्हारी मिटने की ही देर थी। लेकिन बिना यत्न किए तुम मिट न सकोगे।
यह विरोधाभासी लगता है। इसलिए मेरे वक्तव्य विरोधाभासी लगते हैं, पैराडॉक्सिकल लगते हैं। ऐसा ही समझो कि कोई आदमी मेरे पास आता है, वह कहता है: "रात मुझे नींद नहीं आती, अनिद्रा से परेशान हूं। दवाइयां भी काम नहीं देतीं, अब मैं क्या करूं?" उसको मैं क्या कहता हूं? उसको मैं कहता हूं, तुम ऐसा करो कि शाम को एक पांच-छह मील का चक्कर लगाओ। वह कहता है, आप क्या कह रहे हैं? ऐसे ही तो नींद नहीं आती, और चार-पांच मील का चक्कर लगाऊंगा, तो फिर तो रात भर नींद न आएगी।
मैं उसे कहता हूं, तुम फिक्र मत करो; तुम चार-पांच मील का चक्कर लगाओ। नींद के लिए जो सबसे जरूरी बात है, वह है हार जाना, थक जाना।
आज बहुत-से लोग अनिद्रा से पीड़ित हैं--पूरब में कम, पश्चिम में बहुत ज्यादा। लेकिन जल्दी ही पूरब में भी हो जाएंगे, क्योंकि पूरब में भी विज्ञान फैलेगा, सुख-संपत्ति बढ़ेगी, दारिद्रय कम होगा, काम कम होगा। पश्चिम में छह दिन का सप्ताह था, फिर पांच दिन का हो गया, अब चार दिन के होने की नौबत है। काम मशीन करने लगी है, आदमी के हाथ से काम सब जाने लगा है। जब काम बिलकुल न बचे तो विश्राम की जरूरत ही पैदा नहीं होती। विश्राम की जरूरत तो तभी पैदा होती है, जब अथक श्रम किया गया हो। तो फिर विश्राम की जरूरत पैदा होती है।
विश्राम एक जरूरत है। तुम खा-पी कर बैठे हो चुपचाप, कुछ करते-वरते नहीं, तो भूख कैसे लगेगी? अब तुम पाचक दवाइयां ले रहे हो, फिर ऐपेटाईजर ले रहे हो कि भूख लग जाए किसी तरह--और असली बात कर ही नहीं रहे कि तुम वैसे ही बैठे हो, कुछ हिलो-डुलो, चलो-फिरो, भोजन पचे। शरीर में श्रम हो तो भूख लगे, श्रम हो तो विश्राम की जरूरत पैदा होती है। जो आदमी दिन भर श्रम करता है, रात मजे से सो जाता है।
सम्राटों को भरोसा ही नहीं आता, जब वे भिखमंगों को सड़क पर सोया देखते हैं; यह बड़ा चमत्कार मालूम होता है। क्योंकि वे अपने सुंदरतम गद्दों में, वातानुकूलित स्थानों में, सब तरह की सुख-सुविधा के बीच भी रात भर करवटें बदलते हैं। और एक सज्जन हैं कि वे सड़क के किनारे पड़े हैं; न कोई तकिया है न कोई बिस्तर है, झाड़ के नीचे पड़े हैं, झाड़ की जड़ को ही उन्होंने अपना तकिया बना लिया है, और ऐसे सो रहे हैं, घुर्रा रहे हैं! भर-दुपहरी में पूरा रास्ता चल रहा है और तुम्हें राह के किनारे भिखमंगे सोए मिल जाएंगे। स्टेशन पर पोर्टर सोया हुआ मिल जाएगा। ट्रेनें आ रही हैं, जा रही हैं और वह मजे से प्लेटफार्म पर सोया हुआ है।
तो कुछ हैं कि सारी सुविधा जुटा ली है और नींद नहीं आती। उनको लगता है बड़ा अजीब-सा मामला है। कुछ भी अजीब नहीं; जीवन का गणित समझ में नहीं आया। विश्राम के लिए श्रम चाहिए। जीत के लिए हार चाहिए। प्रसाद के लिए प्रयत्न चाहिए। तो तुम अपनी तरफ से, तो जब लाख यतन कर लोगे, तभी वह घड़ी आती है जहां तुम कहते हो: "अब मेरे किए कुछ भी नहीं होता प्रभु! अब मैं जो कर सकता था, कर चुका।" लेकिन तुम हकदार तभी हो, जब तुम कह सको कि "जो मैं कर सकता था, कर चुका, मैंने कुछ उठा न छोड़ा। ऐसी कोई बात मैंने नहीं छोड़ी है जो

मैं कर सकता था, और मैंने न की हो। अब मेरे किए नहीं होता, अब तुम सम्हालो।" तो तत्क्षण सम्हाल लिए जाते हो।
"अरे हां, रामरतन धन पायो।"
ऐसी घटना घटती है--
रहे-शौक से अब हटा चाहता हूं,
कशिश हुस्न की देखना चाहता हूं।
--अब मैं इश्क के मार्ग से हटना चाहता हूं और देखना चाहता हूं कि सौंदर्य का आकर्षण कितना है?
रहे-शौक से अब हटा चाहता हूं,
--अब मैं प्रेम के मार्ग से हटता हूं।
कशिश हुस्न की देखना चाहता हूं।
--अब मैं देखना चाहता हूं कि परमात्मा का आकर्षण कितना है? मैं हटूं
और तुम खींचो! अब तक मैं खिंचता था, तुम्हारा पता न चलता था। अभी तक मैं दौड़ता था और तुम मिलते न थे, अब मैं रुकता हूं।
रहे-शौक से अब हटा चाहता हूं,
कशिश हुस्न की देखना चाहता हूं।
अब तुम्हीं पर छोड़ता हूं। अब देखें। अब तुम मुझे ढूंढो। मैंने बहुत ढूंढा। सब मैंने उपाय कर लिए। अब तुम मुझे ढूंढो!
"अरे हां, रामरतन धन पायो।"
और जिस दिन तुम हार कर बैठ जाते हो, अचानक तुम पाते हो वह सामने खड़ा है। वह सदा से खड़ा था। तुम अपने खोजने की धुन में लगे थे। तुम्हारी धुन इतनी ज्यादा थी कि उसे देख न पाते थे। तुम्हारी धुन के कारण ही अवरोध पड़ रहा था।
इसलिए तो अष्टावक्र कहते हैं, अनुष्ठान बाधा है। लेकिन इससे तुम यह
मत समझ लेना कि अनुष्ठान करना नहीं है। अनुष्ठान तो करना ही होगा, लाख जतन तो करने ही होंगे। जब तुम लाख जतन करके हार जाते हो, तो उसका एक जतन पर्याप्त हो जाता है उसकी तरफ से। मगर तुमने अर्जित कर लिया, तुम प्रसाद के योग्य हुए। तुम मुफ्त में नहीं पाते परमात्मा को, तुमने अपने जीवन को समर्पित किया। तुमने सब तरह से अपने जीवन को यज्ञ बनाया।
जब कपोल गुलाब पर शिशु प्रात के
सूखते नक्षत्र जल के बिंदु से
रश्मियों की कनक-धारा में नहा
मुकुल हंसते मोतियों का अर्ध्य दे

विहग शावक से जिस दिन मूक
पड़े थे स्वप्न नीड़ में प्राण अपरिचित थी विस्मृत की रात
नहीं देखा था स्वर्ण विहान
रश्मि बन तुम आए चुपचाप
सिखाने अपने मधुमय गान
अचानक दीं वे पलकें खोल
हृदय में बेध व्यथा का बाण
हुए फिर पल में अंतरधान!
ऐसा बहुत बार होगा। तुम्हारे प्रयत्नों से तुम हारोगे। क्षण भर को हार कर तुम बैठोगे। अचानक किरण उतरेगी। अचानक नहा जाओगे उस किरण में। अचानक गीत तुम्हें घेर लेगा। अचानक तुम पाओगे किसी और लोक में पहुंच गए। अचानक तुम पाओगे, लग गए पंख, उड़ने लगे आकाश में;
पृथ्वी के न रहे, आकाश के हो गए। फिर वापिस, फिर पाओगे वहीं के वहीं। रश्मि बन तुम आए चुपचाप
सिखाने अपने मधुमय गान
अचानक दीं वे पलकें खोल
हृदय में बेध व्यथा का बाण
हुए फिर पल में अंतरधान।

नींद में सपना बन अज्ञात गुदगुदा जाते हो जब प्राण
ज्ञात होता हंसने का मर्म,
तभी तो पाती हूं यह जान:
प्रथम छू कर किरणों की छांह
मुस्कुरातीं कलियां क्यों प्रात?
समीरण का छू कर चल छोर
लौटते क्यों हंसऱ्हंस कर पात?
एक बार तुम्हें प्रभु का संस्पर्श हो जाए, तो तुम भी समझ पाओगे कि: नींद में सपना बन अज्ञात
गुदगुदा जाते हो जब प्राण
ज्ञात होता हंसने का मर्म,
तभी तो पाती हूं यह जान:
प्रथम छू कर किरणों की छांह
मुस्कुरातीं कलियां क्यों प्रात?
सुबह, सूरज की किरण को छू कर फूल क्यों मुस्कुराने लगते हैं? क्यों अचानक सारी पृथ्वी एक नए आलोक, एक नई ऊर्जा, एक नए प्रवाह से भर जाती है जीवन के? क्यों सब तरफ जागरण छा जाता है?
प्रथम छू कर किरणों की छांह
मुस्कुरातीं कलियां क्यों प्रात?
समीरण का छू कर चल छोर
लौटते क्यों हंसऱ्हंस कर पात?
और जब पत्तों से खेलने लगता समीरण, तो पत्ते क्यों मुस्कुराने लगते हैं, क्यों प्रसन्न होने लगते हैं?
जब प्रभु की किरण तुम्हें छुएगी, तभी तुम जान पाओगे यह प्रकृति में जो उत्सव चल रहा है, क्या है; यह चारों तरफ जो महोत्सव तुम्हें घेरे है, यह क्या है? यह जो अहर्निश ओंकार का नाद हो रहा है चारों तरफ, तुम्हें तभी सुनाई पड़ेगा।
लेकिन उसके पहले श्रम तो करना है, लाख जतन तो करने हैं। यत्न तुम करो, प्रभु प्रतीक्षा करता है। जैसे ही तुम्हारे यत्न का पात्र पूरा हो जाता, प्रसाद बरसता है।
प्रसाद को मुफ्त में मत मांगना। अपनी आहुति देनी होती है। अपनी आहुति
दे कर मांगोगे तो ही मिलेगा। और कुछ देने से न चलेगा।
आदमी ने खूब तरकीबें निकाली हैं। फूल तोड़ लेता वृक्षों के, मंदिर में चढ़ा आता--किसको धोखा देते हो? फूल चढ़े ही थे परमात्मा को वृक्षों पर, तुमने उन्हें जुदा कर दिया। फूल ज्यादा जीवित थे वृक्षों पर, ज्यादा परमात्मा के साथ अठखेलियां कर रहे थे, तुमने उन्हें मार डाला। तुम मरे इन फूलों को, मरी एक प्रतिमा के सामने रख आए--और सोचे कि फूल चढ़ा आए? सोचे कि अर्ध्य हुआ? सोचे कि अर्चना पूरी हुई? प्रार्थना पूरी हुई? जला आए एक मिट्टी का दीया और सोचे कि रोशनी हो गई?
इतना सस्ता काम नहीं। जलाना होगा दीया भीतर प्राणों का और चढ़ाना होगा फूल--अपने ही परम चैतन्य के विकास का! अपना ही सहस्रार, अपना ही सहस्र दलों वाला कमल जिस दिन तुम चढ़ा आओगे--उस दिन! यह सिर अपना ही चढ़ाना होगा!
आदमी खूब चालाक है! उसने नारियल निकाल लिया है। नारियल आदमी जैसा लगता है, सिर जैसा। इसलिए तो उसको खोपड़ा कहते हैं। खोपड़ी! उसमें दो आंखें भी होती हैं, दाढ़ी-मूंछ सब उसमें होते हैं। नारियल चढ़ा आए। सिंदूर लगा आए। अपने रक्त की जगह सिंदूर लगा आए? अपने सिर की जगह नारियल चढ़ा आए? अपने सहस्रार की जगह और किन्हीं फूलों के, वृक्षों के फूल छीन लिए--उनको चढ़ा आए? किसको धोखा देते हो? अपने को चढ़ाना होगा! और अपने को चढ़ाने का एक ही उपाय है:
"मैं तो लाख यतन कर हारयो,
अरे हां, रामरतन धन पायो।"

आखिरी प्रश्न: जनक के जीवन में एक अपूर्व प्रसंग है--भूमि से प्राप्त सीता और सीता के आसपास जन्मी रामलीला का। कृपा करके रामलीला को आज हमें समझाएं।

अष्टावक्र के संदर्भ में और उस सबके संदर्भ में जो मैं तुमसे कह रहा हूं, उस कथा का अर्थ बहुत सीधा-साफ है। सीता है पृथ्वी, राम हैं आकाश। उन दोनों का मिलन ही रामलीला है--पृथ्वी और आकाश का मिलन। और रामलीला प्रत्येक के भीतर घट रही है। तुम्हारी देह सीता है; तुम्हारी आत्मा, राम। तुम्हारे भीतर दोनों का मिलन हुआ है--पृथ्वी और आकाश का, मर्त्य का और अमृत का। तुम्हारे भीतर दोनों का मिलन हुआ है। और उस सब में जो भी घट रहा है, सभी रामलीला है।
राम-कथा को अपने भीतर पढ़ो। और जिस दिन तुम यह पहचान लोगे कि तुम न तो राम हो और न तुम सीता हो, तुम तो रामलीला के साक्षी हो, द्रष्टा हो--उसी दिन रामलीला बंद हो जाती है। जाना है सीता और राम के ऊपर।
रामलीला लोग देखने जाते हैं, वहां क्या खाक मिलेगा? भीतर रामलीला चल रही है, वहीं बैठ कर देखो--तुम देखने वाले बन जाओ। रामलीला देखने से कहते ह? बड़ा लाभ होता, पुण्य होता। वह पुण्य, अगर मेरी बात समझ में आ जाए, तो होता है। यह जो सीता और राम का मिलन तुम्हारे भीतर हुआ है, ये जो पृथ्वी और आकाश मिले, यह जो पदार्थ और चैतन्य का मिलन हुआ--इसको मंच बना लो, यह होने दो। तुम दर्शक हो कर बैठ जाओ, तुम द्रष्टा बन जाओ, तुम साक्षी हो जाओ। जैसे ही तुम साक्षी हुए, तुम लीला के पार हो गए।
कहीं और रामलीला देखने नहीं जाना है। प्रत्येक के भीतर जन्मती है रामलीला। और जब तक रामलीला चलती रहती है, तब तक संसार चलता रहता है। जिस दिन तुम्हारा साक्षी जाग जाता है और रामलीला बंद हो जाती है, उसी दिन संसार तिरोहित हो जाता है।
बहुत दिन देख ली रामलीला; लेकिन जिस ढंग से देखी, उसमें थोड़ी भूल है।
वह भूल ऐसी है कि तुम रामलीला देखते-देखते यह भूल ही जाते हो कि तुम द्रष्टा हो। यह भी रोज होता है। तुम फिल्म देखने जाते हो, तुम भूल जाते हो कि तुम देखने वाले हो; तुम फिल्म का अंग बन जाते हो।
जब पहली दफा थ्री डायमेंशनल फिल्म बनी और लंदन में दिखाई गई, तो लोगों
को समझ में आया कि हम कितने भूल जाते हैं। तीन डायमेंशनल जो फिल्म है, उसमें तो बिलकुल ऐसा लगता है जैसे साक्षात व्यक्ति आ रहा है। एक घुड़सवार एक घोड़े पर दौड़ता एक भाला लिए आता है, और ठीक आ कर पर्दे पर वह भाला फेंकता है। पूरा हाल झुक गया--आधा इस तरफ, आधा उस तरफ--भाले से बचने के लिए। एक क्षण को झूठ सच हो गया। इस झूठ के सच हो जाने का नाम माया है।
बंगाल में बड़े प्रसिद्ध विचारक हुए ईश्वरचंद्र विद्यासागर। वे रामलीला देख रहे थे, या कोई और नाटक देख रहे थे। सभी नाटक रामलीला हैं। और नाटक में एक पात्र है, जो एक स्त्री के साथ बलात्कार करने की चेष्टा कर रहा है। वह इतनी बदतमीजी कर रहा है और वह इतनी कठोरता कर रहा है कि ईश्चरचंद्र विद्यासागर जो सामने ही बैठे थे पंक्ति में, भूल गए कि यह नाटक है। निकाल लिया जूता और चढ़ गए मंच पर, लगे पीटने उस अभिनेता को। अभिनेता ने ज्यादा होशियारी की। वह हंसने लगा। उसने जूता पुरस्कार की तरह ले कर अपनी छाती से लगा लिया। माइक पर खड़े हो कर उसने कहा कि धन्य मेरे भाग्य, मैंने तो कभी सोचा नहीं था कि मैं इतना कुशल अभिनेता हो सकता हूं कि ईश्वरचंद्र विद्यासागर धोखा खा जाएं। ऐसे ज्ञानी धोखा खा गए! तो इस जूते को लौटाऊंगा नहीं; यह तो मेरा पुरस्कार हो गया; इसको तो, अब याददाश्त के लिए रखूंगा। और बहुत प्रमाण-पत्र मुझे मिले हैं, मैडल मिले हैं; मगर इससे बड़ा कोई भी नहीं मिला।
ईश्वरचंद्र बड़े सकुचाए जैसे ही होश आया कि यह मैं कर क्या बैठा हूं। ईश्वरचंद्र जैसा बुद्धिमान आदमी खो गया नाटक में! सभी बुद्धिमान ऐसे
ही खो गए हैं।
जब तुम देखते हो नाटक को, तो तुम भूल ही जाते हो कि तुम द्रष्टा हो। वह
जो चल रहा है धूप-छाया का खेल मंच पर, पर्दे पर, वही सब कुछ हो जाता है। ऐसा

ही घट रहा है भीतर। यह जो रामलीला तुम्हारे जीवन में घटी है--सीता और राम के मिलन पर, पृथ्वी और आकाश के मिलन पर, इसमें तुम बिलकुल खो गए हो, तल्लीन हो गए हो; तुम भूल ही गए हो कि तुम सिर्फ द्रष्टा हो। करो याद, जगो अब। जागते ही तुम पाओगे कि पर्दा शून्य हो गया। न वहां राम हैं, न वहां सीता। खेल समाप्त हुआ। इस खेल की समाप्ति को हम कहते हैं: मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
तेरहवां प्रवचन

जब जागो तभी सवेरा

जनक उवाच।

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्।। ४१।।
नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बंध आसीधा जीविते स्पृहा।। ४२।।
अहो भुवन कल्लोलैर्विचित्रैद्रकि समुत्थितम्।
मयनंतमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते।। ४३।।
मयनंतमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।
अभाग्याजीववणिजो जगतपोतो विनश्वरः।। ४४।।
मयनंतमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः।
उद्यन्ति ध्वन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः।। ४५।।

ज्ञान और ज्ञान में बड़ा भेद है। एक तो ज्ञान है, जो बांझ होता है, जिसमें फल नहीं लगते, न फूल लगते। एक ज्ञान है, जिसमें मुक्ति के फल लगते हैं, सच्चिदानंद के फूल लगते, फल लगते, सुगंध उठती समाधि की।
जिस ज्ञान से समाधि की सुगंध न उठे, उसे थोथा और व्यर्थ जानना। उससे जितनी जल्दी छुटकारा हो जाए, उतना अच्छा। क्योंकि मुक्ति के मार्ग में वह बाधा बनेगा। मुक्ति के मार्ग में जो साधक नहीं है, वही बाधक हो जाता है। धन भी इतनी बड़ी बाधा नहीं है, जितनी बड़ी बाधा थोथा ज्ञान हो जाता है। धन इसलिए बाधा नहीं है कि धन से कोई साधन ही नहीं बनता; धन से कोई साथ ही नहीं मिलता मोक्ष की तरफ जाने में, तो धन के कारण बाधा नहीं हो सकती।
मोक्ष की तरफ जाने में ज्ञान साधन है। इसीलिए अगर गलत ज्ञान हो, मिथ्या ज्ञान हो तो बाधा हो जाएगी। संसार उतनी बड़ी रुकावट नहीं है, जितना शब्दों और शास्त्रों से मिला हुआ संगृहीत ज्ञान रुकावट हो जाता है। मैंने सुना है, पुरानी कथा है कि अवंतिका नगर के बाहर, क्षिप्रा नदी
के पार एक महापंडित रहता था। उसकी दूर-दूर तक ख्याति थी। वह रोज क्षिप्रा को पार करके, नगर के एक बड़े सेठ को कथा सुनाने जाता था--धर्म-कथा। एक दिन बहुत चौंका। जब वह नाव से क्षिप्रा पार कर रहा था, एक घड़ियाल ने सिर बाहर निकाला और कहा कि पंडित जी, मेरी भी उम्र हो गई, मुझे भी कुछ ज्ञान आते-जाते दे दिया करें। और मुफ्त नहीं मांगता हूं। और घड़ियाल ने अपने मुंह में दबा हुआ एक हीरों का हार दिखाया।
पंडित तो भूल गया--जिस वणिक को कथा सुनाने जाता था--उसने कहा, पहले तुझे सुनाएंगे। रोज पंडित घड़ियाल को कथा सुनाने लगा और रोज घड़ियाल उसे कभी हीरे, कभी मोती, कभी माणिक के हार देने लगा। कुछ दिनों बाद घड़ियाल ने कहा कि पंडित जी! अब मेरी उम्र पूरी होने के करीब आ रही है, मुझे त्रिवेणी तक छोड़ आएं, एक पूरा मटका भर कर हीरे जवाहरात दूंगा। पंडित उसे लेकर त्रिवेणी गया और जब घड़ियाल को उसने त्रिवेणी में छोड़ दिया और अपना मटका भरा हुआ ले लिया और ठीक से देख लिया मटके में कि हीरे-जवाहरात सब हैं, और विदा होने लगा तो घड़ियाल उसे देख कर हंसने लगा। उस पंडित ने पूछा: हंसते हो? क्या कारण है?
उसने कहा, मैं कुछ न कहूंगा। मनोहर नाम के धोबी के गधे से अवंतिका में पूछ लेना। पंडित को तो बहुत दुख हुआ। किसी और से पूछें--यही दुख का कारण! फिर वह भी मनोहर धोबी के गधे से पूछें! मगर घड़ियाल ने कहा, बुरा न मानना। गधा मेरा पुराना सत्संगी है। मनोहर कपड़े धोता रहता है, गधा नदी के किनारे खड़ा रहता है, बड़ा ज्ञानी है। सच पूछो तो उसी से मुझमें भी ज्ञान की किरण जगी।
पंडित वापिस लौटा, बड़ा उदास था। गधे से पूछे! लेकिन चैन मुश्किल हो गई, रात नींद न आए कि घड़ियाल हंसा तो क्यों हंसा? और गधे को क्या राज मालूम है?

फिर सम्हाल न सका अपने को। एक सीमा थी, सम्हाला, फिर न सम्हाल सका। फिर एक दिन सुबह-सुबह पहुंच गया और गधे से पूछा कि महाराज! मुझे भी समझाएं, मामला क्या है? घड़ियाल हंसा तो क्यों हंसा?
वह गधा भी हंसने लगा। उसने कहा, सुनो, पिछले जन्म में मैं एक सम्राट का वजीर था। सम्राट ने कहा कि इंतजाम करो, मेरी उम्र हो गई, त्रिवेणी चलेंगे, संगम पर ही रहेंगे। फिर त्रिवेणी का वातावरण ऐसा भाया सम्राट को, कि उसने कहा, हम वापिस न लौटेंगे। और मुझसे कहा कि तुम्हें रहना हो तो मेरे पास रह जाओ और अगर वापिस लौटना हो तो ये करोड़ मुद्राएं हैं सोने की, ले लो और वापिस चले जाओ। मैंने करोड़ मुद्राएं स्वर्ण की ले लीं और अवंतिका वापिस आ गया। इससे मैं गधा हुआ। इससे घड़ियाल हंसा।
कहानी प्रीतिकर है।
बहुत हैं, जिनका ज्ञान उन्हीं को मुक्त नहीं कर पाता। बहुत हैं जिनके ज्ञान से उनके जीवन में कोई सुगंध नहीं आती। जानते हैं, जानते हुए भी जानने का कोई परिणाम नहीं है। शास्त्र से परिचित हैं, शब्दों के मालिक हैं, तर्क का शृंगार है उनके पास, विवाद में उन्हें हरा न सकोगे; लेकिन जीवन में वे हारते चले जाते हैं। उनका खुद का जाना हुआ उनके जीवन में किसी काम नहीं आता।
जो ज्ञान मुक्ति न दे वह ज्ञान नहीं। ज्ञान की परिभाषा यही है, जो मुक्त करे।
जीसस ने कहा है, सत्य तुम्हें मुक्त करेगा; और अगर मुक्त न करे तो जानना कि सत्य नहीं है।
सिद्धांत एक बात है, सत्य दूसरी बात। सिद्धांत उधार है; सस्ते में ले लिया है; चोर-बाजार से खरीद लिया है; मुफ्त पा गए हो; कहीं राह पर पड़ा मिल गया है; अर्जित नहीं किया है। सत्य अर्जित करना होता है। जीवन की जो आहुति चढ़ाता है, वही सत्य को उपलब्ध होता है। जीवन का जो यज्ञ बनाता, वही सत्य को उपलब्ध होता है। सत्य मिलता है--स्वयं के श्रम से। सत्य मिलता है--स्वयं के बोध से। दूसरा सत्य नहीं दे सकता।
इस एक बात को जितने भी गहरे तुम सम्हाल कर रख लो उतना हितकर है। सत्य तुम्हें पाना होगा। कोई जगत में तुम्हें सत्य दे नहीं सकता। और जब तक तुम यह भरोसा किए बैठे हो कि कोई दे देगा, तब तक तुम भटकोगे; तब तक सावधान रहना, कहीं मनोहर धोबी के गधे न हो जाओ! तब तक तुम त्रिवेणी पर आ-आ कर चूक जाओगे; संगम पर पहुंच जाओगे और समाधि न बनेगी। बार-बार घर के करीब आ जाओगे और फिर भटक जाओगे।
मैंने सुना है, राबिया अलअदाबिया एक सूफी फकीर औरत गुजरती थी एक रास्ते से। उसने फकीर हसन को एक मस्जिद के सामने हाथ जोड़े खड़े देखा। और जोर से वह फकीर हसन कह रहा था, हे प्रभु! द्वार खोलो! कब से पुकारता हूं। कृपा करो! मुझ दीन पर अनुकंपा करो! द्वार खोलो!
हसन की आंखों से आंसू बह रहे हैं। राबिया वहां से निकलती थी, वह खड़ी हो गई, हंसने लगी। और उसने कहा, भाई मेरे आंख तो खोलो, जरा देखो भी, द्वार बंद कहां है? द्वार खुला ही है, जरा देखो तो।
हसन ने शास्त्रों में पढ़ा था। पढ़ा होगा जीसस का वचन: "पूछो, और मिलेगा! खटखटाओ, और खुलेगा!" शास्त्र से पढ़ा था: चीखो-पुकारो! आर्त तुम्हारी पुकार हो तो परमात्मा का द्वार खुलेगा। यह राबिया शास्त्र से पढ़ी हुई नहीं है। इसने देखा कि द्वार परमात्मा का कभी बंद ही नहीं। वह कहने लगी, भाई मेरे! आंख तो खोलो! नाहक शोरगुल मचा रहे हो! द्वार बंद कब था? द्वार खुला ही है-- अपनी आंख चाहिए!
और यहां हम सब उधार आंखों से जी रहे हैं। साधारण जीवन में भी उधार आंख
से नहीं जीया जा सकता, लेकिन हम उस अनंत की यात्रा पर उधार आंखें ले कर चल पड़े हैं।
एक आदमी था, बूढ़ा हो गया--उसकी आंखें चली गईं। चिकित्सकों ने कहा, आंखें ठीक हो सकती हैं, ऑपरेशन करवाना होगा, तीन महीने विश्राम करना होगा। उस बूढ़े ने कहा, "सार क्या? अस्सी साल का तो हो गया। फिर आंखों की मेरे घर में कमी क्या है? आठ मेरे लड़के हैं, सोलह उनकी आंखें; आठ उनकी बहुएं हैं,

सोलह उनकी आंखें; मेरी पत्नी भी अभी जिंदा है, दो उसकी आंखें--ऐसे चौंतीस आंखें मेरे घर में हैं। दो आंखें न हुईं, क्या फर्क पड़ता है?" दलील तो जंचती है। लड़कों की आंखें, बहुओं की आंखें, पत्नी की आंखें--चौंतीस आंखें घर में हैं। न हुईं छत्तीस, चौतीस हुईं, क्या फर्क पड़ता है? दो आंख के कम होने से क्या बिगड़ता है? इतने तो सहारे हैं!
नहीं, वह राजी न हुआ ऑपरेशन को। और कहते हैं, उसी रात उस घर में आग लग गई। चौंतीस आंखें बाहर निकल गईं; बूढ़ा, अंधा बूढ़ा टटोलता, आग में झुलसता, चीखता-चिल्लाता रह गया। लड़के भाग गए, पत्नी भाग गई, बहुएं भाग गईं। जब घर में आग लगी हो तो याद किसे रह जाती है किसी और की! याद आती है बाहर जा कर। बाहर जा कर वे सब सोचने लगे, अब क्या करें? बूढ़े पिता को कैसे बचाएं? लेकिन जब आग लगी तो आंखें अपने पैरों को ले कर बाहर भाग गईं। दूसरे की याद कहां ऐसे संकट के क्षण में! समय कहां, सुविधा कहां कि दूसरे की याद कर लें! दूसरा तो सुविधा में, समय हो तो हम सोच पाते हैं। जब अपने प्राणों पर बनी हो तो कौन किसकी सोच पाता है!
वह बूढ़ा चीखने-चिल्लाने लगा और तब उसे याद आई कि मैंने बड़ा गलत तर्क दिया। आंख अपनी ही हो तो ही समय पर काम आती है।
और इस जीवन के भवन में आग लगी है। यहां हम रोज जल रहे हैं। यहां अपनी
ही आंख काम आएगी, यहां दूसरे की आंख काम नहीं आ सकती। फिर बाहर की दुनिया में तो शायद दूसरे की आंख काम भी आ जाए, लेकिन भीतर की दुनिया में तो दूसरे का प्रवेश ही नहीं है; वहां तो तुम नितांत अकेले हो। वहां तो तुम्हीं हो, और कोई न कभी गया है और न कभी कोई जा सकता है। तुम्हारे अंतरतम में तुम्हारे अतिरिक्त किसी की गति नहीं है; वहां तो अपनी आंख होगी तो ही काम पड़ेगी।
इसलिए मैं कहता हूं कि ज्ञान और ज्ञान में भेद है।
जनक को जो हुआ वह असली ज्ञान है। वह पांडित्य नहीं है। वह प्रज्ञा की अभिव्यक्ति है। जल गया दीया!
सूफी एक कहानी कहते हैं। कहते हैं, एक युवा सत्य के खोजी ने अपने गुरु
से कहा कि मैं क्या करूं? कैसे हो मेरा मन शांत? कैसे मिटे यह अंधेरा मेरे भीतर का? कैसे कटे मेरी मूर्च्छा का जाल? मुझे कुछ राह सुझाओ।
गुरु थोड़ी देर उसकी तरफ देखता रहा, फिर पास में रखी हुई उसने सूफियों
की एक किताब दे दी और कहा, इसे पढ़! तल्लीन हो कर पढ़। डूब इसमें। लगा डुबकी! होगा मन शांत।
युवा खूब तन-मन से पढ़ने लगा। वह कुछ दिनों बाद आया। उसने कहा, आपने कहा, वह ठीक है; लेकिन बिलकुल ठीक नहीं। ठीक है, जब मैं पढ़ता हूं, डूब जाता हूं, रस-विभोर हो जाता हूं। संतों की वाणी जब मेरे आस-पास गूंजने लगती है तो मैं किसी और लोक में हो जाता हूं। बड़े दीये जल जाते हैं, बड़े कमल खिल जाते हैं। मगर फिर किताब बंद और सब बंद! फिर कमल विदा हो जाते हैं; दीए बुझ जाते हैं। फिर वही का वही अंधेरा, फिर मेरा वही पुराना अंधेरा। बार-बार ऐसा होता है, बार-बार फिर सब खो जाता है। संपदा बनती मालूम नहीं होती, सिर्फ सपना मालूम होती है।
गुरु हंसने लगा। उसने कहा, सुन! दो यात्री तीर्थयात्रा को गए। एक के पास लालटेन थी, दूसरे के पास लालटेन नहीं थी। दोनों साथ-साथ चलते। जिसके हाथ में लालटेन थी उसका प्रकाश दूसरे के भी काम आता। राह दोनों के लिए प्रकाशित हो जाती। लेकिन फिर ऐसी घड़ी आई, जब लालटेन वाले यात्री को अपना मार्ग चुनना पड़ा। तो लालटेन वाला यात्री तो अपने मार्ग पर चला गया-- निश्चिंत, अभय! हाथ में अपना प्रकाश था। लेकिन जो यात्री अब तक प्रकाश में चला था, वह अचानक अंधेरे में खड़ा रह गया--भयातुर, कंपता हुआ।
ठीक ऐसी ही अवस्था शास्त्र के साथ होती है--गुरु ने कहा। जब तुम शास्त्र को पढ़ते हो तो दूसरे के प्रकाश में थोड़ी देर चल लेते हो; दूसरे के प्रकाश में सब साफ दिखायी पड़ने लगता है। फिर दूसरे का प्रकाश है, सदा के लिए तुम्हारा हो नहीं सकता। राहें जुदा हो जाती हैं। शास्त्र एक मार्ग पर चला जाता है, तुम एक मार्ग पर खड़े रह जाते हो, फिर अंधेरा घेर लेता है।

सत्संग में बहुत बार तुम्हारे भीतर भी दीया जलता है, मगर वह तुम्हारा दीया नहीं। वह बाहर, सदगुरु के दीये की झलक होती है। वह प्रतिबिंब होता है। शास्त्र को पढ़ते-पढ़ते कभी नासापुट सुगंध से भर जाते हैं; मगर वह तुम्हारी सुगंध नहीं। वह सुगंध किसी और की है। वह कहीं बाहर से आई है। उसका आविर्भाव भीतर से नहीं हुआ। वह जल्दी ही खो जाएगी।
और ध्यान रखना! देखा कभी राह पर चलते हो, अंधेरी राह है और फिर कोई तेज प्रकाश की कार निकल जाती है, तो क्षण भर को तो सब रोशन हो जाता है! लेकिन कार के चले जाने पर अंधेरा और भी घना हो जाता है, जितना पहले भी नहीं था। आंखें बिलकुल चुंधिया जाती हैं। कुछ नहीं दिखाई पड़ता। पहले तो थोड़ा-बहुत दिखाई भी पड़ता था।
अक्सर ऐसा होता है, शास्त्र के प्रकाश में या सदगुरु के प्रकाश में थोड़ी देर को तो बिजली चमक जाती है, सब साफ हो जाता है; लेकिन फिर ऐसा अंधेरा छाता है जैसा पहले भी नहीं था--और भी घना अंधेरा हो जाता है।
उस सूफी फकीर ने अपने शिष्य को कहा कि अब शास्त्र बंद कर, तेरा पहला पाठ पूरा हुआ, अब भीतर का दीया जला। ज्योति तेरे भीतर है। अपनी ज्योति जला। दूसरे की ज्योति में थोड़ी-बहुत देर कोई रोशनी में चल ले; यह सदा के लिए नहीं हो सकता; यह सनातन और शाश्वत यात्रा नहीं हो सकती। पराए प्रकाश में हम थोड़ी देर के लिए प्रकाशित हो लें; चाहिए तो होगा अपना ही प्रकाश। इसलिए कहता हूं, ज्ञान और ज्ञान में भेद है। एक ज्ञान, जो तुम्हें दूसरे से मिलता है। उसे तुम सम्हाल कर मत बैठ जाना। यह मत सोच लेना कि मिल गई नाव, भवसागर पार हो जाएगा। दूसरा एक ज्ञान, जो तुम्हारी अंतर्ज्योति के जलने से मिलता है, वही तुम्हें पार ले जाएगा।
जनक को कुछ ऐसा हुआ। चोट पड़ी। भीतर का तम टूटा। अपनी ज्योति जली। यह ज्योति इतनी आकस्मिक रूप से जली कि जनक भी भरोसा नहीं कर पाते। इसलिए बार-बार कहे जाते हैं: "आश्चर्य! आश्चर्य! अहो, यह क्या हो गया?" देख रहे हैं कुछ हुआ--कुछ ऐसा हुआ कि पुराना सब गया और सब नया हो गया; कुछ ऐसा हुआ कि सब संबंध विच्छिन्न हो गए अतीत से; कुछ ऐसा हुआ कि अब तक जो मन की दुनिया थी, वह खंड-खंड हो गई, मन के पार का खुला आकाश दिखाई पड़ा। लेकिन यह इतना आकस्मिक हुआ है--अचंभित हैं, अवाक हैं, ठगे रह गए हैं! इसलिए हर वचन में आश्चर्य और आश्चर्य की बात कर रहे हैं।
आज का पहला सूत्र है:
अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्।।
"आश्चर्य कि मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता। जनसमूह भी मेरे लिए अरण्यवत
हो गया है। तब मैं कहां मोह करूं, किससे मोह करूं, कैसे मोह करूं?"
दूसरा बचा ही नहीं मोह के लिए, कोई आश्रय न रहा!
"आश्चर्य कि मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता।"
और ऐसा भी नहीं कि मैं अंधा हो गया हूं। दिखाई दे रहा है, खूब दिखाई दे रहा है! ऐसा दिखाई दे रहा है जैसा कभी दिखाई न दिया था। आंखें पहली दफे भरपूर खुली हैं--और द्वैत नहीं दिखाई दे रहा, एक ही दिखाई दे रहा है। सब किसी एक ही की तरंगें हो गए हैं। सब किसी एक ही संगीत के सुर हो गए हैं। सब किसी एक ही महावृक्ष के छोटे-छोटे पत्ते, शाखाएं, उपशाखाएं हो गए हैं। लेकिन जीवन-धार एक है! द्वैत नहीं दिखाई देता; अब तक द्वैत ही दिखाई दिया था।
तुमने सोचा है कभी? उन क्षणों में भी, जहां तुम चाहते हो द्वैत न दिखाई दे, वहां भी द्वैत ही दिखाई देता है। किसी से तुम्हारा प्रेम है। तुम चाहते हो, कम से कम यहां तो अद्वैत दिखाई दे। तुम चाहते हो, यहां तो कम से कम एकता हो जाए।
प्रेमी की तड़फन क्या है? प्रेमी की पीड़ा क्या है? प्रेमी की पीड़ा यही
है कि जिससे वह एक होना चाहता है उससे भी दूरी बनी रहती है। कितने ही पास आओ, गले से गले मिलाओ--दूरी बनी रहती है। निकट आ कर भी निकटता कहां होती है? आत्मीय हो कर भी आत्मीयता कहां होती है?

प्रेमी की पीड़ा यही है: चाहता है कि कम से कम एक से तो अद्वैत हो जाए। अद्वैत की आकांक्षा हमारे प्राणों में पड़ी है। वह हमारी गहनतम आकांक्षा है। जिसको तुम प्रेम की आकांक्षा कहते हो, अगर गौर से समझोगे तो वह अद्वैत की आकांक्षा है। वह आकांक्षा है कि चलो न हो सकें सबसे एक, कम से कम एक से तो एक हो जाएं। कोई तो हो ऐसी जगह, जहां द्वि न हो, दूजा न हो, दूसरा न हो; जहां बीच में कोई खाली जगह न रह जाए; जहां सेतु बन जाए; जहां मिलन घटित हो। प्रेम की आकांक्षा अद्वैत की आकांक्षा है। ठीक-ठीक तुमने व्याख्या न
की होगी। तुमने ठीक-ठीक प्रेम की आकांक्षा का विश्लेषण न किया होगा। अगर तुम उसका विश्लेषण करो तो तुम पाओगे: समस्त धर्म प्रेम की ही आकांक्षा से पैदा होता है।
लेकिन प्रेमी भी एक नहीं हो पाते। क्योंकि एक होने के लिए प्रेम काफी नहीं। एक होने के लिए आकांक्षा काफी नहीं। एक होने के लिए एक को देखने की क्षमता चाहिए। देखने की क्षमता तो हमारी दो की है। देखते तो हम सदा दो को हैं। देखते तो हम भिन्नता को हैं। भिन्नता हमारे लिए तत्क्षण दिखाई पड़ती है। अभिन्नता हमें दिखाई नहीं पड़ती। अभिन्नता को देखने की हमारी क्षमता ही खो गई है। सीमा दिखाई पड़ती है, असीम दिखाई नहीं पड़ता। लहरें दिखाई पड़ती हैं, सागर दिखाई नहीं पड़ता। तुम दूसरों से कैसे भिन्न हो, यह दिखाई पड़ता है; तुम दूसरों से कैसे अभिन्न हो, यह दिखाई नहीं पड़ता।
अद्वैत तो तभी फल सकता है, जब दो के बीच जो शाश्वत सेतु है ही, वह दिखाई पड़े।
आश्चर्य, जनक कहने लगे, मुझे दिखाई देता है, लेकिन द्वैत दिखाई नहीं देता! यह क्या मामला है? यह क्या हो गया है मुझे? यह भरोसा नहीं आ रहा। यह घटना इतनी आकस्मिक हुई है। यह संबोधि ऐसे क्षण के अंश में घट गई है, धीरे- धीरे घटती तो आश्चर्य की कोई बात न थी।
बुद्ध ने ऐसा नहीं कहा है, कि आश्चर्य! महावीर ने ऐसा नहीं कहा है, कि आश्चर्य! जो घटा है, वह धीरे-धीरे घटा है, वह क्रमिक रूप से घटा है। जो घटा है वह एकदम छप्पर टूट कर नहीं घटा है।
तुम एक-एक पैसा जोड़ो, करोड़ों रुपये जोड़ लो, तो भी आश्चर्य न होगा। लेकिन राह के किनारे करोड़ों रुपए अचानक पड़े मिल जाएं तो तुम भरोसा न कर कर पाओगे। तुम बार-बार अपनी आंखों को साफ करके देखोगे कि मुझे, और करोड़ों रुपये मिल गए, यह मामला सच है कि कोई सपना तो नहीं देख रहा हूं? क्योंकि तुम्हारे जीवन भर का अनुभव तो यह है कि जो भी तुम छूते हो, मिट्टी हो जाता है; सोना छूते हो, मिट्टी हो जाता है। यह मामला क्या है? यह तुम्हारे साथ ऐसा अघट घट रहा है कि आज मिट्टी सोना हो कर पड़ी है। तुम्हें अपने पर भरोसा न आएगा। तुम यह मान न सकोगे एकदम से।
तो जब संबोधि की घटना क्रमशः घटती है, किरण-किरण सूरज उतरता है, एक किरण उतरी, दूसरी किरण उतरी, तीसरी किरण उतरी--इसके पहले कि दूसरी किरण उतरे, तुम एक किरण को अपने में आत्मसात कर लेते हो, तुम दूसरी के लिए तैयार हो जाते हो। यह जनक के लिए कुछ ऐसा हुआ जैसे आधी रात, अंधेरे में सूरज अचानक निकल आए; सारे जन्मों-जन्मों का अनुभव एकदम गलत हो जाए। सूरज सदा सुबह ही निकलता रहा था, यह अचानक आधी रात निकल आया! या कुछ ऐसा हो जाए कि हजार सूरज एक साथ निकल आएं तो भरोसा न आएगा। पहली बात तो यही खयाल में आए कि कहीं मैं पागल या विक्षिप्त तो नहीं हो गया!
इसलिए जब कभी ऐसी अनूठी घटना घटती है तो गुरु की मौजूदगी अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा व्यक्ति पागल हो जाएगा। जनक पागल हो सकते थे अगर अष्टावक्र की मौजूदगी न होती। अष्टावक्र की मौजूदगी भरोसा देगी, आश्वासन देगी। अष्टावक्र चुपचाप सुन रहे हैं, देखते हो? जनक कहे जाते हैं, अष्टावक्र चुपचाप सुन रहे हैं। एक शब्द नहीं बोले। वे चाहते हैं, बह जाए यह आश्चर्य। एक बार इसे कह लेने दो जो हुआ है; इसके भीतर जो घटा है, इसको फूट कर बह जाने दो।
तुमने देखा, कोई आदमी को दुख घटता है, वह अगर दुख कह ले तो मन हलका हो जाता है! तुम्हें अभी दूसरी घटना का पता नहीं कि जब सुख घटता है तो भी न कहो

तो हलका नहीं हो पाता आदमी। सुख घटा नहीं, इसलिए उस घटना का तुम्हें अनुभव नहीं है।
ये सारे जगत के बड़े शास्त्र जन्मे, ये इसलिए जन्मे कि जब आनंद घटा तो जिसको घटा वह बिना कहे न रह सका। उसे कहना ही पड़ा। कह कर वह हलका हुआ। चार को सुना कर बोझ टला। दुख का ही बोझ नहीं होता, सुख की भी बड़ी घनी पीड़ा होती है। मधुर! आनंद की भी बड़ी घनी पीड़ा होती है, जैसे तीर चुभ जाए। गुनगुनाना होगा; गाना होगा, नाचना होगा। पद घुंघरू बांध मीरा नाची! वह नाचना ही पड़ा। वह जो घटा है भीतर, वह इतना बड़ा है कि वह तुम्हें अगर डांवांडोल न करे तो घटा ही नहीं। वह अगर तुम्हें नचा न दे तो घटा ही नहीं। वह तुम्हें कंपा न दे तो घटा ही नहीं।
जैसे बड़े तूफान में वृक्ष की छोटी-सी पत्ती नाचती हो, कांपती हो--ऐसा जनक कंप गए होंगे।
"आश्चर्य कि मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता।"
यह मेरी आंखों को क्या हुआ? सदा द्वैत ही देखा था, अनेक देखा था; आज सब
एक हो गया है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में मिला हुआ मालूम पड़ता है। सबकी सीमाएं एक-दूसरे में लीन हुई मालूम होती हैं। सब एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए मालूम होते हैं। यह हुआ क्या!
तुम यहां बैठे हो, अगर अचानक तुम्हें जनक जैसी घटना घटे तो तुम क्या देखोगे? तुम यह नहीं देखोगे, यहां इतने लोग बैठे हैं; तुम देखोगे, यह मामला क्या है? ये इतने लोग अचानक खो गए? रूप तो बैठे हैं, लेकिन एक की आत्मा दूसरे में बह रही है, दूसरे की आत्मा तीसरे में बह रही है, सब एक-दूसरे में बहे जा रहे हैं। यह हुआ क्या है? ये लोग फूट क्यों गए? इनके घड़े टूट क्यों गए? इनके प्राण एक दूसरे में क्यों उतरे जा रहे हैं?
ऐसा ही हो रहा है; तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता है, इसलिए एक बात है। ऐसा
ही हो रहा है। तुम्हारी श्वास दूसरे में जा रही है, दूसरे की श्वास तुम में आ रही है। तुम्हारी ऊर्जा दूसरे में जा रही है, दूसरे की ऊर्जा तुम में आ रही है।
अब तो इसके वैज्ञानिक प्रमाण हैं कि हम एक-दूसरे में बहते रहते हैं। इसीलिए तो ऐसा हो जाता है कि अगर तुम किसी उदास आदमी के पास बैठो तो तुम उदास हो जाते हो। उसका उदास प्राण तुम में बहने लगता है। तुम किसी हंसते, प्रसन्नचित्त आदमी के पास बैठो, उसकी प्रसन्नचित्तता तुम्हें छूने लगती है, संक्रामक हो जाती है; कोई तुम्हारे भीतर हंसने लगता है। तुम कभी-कभी चकित भी होते हो कि हंसी का मुझे तो कोई कारण न था, मैं कोई प्रसन्नचित्त अवस्था में भी न था; लेकिन हुआ क्या? दूसरे तुम में बह गए।
वैज्ञानिक कहते हैं कि जब तुम किसी की तरफ बहुत प्रेम से देखते हो तो तुम्हारे भीतर से एक ऊर्जा उसकी तरफ बहती है। अब इस ऊर्जा को नापने के भी उपाय हैं। तुम्हारी तरफ से एक विशिष्ट ऊष्मा, गर्मी उसकी तरफ प्रवाहित होती है--ठीक वैसे ही जैसे विद्युत के प्रवाह होते हैं; ठीक वैसे ही विद्युतधारा तुम्हारी तरफ से उसकी तरफ बहने लगती है।
इसलिए अगर तुम्हें कोई प्रेम से देखे तो अपनी प्रेम की आंख को छिपा नहीं सकता, तुम पहचान ही लोगे। तुम्हें जब कोई घृणा से देखता है, तब भी छिपा नहीं सकता; क्योंकि घृणा के क्षण में भी एक विध्वंसात्मक ऊर्जा छुरी की तरह तुम्हारी तरफ आती है, चुभ जाती है।
प्रेम तुम्हें खिला जाता है, घृणा तुम्हें मार जाती है। घृणा में एक जहर है, प्रेम में एक अमृत है।
रूस में एक महिला है, उस पर बड़े वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं। वह सिर्फ किसी वस्तु पर ध्यान करके उसे चला देती है। टेबल के ऊपर--वह दस फीट की दूरी पर खड़ी है--और एक बर्तन रखा है। वह एक पांच मिनट तक उस पर ध्यान करती रहेगी, उसकी आंखें उस पर एकजुट जम जाएंगी और बर्तन कंपने लगेगा। और वह अगर कहेगी कि बाएं चलो, तो बर्तन बाएं सरकने लगेगा; दाएं चलो, तो बर्तन दाएं सरकने लगेगा।
इस पर बहुत अध्ययन हुआ है कि मामला क्या है। लेकिन एक और आश्चर्य की घटना पता चली कि अगर वह पांच मिनट यह प्रयोग करे तो उसका आधा किलो वजन कम

हो जाता है। तो ऊर्जा निश्चित ही प्रवाहित हुई। उसने ऊर्जा खोई। पांच मिनट के प्रयोग में उसने काफी जोर से ऊर्जा को फेंका। उसी ऊर्जा के धक्के में बर्तन हटने लगा, सरकने लगा, बंध गया।
हम एक-दूसरे में बह रहे हैं--जानें हम, न जानें हम।
तुमने यह भी देखा होगा कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके पास तुम्हें बहाव मालूम होगा; जैसे तुम किसी नदी की धारा में पड़ गए, जो बह रही है। उनके साथ तुम रहोगे तो ताजगी मालूम होगी। उनके साथ तुम रहोगे तो एक प्रवाह है, गति मालूम होगी। फिर कुछ ऐसे लोग हैं जो डबरों की तरह हैं; उनके पास तुम रहोगे तो ऐसा लगेगा, तुम भी कुंद हुए, बंद हुए, कहीं बहाव नहीं मालूम होता, सड़ांध-सी मालूम होती है, सब रुका-रुका, द्वार-दरवाजे बंद, नई हवा नहीं, नई रोशनी नहीं।
तुमने जाना होगा, देखा होगा। तुम जिनको आमतौर से साधु-संत कहते हो, वे ऐसे ही डबरे हैं। उनके पास तुम जा कर बैठो, थोड़ी देर ठीक, चौबीस घंटे किसी संत के पास रहना बड़ा मुश्किल है; वह तुम्हारी जान लेने लगेगा। उसके पास तुम हंस न सकोगे जोर से, तुम मजाक न कर सकोगे, तुम गीत न गुनगुना सकोगे। वह खुद भी बंद है, वह तुम्हें भी बंद करेगा। वह खुद अकड़ा बैठा है, वह तुम्हें भी अकड़ाएगा। उसने सब द्वार-दरवाजे अपने बंद कर लिए हैं। वह कब्र बन गया है, वह तुमको भी कब्र बना देगा।
इसीलिए तो लोग साधु-संतों के दर्शन करके एकदम भागते हैं। नमस्कार महाराज--और भागे! पैर छुए--और भागे! ठीक ही करते हैं। किसी आंतरिक अनुभूति के बल ऐसा करते हैं। पूजा कर लेते हैं, सत्संग नहीं करते। सत्संग खतरनाक हो सकता है।
जिन व्यक्तियों के पास प्रवाह मालूम होता है, जिनके पास तुम्हारे जीवन में भी स्फुरणा होती है, तुम्हारे भीतर भी कुछ कंपने लगता है, डोलने लगता है, गति होने लगती है--उसका केवल इतना ही अर्थ है कि वे लोग तुम्हारे भीतर अपने प्राणों को डालते हैं; वे तुम्हें कुछ देने को तत्पर हैं; कंजूस नहीं हैं, कृपण नहीं हैं। और जो तुम्हारे भीतर कुछ डालता है वह तुम्हें भी तत्पर करता है कि तुम भी दो! तुम्हारे भीतर भी प्रतिध्वनि उठती है, संवेदन उठता है।
और आदमी जितना बहे, उतना ही शुद्ध रहता है। ऐसे हम चेष्टा कर-कर के अपने को रोके हुए हैं कि बह न जाएं। जब जनक को पहली दफा दिखाई पड़ा होगा कि अरे, यह सब चेष्टा व्यर्थ है। कितना ही ऊपर-ऊपर से रोकते रहो, लेकिन भीतर तो हम सब जुड़े हैं। हम समुद्र में उठे छोटे-छोटे द्वीप नहीं हैं; हम महाद्वीप हैं; हम सब जुड़े हैं। और द्वीप भी जो दिखाई पड़ता है सागर में उठा छोटा-सा, वह भी नीचे गहराइयों में तो पृथ्वी से जुड़ा है, महाद्वीप से जुड़ा है। जुड़े हम सब हैं। इस जोड़ का दर्शन जनक को हुआ, तो वे कहने लगे:
अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम!
इतना जन-समूह देख रहा हूं, लेकिन द्वैत नहीं दिखाई पड़ता! ऐसा लगता है
कि इन सबके भीतर एक ही कोई जी रहा है, एक ही श्वास ले रहा है, एक ही प्राण प्रवाहित है। और यह सारा संसार मेरे लिए अरण्यवत हो गया।
जैसे कि कोई आदमी जंगल में भटक जाए--कभी तुम जंगल में भटक गए हो?--जैसे कभी कोई आदमी जंगल में भटक जाए तो वहां घर थोड़े ही बनाता है! भटका हुआ आदमी तो राह खोजता है कि कैसे बाहर निकल जाऊं? कितने ही सुंदर दृश्य हों आसपास, उनको थोड़े ही देखता है। भटका हुआ आदमी तो बस खोज करता है कि कैसे इस अरण्य के बाहर निकल जाऊं। न वहां घर बनाता, न वहां सुंदर फूलों को देखता, न वहां सुंदर वृक्षों से मोह लगाता।
जनक कहते हैं कि मेरे लिए यह संसार अरण्यवत हो गया है। इस नए बोध में
इस संसार का सारा काम मुझे एकदम जंगल जैसा हो गया है; जैसे मैं भटका था इसमें अब तक, अब बाहर निकलना चाहता हूं। और मैं अब चकित हो रहा हूं: तब कहां मैं मोह करूं? इस भटकी हुई अवस्था में, इस जंगल में, इस अरण्य में कहां मैं मोह करूं, किससे मोह करूं?
अब तक लोगों ने कहा होगा जनक को भी--वे बड़े ज्ञानियों का सत्संग करते थे, पंडितों का सत्संग करते थे, बड़े गुण-ग्राहक थे--न मालूम कितने लोगों ने

कहा होगा: छोड़ो मोह! छोड़ो माया! लेकिन आज जनक पूछते हैं कि छोड़ो माया-मोह, यह तो बात ही फिजूल है। करो कैसे? करना चाहूं तो भी करने का उपाय नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि दूसरा कोई है ही नहीं जिससे मोह करो; मैं ही बचा हूं। "मैं शरीर नहीं हूं। मेरा शरीर नहीं है। मैं जीव नहीं हूं। निश्चय ही मैं चैतन्यमात्र हूं। मेरा यही बंध था कि मेरे जीने में इच्छा थी।"
"मैं शरीर नहीं...!"
नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्!
"मैं शरीर नहीं हूं। मेरा शरीर नहीं है। मैं जीव भी नहीं हूं। मैं तो केवल चैतन्य हूं।"
ऐसी प्रतीति हो रही है। यह कोई सिद्धांत नहीं है। ऐसा साक्षात्कार हो रहा है। ऐसा दर्शन हो रहा है। ऐसा जनक देख रहे हैं। यहां वे किसी दर्शनशास्त्र की बात नहीं कर रहे हैं; जो उन्हीं प्रतीत हो रहा है उसी को शब्द दे रहे, अभिव्यक्ति दे रहे हैं।
"मेरा यही बंध था कि मेरी जीने में इच्छा थी।"
जीवेषणा मेरा बंध था। मैं जीना चाहता था, यही मेरा बंध था। और कोई बंध
न था। लेकिन अब तो जीवेषणा भी कहां रखूं? किससे मोह करूं? क्योंकि अब तो मैं देख रहा हूं, जो है वह शाश्वत और सनातन है; न कभी जन्मा, न कभी मरा। यह देह तो जन्मती और मरती है। ये श्वासें तो आज चलती हैं; कल नहीं चलेंगी। यह मन जो आज तरंगायित है, कल शांत हो जाएगा। ये प्राण जन्मे, मर जाएंगे। लेकिन अब मुझे एक बात सीधी-साफ दिखाई पड़ रही है, निश्चयपूर्वक दिखाई पड़ रही है कि मैं सिर्फ चैतन्य हूं, साक्षी हूं।
बंगाल में एक हंसोड़ आदमी हुआ: गोपाल भांड। उसके संबंध में बड़ी प्यारी कहानियां हैं। एक कहानी तो अति मधुर है। वह जिस नवाब के दरबार में लोगों को हंसाने का काम करता था, दरबारी उससे बड़े नाराज थे। क्योंकि वह सम्राट को धीरे-धीरे बहुत प्यारा हो गया था। जो हंसी ले आए जीवन में, वह अगर प्यारा न हो जाए तो और क्या हो? उसके पास बड़ी विलक्षण प्रतिभा थी, इसलिएर् ईष्या भी स्वाभाविक थी। उसे हराने की वे बड़ी सोच करते थे, लेकिन कुछ उपाय न खोज पाते थे। आखिर एक दिन कोई उपाय न देख कर उन्होंने गोपाल भांड को पकड़ लिया और कहा कि आज तो तुझे राज बताना पड़ेगा कि तेरी प्रतिभा का राज क्या है? गांव में ऐसी अफवाह है कि तेरे पास सुखदामणि है। तूने कुछ सिद्धि कर ली है और तुझे सुखदा नाम की मणि मिल गई है, जिसकी वजह से न केवल तू सुख में रहता है, तू दूसरों को भी सुखी करता है, और यही तेरे चमत्कार का और तेरे प्रभाव का राज है। वह सुखदामणि हमें दे दे, अन्यथा ठीक न होगा।
दरबारी उसकी मारपीट भी करने लगे। उसने कहा कि ठहरो, तुम ठीक कहते हो। अफवाह सच है। सुखदामणि मेरे पास है। लेकिन कोई चुरा न ले, कोई छीन न ले, इसलिए मैंने उसे जंगल में गड़ा दिया है। मैं तुम्हें बता देता हूं, तुम खोद लो।
पूर्णिमा की रात, वह सब दरबारियों को ले कर जंगल में गया। एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वे पूछने लगे, बोलो, कहां गड़ायी है?
उसने कहा कि अब तुम खोज लो जगह। सूत्र यह है कि जिस जगह पर खड़े होने से चांद तुम्हारे सिर पर चमकता हो, उसी जगह गड़ी है।
वे दरबारी भागे, खोजने लगे स्थान, लेकिन जो दरबारी जहां खड़ा हुआ, पूर्णिमा का चांद था, ठीक सिर के ऊपर था। वह सभी स्थानों पर सिर के ऊपर था तो वे जगह-जगह खोदने लगे। रात भर खोदते रहे, कई जगह खोदा। और गोपाल भांड वृक्ष के नीचे आराम से सोया रहा। सुबह उन्होंने उससे कहा कि तुम धोखा दे रहे हो। हमने सारा स्थान खोद डाला वृक्ष के आस-पास। रात भर हम थक गए खोद-खोद कर। वह सुखदामणि का कोई पता नहीं।
गोपाल भांड हंसने लगा। उसने कहा, मैंने कहा था कि जहां सिर पर चांद चमकता है, वहीं सुखदामणि गड़ी है। वह तुम्हारी खोपड़ी में गड़ी है, कोई जमीन में थोड़े ही गड़ी है। वह तुम्हारे सिर में है।
वह तुम्हारे चैतन्य में है। वह तुम्हारे साक्षी में है। जो साक्षी हो जाता, वह सुखी हो जाता।

जनक कहने लगे, न मैं शरीर, न शरीर मेरा, मैं जीव नहीं। निश्चय ही मैं चैतन्य हूं। मेरा यही बंध था कि मेरी जीने में इच्छा थी।
एकमात्र बंधन है जीवन में कि हम जीना चाहते हैं। अब यह बड़े आश्चर्य की बात है। तुमने कभी देखा सड़क पर किसी को घिसटते हुए--पैर टूट गए, हाथ टूट गए, मरणासन्न है--फिर भी जीना चाहता है, फिर भी घिसट कर भीख मांगता है। तुम यह मत सोचना कि अगर तुम उसकी जगह होते तो आत्महत्या कर लेते। आसान नहीं। जीने का मोह बड़ा गहरा है। जीने का मोह ऐसा गहरा है कि आदमी किसी भी स्थिति में जीना चाहता है, किसी भी स्थिति के लिए राजी हो जाता है।
कुछ लोग आत्महत्या करते हैं, इसलिए तुम्हें लगता होगा: उनके संबंध में क्या? जो लोग आत्महत्या करते हैं, वे लोग भी जीने की आकांक्षा से ही आत्महत्या करते हैं। मरने के लिए कोई आत्महत्या नहीं करता। लोगों के जीने की शर्तें हैं। कोई कहता है, मेरे पास करोड़ रुपए होंगे तो ही मैं जीऊंगा। दीवाला निकल गया, करोड़ रुपए हाथ से खिसक गए--वह कहता है, अब जीने में क्या सार! उसके जीने की एक बड़ी शर्त थी जो टूट गई। उसने जीने के लिए एक खास ढंग चुना था जो अब संभव नहीं रहा। वह कहता है, हम मर जाएंगे। वह मरता जीने की ही किसी विशेष शर्त के लिए है।
किसी ने कहा, मैं किसी स्त्री के साथ रहूंगा तो ही रहूंगा, नहीं तो मर जाऊंगा। किसी स्त्री ने कहा, किसी पुरुष को पा लूंगी, तो रहूंगी, नहीं तो मर जाऊंगी। ये कोई मरने की बातें नहीं हैं, ये सब जीने के ही आग्रह हैं। जीना जैसा चाहा था वैसा न हो सका तो लोग मरने तक को तैयार हैं। जीने के लिए लोग मरने तक को तैयार हैं।
अगर आत्महत्या कभी घटती है तो वह तो किसी बुद्ध, किसी जनक, किसी अष्टावक्र, किसी महावीर की घटती है। वे ठीक आत्महत्या करते हैं। क्योंकि उसके बाद फिर कोई जन्म नहीं है। वे जीने के लिए मरने की तो बात दूसरी, वे जीने के लिए जीना भी नहीं चाहते। वे जीवेषणा को ही समझ लेते हैं कि यह जीवेषणा एक धोखा है।
इसे समझें। जब दिखाई पड़ता है समाधि की आंखों से, ध्यान की आंखों से, तो दिखाई पड़ता है जीवन तो "है" ही, यह तो कभी "नहीं" हो ही नहीं सकता! यह तो बड़े पागलपन की बात है कि जो तुम हो ही, उसकी आकांक्षा कर रहे हो। यह तो ऐसा ही है कि तुम्हारे पास धन है और तुम धन मांग रहे हो। यह तो ऐसा ही है कि जो तुम्हारे पास है ही, उसके लिए तुम भिक्षा मांगते वन-वन में भटकते फिर रहे हो। जिस दिन यह दिखाई पड़ता है, जिस दिन अपना वास्तविक जीवन दिखाई पड़ता है, उसी क्षण जीवेषणा खो जाती है। जब तक तुमने अपने जीवन को किसी गलत चीज से जोड़ा है--किसी ने शरीर से जोड़ा है--किसी ने कहा, मैं शरीर हूं, तो अड़चन आएगी, क्योंकि शरीर तो कल मरेगा, शरीर के मरने के भय के कारण जीवेषणा पैदा होगी। मैंने सुना है, एक पुरानी तिब्बती कथा है कि दो उल्लू एक वृक्ष पर आ कर बैठे। एक ने सांप अपने मुंह में पकड़ रखा था। भोजन था उनका, सुबह के नाश्ते की तैयारी थी। दूसरा एक चूहा पकड़ लाया था। दोनों जैसे ही बैठे वृक्ष पर पास-पास आ कर--एक के मुंह में सांप, एक के मुंह में चूहा। सांप ने चूहे को देखा तो वह यह भूल ही गया कि वह उल्लू के मुंह में है और मौत के करीब है। चूहे को देख कर उसके मुंह में रसधार बहने लगी। वह भूल ही गया कि मौत के मुंह में है। उसको अपनी जीवेषणा ने पकड़ लिया। और चूहे ने जैसे ही देखा सांप को, वह भयभीत हो गया, वह कंपने लगा। ऐसे मौत के मुंह में बैठा है, मगर सांप को देख कर कंपने लगा। वे दोनों उल्लू बड़े हैरान हुए। एक उल्लू ने दूसरे उल्लू से पूछा कि भाई, इसका कुछ राज समझे? दूसरे ने कहा, बिलकुल समझ में आया। जीभ की, रस की, स्वाद की इच्छा इतनी प्रबल है कि सामने मृत्यु खड़ी हो तो भी दिखाई नहीं पड़ती। और यह भी समझ में आया कि भय मौत से भी बड़ा भय है। मौत सामने खड़ी है, उससे यह भयभीत नहीं है चूहा; लेकिन भय से भयभीत है कि कहीं सांप हमला न कर दे।
मौत से हम भयभीत नहीं हैं; हम भय से ज्यादा भयभीत हैं।
और लोभ स्वाद का, इंद्रियों का, जीवेषणा का इतना प्रगाढ़ है कि मौत चौबीस घंटे खड़ी है, तो भी हमें दिखाई नहीं पड़ती। हम अंधे हैं।

शरीर से जिसने अपने को बांधा, वह अड़चन में रहेगा। क्योंकि लाख झुठलाओ, लाख समझाओ, यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि शरीर मरेगा। रोज तो कोई मरता-- कहां-कहां आंखें चुराओ, कैसे बचो इस तथ्य से कि मृत्यु होती है? रोज तो चिता सजती। रोज तो "राम-राम सत्य" कहते लोग निकलते। हमने सब उपाय किए हैं कि मौत का हमें ज्यादा पता न चले। मरघट हम गांव के बाहर इसीलिए बनाते हैं; बनाना चाहिए बीच में गांव के, ताकि सबको पता चले। एक लाश जले तो पूरे गांव को जलने का पता हो। बनाते हैं गांव के बाहर। स्त्रियां अपने छोटे बच्चों को भीतर कर लेती हैं; लाश निकलती हो, दरवाजे बंद कर देती हैं, कि कोई मर गया, भीतर आ जाओ! देखो मत मौत!
मौत की हम ज्यादा बात नहीं करते, चर्चा भी नहीं करते। मरघट पर भी जो लोग जाते हैं मुर्दों को ले कर, वे भी दूसरी बातें करते हैं मरघट पर बैठ कर। इधर लाश जलती रहती है, वे बातें करते हैं: फिल्म कौन-सी चल रही है? कौन-सा नेता जीतने के करीब है, कौन-सा हारेगा? चुनाव होगा कि नहीं? राजनीति, और हजार बातें! उधर लाश जल रही है!
ये सब बातें तरकीबें हैं। ये तरकीबें हैं एक परदा खड़ा करने की कि जलने दो, कोई दूसरा मर रहा है, हम थोड़े ही मर गए हैं!
हम दूसरे के मर जाने पर बड़ी सहानुभूति भी प्रगट करते हैं--वह भी तरकीब है। किससे सहानुभूति प्रगट कर रहे हो? उसी क्यू में तुम भी खड़े हो। एक खिसका, क्यू थोड़ा और आगे बढ़ गया, मौत तुम्हारी थोड़ी और करीब आ बई। नंबर करीब आया जाता है, खिड़की पर तुम जल्दी पहुंच जाओगे।
लेकिन हम कहते हैं, बड़ा बुरा हुआ, बेचारा मर गया! लेकिन एक गहन भ्रांति
हम भीतर पालते हैं कि सदा कोई और मरता है। मैं थोड़े ही मरता हूं, सदा कोई और मरता है!
मगर फिर भी कितने ही उपाय करो, यह सत्य है कि शरीर के साथ तो सदा जीवन नहीं हो सकता। कितना ही लंबाओ, सौ वर्ष जीयो, दो सौ वर्ष जीयो, तीन सौ वर्ष जीयो--क्या फर्क पड़ता है? विज्ञान कभी न कभी यह व्यवस्था कर देगा कि आदमी और लंबा जीने लगे। मगर इससे भी क्या फर्क पड़ता है? मौत को थोड़ा पीछे हटा दो, लेकिन खड़ी तो रहेगी। थोड़े धक्के दे दो, लेकिन हटेगी तो नहीं। शरीर तो जायेगा।
इसलिए शरीर चला जाए, कहीं शरीर चला न जाए, हम घबड़ा कर जीवन की आकांक्षा करते हैं कि मैं बना रहूं! इस जीवन की आकांक्षा में धन इकट्ठा करते हैं, पद जुटाते, सब तरह की भ्रांति खड़ी करते हैं कि और सब मरेंगे, मैं नहीं मरूंगा। सब तरह की सुरक्षा। फिर भी मौत तो आती है।
शरीर से जिसने अपने को जोड़ा है, वह कितना ही धोखा दे, धोखा धोखा ही है। फूट-फूट कर धोखे के परदे के पार मौत दिखाई पड़ती रहेगी। और जितनी मौत दिखाई पड़ती है, उतनी ही जीवेषणा पैदा होती है; उतना ही आदमी जीवन को घबड़ा कर पकड़ता है कि कहीं छूट न जाऊं।
जनक को दिखाई पड़ा उस दिन कि यह भी क्या मजा है, हम मर ही नहीं सकते, हम अमृत हैं! अमृत पुत्रः! यह शरीर से हमने अपने को एक समझा, इसलिए मौत। प्राण से एक समझा, इसलिए मौत। मन से एक समझा, इसलिए मौत। इनके पार हम अपने को देख लें, फिर कैसी मौत? साक्षी की कैसी मौत? चैतन्य की कैसी मौत? एक ही बंध था-- जीने में इच्छा थी।
अहम् देहः न--मैं देह नहीं।
मे देहः न--देह मेरी नहीं।
अहम् जीवः न--मैं जीव नहीं। यह तथाकथित जो जीवन दिखाई पड़ता है, यह मैं नहीं।
अहम् हि चित्--मैं तो निश्चित रूप से चैतन्य हूं।
मे एव बंध या जीविते स्पृहा आसीत--बस एक था बंधन मेरा कि जीने की स्पृहा थी, आकांक्षा थी। अब तो मैं जान गया कि मैं स्वयं जीवन हूं, जीने की आकांक्षा पागलपन है! मैं सम्राट हूं, व्यर्थ ही भिखारी बना था।
"आश्चर्य कि अनंत समुद्ररूप मुझमें चित्तरूपी हवा के उठने पर शीघ्र
ही विचित्र जगतरूपी तरंगें पैदा होती हैं।"

अब आश्चर्य होता है--जनक कहते हैं--यह जानकर, कि जैसे हवा की तरंगें शांत झील में लहरें उठा जाती हैं, ऐसी ही चित्त की हवा मेरी शांत आत्मा में हजार-हजार लहरें उठा जाती है। वे लहरें मेरी नहीं हैं। वे लहरें चित्त की हवा के कारण हैं।
"आश्चर्य है कि अनंत समुद्ररूप मुझमें चित्तरूपी हवा के उठने पर शीघ्र ही विचित्र जगतरूपी तरंगें पैदा होती हैं।"
और कैसे-कैसे विचित्र सपने पैदा हो जाते हैं! और कैसे-कैसे माया और मोह और लोभ! और कैसे-कैसे जाल खड़े हो जाते हैं! फिर एक बार इन जालों का हम अभ्यास कर लेते हैं तो छूटना मुश्किल हो जाता है।
मैंने सुना है कि एक यूनानी संगीतज्ञ था। जब भी कोई उसके पास संगीत सीखने आता तो पूछता कि तुमने पहले कहीं और तो नहीं सीखा है? संगीत के संबंध में कुछ जानते तो नहीं हो?
अगर कोई व्यक्ति कहता कि मैं बिलकुल संगीत के संबंध में कुछ नहीं जानता तो वह आधी फीस लेता। अगर कोई कहता कि मैं कुछ जानता हूं तो दुगनी फीस मांगता। दो व्यक्ति साथ ही साथ आए थे--एक बिलकुल कोरा कागज और एक ख्यातिनाम संगीतज्ञ था, काफी जानता था, कुशल संगीतज्ञ था। और जब उस गुरु ने कहा कि जो बिलकुल नहीं जानता, उससे आधी फीस; और तुम, जो जानते हो, तुमसे दुगनी फीस! तो वह कहने लगा, यह अन्याय है। यह क्या मामला है? इसका अर्थ? तो वह संगीत-गुरु कहने लगा, इसका अर्थ सीधा है। जो नहीं जानता उसे हम सिर्फ सिखाएंगे। तुम जानते हो, पहले तुम्हें भुलाएंगे। तुम जो जानते हो, पहले उसे मिटाएंगे, तब तुम सीख सकोगे।
संसार में हमारा असली सवाल एक ही है कि हमने जन्मों-जन्मों में कुछ अभ्यास कर लिए हैं। कुछ गलत बातें हम ऐसी प्रगाढ़ता से सीख गए हैं कि अब उन्हें कैसे भूलें, यही अड़चन है। यह बात हमने खूब गहराई से सीख ली है कि मैं शरीर हूं। भाषा, समाज, समूह, संस्कार सब इसी बात के हैं।
भूख लगती है, तुम कहते हो: मुझे भूख लगी है। जरा सोचो, अगर तुम इस वाक्य
को ऐसा कहो कि शरीर को भूख लगी है, ऐसा मैं देखता हूं--तुम फर्क समझते हो कितना भारी हो जाता है? तुम कहते हो, मुझे भूख लगी, तो तुम घोषणा कर रहे हो कि मैं देह हूं। जब तुम कहते हो शरीर को भूख लगी, ऐसा मैं देखता हूं, जानता हूं--तो तुम यह कह रहे हो कि शरीर मुझसे अलग, मैं ज्ञाता हूं, द्रष्टा हूं, साक्षी हूं।
जब कोई तुम्हें गाली देता है और तुम्हारे मन में तरंगें उठती हैं तो तुम कहते हो मुझे क्रोध हो गया, तो तुम गलत बात कह रहे हो। तुम इतना ही कहो कि मन क्रोधित हो गया, ऐसा मैं देखता हूं। तुम मन ही नहीं हो; वह जो मन में क्रोध उठ रहा है, उसको देखने वाले हो। अगर तुम मन ही होते तब तो तुम्हें पता ही नहीं चल सकता था कि मुझे क्रोध हो गया है, क्योंकि तुम तो क्रोध ही हो गए होते; पता किसको चलता?
अगर तुम शरीर ही होते तो तुम्हें कभी पता नहीं चलता कि भूख लगी है, क्योंकि तुम तो भूख ही हो गए होते; पता किसको चलता? पता चलने के लिए तो थोड़ा फासला चाहिए। शरीर को भूख लगती है, तुमको पता चलता है। शरीर में भूख लगती है, तुम में पता चलता है। तुम सिर्फ बोध-मात्र हो।
अगर हमारी भाषा ज्यादा वैज्ञानिक और धार्मिक हो, अगर हमारे संस्कार चैतन्य की तरफ हों, शरीर की तरफ नहीं, तो बड़ी अड़चनें कम हो जाएं।
"अनंत समुद्ररूप मुझमें चित्तरूपी हवा के शांत होने पर जीवरूप वणिक
के अभाग्य से जगतरूपी नौका नष्ट हो जाती है।"
और जब यह चित्तरूपी हवा शांत हो जाती है, लहरें खो जाती हैं और चेतना
की झील मौन हो जाती है, तो फिर जीवरूप वणिक की नौका विनष्ट हो जाती है। जगतपोतः विनश्वरः! फिर इस जगत का जो पोत है, यह जो जगत की नाव है, यह तत्क्षण खो जाती है। जैसे एक स्वप्न देखा हो! जैसे कभी न रही हो! जैसे बस एक खयाल था, एक भ्रम था!
तो करना है एक ही बात कि यह जो चित्त की हवा है, यह शांत हो जाए।
इस संबंध में अष्टावक्र और जनक की दृष्टि बड़ी क्रांतिकारी है, जैसा मैं बार-बार कह रहा हूं। योग कहेगा कि कैसे इस चित्त की हवा को शांत करो।

वह प्रक्रिया बताएगा--चित्तवृत्ति निरोधः! वह कहेगा योग है: चित्तवृत्ति का निरोध। तो कैसे चित्त की वृत्ति का निरोध करें?--यम करो, नियम करो, संयम करो; आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार करो; धारणा, ध्यान, समाधि करो। तो फिर चित्त की लहरें शांत हो जाएंगी।
इस संबंध में अष्टावक्र और जनक की दृष्टि बड़ी अनूठी है। वे क्या कहते हैं? वे यह नहीं कहते कि तुम कुछ करो। वे कहते हैं, करने से तो चित्तरूपी तरंगें और उठेंगी, क्योंकि करने से तो उपद्रव ही खड़ा होगा। करने से तो और लहरें हिल जाएंगी। तुम्हारे कुछ करने का सवाल नहीं है। तुम सिर्फ देखो। तुम करो कुछ मत।
"आश्चर्य है कि अनंत समुद्ररूप मुझमें जीवरूपी तरंगें अपने स्वभाव
के अनुसार उठती हैं, परस्पर लड़ती हैं, खेलती हैं और लय होती हैं।"
अपने स्वभाव के अनुसार! यह कुंजी है। यह सब हो रहा है--अपने स्वभाव के अनुसार। तुम न इसे शांत कर सकते हो, न तुम इसे अशांत कर सकते हो; तुम बीच में पड़ो ही मत; तुम यह होने दो। तुम सिर्फ एक बात स्मरण रखो कि तुम साक्षी हो।
तुम किसी फिल्म को देखने गए। तुम फिल्म देखने बैठे, अंधेरा हो गया, कमरे में तस्वीरें चलने लगीं परदे पर। इतना ही अगर तुम याद रख सको कि मैं साक्षी हूं और परदे पर जो तस्वीरें चल रही हैं, केवल धूप-छाया का खेल है--तो कहानी तुम्हें बिलकुल प्रभावित न करेगी। कोई किसी की हत्या कर दे तो तुम एकदम विचलित न हो जाओगे।
तुमने देखा, फिल्म में हत्या हो जाती है, लोग एकदम रीढ़ सीधी करके बैठ जाते हैं; जैसे कुछ सचमुच कुछ घट रहा है। कोई मारा जाता है तो कई की आंखें गीली हो जाती हैं, लोग रूमाल निकाल लेते हैं। वह तो अंधेरा रहता है, इसलिए अच्छा है। अपना जल्दी से आंख पोंछ कर अंदर रख लिया, रूमाल को फिर खीसे में कर लिया। लोगों के रूमाल गीले हो जाते हैं फिल्मों में। जब तक रूमाल गीले न हों तब तक वे कहते ही नहीं कि फिल्म अच्छी थी। रोने का अभ्यास ऐसा पुराना है कि जो भी रुला दे, वही लगता है कि कुछ गजब का काम हुआ। लोग हंसने लगते हैं, रोने लगते हैं!
तुमने देखा कि छाया चल रही है! वहां कुछ भी नहीं है। परदे पर कुछ भी नहीं है। लेकिन छाया तुम्हें जकड़ लेती है। तुम उसके साथ डोलने लगते हो। तुम में क्रोध पैदा हो सकता है, प्र्रेम पैदा हो सकता, वासना जग सकती, उत्तेजना हो सकती, सब कुछ घट सकता है--और परदे पर कुछ भी नहीं है। तुम भूल ही जाते हो।
तुम्हारी उस भूल को ही सुधारना है, कुछ और करना नहीं। तुम्हें दौड़ कर परदा नहीं फाड़ डालना है कि बंद करो; कि तुम्हें पीछे जा कर प्रोजेक्टर नहीं तोड़ देना है कि बंद करो--यह क्या मजाक कर रखी है कि सिर्फ धूप-छाया का खेल है और लोगों को परेशान कर रहे हो? इतने लोग रो रहे हैं नाहक! अरे जिंदगी काफी है रोने के लिए। बंद करो! यह तो तुम नहीं करते। इसकी कोई जरूरत भी नहीं है। क्योंकि जो रोना चाहते हैं उनके लिए परदे को रहने दो। जिनकी अभी रोने में उत्सुकता है, पैसे चुका कर जो रोने आए हैं, उनके खेल में बाधा मत डालो। जो खेलना चाहता है, खेले। तुम सिर्फ इतना समझो कि तुम साक्षी हो। और यह सब जो रहा है, ऊपर-ऊपर है।
आश्चर्यं मयि अनंत महाम्भोधि जीववीचयः उद्यन्ति।
ध्वन्ति च खेलन्ति च स्वभावतः प्रविशन्ति।।
खेलने दो इन लहरों को! उठने दो इन लहरों को! नाचने दो इन लहरों को! जैसे स्वभाव से ये उठी हैं, ऐसे ही स्वभाव से शांत हो जाएंगी। तुम साक्षी- भाव से किनारे पर बैठ रहो।
कोई योग नहीं है। अष्टावक्र की दृष्टि में कुछ साधन नहीं करना है। सीधी छलांग है! तुम सिर्फ देखते रहो! क्रोध उठे तो तुम कहो कि ठीक है, स्वाभाविक है। काम उठे तो कहो ठीक है, स्वाभाविक है। तुम देखने वाले बने रहो। तुम विचलित न होओ द्रष्टा से। तुम्हारा साक्षी न कंपे बस। और सब कंपता रहे, सारा संसार तूफान में पड़ा रहे--तुम तूफान के मध्य साक्षी में ठहरे रहो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक समुद्रीऱ्यात्रा पर था। जहाज डूबने लगा। बड़ा तूफान आ गया। लोग भाग-दौड़ करने लगे। स्त्रियां रोने-चिल्लाने लगीं। कुत्ते भौंकने लगे। बच्चे बेहोश होने लगे। सारे लोग एक कोने में इकट्ठे हो गए। मालिक चिल्ला रहा है, सम्हालने की कोशिश कर रहा है। कैप्टन चिल्ला रहा है। मल्लाह इंतजाम कर रहे हैं। एकदम अराजकता फैल गई! सिर्फ एक मुल्ला है कि जगह-जगह खड़े हो कर शांति से लोगों को देख रहा है। आखिर एक आदमी से न रहा गया और उसने कहा कि मुल्ला नसरुद्दीन! आदमी हो कि पत्थर? यह तुम कोई खेल समझे हो? यह नाव डूब रही है। यह जहाज डूब रहा है। यह हम सब मरने जा रहे हैं।
मुल्ला ने कहा, अपने को क्या लेना-देना है? कोई अपने कोई बाप का जहाज है?
यह ठीक कह रहा है। कोई अपना क्या बिगड़ रहा है?
एक ऐसी घड़ी है, जब सब होता रहता है और तुम जानते हो: "अपना क्या बिगड़ रहा है? अपने बाप का जहाज है?" तुम पार, साक्षी बने रहते हो! तब तुमने आंधी के बीच में भी एक शांत स्थान खोज लिया। तब तुम अपने केंद्र पर आ गए। दृष्टि का रूपांतरण साधन नहीं है। अष्टावक्र और जनक एक नई ही बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, तुम किनारे बैठ रहो। ये नदी में जो इतनी तरंगें उठी हैं, ये अपने से शांत हो जाएंगी। यह नदी में जो इतनी गंदगी उठी है, यह अपने से शांत हो जाएगी। तुम इसमें कूद कर इसको शांत करने की कोशिश करोगे तो और लहरें उठ आएंगी।
तुमने देखा कभी, जब तुम शांत होने की ज्यादा चेष्टा करते हो, और अशांत
हो जाते हो!
मेरे पास अक्सर लोग आते हैं। मेरे अनुभव में ऐसा आया है कि जिनको तुम सांसारिक लोग कहते हो, वे ज्यादा शांत होते हैं धार्मिक लोगों की बजाए। क्योंकि सांसारिक आदमी को संसार की ही चिंता है; अशांतियां हैं, ठीक है। यह धार्मिक आदमी को एक नई अशांति है कि इनको शांत भी होना है। बाकी अशांतियां तो हैं ही, बाकी तो सब उपद्रव इनके भी लगे ही हुए हैं--घर है, द्वार है, गृहस्थी है, दूकान-बाजार है, हार-जीत है--सब लगा हुआ है--सफलता- असफलता, वह सब तो है; और एक नया रोग: इनको शांत होना है! कम-से-कम उतना रोग सांसारिक आदमी को नहीं है। वह कहता है, अशांति है, ठीक है। उसकी अशांति इतनी भयंकर नहीं है जैसी इस आदमी की अशांति हो जाती है, जो कि इसको शांत भी करना चाहता है।
और जब तुम कभी मंदिर जाते हो, पूजा करने बैठते, प्रार्थना करने बैठते, ध्यान करने--देखा, उस समय तुम और भी अशांत हो जाते हो! इतने तुम दूकान पर भी नहीं होते, बाजार में भी नहीं होते। क्या होता है? तुम उतर पड़े नदी में। तुम चेष्टा करने लगे लहरों को शांत करने की। तुम्हारी चेष्टा से तो और लहरें उठ आएंगी। तुम कृपा करके किनारे पर बैठो।
बुद्ध के जीवन में उल्लेख है, मुझे बड़ा प्यारा रहा है! बुद्ध गुजरते हैं एक पहाड़ से। धूप है, प्यासे हैं। आनंद को कहते हैं कि आनंद, तू पीछे लौट कर जा। कोई दो मील पीछे हम एक झरना छोड़ आए हैं, वहां से तू पानी भर ला, मुझे प्यास लगी है।
वे एक वृक्ष के नीचे बैठ कर विश्राम करते हैं, आनंद जाता है भिक्षा- पात्र ले कर। लेकिन जब वह पहुंचता है उस झरने पर, तो ठीक उसके सामने ही कुछ बैलगाड़ियां उस झरने में से निकल गईं, तो सारा पानी कूड़ा-कर्कट से भर गया। जमी कीचड़ उठ आई ऊपर, सूखे पत्ते ऊपर तैरने लगे, सड़े पत्ते ऊपर तैरने लगे। वह पानी पीने योग्य न रहा। वह वापिस लौट आया। उसने बुद्ध को कहा, वह पानी पीनेऱ्योग्य नहीं है। आगे चल कर कोई चार-छह मील दूर नयी--हम अभी पहुंचेंगे--नदी है, वहां से मैं पानी ले आता हूं। आप विश्राम करें, या चलते हों तो मेरे साथ चले चलें, लेकिन वह पानी पीनेऱ्योग्य नहीं रहा।
बुद्ध ने जिद्द की। उन्होंने कहा, तू वापिस जा और वही पानी ले आ। जब बुद्ध ने कहा तो आनंद इंकार भी न कर सका। फिर गया। झिझकते हुए गया कि वह पानी बिलकुल बेकार है। लेकिन वहां जा कर देखा कि तब तक तो पानी स्वच्छ हो

गया। आना-जाना आनंद का दो मील, उस बीच धूल फिर बैठ गई, कीचड़ बह गया, पत्ते जा चुके, झरना तो ऐसा स्वच्छ, स्फटिक-मणि जैसा हो गया! वह बड़ा चकित हुआ!
तब उसे बुद्ध की जिद्द का अर्थ दिखाई पड़ा। वह पानी भर कर लाया, नाचता हुआ आया। उसने पानी बुद्ध के चरणों में रखा, सिर चरणों में झुकाया और उसने कहा कि मुझे ठीक-ठीक सूत्र दे दिया। यही मेरे चित्त की दशा है। आपने अच्छा किया मुझे वापिस भेजा। मैं रास्ते में सोचता जाता था कि अगर पानी शुद्ध न हुआ तो अब की बार उतर कर झरने में कीचड़-कर्कट को अलग करके किसी तरह भर लाऊंगा। अगर मैं उतर जाता तो फिर गंदा हो जाता। उतरने से ही तो गंदा हुआ था, बैलगाड?ियां निकल गई थीं। मैं किनारे पर ही रहा और पानी शांत हो गया! किसी ने शांत न किया और शांत हो गया!
"आश्चर्य! अनंत समुद्ररूप मुझमें जीवरूप तरंगें अपने स्वभाव से उठती हैं, परस्पर लड़ती हैं, खेलती हैं, और लय होती हैं।"
स्वभावतः प्रविशन्ति!
अपने स्वभाव से ही सब बनता, मिटता, खोता रहता है। तुम दूर साक्षी हो जाओ! तुम खड़े देखते रहो।
सुना है मैंने, एक गांव में एक पौराणिक कथा कह रहा था। उसने गांव के लोगों को समझाया कि पाप से डरो, पाप से बचो, पाप से लड़ो! जैसा कि सभी तथाकथित धार्मिक लोग कहते हैं। एक पागल-सा संन्यासी वहां बैठा था, वह उठ कर खड़ा हो गया। उसने कहा, "चुप! बकवास बंद! पाप में डूब मरो!" और वह तो इतना कह कर चल पड़ा। वह पौराणिक भी सकते में आ गया, लेकिन गांव के लोगों ने कहा कि तुम फिक्र न करो, कथा जारी रखो। यह आदमी पागल है! इसे हम जानते हैं। इसकी बात का कुछ खयाल मत करो।
लेकिन पौराणिक को कुछ चोट लग गयी: उस आदमी ने कहा, पाप में डूब मरो! उसने तो कथा बंद कर दी। इस आदमी में कुछ खूबी है। और इस आदमी में कुछ लहर भी उसे मालूम पड़ी। इस आदमी में एक चमक थी, एक दीप्ति थी। यह आदमी पागल नहीं है। यह आदमी परमहंस हो सकता है।
वह पौराणिक तो कथा-पुराण वहीं छोड़ कर भागा इस पागल के पीछे। कोई दो मील जा कर जंगल में उसे पकड़ लिया। वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था। वह पौराणिक कहने लगा, महाराज! अब व्याख्या और कर दें। सूत्र तो दे दिया कि पाप में डूब मरो; अब इसकी व्याख्या और कर दें, इसका भाष्य और कर दें। मुझे मुश्किल में डाल दिया।
तो उस पागल संन्यासी ने कहा कि सुन, एक आदमी एक गुरु के पास गया और कहने लगा, मुझे शांत होना है। तो गुरु ने उसे एक मंत्र दे दिया और कहा कि तीन दिन में तू शांत हो जाएगा। मंत्र का रोज पांच बार पाठ कर लेना, लेकिन ध्यान रखना जब पाठ करे, बंदर का स्मरण न आए।
तीन दिन में ठीक होने को कहा था, तीन साल गुजर गए। वह आदमी मरा जा रहा है, लड़ा जा रहा है; मगर कुछ उपाय नहीं। जब भी वह मंत्र पड़ता है, बंदरों का स्मरण आ जाता है।
वह पागल संन्यासी बोला, किस्सा खत्म! अब भाग जा यहां से!
दूसरे दिन पौराणिक फिर गांव में कथा कह रहा था। उसने लोगों से कहा: न
तो पाप से लड़ो, न पाप से डरो, न पाप से भागो, न पाप से बचो--बस देखते रहो! लड़ने से...वह आदमी बंदर से लड़ रहा है कि बंदर न आने पाए! तुम जिससे लड़ोगे, वही आएगा। तुम्हारा लड़ना ही तुम्हारा आकर्षण बन जाएगा, जो व्यक्ति कामवासना से लड़ेगा, कामवासना ही उठेगी। जो लोभ से लड़ेगा, लोभ ही उठेगा। जो क्रोध से लड़ेगा, वह और क्रोध उठाएगा। क्योंकि जिससे तुम लड़ोगे, उसका स्मरण बना रहेगा।
तुमने खयाल किया, जिसे तुम भूलना चाहते हो उसे भूल नहीं पाते! क्योंकि भूलने के लिए भी तो बार-बार याद करना पड़ता है, उसी में तो याद बन जाती है। किसी को तुम्हें भूलना है, कैसे भूलो? भूलने की चेष्टा में तो याद सघन होगी। भूलने से कभी कोई किसी को भूल पाया? लड़ने से कभी कोई जीता?
इस जीवन का यह विरोधाभासी नियम ठीक से समझ लेना: जिससे तुम लड़े उसी से तुम हारोगे। लड़ना ही मत! संघर्ष सूत्र नहीं है विजय का। साक्षी! बैठ कर देखते रहो।

अब बंदर उछल-कूद रहे हैं, करने दो। वे अपने स्वभाव से ही चले जाएंगे। तुमने अगर उत्सुकता न ली, तो बार-बार तुम्हारे द्वार न आएंगे। तुमने अगर उत्सुकता ली--पक्ष में या विपक्ष में--तो दोस्ती बनी।
अब वह जो आदमी मंत्र पढ़ रहा है और सोचता है बंदर न आएं, शायद इस मंत्र पढ़ने के पहले कभी उसके मन में बंदर न आए होंगे--तुम्हारे मन में कभी आए? तुम कोशिश करना, कल मंत्र कोई भी चुन लेना--राम राम राम--और कोशिश करना, बंदर न आएं। बंदर ही नहीं, हनुमान जी भी चले आएंगे उनके पीछे। और कई बंदरों को ले कर, पूरी फौज-फांटा चला आएगा। और इसके पहले कभी ऐसा न हुआ था। तुम्हारा विरोध, तुम्हारे रस की घोषणा है। लड़ना मत, अन्यथा हारोगे।
इस सूत्र की महत्ता को, महिमा को, गरिमा को समझो। जो हो रहा है, हो रहा है। न तुमसे पूछ कर शुरू हुआ है, न तुम से पूछ कर बंद होने का कोई कारण है। जो हो रहा है, होता रहा है, होता रहेगा--तुम देखते रहो। बस इसमें ही क्रांति घट जाती है।
दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक हैं--भोगी। भोगी कहते हैं: जो हो रहा है, यह और जोर से हो। एक हैं--योगी, जो कहते हैं: जो हो रहा है, यह बिलकुल न हो। ये दोनों ही संघर्ष में हैं। योगी कह रहा है, बिलकुल न हो; जैसे कि उसके बस की बात है! जैसे उससे पूछ कर शुरू हुआ हो! जैसे उसके हाथ में है!
भोगी कह रहा है, और जोर से हो, और ज्यादा हो! सौ साल जीता हूं, दो सौ साल जीऊं। एक स्त्री मिली, हजार स्त्रियां मिलें। करोड़ रुपया मेरे पास है, बीस करोड़ रुपया मेरे पास हो। भोगी कह रहा है, और जोर से हो; वह भी सोच रहा है: जैसे उससे पूछ कर हो रहा है; उसकी अनुमति से हो रहा है; उसकी आकांक्षा से हो रहा है।
दोनों की भ्रांति एक है। दोनों विपरीत खड़े हैं, एक दूसरे की तरफ पीठ किए खड़े हैं; लेकिन दोनों की भ्रांति एक है। भ्रांति यह है कि दोनों सोचते हैं कि संसार उनकी अनुमति से चल रहा है। चाहें तो बढ?ा लें, चाहें तो घटा दें।
मुल्ला नसरुद्दीन सौ साल का हो गया, तो दूर-दूर से अखबारनवीस उसका इंटरव्यू लेने आए। सौ साल का हो गया आदमी! वे उससे पूछने आए कि तुम्हारे स्वास्थ्य का राज क्या है? तुम अब भी चलते हो, फिरते हो! तुम प्रसन्नचित्त दिखाई पड़ते हो। तुम्हारे शरीर में कोई बीमारी नहीं। तुम्हारा राज क्या है?
तो मुल्ला ने कहा, मेरा राज! मैंने कभी शराब नहीं पी, धूम्रपान नहीं किया! नियम से जीया। नियम से सोया-उठा, संयम ही मेरे जीवन का और मेरे स्वास्थ्य का राज है।
वह इतना कह ही रहा था कि बगल के कमरे में जोर से कुछ अलमारी गिरी तो वे
सब चौंक गए। पत्रकारों ने पूछा, यह क्या मामला है? तो उसने कहा, ये मेरे पिताजी हैं! वे मालूम होता है कि फिर शराब पी कर आ गए!
कोई आदमी सौ साल जिंदा रह जाता है, वह सोचता है मैंने शराब नहीं पी, इसीलिए जिंदा हूं सौ साल। उनके पिताजी पी कर अभी आए हैं। उन्होंने अलमारी गिरा दी है।
अगर कोई जैन ज्यादा जी जाता है, वह सोचता है शाकाहार की वजह से ज्यादा
जी गए। कोई मांसाहारी ज्यादा जी जाता है, वह सोचता है मांसाहार की वजह से जी गए। धूम्रपान करने वाले भी ज्यादा जी जाते हैं, धूम्रपान न करने वाले भी ज्यादा जी जाते हैं। साग-सब्जी खा कर भी लोग ज्यादा जी जाते हैं; जिन्होंने साग-सब्जी कभी छुई ही नहीं, वे भी जी जाते हैं। और जो आदमी जिस ढंग से जी जाता है, वह सोचता है यह मैंने अपने जीवन का नियंत्रण किया, यह मेरे संयम से हुआ।
तुम्हारे किए कुछ भी नहीं हो रहा है, तुम कर्ता नहीं हो। तुम्हारे किए कुछ भी न हुआ है, न हो रहा है, न होगा। कभी-कभी संयोग से, कभी-कभी बिल्ली के भाग्य से छींका टूट जाता है, वह संयोग ही है। कभी-कभी ऐसा होता है, तुम जो चाहते हो वह हो जाता है। वह होने ही वाला था; तुम न चाहते तो भी हो जाता। एक गांव में एक बूढ़ी औरत रहती थी। वह नाराज हो गई गांव के लोगों से। उसने कहा, तो भटकोगे तुम अंधेरे में सदा। उन्होंने पूछा, मतलब? उसने कहा

कि मैं अपने मुर्गे को ले कर दूसरे गांव जाती हूं। न रहेगा मुर्गा, न देगा बांग, न निकलेगा सूरज! मरोगे अंधेरे में! देखा नहीं कि जब मेरा मुर्गा बांग देता है तो सूरज निकलता है?
वह बूढ़ी अपने मुर्गे को ले कर दूसरे गांव चली गई क्रोध में, और बड़ी प्रसन्न है, क्योंकि अब दूसरे गांव में सूरज निकलता है! वहां मुर्गा बांग देता है। वह बड़ी प्रसन्न है कि अब पहले गांव के लोग मरते होंगे अंधेरे में।
सूरज वहां भी निकलता है। मुर्गों के बांग देने से सूरज नहीं निकलता; सूरज के निकलने से मुर्गे बांग देते हैं। तुम्हारे कारण संसार नहीं चलता। तुम मालिक नहीं हो, तुम कर्ता नहीं हो। यह सब अहंकार, भ्रांतियां हैं। भोगी का भी अहंकार है और योगी का भी अहंकार है। इन दोनों के जो पार है, उसने ही अध्यात्म का रस चखा--जो न योगी है न भोगी।
"आश्चर्य है कि अनंत समुद्ररूप मुझमें जीवरूपी तरंगें अपने स्वभाव
के अनुसार उठती हैं, परस्पर लड़ती हैं, खेलती हैं और लय भी होती हैं!"
और मैं सिर्फ देख रहा! और मैं सिर्फ देख रहा! और मैं सिर्फ देख रहा! रंग-रहित ही सपनों के चित्र,
हृदय-कलिका मधु-से सुकुमार।
अनिल बन सौ-सौ बार दुलार,
तुम्हीं ने खुलवाए उर-द्वार।
और फिर रहे न एक निमेष,
लुटा चुपके से सौरभ-भार।
रह गई पथ में बिछ कर दीन
दृगों की अश्रु-भरी मनुहार! मूक प्राणों की विकल पुकार! विश्व-वीणा में कब से मूक-- पड़ा था मेरा जीवनत्तार!
न मुखरित कर पाईं झकझोर
थक गईं सौ-सौ मलय-बयार।
तुम्हीं रचते अभिनव संगीत
कभी मेरे गायक! इस पार
तुम्हीं ने कर निर्मम आघात
छेड़ दी यह बेसुर झंकार।
और उलझा डाले सब तार?
सब हो रहा स्वभाव से--ऐसा कहो। या सब कर रहा प्रभु--ऐसा कहो।
भक्त की भाषा है कि परमात्मा कर रहा है। ज्ञानी की भाषा है कि स्वभाव
से हो रहा है। तुम्हें जो भाषा प्रीतिकर हो, चुन लेना। वह भाषा का ही भेद है। एक बात सत्य है कि तुम कर्ता नहीं हो--या तो स्वभाव या परमात्मा--तुम कर्ता नहीं हो। तुम सिर्फ द्रष्टा हो। तुम सिर्फ देखने वाले हो।
प्राण के निर्वेद का लघु तोल है यह
शांति की परिकल्पना का मोल है यह
यह समुज्ज्वल भूमि का समतल किनारा
यह मधुर मधु-माधुरी रस घोल है यह
यह वही आनंद चिरसत्य सुंदर
और उस आलोक का लघु दीप पावन
यह हृदय का हार हीरक वैजयंति
और जीवन का मधुरतम सरस सावन
यह अभय का द्वार धीरज अमिट साहस यह परम उस सत्य की पहली झलक है और अखिल विराट को पहचानने की यह हृदय की जागरित पहली ललक है और मेरा कुछ नहीं सत्यानुभूति मैं, यह देह, तेरा और मेरा
आज तक जो घेर कर मुझ को खड़ी थी

यह उसी काली निशा का है सवेरा।
यह परम उस सत्य की पहली झलक है!
साक्षी का थोड़ा सा अनुभव, सत्य की पहली झलक है।
यह परम उस सत्य की पहली झलक है
और अखिल विराट को पहचानने की
यह हृदय की जागरित पहली ललक है
थोड़ा-सा दर्शन, थोड़ी-सी दृष्टि, थोड़े-से साक्षी बनो! थोड़े-से देखो--जो
हो रहा। उसमें कुछ भी भेद करने की आकांक्षा न करो। न कहो, ऐसा हो। न कहो, वैसा हो। तुम मांगो मत कुछ। तुम चाहो मत कुछ। तुम सिर्फ देखो--जैसा है। कृष्णमूर्ति कहते हैं: दैट ह्विच इज। जैसा है, उसको वैसा ही देखो; तुम अन्यथा न करना चाहो।
और अखिल विराट को पहचानने की
यह हृदय की जागरित पहली ललक है
और मेरा कुछ नहीं सत्यानुभूति
मैं, यह देह, तेरा और मेरा
आज तक जो घेर कर मुझ को खड़ी थी
यह उसी काली निशा का है सवेरा।
साक्षी है सवेरा! कर्ता और भोक्ता है अंधेरी रात्रि! जब तक तुम्हें लगता है मैं कर्ता-भोक्ता, तब तक तुम अंधेरे में भटकोगे। जिस क्षण जागे, जिस क्षण जगाया अपने को, जिस क्षण सम्हाली भीतर की ज्योति, साक्षी को पुकारा--उसी क्षण क्रांति! उसी क्षण सवेरा!

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक चौदहवां प्रवचन

उद्देश्य -- उसे जो भावे

पहला प्रश्न: मनोवैज्ञानिक सिग्मंड फ्रायड ने मृत्यु-एषणा, थानाटोस
की चर्चा की। आपने कल जीवेषणा, ईरोस की चर्चा की। फ्रायड की धारणा को क्या आप आधुनिक युग की आध्यात्मिक विकृति कहते हैं? कृपा करके हमें समझाएं।

जीवन द्वंद्व है। और जो भी यहां है उससे विपरीत भी जरूर होगा, पता हो न पता हो। जहां प्रेम है वहां घृणा है। और जहां प्रकाश है वहां अंधकार है। और जहां परमात्मा है वहां पदार्थ है। तो जीवेषणा के भीतर भी छिपी हुई मृत्यु-एषणा भी होनी ही चाहिए।
आधुनिक युग की विकृति नहीं है फ्रायड का वक्तव्य। फ्रायड ने एक बहुत गहरी खोज की है। जीवेषणा की चर्चा तो सदा से होती रही। फ्रायड ने जो थोड़ा- सा अनुदान किया है जगत की प्रतिभा को, उस अनुदान में मृत्यु-एषणा की धारणा भी है। आदमी जीना चाहता है, यह तो सच है; लेकिन ऐसी घड़ियां भी होती हैं जब आदमी मरना चाहता है, यह भी उतना ही सच है।
थोड़ा सोचो, जवान हो तुम, तो जीना चाहते हो। फिर एक दिन वृद्ध हुए, शिथिल हुए गात, अंग थके, जीवन में जो जानने योग्य था जान लिया, करने योग्य था कर लिया, भोगने योग्य था भोग लिया, अब सब विरस हुआ, अब किसी बात में कोई रस नहीं आता, अब सब पुनरुक्ति मालूम होती है, ऊब पैदा होती है--तो क्या तुम मरना न चाहोगे? क्या अंतरतम में एक गहरी आवाज न उठने लगेगी कि अब बहुत हुआ, अब परदा गिरे, अब नाटक समाप्त हो?
जिसे पूरब के मनीषियों ने वैराग्य कहा है, वह मृत्यु-एषणा की ही छाया है। जिसे बुद्ध ने निर्वाण कहा है, वह मृत्यु-एषणा की ही आत्यंतिक परिकल्पना है।
क्या है निर्वाण? हम कहते हैं कि इस देश में आवागमन से छुटकारा। क्या हुआ इसका अर्थ? इसका अर्थ हुआ: बहुत हो चुका जीवन, अब हम लौट कर नहीं आना चाहते; बहुत हो चुका, एक सीमा है, अब हम थक गए हैं और हम परम विश्राम चाहते हैं। इसको ही फ्रायड मृत्यु-एषणा कहता है। शब्द से ही मत घबड़ा जाना। जीवेषणा है राग, मृत्यु-एषणा है विराग। जीवेषणा तुम्हें बांधे रखती है माया से; मृत्यु-एषणा मुक्त करेगी। खुद फ्रायड को भी ठीक-ठीक साफ नहीं है कि उसने जो खोज लिया है, उसका पूरा-पूरा अर्थ क्या होगा! मृत्यु-एषणा की खोज उसने अपने जीवन के अंतिम चरण में की; शायद स्वयं भी मृत्यु-एषणा से भर गया होगा, तब की। स्वयं भी परेशान हो गया, क्योंकि जीवन भर तो लस्ट, लिबिडो, जीवेषणा, वासना--इसका ही अनुसंधान किया और जीवन की अंतिम घड़ियों में मृत्यु-एषणा का भी पता चला। वह हैरान हुआ, क्योंकि वह तार्किक व्यक्ति था। उसे बड़ी बेचैनी हुई कि यह तो सारे जीवन में मैंने जो खोजा था, उसका विरोध हो जाएगा। मैंने तो सदा यही कहा था कि आदमी जीने के पागलपन से जी रहा है और कामवासना मनुष्य-जीवन का एकमात्र आधार है, ईरोस। अब आज अचानक जीवन के अंतिम पहर में यह भी भीतर पता चला कि मरने की भी आकांक्षा है। फिर ईरोस का क्या हुआ, जीवेषणा का क्या हुआ?
फ्रायड कोई लाओत्सु का अनुयायी तो नहीं था; अरस्तू का अनुयायी था। विपरीत को मानने में उसे बड़ी अड़चन थी। वैज्ञानिक बुद्धि का व्यक्ति था। चाहता था, एक से ही सब सुलझा लूं; एक ही धारणा से सब सुलझा लूं, दूसरी कोई धारणा बीच में न लानी पड़े। और यह तो दूसरी धारणा थी; न केवल दूसरी, सारे जीवन की खोज का विरोध थी, एंटी-थीसिस थी, उसका प्रतिवाद थी। मगर आदमी ईमानदार था। उसने छिपाया न। थोड़ा कम ईमान का आदमी होता तो दूसरी बात को उठाता ही नहीं। जीवन के अंतिम क्षण में कौन अपने जीवन के किए को लीपता- पोतता है! चालीस वर्षों के अथक श्रम से जिसने सिद्ध किया था, उसके विपरीत एक धारणा को अंत में डाल जाना सारे विचार को अस्त-व्यस्त करना होगा। थोड़ा कम ईमान का आदमी होता, थोड़ा कम प्रामाणिक होता, टाल जाता बात--मजबूरी कहां थी? कहता न किसी से, चुपचाप बैठा रहता। नहीं, लेकिन आदमी ईमानदार था। उसने

फिक्र न की। उसने जाना कि अगर मेरे जीवन का पूरा दृष्टिकोण भी गिरता हो, अगर मेरे वक्तव्य में विरोधाभास भी आता हो, तो आए; लेकिन जो मैंने जाना है, जो मैंने देखा है, उसे कहूंगा। बड़े झिझकते मन से उसने मृत्यु-एषणा का सिद्धांत प्रतिपादित किया।
और मेरे देखे, उसके जीवन भर की खोज अधूरी रह जाती अगर यह दूसरी बात उसे पता न चलती।
जब तुम जीवेषणा में बहुत गहरे खोज करोगे तो वहीं तुम छिपा हुआ पाओगे विरोध भी। इसीलिए तो कहते हैं कि जैसे ही जन्म हुआ, वैसे ही मृत्यु भी होनी शुरू हो गई। जीवन में ही छिपा है मृत्यु का स्वर। बने नहीं, मिटना शुरू हो गया। जो भी बना है, मिटेगा। जो भी संगृहीत है, बिखरेगा।
तो यह जीवन जो हमारा है, इसके साथ-साथ मृत्यु की छाया भी चलती होगी। एक पैर जीवन का, तो दूसरा पैर मृत्यु का--दोनों पर सधे हम चलते हैं।
तीसरी खोज भारत की है। वह भारत की खोज यह है कि न तो हम जीवन हैं और न
हम मृत्यु हैं; ये दोनों हमारे पैर हैं। द्वंद्व इसलिए मालूम होता है, अगर हम तीसरे को न देख पाएं। अगर तीसरा दिखाई पड़ जाए...सिंथीसिस।
ऐसा समझो, ईरोस की धारणा, जीवेषणा की धारणा है: थीसिस, एक वाद, एक सिद्धांत। फिर थानाटोस, मृत्यु-एषणा की धारणा है: प्रतिवाद, एंटी-थीसिस। अगर दो ही रहें तो विवाद ही होगा; हल होना मुश्किल हो जाएगा।
फ्रायड अगर थोड़े दिन और जीता--नहीं जीया, किसी अगले जन्म में, कहीं और खोजबीन करते--सिंथीसिस, संवाद भी घटित होगा; वह समन्वय की अंतिम दशा भी घटित होगी, जब वह साक्षी को भी पकड़ लेगा। वह ठीक रास्ते पर था; मंजिल अभी अधूरी थी, मगर रास्ता गलत न था। अभी मंजिल आई न थी, यात्रा अधूरी थी; लेकिन मार्ग ठीक था, दिशा ठीक थी। जीवन से मृत्यु पर पहुंचा था; अब एक ही उपाय बचा था कि जीवन और मृत्यु दोनों का अतिक्रमण कर जाता।
उसी को अष्टावक्र ने साक्षी-भाव कहा है। न तुम जीवन हो, न तुम मृत्यु हो। जीवन और मृत्यु दोनों ही खेल हैं, जो तुम चुनते हो। और एक को चुना तो दूसरा भी अनिवार्यतः चुनना होता है। जिसने जीवन को चुना उसे मृत्यु भी चुननी होगी। जिसने प्रेम को चुना उसे घृणा भी चुननी होगी। जिसने सम्मान चुना उसे अपमान भी स्वीकार कर लेना होगा। जिसने मुस्कुराहट चुनी, वह आंसुओं से बच न सकेगा। वे साथ-साथ हैं। देर-अबेर हो सकती है, लेकिन द्वंद्व साथ-साथ है।
जब तक तुम चुनोगे, तब तक विपरीत भी अपने-आप चुन लिया जाएगा। तुम चाहो न चाहो, तुम्हारी चाह-अचाह का सवाल नहीं। तुमने सिक्के का एक पहलू चुना, दूसरा पहलू तुम्हारे हाथ में अपने-आप आ गया। तुम देखो वर्षों बाद, इससे क्या फर्क पड़ता है? लेकिन आ गया। चुनो मत, दोनों के साक्षी बनो--तो तुम दोनों के पार हो गए। आवागमन से मुक्ति, जीवन-मृत्यु से मुक्ति, जन्म-मरण से मुक्ति घट सकती है।
तीसरे तत्व की खोज करनी होगी। वह तीसरा ही महिमावान है, आत्यंतिक रूप
से महिमावान है। उस तीसरे का ही महत्व है।
पूछते हो तुम, "क्या यह आध्यात्मिक विकृति है आधुनिक युग की--मृत्यु- एषणा की खोज?"
नहीं, यह आधुनिक भाषा में विराग की खोज है, वैराग्य की खोज है। यह नया शब्द है। विरागी का अर्थ क्या होता है? विरागी का इतना ही अर्थ होता है, वह कहता है, अब मैं विदा होना चाहता हूं। विरागी का इतना ही अर्थ होता है: राग-रंग टूट गया, वीणा के तार उखड़ गए; अब मैं विदा होना चाहता हूं। विरागी यही कहता है कि अब यहां घर बनाने योग्य कोई जगह नहीं मालूम होती, मुझे जाने दो। यह मरने की ही आकांक्षा है।
फ्रायड भी ठीक से नहीं समझा। उसने अपनी इस खोज के संदर्भ में ऐसा सोचा
कि बुद्ध मृत्यु-एषणा से भरे हुए हैं। एक अर्थ में ठीक है; क्योंकि जीवेषणा अब नहीं है, अब जीने की कोई आकांक्षा नहीं है। वह तृष्णा, वह तन्हा गई। अब कोई वासना जीने की नहीं है।

इसलिए फ्रायड ने सोचा कि बुद्ध मृत्यु-एषणा से भरे हैं और यह बुद्ध का धर्म मरने वालों का धर्म है; निराशा, अवसाद, संताप से भरे लोगों का धर्म है, नकारात्मक है। थोड़ी दूर चला, लेकिन पूरी बात उसकी पकड़ में न आई।
बुद्ध का धर्म न तो राग का धर्म है न विराग का--वीतराग का धर्म है। परम संन्यासी वीतरागी है। वीतरागी का अर्थ हुआ: विराग से भी राग न रहा। वह आखिरी ऊंचाई है चैतन्य की। राग से राग न रहे, तो विराग। फिर विराग से भी राग न रहे, तो वीतराग। संसारी संसार से छूटने लगे, तो संन्यासी; फिर संन्यास के भी ऊपर उठने लगे, तो वीतराग।
विराग में भी थोड़ा राग तो रहता है--विराग से हो जाता है। कोई धन से राग करता है; कोई निर्धनता से राग करने लगता है; कोई कहता है निर्धनता में बड़ा सुख है। कुछ न हो पास, तो बड़ा सुख है। कोई वस्त्रों से राग करता; कोई कहता है नग्न होने में बड़ा सुख है, दिगंबर हो जाने में बड़ा सुख है। कोई कहता है स्त्रियां चाहिए तो सुख है, पुरुष चाहिए तो सुख है, सुंदर देह चाहिए तो सुख है; कोई कहता है, नहीं, स्त्रियों से दूर, पुरुषों से दूर, देहों से दूर, जंगल में, एकांत में, अकेले में, जहां कोई न बचे वहां सुख है। लेकिन ये एक ही सिक्के के पहलू हैं; एक-दूसरे के विपरीत मालूम होते हैं, पर एक-दूसरे के सहयोगी हैं।
वीतराग की दशा है दोनों के पार; पूरा सिक्का छोड़ दिया हाथ से-- कृष्णमूर्ति जिस अवस्था को च्वॉयसलेसनेस कहते हैं, निर्विकल्पता, चुनाव का अभाव। फ्रायड उसके करीब आता जरूर। आदमी अनूठा था। लेकिन उसकी अपनी सीमाएं थीं। और पूरब के धर्मों से वह कभी ठीक से परिचित नहीं हुआ। उसके मन को ईसाइयत और यहूदी धर्मों ने बड़े विरोध से भर दिया था।
ईसाइयत और यहूदी धर्म, धर्म की कोई बड़ी ऊंची अभिव्यक्तियां नहीं हैं। बड़ी साधारण अभिव्यक्तियां हैं। क्राइस्ट तो ठीक वहीं हैं जहां बुद्ध हैं, लेकिन ईसाइयत उस ऊंचाई को नहीं पहुंच सकी जहां बुद्ध के अनुयायियों ने बुद्ध के विचार को पहुंचाया--उस परिशुद्धि को, उस प्रज्ञा को। मौजेज तो वहीं हैं, जहां लाओत्सु है, लेकिन यहूदी मौजेज को वहां न उठा सके जहां लाओत्सु के शिष्यों ने लाओत्सु को उठाया, और लाओत्सु के विचार पर आकाश में एक ताना-बाना बुना-- अत्यंत परिशुद्ध!
ईसाइयत और यहूदी, धर्म की बड़ी साधारण अभिव्यक्तियां हैं, बड़ी प्राथमिक; परिष्कार नहीं है; राजनीति ज्यादा है, धर्म कम है; व्यवसाय ज्यादा है, धर्म कम है; धर्म औपचारिक मालूम होता है। रविवार को चर्च हो आता है आदमी और सोच लेता है बात पूरी हो गई। रविवारीय धर्म है, बाकी छह दिन कोई प्रयोजन नहीं है। थोड़ी-बहुत प्रार्थना को जगह है, ध्यान के लिए कोई जगह नहीं है; समाधि की कोई धारणा नहीं है। इसलिए बहुत ऊंचाई की बात नहीं थी। फ्रायड सिर्फ इन दो धर्मों से परिचित था। पूरब के धर्म--उपनिषद, ताओत्तेह-किंग, झेन, तंत्र, तिलोपा, बोधिधर्म, नागार्जुन, बसुबंधु, धर्मकीर्ति--इनकी कोई पहचान उसे न थी। ऐसे कमल भी खिले हैं, इसका उसे कुछ पता न था। इसलिए उसकी सीमाएं थीं। उसने पश्चिम के साधारण धर्मों को ही धर्म मान लिया।
धर्म की गहरी समझ चाहिए हो तो पूरब में डुबकी लगानी जरूरी है; जैसे विज्ञान की गहरी समझ चाहिए हो तो पश्चिम में डुबकी लगानी जरूरी है; पश्चिम की मौलिक प्रतिभा विज्ञान में प्रगट हुई है। पूरब की प्रतिभा धर्म में प्रगट हुई है। जैसे पूरब का वैज्ञानिक मध्य श्रेणी का होता है। जिसको तुम पूरब में वैज्ञानिक कहते हो वह कोई बड़े मूल्य का नहीं होता; तकनीशियन होता है, वैज्ञानिक नहीं होता; पश्चिम से सीख कर आ जाता है, उधार उसका ज्ञान होता है। पूरब के पास विज्ञान की सीधी-सीधी प्रतिभा नहीं मालूम होती, क्योंकि विज्ञान की प्रतिभा के लिए तर्क चाहिए और विज्ञान की प्रतिभा के लिए गणित चाहिए--और पूरब की प्रतिभा काव्यात्मक है, रहस्यात्मक है, संगीत में प्रगट हुई है, ध्यान में प्रगट हुई है।
तो अगर किसी को भी धर्म का ठीक परिचय करना हो तो पूरब से ही परिचित होना होगा। विज्ञान पढ़ना हो तो ऑक्सफर्ड जाओ, कैम्ब्रिज जाओ, हार्वर्ड जाओ। लेकिन अगर धर्म पढ़ना हो तो भटको कहीं पूरब के गली-कूचों में, भटको

पूरब की घाटियों-वादियों, पहाड़ों में। विज्ञान को समझना हो तो पश्चिम की धारा ने विज्ञान को ठीक-ठीक उसके निष्कर्ष पर पहुंचा दिया है, तर्क को उसकी आत्यंतिक निष्पत्ति दे दी है। अगर अतक्र्य हृदय की, अंतरतम की बात सुननी हो तो पूरब के सन्नाटे में सुनो; उसकी गुनगुनाहट, उसका नाद पूरब में है।
फ्रायड की सीमा थी वह पूरब से परिचित न था। वही सीमा माक्र्स की भी थी,
वह भी पूरब से परिचित न था। दोनों ने धर्म-विरोधी वक्तव्य दिए। उनके धर्म-विरोधी वक्तव्यों का बहुत मूल्य नहीं है, क्योंकि वे अपरिचित लोगों के वक्तव्य हैं, वे परिचित लोगों के वक्तव्य नहीं हैं। उन्होंने कुछ जान कर नहीं कहा है; ऊपर-ऊपर से, जो सतही परिचय हो जाता है, उसके आधार पर कुछ कह दिया है। उन्होंने गहरी डुबकी न ली। वे पूरब की गहराई में उतर कर मोती न लाए। बुद्ध से उनका मिलन नहीं हुआ। लाओत्सु से साक्षात्कार नहीं हुआ। कृष्ण की बांसुरी उन्होंने नहीं सुनी।
ये सीमाएं थीं, अन्यथा शायद फ्रायड उस सिंथीसिस को, उस परम समन्वय को
भी उपलब्ध हो जाता, जो वीतरागता का है। पर जो बात उसने मृत्यु-एषणा के संबंध में कही, वह सच है। हम तो उसे जानते रहे हैं। हमने उसे मृत्यु-एषणा कभी नहीं कहा था, यह बात भी सच है। हमने उसे कहा था वैराग्य-भाव।
मगर क्या अर्थ होता है वैराग्य-भाव का? अगर राग का अर्थ होता है: और जीने की इच्छा, तो वैराग्य का अर्थ होता है: अब और न जीने की इच्छा--बहुत हुआ, पर्याप्त हो गया, हम भर गए, अब हम विदा होना चाहते हैं।
नहीं, आधुनिक मन की कोई विकृति नहीं है; आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा पुराने वैराग्य को नया नाम दिया गया है। शुभ है! मेरे लेखे, फ्रायड की मृत्यु-एषणा का गहन अध्ययन होना चाहिए! वह उपेक्षित है, उसका बहुत अध्ययन नहीं किया गया। जैसे हम मृत्यु की उपेक्षा करते हैं, वैसे ही हमने मृत्यु-एषणा के सिद्धांत की भी उपेक्षा की है। तो फ्रायड के लिबिडो, कामवासना का तो खूब अध्ययन हुआ है, बड़ी किताबें लिखी जाती हैं; लेकिन मृत्यु-एषणा का बहुत कम अध्ययन हुआ है। बड़ी मूल्यवान खोज है वह, और जीवन के अंतिम परिपक्व दिनों में उसने दी है--इसलिए मूल्य और भी गहन हो जाता है। इतना ही स्मरण रखो कि जीवन में सब चीजें द्वंद्व हैं। द्वंद्व से चलता है जीवन। जिस दिन तुम द्वंद्व से जाग गए, जीवन रुक जाता है। जिस दिन तुम द्वंद्व से जागे, निर्द्वंद्व हुए, तब तुम भी कहोगे जनक जैसे: आश्चर्य कि मैं इतनी बार जन्मा और कभी नहीं जन्मा, और इतनी बार मरा और कभी नहीं मरा! आश्चर्य! मुझको मेरा नमस्कार! इतने जन्म, इतनी मृत्युएं आईं और गईं और कोई रेखा भी मुझ पर नहीं छोड़ गईं! इतने पुण्य इतने पाप, इतने व्यवसाय इतने व्यापार, आए और गए और सपनों की तरह चले गए, पीछे पदचिह्न भी नहीं छोड़ गए! आश्चर्य मेरी इस आत्यंतिक शुद्धता का! आश्चर्य मेरे इस क्वांरेपन का। धन्यभाग! मेरा मुझको नमस्कार!
ऐसा किसी दिन तुम्हारे भीतर भी, तुम्हारे अंतरतम में भी उठेगी सुगंध! लेकिन ध्यान रखना, आना है निर्द्वंद्व पर। जहां तुम्हें द्वंद्व दिखाई पड़े, वहीं साक्षी साधना। द्वंद्व को तुम सूचना मान लेना कि साक्षी साधने की घड़ी आ गई, जहां द्वंद्व दिखाई पड़े--प्रेम और घृणा--तो तुम चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। क्रोध और दया--तो तुम चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। स्त्री और पुरुष--तो तुम चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। सम्मान-अपमान-- चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। सुख-दुख--साक्षी हो जाना। जहां तुम्हें द्वंद्व दिखाई पड़े, वहीं साक्षी हो जाना।
अगर यह एक स्वर्ण-सूत्र तुमने पाल लिया, तो वीतराग की दशा बहुत दूर नहीं है। बूंद-बूंद घड़ा भर जाता है, ऐसे ही बूंद-बूंद इस निर्विकल्पता को साधने से तुम्हारी समाधि का घड़ा भी भरेगा, एक दिन तुम ऊपर से बहने लगोगे। न केवल तुम समाधिस्थ हो जाओगे, तुम्हारे पास जो आएंगे उन्हें भी समाधि की सुवास मिलेगी, वे भी भर उठेंगे किसी अलौकिक आनंद से।

दूसरा प्रश्न: आपके कहे अनुसार और समस्त बुद्ध-पुरुषों के कहे अनुसार अहंकार की सत्ता नहीं है--और फिर भी अहंकार के साक्षी होने को आप कहते हैं! कृपा करके इस अबूझ पहेली को हमें समझाएं।

न तो अबूझ है, न पहेली है। सीधी-सी बात है: तुम अंधेरे को देख पाते हो
या नहीं? और अंधेरे की कोई सत्ता नहीं है। अंधेरा मात्र अभाव है। फिर भी अंधेरे को तुम देख पाते हो या नहीं? देख तो पाते हो। तुम्हारे देखने से ही अंधेरे की सत्ता थोड़े ही सिद्ध होती है। जब तुम अंधेरा देखते हो तो तुम वस्तुतः यही देखते हो कि प्रकाश नहीं है--और क्या देखते हो? जब तुम अंधेरा देखते हो तो तुम अंधेरा थोड़े ही देखते हो, प्रकाश का अभाव देखते हो। अंधेरा तो है ही नहीं--काटो तो काट नहीं सकते, बांधो तो बांध नहीं सकते, धकाओ तो धका नहीं सकते, जलाओ तो जला नहीं सकते, मिटाओ तो मिटा नहीं सकते। अंधेरा हो कैसे सकता है? कुछ तो कर सकते। जब कोई चीज होती है तो उसके साथ हम कुछ कर सकते हैं। होने का प्रमाण क्या? उसके साथ कुछ किया जा सकता है। न होने का प्रमाण क्या? उसके साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता।
अंधेरा भरा है तुम्हारे कमरे में, ले आओ तलवारें, काटो, धक्के दो, बुला
लो पहलवानों को, मार-काट मचाओ--तुम्हीं थक कर गिरोगे, तुम्हीं को चोटें लग जाएंगी, अंधेरा अपनी जगह रहेगा। अंधेरे का तुम कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि अंधेरा अभाव है।
हां, रोशनी के साथ तुम बहुत कुछ कर सकते हो। दीया जलता हो, बुझा दो फूंक कर--गई रोशनी। बुझा दीया हो, जला दो--हो गई रोशनी। इस कमरे में न हो, दूसरे कमरे से ले आओ। अपने घर में न हो, पड़ोसी से मांग लो। प्रकाश के साथ तुम हजार काम कर सकते हो।
खयाल किया? अंधेरे के साथ कुछ करना हो तो भी प्रकाश के साथ कुछ करना पड़ता है। अंधेरे को हटाना है, जलाओ प्रकाश को; लेकिन जलाते प्रकाश को हो। अंधेरे को लाना है, बुझाओ प्रकाश को; लेकिन बुझाते प्रकाश को हो। जो है, उसके साथ कुछ किया जा सकता है। लेकिन फिर भी अंधेरा दिखाई तो पड़ता है। ऐसा ही अहंकार है। उसकी कोई सत्ता नहीं। वह आत्मा का अभाव है। तुम्हें अपना पता नहीं, इसलिए अहंकार मालूम होता है। जिस दिन तुम्हें अपना पता चल जाएगा, उसी दिन अहंकार मालूम न होगा। आत्मभाव में कोई अहंकार नहीं रह जाता। और चूंकि तुम अपने को भुला बैठे, विस्मरण हो गया, तुम्हें याद न रही कि तुम कौन हो--तो बिना कुछ प्रतिमा के बनाए काम नहीं चल सकता, तो एक कल्पित प्रतिमा बना ली है अहंकार की, कि मैं यह हूं: मेरे पिता का नाम, घर का नाम, मेरा पता-ठिकाना, कितनी डिग्रियां, कितने प्रमाण-पत्र, लोग क्या कहते हैं मेरे बाबत--तुमने एक फाइल बना ली। इससे तुम किसी तरह इस जिंदगी में अपने संबंध में कुछ भान पैदा कर लेते हो, एक रूप बना लेते हो--जिसके सहारे काम चल जाता है, अन्यथा बड़ी मुश्किल हो जाएगी।
कोई तुमसे पूछे कि तुम कौन हो और अगर तुम सच्चा उत्तर देना चाहो, तो तुम खड़े रह जाओगे। वह आदमी फिर पूछे कि भाई बोलते नहीं तुम कौन हो, और तुम कंधे बिचकाओ। यही सच्चा होगा उत्तर, क्योंकि पता तो तुमको भी नहीं है कि तुम कौन हो, तो वह आदमी तुम्हें पागल समझेगा। कहां से आ रहे हो--तुम कोई उत्तर नहीं दे सकते हो। दे सकते नहीं, क्योंकि तुम्हें पता नहीं कहां से आ रहे हो। कहां जा रहे हो, कुछ पता नहीं। तो तुम पागल ही समझे जाओगे।
बड़ी मुश्किल हो जाएगी अगर सभी लोग इस तरह करने लगें। अगर सभी लोग छोड़ दें झूठी मान्यताएं अपने संबंध में, तो बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाएगी। झूठी मान्यताएं इस झूठे समाज में उपयोगी हैं। इस झूठे माया के लोक में झूठी मान्यताएं उपयोगी हैं। उनसे काम चल जाता है। वे सच हैं या झूठ, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। उनसे काम चल जाता है, वे उपयोगी हैं।
इसीलिए तो लोग जब स्वयं की खोज पर निकलते हैं तो बड़ी घबड़ाहट पकड़ती है, क्योंकि ये सब झूठी मान्यताएं हटानी होती हैं। जिनको सदा-सदा से माना कि मेरा यह नाम है, मेरा यह पता-ठिकाना, मेरी यह देह, मैं देह, मेरा यह मन, मेरे ये विचार, मेरा यह धर्म, मेरा यह देश--सब खोने लगते हैं। इन सबके साथ ही मेरा "मैं" भी बिखरने लगता है, पिघलने लगता है, तिरोहित होने लगता है। एक

घड़ी आती है कि तुम शून्य सन्नाटे में रह जाते हो, जहां तुम्हें पता ही नहीं होता कि तुम कौन हो।
उस घड़ी को जीने का नाम तपश्चर्या है। वह घड़ी बड़ी तप की है, जब तुम्हें बिलकुल पता नहीं रहता कि मैं कौन हूं। जब तुम्हारे सब धारणा के बनाए हुए महल भूमिसात हो जाते हैं, जब तुम निबिड़ अंधकार में, शून्य में खड़े हो जाते हो, प्रकाश की एक किरण नहीं मालूम होती कि मैं कौन हूं--ईसाई फकीरों ने इसके लिए ठीक नाम दिया है: डार्क नाइट आफ द सोल; आत्मा की अंधेरी रात। और इसी अंधेरी रात के बाद सुबह है। जो इससे गुजरने से डरा वह सुबह तक कभी नहीं पहुंच पाता।
तो पहले तो झूठी धारणा छोड़नी होगी, झूठा तादात्म्य छोड़ना होगा। एक घड़ी आएगी कि तुम सब भूल जाओगे कि तुम कौन हो; बिलकुल पागल जैसी दशा होगी। अगर तुम हिम्मतवर रहे और इस घड़ी से गुजर गए तो एक घड़ी फिर से आएगी, जब सुबह का सूरज निकलेगा; पहली दफा तुम्हें पता चलेगा तुम कौन हो। जब तुम्हें पता चलता है कि वस्तुतः तुम कौन हो, यथार्थतः तुम कौन हो, परमार्थतः तुम कौन हो--तब तुम जानते हो कि अहंकार एक व्यावहारिक सत्य था।
यह बात समझ लेनी चाहिए। व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के बीच
का भेद समझ लेना चाहिए। एक कागज का टुकड़ा मैं तुम्हें देता हूं और कहता हूं यह सौ रुपये का नोट है; तुम कहते हो, यह कागज का टुकड़ा है। मैं तुम्हें सौ रुपये का नोट देता हूं और कहता हूं यह कागज का टुकड़ा है; तुम कहते हो, नहीं यह सौ रुपए का नोट है। दोनों कागज के टुकड़े हैं। जिसको तुम सौ रुपये का नोट कह रहे हो वह व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक नहीं। अगर सरकार बदल जाए या सरकार का दिमाग बदल जाए और वह आज सुबह घोषणा कर दे कि सौ रुपये के नोट अब सौ रुपये के नोट नहीं, अब नहीं चलेंगे, चलन के बाहर हो गए--तो तत्क्षण सौ रुपये का नोट कागज का टुकड़ा हो जाएगा। लोग निकाल कर घूरों पर फेंक आएंगे कि क्या करेंगे। कल तक इतना सम्हाल-सम्हाल कर रखते थे, अब बच्चों को खेलने को दे देंगे कि खेलो, कागज की नाव बना कर नदी में चला दो। क्या करोगे? व्यावहारिक सत्य था, माना हुआ सत्य था। माना था, इसलिए सत्य था। सबने मिल कर माना था, इसलिए सत्य था। सबने इंकार कर दिया, बात खत्म हो गई।
अहंकार व्यावहारिक सत्य है--सौ रुपए का करेंसी नोट है। मानो तो है। और जिंदगी के लिए जरूरी भी है। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि तुम अहंकार को छोड़ कर जिंदगी में अड़चन बन जाओ। मैं तुमसे यह कह रहा हूं कि अहंकार से जाग जाओ; इतना समझ लो कि यह व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक नहीं। इसका उपयोग करो--भरपूर! करना ही होगा। लेकिन इसे सच्चाई मत मानो। सच्चाई मानने से बड़ी अड़चन हो जाती है। हम जो मान लेते हैं वैसा दिखाई पड़ने लगता है।
कल मैं एक घटना पढ़ रहा था--एक प्रयोग। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान-विभाग ने एक प्रयोग किया। एक बड़ा मनोवैज्ञानिक, जिसकी ख्याति सारे मुल्क और मुल्क के बाहर है, उसको उन्होंने कहा कि हम एक प्रयोग करना चाहते हैं, आप सहयोग दें। एक आदमी पागल है, दिमाग उसका खराब है और वह घोषणा करता है कि वह बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक है। एक दूसरे विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक का वह नाम लेता है कि मैं वही हूं। आप उसका इलाज करें। और आप जो एक-दूसरे के साथ बात करेंगे, वह हम सब उसकी फिल्म लेना चाहते हैं, ताकि हम उसका अध्ययन कर सकें बाद में। वह मनोवैज्ञानिक राजी हो गया।
वे दूसरे आदमी के पास गए--मनोवैज्ञानिक के पास, दूसरे विश्वविद्यालय के। और उससे कहा कि एक पागल है, वह अपने को बड़ा मनोवैज्ञानिक समझता है। आप उसका इलाज करेंगे? हम फिल्म लेना चाहते हैं। वह भी राजी हो गया।
ये दोनों बड़े मनोवैज्ञानिक, इन दोनों को वे एक कमरे में लाये, पर दोनों एक-दूसरे को मान रहे हैं कि दूसरा पागल है और गलती से, भ्रांति से घोषणा कर रहा है कि मैं बड़ा मनोवैज्ञानिक हूं। उन्होंने पूछा, आप कौन? दोनों ने उत्तर दिया। दोनों ने वही उत्तर दिया जो सही था--उनके लिए सही था। लेकिन दूसरा मुस्कुराया--उसने कहा, "तो अच्छा तो बिलकुल दिमाग इसका खराब ही है? यह अपने को क्या समझ रहा है?" दोनों एक-दूसरे के इलाज का उपाय करने लगे। और जितना वह पागल-- क्योंकि दोनों एक-दूसरे को पागल समझते हैं--जितना

एक-दूसरे का उपाय करने लगा इलाज का, वह दूसरा भी चकित हुआ कि हद हो गयी, पागलपन की भी सीमा है! न केवल यह पागल है, बल्कि मुझे पागल समझ रहा है, मुझे ठीक करने का उपाय कर रहा है।
दस मिनट तक बड़ी अदभुत स्थिति रही होगी। दस मिनट के बाद एक को याद आया
कि यह चेहरा तो पहचाना-सा मालूम पड़ता है। अखबारों में फोटो देखे मालूम पड़ते हैं, हो न हो यह आदमी सच में ही तो वही नहीं है जिसका यह दावा कर रहा है!
और जैसे ही उसे याद आया तो सारी बात याद आ गई। उसने उस आदमी की किताबें
भी पढ़ी हैं; वह जो बोल रहा है, उसमें उसके शब्द भी उसकी पहचान में आने लगे। तब वह चौंका। तब वह समझा जाल क्या है। यह एक प्रयोग था जिसमें मान्यता के आधार पर, हम जो मान लेते हैं, वही सत्य प्रतीत होने लगता है। तब वे दोनों हंसे खिलखिला कर। तब दोनों ने असली स्थिति पहचान ली। तब कोई भी पागल न रहा। मगर दस मिनट तक दोनों पागल थे और प्रत्येक सोच रहा था दूसरा पागल है। दस मिनट तक जो स्थिति थी, वह व्यावहारिक सत्य थी, पारमार्थिक नहीं। उखड़ गई। जैसे ही सच्चाई की याद आई, टूट गई।
एक और प्रयोग मैं पढ़ रहा था। एक दूसरे विश्वविद्यालय में एक बड़ा जर्मन संगीतज्ञ आया। वह सिर्फ जर्मन भाषा जानता है, अंग्रेजी के दो चार शब्द बोल लेता है। उसके एक विद्यार्थी ने आ कर पहले परिचय दिया श्रोताओं को। और जैसा वह संगीत बजाने जा रहा है, उसके संबंध में परिचय दिया कि बहुत अनूठी कृति है, शायद मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसी कोई दूसरी संगीत की कृति नहीं। इसकी खूबी यह है कि संगीतज्ञ तो पूरा गंभीर रहता है, लेकिन यह एक बड़ा गहरा व्यंग्य है। और आप अभागे हैं कि आपको जर्मन नहीं आती और आप पूरा न समझ पाएंगे, लेकिन जर्मनी में जहां भी उसने अपने इस संगीत का प्रदर्शन किया है वहां लोग लोट-पोट हो जाते हैं, हंसी के फव्वारे छूट जाते हैं; लोग पेट पकड़ लेते हैं, लोगों के पेट में दर्द होने लगता है। और खूबी यह है इस संगीतज्ञ की कि वह लेकिन अपनी गंभीरता, गुरु-गंभीरता बनाए रखता है, मुस्कुराहट भी नहीं आती। जैसे- जैसे लोग हंसते हैं, वह और भी गंभीर होता जाता है। यही तो उसकी खूबी है। और इसी से वह हंसी और भी बढ़ती चली जाती है। वह नाराज तक होने लगता है। वह चिल्लाने तक लगता है कि यह तुम क्या कर रहे हो? मगर वह सारे व्यंग्य का हिस्सा है कि वह अपनी गंभीरता को गहन रखता है! और गंभीरता के गहन रखने के कारण पृष्ठभूमि में व्यंग्य और भी प्रगाढ़ हो जाता है, पैना हो जाता है।
फिर संगीतज्ञ आया। उसने अपना संगीत का प्रदर्शन शुरू किया। वह विद्यार्थी उसके पीछे खड़ा हो गया। अब लोग भाषा नहीं जानते, मगर तैयारी है उनकी। कोई धीरे से खिलखिलाया, कोई हंसा, फिर हंसी फैलने लगी। फिर सब लोगों ने नजर उस विद्यार्थी पर रखी जो पीछे खड़ा है। वह कई दफे ऐसा हंसता है, पेट पकड़ लेता है, धीरे-धीरे लोग उसकी नकल करने लगे--उस विद्यार्थी की-- क्योंकि जब वह हंस रहा है तो कोई बात हंसी की हो ही रही होगी। फिर थोड़ा-थोड़ा लोग अपनी तरफ से भी करने लगे। और वह संगीतज्ञ नाराज होने लगा। और वह चीखने- चिल्लाने लगा। गालियां बकने की नौबत आ गई। वह छोड़ कर खड़ा हो गया और जो दो- चार शब्द उसे अंग्रेजी के आते थे, उसने उससे समझाया कि यह क्या नालायकी है? यह मैं एक गंभीर, अति गंभीर संगीत पेश कर रहा हूं। और यह क्या पागलपन है? तुम्हें भाषा भी समझ में नहीं आती और तुम लोट-पोट हुए जा रहे हो!
तब लोगों ने निवेदन किया कि हमको पहले बताया गया है। उन्होंने इधर-उधर देखा, वह विद्यार्थी नदारद है, वह जा चुका है। वह प्रयोग पूरा हो गया। वहां कुछ भी हंसी जैसी बात न थी। वह जो गा रहा था गीत, वह बड़ा दुखांत था। लेकिन धारणा अगर पकड़ जाए तो व्यावहारिक रूप से सत्य मालूम होने लगती है। अहंकार एक धारणा है। सभी को पकड़ी है। और खूब उस धारणा के नीचे सभी की छातियां दबी हैं! लेकिन है केवल व्यावहारिक सत्य। उपयोगी है निश्चित, यथार्थ नहीं है। उपयोग खूब करो, लेकिन भूल कर भी अपने को अहंकार मत समझ बैठना। काम ले लो, लेकिन अहंकार के वशीभूत मत हो जाना। इतना ही प्रयोजन है साक्षी-भाव का कि तुम साक्षी-भाव से देखो कि क्या व्यावहारिक है, क्या पारमार्थिक है; क्या वस्तुतः है और क्या है केवल मान्यता के आधार पर।

एक सूफी कथा है। एक आदमी था। उसे अपनी परछाईं से घृणा हो गई। न केवल परछाईं से घृणा हो गई, उसे अपने पद-चिह्नों से भी घृणा हो गई। उस आदमी को अपने से ही घृणा थी। जब अपने से घृणा थी तो अपने पद-चिह्नों से भी घृणा हो गई। और जब अपने से घृणा थी तो अपनी छाया से भी घृणा हो गई। वह बचना चाहता था। वह चाहता था कि यह छाया मिट जाए। और वह चाहता था कि मैं कोई पद-चिह्न पृथ्वी पर न छोडूं, मेरी कोई याद न रह जाए, मैं इस तरह मिट जाऊं कि जैसे मैं कभी हुआ ही नहीं। वह भागने लगा--छाया और पद-चिह्नों से बचने को। वह खूब दूर मीलों भागने लगा। लेकिन जितना ही वह भागता, छाया उसी के साथ घसिटती हुई भागती। वह जितना भागता, उतने ही पद-चिह्न बनते। आखिर उसकी बुद्धि ने कहा कि तुम ठीक से नहीं भाग रहे, तुम तेजी से नहीं भाग रहे हो। उसके तर्क ने कहा कि इस तरह काम न चलेगा; ऐसे तो तुम भागते रहोगे, छाया साथ लगी है। तुम्हारे दौड़ने में जितनी गति होनी चाहिए उतनी गति नहीं है। गति से दौड़ो! तुम जितनी तेजी से दौड़ रहे हो, उतनी तेजी से तो छाया भी दौड़ रही है। इसलिए छाया भी उतना दौड़ सकती है। इतने दौड़ो कि छाया न दौड़ सके, तो संबंध टूट जाए। तो वह इतना ही दौड़ा और कहते हैं, गिरा और मर गया।
सूफी इस कहानी की व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं, ऐसी ही आदमी की दशा है। कुछ हैं यहां, जो छाया को भरने में लगे हैं; जो छाया पर हीरे-मोती लगा रहे हैं; जो छाया को सोने से मढ़ रहे हैं। वे कहते हैं, यह हमारी छाया है; इसे हम सजाएंगे; इसे हम रूपवान बनाएंगे; इस पर हम इत्र छिड़केंगे; इस पर हम मखमल बिछाएंगे। यह हमारी छाया है; यह किसी गरीब-गुरबे, किसी भिखमंगे की छाया नहीं। यह ऐसे सड़क के कंकड़-पत्थरों पर न पड़ेगी; यह सिंहासनों पर पड़ेगी; यह स्वर्ण-पटे मार्गों पर पड़ेगी।
राजाओं को चलते देखा है? जब वे चलते हैं तो आगे उनके मखमल बिछाई जाती है। उनके पदचिह्न मखमल पर पड़ते हैं। ये कोई साधारण आदमी थोड़े ही हैं कि मिट्टी पर...साधारण मिट्टी पर तो सभी के पदचिह्न पड़ते हैं।
एक हैं, जो इस छाया को सजाने में लगे हैं। यह एक तरह का पागलपन है। फिर दूसरे हैं, जो इस छाया से भयभीत हो गए हैं--भगोड़े, तथाकथित साधु-संत। संसारी छाया को सजाने में लगे हैं, छाया के आस-पास महल बना रहे हैं। और जिनको तुम गैर-संसारी कहते हो, विरागी कहते हो, वे भाग खड़े हुए, वे भाग रहे हैं कि छाया से दूर निकल जाएं। और छाया है नहीं। सजाओ तो भ्रांति है, भागो तो भ्रांति है। दोनों हालत में तुम मरोगे। कुछ सजाते-सजाते गिर पड़ेंगे, कुछ भागते-भागते गिर पड़ेंगे।
सूफी कहते हैं, काश उस पागल आदमी को इतनी अक्ल होती कि मैं छाया में जा
कर बैठ जाऊं किसी वृक्ष की, तो छाया मिट जाती। छाया बनती है जब तुम सूरज के सामने खड़े होते हो, सूरज के नीचे खड़े होते हो। छाया बनती है जब तुम धूप में खड़े होते हो, प्रकाश में खड़े होते हो। छाया बनती है जब तुम अहंकार की घोषणा करते हो; जब तुम कहते हो: "देखे दुनिया मुझे! पहचाने दुनिया मुझे! पड़े प्रकाश सारी दुनिया का मुझ पर!" जब तुम सम्मान चाहते हो, सफलता चाहते हो, तब छाया बनती है। सूरज की रोशनी में।
सूफी कहते हैं; काश यह पागल आदमी हट गया होता, किसी छप्पर के नीचे शांति से बैठ गया होता, छाया मिट गई होती!
जो सम्मान नहीं चाहते, जो पद-प्रतिष्ठा नहीं चाहते, जो यश-गौरव नहीं चाहते, उनकी छाया मिट जाती है। वे छाया में खुद ही बैठ गए, अब छाया बनेगी कैसे? काश यह आदमी बैठ जाता तो पदचिह्न बनने बंद हो जाते। भागने से कहीं पद-चिह्न बनने बंद होंगे? और बनेंगे, और ज्यादा बनेंगे।
तुमने देखा? यहां सांसारिक लोगों को चाहे लोग भूल भी जाएं, संतों को नहीं भूल पाते। सांसारिक आदमी के पद-चिह्न तो जल्दी ही मिट जाते हैं, क्योंकि वहां बड़ी भीड़ चल रही है। वहां करोड़ों लोग चल रहे हैं, कौन तुम्हारे पदचिह्नों की चिंता करेगा? तुम निकल भी न पाओगे कि तुम्हारे पदचिह्न रौंद दिए जाएंगे। लेकिन साधु-संतों के पदचिह्न बनते हैं। वहां कोई भी नहीं चलता। वहां ज्यादा संघर्ष और प्रतियोगिता ही नहीं है। साधु- संत बड़े अकेले चलते हैं। उनके पदचिह्न सदियों तक बने रहते हैं।

काश! वह आदमी सिर्फ बैठ जाता विश्राम में--जिसको अष्टावक्र ने कहा, काश उसने अपनी चेतना में विश्राम कर लिया होता--तो न पद-चिह्न बनते, न पृथ्वी विकृत होती, न छाया बनती, न छाया से बचने का उपाय करना पड़ता, न वह आदमी इस बुरी मौत मरता, इस कुत्ते की मौत मरता।
अहंकार कुछ है नहीं, जिससे छूटना है। सिर्फ जाग कर देखना है कि कुछ भी नहीं है, छाया-मात्र है। तुम व्यर्थ ही भागे जा रहे हो, व्यर्थ ही परेशान हो रहे हो। बैठ जाओ, कुछ भी नहीं है। एक व्यावहारिक उपयोगिता है, उपयोगिता कर लो। बोलोगे तो कहना पड़ेगा, मैं। मैं भी बोलता हूं, तो कहता हूं मैं। बुद्ध भी बोलते हैं तो कहते हैं मैं। कृष्ण भी बोलते हैं तो कहते हैं मैं। लेकिन वहां मैं जैसा कोई भी नहीं। वे जानते हैं कि मैं सिर्फ एक भाषागत उपयोगिता है, एक व्यवहारगत उपयोगिता है। संवाद की जरूरत है। कहनी पड़ती है। मानी हुई बात है, सत्य नहीं।
साक्षी होने का इतना ही अर्थ है कि तुम गौर से देख लो जो भी तुम्हारी दशा है। उस गौर से देखने में तुम्हें पता चल जाएगा: क्या है और क्या नहीं है? जो है, वही है आत्मा। जो नहीं है, वही है अहंकार।

तीसरा प्रश्न: आपने उस रोज कहा, तुम किसी अंश में नहीं, पूरे के पूरे गलत हो। जो भी हो, गलत ही हो। इसका क्या कारण है? अहंकार या अज्ञान दर्प या भ्रांति? और क्या अहंकार और अज्ञान अन्योन्याश्रित हैं?

पहली बात, ये सब नाम ही हैं एक ही बीमारी के अलग-अलग। जैसे कि तुम्हें कोई बीमारी हो, तुम आयुर्वेदिक चिकित्सक के पास जाओ और वह कोई नाम बताए, वह कहे कि तुम्हें दमा हो गया। और तुम जाओ एलोपैथिक चिकित्सक के पास और वह कहे कि तुम्हें अस्थमा हो गया। तो तुम इस चिंता में मत पड़ना कि तुम्हें दो बीमारियां हो गई हैं, कि तुम बड़ी मुश्किल में पड़े--दमा भी हो गया, अस्थमा भी हो गया। फिर तुम जाओ और किसी यूनानी हकीम के पास, और किसी होमियोपैथ के पास और वे अलग-अलग नाम देंगे; क्योंकि अलग-अलग भाषाएं हैं उनकी, अलग पारिभाषिक शब्द हैं।
आदमी की बीमारी तो एक है--कहो अज्ञान, कहो अहंकार कहो माया, कहो भ्रांति, कहो बेहोशी, मूर्च्छा, प्रमाद, पाप, विस्मरण--जो तुम कहना चाहो। बीमारी एक है, नाम हजार हैं।
तो पहली बात तो यह स्मरण रखना कि तुम्हारी बीमारियां बहुत नहीं हैं, इससे भी मन हलका हो जाएगा कि एक ही बीमारी है। और तुम्हें हजारों बीमारियों का इलाज भी नहीं करना है, नहीं तो बीमारी तो बीमारी, इलाज मार डालेंगे। बीमारी तो एक तरफ रहेगी, औषधियां मार डालेंगी।
तुम्हारी बहुत बीमारियां नहीं हैं। माया, मत्सर, लोभ, मोह, क्रोध--ये
सब अलग-अलग बीमारियां नहीं हैं; ये एक ही बीमारी की अलग-अलग अभिव्यक्तियां हैं, अलग-अलग रूप-रंग हैं। ये एक ही बीमारी के अलग-अलग नाम हैं।
अहंकार बिलकुल ठीक है नाम, मुझे पसंद है। क्योंकि इस "मैं"-भाव से ही
सब पैदा होता है। "मैं"-भाव से "मेरा" पैदा होता, "मेरे" से सारा माया-मोह बनता है। "मैं" भाव से जरा-जरा में क्रोध आता है। जरा चोट लग जाए तो क्रोध आ जाता है। "मैं"-भाव से दूसरों के प्रति...दूसरों के प्रति निंदा पैदा होती है; अपने को ऊंचा करने की, दूसरों को नीचा करने की आकांक्षा पैदा होती है। "मैं"-भाव से प्रतिस्पर्धा, गला-घोंट प्रतिस्पर्धा शुरू होती है कि सब को पछाड़ देना है, हरा देना है, पराजित कर देना है; मुझे जीत की घोषणा करनी है कि मैं कौन हूं। "मैं" से संघर्ष पैदा होता है, विरोध पैदा होता है, युद्ध पैदा होता है, हिंसा पैदा होती है। और जितना ही यह "मैं" में तुम डूबने लगते हो, उतनी ही बेहोशी बढ़ती जाती है। यह गहरा नशा हो जाता है।
तुमने देखा, अहंकारी को चलते हुए? जैसे हमेशा शराब पीये हुए है! उसको हमने अहंकार का मद इसीलिए तो कहा है। उसके पैर जमीन पर ही नहीं पड़ते और वह तत्क्षण उलझने को तैयार है। वह खोज ही रहा है कि कोई मिल जाए, जिसके सामने वह अपने अहंकार को टकरा ले, क्योंकि अहंकार का पता ही टकराहट में चलता है। जैसी टकराहट, उतना ही अहंकार का पता चलता है। बड़ी टकराहट, तो बड़ा पता चलता

है। छोटी-मोटी टकराहट, तो छोटा-मोटा पता चलता है। तो अहंकार शत्रु की तलाश करता है। एक ही नाम काफी है--अहंकार।
दूसरी बात, मैंने निश्चित कहा कि तुम किसी अंश में नहीं, पूरे के पूरे गलत हो। यह अहंकार की एक बड़ी बुनियादी व्यवस्था है कि अहंकार तुमसे कहता है कि तुम गलत हो माना, लेकिन अंश में गलत हो, अंश में तो सभी गलत होते हैं। थोड़ी गलती किसमें नहीं है? थोड़ी गलती है, सुधार लेंगे। इससे तुम्हारे जीवन में एक तरह का सुधारवाद चलता है, क्रांति नहीं हो पाती। अहंकार कहता है, यह गलत है, इस को सुधार लो; यहां पलस्तर उखड़ गया है, पलस्तर कर दो, यहां जमीन में गङ्ढा हो गया है, पाट दो; यहां की दीवाल गिरने लगी है, संभाल दो; यहां खंभा लगा दो; यहां नए खपड़े बिछा दो। अहंकार कहता है, मकान तो बिलकुल ठीक है; जरा-जरा कहीं गड़बड़ होती है, उसको ठीक करते जाओ, एक दिन सब ठीक हो जाएगा। तो कभी ठीक न होगा। यह अहंकार के बचाव की बुनियादी तरकीब है कि वह कहता है कि थोड़ी-सी गलती है, बाकी तो सब ठीक है।
मैं तुमसे कहना चाहता हूं, जब तक अहंकार है तब तक सभी गलत है। ऐसा थोड़े
ही होता है कि कमरे के एक कोने में प्रकाश है और पूरे कमरे में अंधकार है। ऐसा थोड़े ही होता है कि कमरे के जरा-से हिस्से में अंधकार है और बाकी में प्रकाश है। प्रकाश होता है तो पूरे कमरे में हो जाता है। प्रकाश नहीं होता तो पूरे कमरे में नहीं होता।
साक्षी जब जागता है तो सर्वांश में जागता है। ऐसा नहीं कि थोड़ा-थोड़ा
जग गए, थोड़ा-थोड़ा सोए। जब तुम्हारा ध्यान फलता है तो समग्ररूपेण फलता है। इस अहंकार की तरकीब से बचना, नहीं तो तुम एक सुधारवादी, एक रिफार्मिस्ट हो जाओगे। और तुम्हारे जीवन में वह महाक्रांति न हो पाएगी, जो महाक्रांति इस महागीता में जनक के जीवन में हुई। वह क्षण में हो गई, क्योंकि जनक ने देख लिया कि मैं पूरा का पूरा गलत था।
इसे मैं फिर दोहराऊं कि या तो तुम पूरे गलत होते हो, या तुम पूरे सही होते हो; दोनों के बीच में कोई पड़ाव नहीं है। अहंकार को यह बात माननी बहुत कठिन है कि मैं पूरा का पूरा गलत हूं। अहंकार कहता है, होऊंगा गलत, लेकिन कुछ तो सही होऊंगा। जिंदगी पूरी की पूरी गलत मेरी?
मगर यहीं से क्रांति की शुरुआत होती है।
एक बड़ी प्राचीन कथा है कि एक ब्राह्मण सदा लोगों को समझाता कि जो कुछ करता है परमात्मा करता है; हम तो साक्षी हैं, कर्ता नहीं। परमात्मा ने उसकी परीक्षा लेनी चाही। वह गाय बन कर उसकी बगिया में घुस गया और उसके सब वृक्ष उखाड़ डाले और फूल चर डाले और घास खराब कर दी और उसकी सारी बगिया उजाड़ डाली। जब वह ब्राह्मण अपनी पूजा-पाठ से उठ कर बाहर आया-- पूजा-पाठ में वह यही कह रहा था कि तू ही है कर्ता, हम तो कुछ भी नहीं हैं, हम तो द्रष्टा- मात्र हैं-- बाहर आया तो द्रष्टा वगैरह सब भूल गया। वह बगिया उजाड़ डाली थी; वह उसने बड़ी मेहनत से बनाई थी, उसका उसे बड़ा गौरव था। सम्राट भी उसके बगीचे को देखने आता था। उसके फूलों का कोई मुकाबला न था; सब प्रतियोगिताओं में जीतते थे। वह भूल ही गया सब पूजा-पाठ, सब साक्षी इत्यादि। उसने उठाया एक डंडा और पीटना शुरू किया गाय को। उसने इतना पीटा कि वह गाय मर गई। तब वह थोड़ा घबड़ाया कि यह मैंने क्या कर दिया! गौ-हत्या ब्राह्मण कर दे? और ब्राह्मणों की जो संहिता है, मनुस्मृति, वह कहती है, यह तो महापाप है। इससे बड़ा तो कोई पाप ही नहीं है। गौ-हत्या! वह कंपने लगा। लेकिन तभी उसके ज्ञान ने उसे सहारा दिया। उसने कहा, "अरे नासमझ! सदा तू कहता रहा है कि हम तो साक्षी हैं, यह भी परमात्मा ने ही किया। कर्ता तो वही है। यह कोई हमने थोड़े ही किया।" वह फिर सम्हल गया।
गांव के लोग आ गए। वे कहने लगे, महाराज! ब्राह्मण महाराज, यह क्या कर डाला?
उसने कहा, मैं करने वाला कौन! करने वाला तो परमात्मा है। उसी ने जो चाहा वह हुआ। गाय को मरना होगा, उसे मारना होगा। मैं तो निमित्त मात्र हूं।
बात तो बड़े ज्ञान की थी। ज्ञान की ओट में छिप गया अहंकार। ज्ञान की ओट में छिपा लिया उसने अपने सारे पाप को। कोई इसका खंडन भी न कर सका। लोगों ने

कहा, ब्राह्मण देवता पहले से ही समझाते रहे हैं कि यह सब साक्षी है; तब यह भी बात ठीक ही है, वे क्या कर सकते हैं?
परमात्मा दूसरे दिन फिर आया, तब वह एक भिखारी ब्राह्मण की तरह आया। उसने आ कर कहा कि अरे, बड़ा सुंदर बगीचा है तुम्हारा! बड़े सुंदर फूल खिले हैं। यह किसने लगाया?
उस ब्राह्मण ने कहा, किसने लगाया? अरे, मैंने लगाया!
वह उसे दिखाने लगा परमात्मा को ले जा ले जा कर--जो वृक्ष उसने लगाए थे, संवारे थे, जो बड़े सुंदर थे। और बार-बार परमात्मा उससे पूछने लगा, ब्राह्मण देवता, आपने ही लगाए? सच कहते हैं?
वह बार-बार कहने लगा, हां, मैंने ही लगाए हैं। और कौन लगाने वाला है? अरे और कौन है लगाने वाला? मैं ही हूं लगाने वाला। यह मेरा बगीचा है। विदा जब होने लगा वह ब्राह्मण--छिपा हुआ परमात्मा--तो उसने कहा, ब्राह्मण-देवता, एक बात कहनी है: मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू!
उसने कहा, मतलब? ब्राह्मण ने पूछा, तुम्हारा मतलब? मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू!
उसने कहा, अब तुम सोच लेना। गाय मारी तो परमात्मा ने, तुम साक्षी थे;
और वृक्ष लगाए तुमने! परमात्मा साक्षी है!
अहंकार बड़ी तरकीबें करता है: मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू! और वही उसके बचाव के उपाय हैं। क्रांति तो तब घटित होती है जब तुम जानते हो कि सर्वांश में मैं गलत था; समग्ररूपेण मैं गलत था; मेरा अब तक का होना ही गलत था। उसमें प्रकाश की कोई किरण न थी। वह सब अंधकार था। ऐसे बोध के साथ ही क्रांति घटित होती है और तत्क्षण प्रकाश हो जाता है।
सुधारवादी मत बनना। सुधारवादी से ज्यादा से ज्यादा तुम सज्जन बन सकते हो। मैं तुम्हें क्रांतिकारी बनाना चाहता हूं। क्रांति तुम्हारे जीवन में संतत्व को लाएगी। तुम्हारे जो संत हैं वे सज्जन से ज्यादा नहीं हैं। वास्तविक संत तो परम विद्रोही होता है। विद्रोह--स्वयं के ही अतीत से। विद्रोह-- अपने ही समस्त अतीत से। वह अपने को विच्छिन्न कर लेता है। वह तोड़ देता है सातत्य। वह कहता है, मेरा कोई नाता नहीं उस अतीत से; वह पूरा का पूरा गलत था; मैं सोया था अब तक, अब मैं जागा।
जब तुम सोए थे, तब तुम सोए थे, तब सब गलत था। ऐसा थोड़े ही है कि सपने में कुछ चीजें सही थीं और कुछ चीजें गलत थीं; सपने में सभी चीजें सपना थीं। ऐसा थोड़े ही है कि सपने में से कुछ चीजें तुम बचा कर ले आओगे और कुछ चीजें खो जाएंगी। सपना पूरा का पूरा गलत है।
अहंकार एक मूर्च्छा है, एक सपना है। उसे तुम पूरा ही गलत देखना। यद्यपि अहंकार कोशिश करेगा कि कुछ तो बचा लो, एकदम गलत नहीं हूं, कई चीजें अच्छी हैं। अगर तुमने कुछ भी बचाया अहंकार से, अहंकार पूरा बच जाएगा। अगर सपने में से तुमने कुछ भी बचा लिया और तुम्हें लगता रहा कि यह सच है तो पूरा सपना बच जाएगा। क्योंकि जिसको सपने में अभी सच दिखाई पड़ रहा है, वह अभी जागा नहीं।
इसलिए मैं जोर दे कर बार-बार कहता हूं: तुम पूरे गलत हो। इससे तुम्हें बेचैनी होती है। तुम मुझसे कभी नाराज भी हो जाते हो कि पूरे गलत! ऐसा तो नहीं हो सकता कि हम बिलकुल ही गलत हों! तुम्हारे अहंकार को मैं कोई जगह बचने की नहीं देता। तुमसे कहता हूं, तुम पूरे ही गलत हो। लेकिन इससे तुम उदास मत होना, क्योंकि इससे मैं एक और बात भी कह रहा हूं जो शायद तुम्हें सुनाई न पड़ रही हो, कि तुम चाहो तो पूरे के पूरे अभी सही हो सकते हो। उस आशा के दीप पर ध्यान दो। अगर पूरे गलत हो तो पूरे के पूरे सही हो सकते हो। अगर तुम थोड़े-थोड़े गलत हो, थोड़े-थोड़े सही हो--तो तुम थोड़े-थोड़े गलत और थोड़े- थोड़े सही ही रहोगे। तब तुम पूरे के पूरे सही न हो सकोगे। तब तुम घसीटते रहोगे अपने अतीत को। तब तुम एक मिश्रित खिचड़ी रहोगे। और खिचड़ी होने में सुख नहीं। खिचड़ी होने में नर्क है।
तुम शुद्ध हो। तुम एक रोशनी से भरो। और उस रोशनी से भरने के लिए इतना
ही जानना जरूरी है कि तुमने अभी तक अपने को जो माना है, वह तुम नहीं हो। तुम कोई और हो। कोई अज्ञात तुम्हारे भीतर छिपा है। कोई अज्ञात कमल तुम्हारे

भीतर खिलने को राजी है, जरा मुड़ो भीतर की तरफ! जरा रुको, किसी छाया में बैठो। धूप में मत भागो! विश्राम! और उसी विश्राम में ध्यान और समाधि है।

चौथा प्रश्न: कल आपने कहा कि धार्मिक व्यक्ति सदा विद्रोही होता है।
तो क्या विद्रोही व्यक्ति सहज हो सकता है?

मैंने निश्चित कहा कि धार्मिक व्यक्ति सदा विद्रोही होता है, लेकिन मैंने यह नहीं कहा कि सभी विद्रोही व्यक्ति धार्मिक होते हैं। विद्रोही कोई हो सकता है बिना धार्मिक हुए, लेकिन धार्मिक कोई नहीं हो सकता बिना विद्रोही हुए।
तो फिर धार्मिक विद्रोही और विद्रोही में क्या फर्क होगा? जो साधारण विद्रोही है, जिसमें धर्म नहीं है, राजनीतिक, सामाजिक विद्रोही है, उस विद्रोही का जीवन कभी सहज नहीं हो सकता। वहां तो बड़ा तनाव होगा। वहां तो चौबीस घंटे चिंता और बेचैनी होगी।
धार्मिक विद्रोही का अर्थ है: सहज। विद्रोह करने के लिए विद्रोह नहीं; किसी के खिलाफ विद्रोह नहीं--अपनी सहजता में रहने की आकांक्षा है धार्मिक व्यक्ति का विद्रोह। वह स्वयं में जीना चाहता है। इस स्वयं में जीने में जो चीजें भी बाधा डालती हैं, वह उन्हें स्वीकार नहीं करता। उसकी तोड़ने की कोई आकांक्षा नहीं। वह किसी के विरोध में भी नहीं जाना चाहता। वह इतना ही चाहता है कि उसकी स्वतंत्रता में कोई बाधा न बने। न तो वह किसी की स्वतंत्रता में बाधा बनना चाहता है, न किसी को अपनी स्वतंत्रता में बाधा बनने देना चाहता है।
धार्मिक विद्रोही प्रतिक्रियावादी नहीं है। वह किसी के विरोध में नहीं है; वह सिर्र्फ अपने पक्ष में है। इस बात को तुम खयाल में ले लेना। राजनीतिक विद्रोही को अपना तो कुछ पता ही नहीं है, वह किसी के विरोध में है; जो भी सत्ता में है, उसके विरोध में है; जिसके हाथ में भी ताकत है, उसके विरोध में है। क्योंकि ताकत उसके हाथ में होनी चाहिए, अपने हाथ में होनी चाहिए; दूसरे हाथ में है तो गलत है।
राजनीतिक विद्रोही अहंकार का विद्रोह है। धार्मिक विद्रोही अहंकार
का विसर्जन है और सहज-स्वभाव में जीने की प्रक्रिया है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि धार्मिक व्यक्ति अकारण बाधाएं खड़ी करेगा। नियम है कि बाएं चलो तो वह दाएं चलेगा--ऐसा नहीं है। धार्मिक व्यक्ति तो भूल कर भी यह झंझट न लेगा दाएं चलने की, क्योंकि दाएं चलो कि बाएं चलो, सब बराबर है। इसमें झगड़ा क्या है? वह बाएं ही चलेगा।
तुम धार्मिक विद्रोही के जीवन में कोई अकारण झंझट न देखोगे। वह सौ में निन्यानबे मौकों पर समाज के साथ ही होगा। समाज के साथ किसी भय के कारण नहीं होगा; यह समझ कर होगा कि कुछ चीजें तो औपचारिक हैं, इनमें अर्थ ही क्या है? इनमें झगड़ा क्या करना? लेकिन एक मुद्दे पर, जहां भी आत्मा बेचने का सवाल होगा, वह सब कुछ दांव पर लगा देगा। बाएं-दाएं चलने में उसे कोई अड़चन नहीं है। नियम पालन करने में उसे कोई अड़चन नहीं है। लेकिन जहां नियम आत्मघाती होने लगेगा, वहां वह बगावत करेगा; वहां वह राजी नहीं होगा; वहां वह मर जाना पसंद करेगा, ऐसे जीने के मुकाबले जहां आत्मा खो देनी पड़ती हो। धार्मिक व्यक्ति में बड़ी सहजता होगी। तनाव तो पैदा होता है जब हम किसी से संघर्ष करते हैं। धार्मिक व्यक्ति का किसी से कोई संघर्ष नहीं है। धार्मिक व्यक्ति का तो अपने में रस है। वह अपने रस के उद्रेक में जीना चाहता है और वह नहीं चाहता कि कोई उसे बाधा दे; वह नहीं चाहता कि वह किसी को बाधा दे। वह चुपचाप अपने में डूबना चाहता है। बस इस बात में अगर कोई अड़चन डाली जाए तो वह इंकार करेगा, तो वह सूली चढ़ने को राजी रहेगा।
लेकिन तुम चकित होओगे यह जान कर कि तुम्हारी अंतरात्मा में बाधा कोई देता नहीं। लोगों को अंतरात्मा का पता ही नहीं, बाधा देने का सवाल ही कहां? लोग तो ऊपर-ऊपर की बातों में चलते हैं।
मैं तुम्हें एक घटना कहूं। रामकृष्ण के बचपन की घटना है। रामकृष्ण बचपन से ही भक्त थे, भजन करते-करते बेहोश हो जाते थे। गदाधर उनका नाम था।

मां-बाप थोड़े चिंतित हुए, जैसे कि सभी मां-बाप चिंतित हो जाते हैं कि यह लड़का कुछ सामान्य नहीं मालूम होता। कोई कहता कि मिरगी आती है, कोई कहता कि मूर्च्छा आती है, कोई कहता कि इसको समाधि लग जाती है। अलग-अलग लोग, अलग-अलग व्याख्यायें थीं। और इस लड़के की सामान्य रुचियां भी न थीं; न तो यह खेलता बच्चों के साथ, न इसको स्कूल में पढ़ने-लिखने में कोई रुचि थी। दूसरी क्लास से आगे रामकृष्ण कभी गए नहीं। जंगल में चला जाता। नदी-पोखर के पास बैठ जाता। और कभी छोटी-छोटी घटनाएं...एक सुबह पोखर के किनारे बैठे-बैठे बगुलों की एक कतार आकाश से उड़ी, रामकृष्ण की समाधि लग गई। काली घटाओं में उड़ते हुए सफेद बगुलों की पंक्ति...पर्याप्त थी। किसी और लोक की याद आ गई। रामकृष्ण का हंस उड़ चला! चले मानसरोवर! छूट गई देह जैसे यहीं! उड़ चले आकाश में! घंटों बेहोश रहे। मां-बाप को लोग सलाह देने लगे, इसकी शादी कर दो। लोग एक ही उपाय जानते हैं: जरा कुछ गड़बड़ दिखाई पड़े, शादी कर दो। सब रोगों की एक दवा: झंझट में डाल दो। तो लोगों ने कहा, जरा झंझट में डालो, यह कोई झंझट में नहीं है; न स्कूल जाता है, न कोई काम-धाम करता है, गीत-भजन, साधु-सत्संग--अभी से बिगाड़ रहे हो; अभी बांध दो पैर में झंझट। पर उन्होंने कहा, यह करेगा शादी? क्योंकि यह दिखता नहीं शादी करने वाला जैसा।
तो रामकृष्ण से डरते-डरते पिता ने पूछा कि बेटा! तू शादी करेगा? तो रामकृष्ण ने कहा, जरूर करेंगे। पिता भी थोड़े चौंके कि यह क्या मामला है? उनको भी थोड़ा धक्का लगा। सोचते तो यही थे कि यह इंकार करेगा। इंकार करता तो भी धक्का लगता। तो शायद समझाने-बुझाने की कोशिश करते; लेकिन इसने इंकार की कोई बात ही न उठाई। इसने कहा, करेंगे; किससे करनी है?
जल्दी ही इंतजाम किया गया। एक लड़की खोजी गई। रामकृष्ण उसको देखने गए दूल्हा बन कर, सज-संवर कर। बड़े प्रसन्न थे। मां ने ग्यारह रुपए खीसे में रख दिए थे, उनको बार-बार गिन लेते थे, फिर रख लेते थे। छोटी उम्र थी, शायद ग्यारह साल से ज्यादा नहीं थी। फिर गए तो भोजन परोसने लड़की आई। उसकी उम्र सात साल से ज्यादा की नहीं थी--शारदा की उस समय। जब वह भोजन परोसने आई तो ग्यारह रुपए निकाल कर उसके पैर में रख कर उन्होंने उसके पैर छू लिए। अब और एक मुसीबत हो गई।
बाप ने कहा, नासमझ! यह क्या करता है? पहली तो यह नासमझी कि शादी करने
को तैयार हो गया, अब यह क्या किया?
उसने कहा कि मुझे तो बिलकुल मां का स्वरूप मालूम पड़ता है। यह मेरी मां है। शादी तो करेंगे, मगर यह है मेरी मां।
शादी भी हुई--और शारदा मां ही रही। यह सहजता है; इसमें कहीं कोई बगावत नहीं है। शादी से इंकार भी न किया। शादी भी कर ली। पिता को भी प्रसन्न कर दिया, मां को भी प्रसन्न कर दिया। कहा, बंधन डालते हो, अच्छा बंधन डाल दो। फिर बंधन को चरण छू कर नमस्कार करके मां भी बना लिया। ऐसे कारागृह को ही मंदिर बना लिया। ऐसे बंधन ही मुक्ति हो गई।
धार्मिक व्यक्ति अकारण उपद्रव में नहीं पड़ेगा। कोई कारण नहीं है। राजनीतिक व्यक्ति विक्षिप्त है। राजनीति एक तरह की न्यूरोसिस है, एक तरह का उन्माद है। तो राजनीतिक व्यक्ति तो झगड़े की तलाश में है; जब झगड़ा नहीं होता तब वह बड़ा बेचैन होता है कि अब क्या करें।
अभी जैसे भारत में अनुशासन-पर्व चल रहा है, तो राजनीतिक व्यक्ति बड़े बेचैन हैं! कुछ तो भीतर जेल के बंद हैं, तो थोड़ी हालत उनकी ठीक भी है कि कम से कम चलो जेल में तो बंद हैं, कर भी क्या सकते हैं? लेकिन जो बाहर हैं, तुम्हें उनका पता नहीं; वे बड़े कसमसा रहे हैं। वे भीतर ही भीतर डांवाडोल हो रहे हैं कि न हड़ताल हो रही है, न नारेबाजी, न झंडा ऊंचा रहे हमारा! कुछ भी नहीं हो रहा। सब जिंदगी बेकार मालूम होती है। तुम्हें पता नहीं कि सब राजनीतिक लोगों की हालत कैसी बुरी है! कुछ करने जैसा नहीं लगता। कोई उपद्रव, कोई उत्पात! वही उत्पात उनका भोजन है।
राजनीतिक व्यक्ति उत्पात में रस रखता है। उत्पात करने के लिए वह कारण खोजता है, बड़े सुंदर कारण खोजता है कभी गरीब के बहाने, कभी स्वतंत्रता के बहाने, कभी प्रजातंत्र-लोकतंत्र के बहाने, कभी यह कभी वह, लेकिन वह हमेशा कारण खोज लेता है। कोई न कोई कारण खोज लेता है कि उपद्रव चाहिए, क्योंकि

उपद्रव के बिना वह रह नहीं सकता। राजनीतिक व्यक्ति एक तरह की बेचैनी है। और बेचैनी मार्ग खोजती है बहने का। उसके लिए कैथार्सिस चाहिए, रेचन चाहिए।
धार्मिक व्यक्ति एक सहज शांति है। सौ में से निन्यानबे मौकों पर तो तुम उसे कभी विरोध में न पाओगे। हां, एक मौके पर वह "नहीं" कहेगा, जरूर कहेगा। और उस मौके पर जब वह "नहीं" कहेगा तो वह "नहीं" निरपेक्ष "नहीं" होगी, उसमें कोई शर्त न होगी; उसके "हां" में बदलने का कोई उपाय नहीं है। तुम मार डाल सकते हो सुकरात को। तुम जीसस को सूली पर लटका सकते हो। तुम मंसूर का गला काट सकते हो। लेकिन उस एक मौके पर जब वह "नहीं" कहता है तो उसकी "नहीं" शाश्वत है, उसको तुम "हां" में नहीं बदल सकते। क्योंकि वह उसी एक मौके पर "नहीं" कहता है जहां उसकी आत्मा को खोने का सवाल है; अन्यथा तो उसके पास खोने को कुछ भी नहीं है; अन्यथा तो सब खेल है।

पांचवां प्रश्न: आप तो सतत प्रभु-प्रसाद लुटा रहे हैं, प्रभु-कृपा की वर्षा हो रही है, परंतु हम चूकते ही चले जाते हैं। पात्रता कैसे संभव होगी?

मुल्ला नसरुद्दीन से कोई पूछता था कि आपकी सफलता का रहस्य क्या है? "सही निर्णय पर काम करना", मुल्ला नसरुद्दीन ने उत्तर दिया। "लेकिन सही निर्णय किए कैसे जाते हैं?" उस आदमी ने पूछा। "अनुभवों के आधार पर", मुल्ला ने कहा। "और अनुभव किस प्रकार प्राप्त होते हैं?" उस आदमी ने फिर पूछा। मुल्ला ने कुछ सोचा और फिर कहा, "गलत निर्णयों पर काम करके।"
मैं तुमसे कुछ कह रहा हूं, अब तुम यह प्रतीक्षा मत करो कि जब सही निर्णय होगा तब कुछ करेंगे। सही-गलत की अभी फिक्र छोड़ो। निर्णय करके तुम कुछ करोगे तो निर्णय कभी होगा नहीं। कुछ करो, उससे निर्णय होता है।
तुम मुझे सुनते ही मत रहो। जो तुम्हें भा जाए, जल्दी से उसे करो। उसे जीवन में उतारो। मैं सागर उड़ेल दूं तुम में, तो किसी काम का नहीं; एक बूंद तुम उपयोग में ले आओ तो काम की सिद्ध होगी। वही तुम्हारा सागर बनेगी। सुनते ही मत रहो कि अभी तो गुनेंगे, सुनेंगे, समझेंगे, सोचेंगे, औरों से पूछेंगे, तुलना करेंगे, फिर निष्पत्तियां बनाएंगे, फिर अनुभव में उतारेंगे--तो तुम चूक जाओगे। तो यह वर्षा हो कर भी चली जाएगी, तुम खाली के खाली रह जाओगे। ये बादल आए और न आए बराबर हो जाएंगे।
कुछ करो। थोड़ी-सी बात जो तुम्हें भा जाए! मैं कहता हूं भा जाए, मैं यह
भी नहीं कह रहा हूं कि तुम्हारी बुद्धि को तर्करूप से सही लगे; मैं कहता हूं भा जाए, तुम्हें पसंद आ जाए, तुम्हारे भीतर गुनगुन होने लगे किसी बात से, कोई बात तुम्हारे मन में गुदगुदी ले आए, कुछ गदगद कर जाए--उसे करो! जरूरी नहीं है कि वह सही ही हो। मैं कहता भी नहीं कि जरूरी है। पर इतना मैं कहता हूं, उसे करने से लाभ होगा। सही होगी तो पता चल जाएगा सही है, तो तुम और और उसे करना। अगर गलत होगी तो पता चल जाएगा कि गलत है, तो तुम उसे छोड़ देना। और उस तरह की बातों के भ्रम में दुबारा मत पड़ना। हर हालत में करना ही निर्णायक है।
जैसे मैं साक्षी की बात कह रहा हूं--साक्षी बनो! थोड़ी-थोड़ी साक्षी की तरफ जीवन-चेतना को दौड़ाओ, थोड़े झरोखे खोलो।
तुम कभी-कभी कुछ करते भी हो, ऐसा भी नहीं कि तुम नहीं करते; मगर तुम जो करते हो, वहां भी भूल कर जाते हो। वह भूल ऐसी है: अगर तुम क्रोध से भरे हो और मुझे सुनने आते हो तो तुम सुनते वक्त यही तरकीब लगाए रखते हो कि कोई ऐसी कुंजी मिल जाए जिससे क्रोध अलग हो जाए। तो मैं जो कह रहा हूं वह तुम सुन ही नहीं पाते, तुम अपनी कुंजी ही खोजते रहते हो। तुम अशांत हो तो तुम सुनते हो मेरी बातें--एक दृष्टि से कि शांति का कोई सूत्र मिल जाए शायद! तो बाकी सब सूत्र जो मैं लुटा रहा हूं वे खो जाते हैं। और उन्हीं सबको तुम समझते तो शांति का सूत्र भी समझ में आता।
और तुम, मैं जो कह रहा हूं, अगर अपने संदर्भ में उसको पकड़ोगे तो उसका अर्थ विकृत हो जाएगा। तो क्रोधी क्रोध का दमन करने लगेगा। मैं तो कह रहा

हूं साक्षी बनो, लेकिन तुम साक्षी के नाम पर दमन करने लगोगे। क्योंकि तुम्हारी मूल इच्छा साक्षी बनने की है ही नहीं, तुम्हारी मूल इच्छा तो इतनी ही थी कि क्रोध से छुटकारा हो जाए। तो तुम साक्षी का उपयोग भी इस तरह करोगे कि तुम क्रोध को दबा लोगे। वह साक्षी बनना न हुआ, वह फिर चूक हो गई। ऐसा हुआ कि एक आदमी ने मुझे आ कर कहा कि कल रात सर्कस में बहुत भगदड़ मच गई। एक शेर पिंजड़े से निकल भागा। फिर क्या हुआ? मैंने पूछा। उसने कहा, प्रत्येक व्यक्ति भाग खड़ा हुआ। लेकिन एक संत पुरुष वहां मौजूद थे; वे बड़े हौसले में रहे, वे जरा भी न डरे, जरा भी भयभीत न हुए।
मैंने पूछा, उन्होंने क्या किया? तो उसने कहा कि वे संत पुरुष तत्क्षण शेर के खाली पिंजड़े में जा कूदे और अंदर से दरवाजा बंद करके बैठ गए।
अब तुम भागो या पिंजड़े में कूद कर दरवाजा बंद करके बैठ जाओ--ये प्रक्रियाएं उल्टी दिखाई पड़ती हैं लेकिन उल्टी नहीं। वस्तुतः तो संत पुरुष ही ज्यादा कुशल आदमी है। क्योंकि एक बात पक्की है कि सिंह और कहीं जाए, पिंजड़े में वापिस आने वाला नहीं है; अपने से तो आने वाला नहीं है। सब जगह खतरा है, सिर्फ पिंजड़े में खतरा नहीं है।
मैं तुम्हें ऐसे संत पुरुष नहीं बनाना चाहता हूं। लोग संसार से भाग
कर पिंजड़ों में बंद हो जाते हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे पिंजड़े हैं। वहां सीखचों में बैठ जाते हैं। वहां कोई सिंह इत्यादि नहीं आते। लेकिन वह भी बचाव है; जीवन-क्रांति नहीं, पलायन है।
तुम मुझे जब सुनो तो मुझे ऐसे सुनो जैसे कोई किसी गायक को सुनता है। तुम मुझे ऐसे सुनो जैसे कोई किसी कवि को सुनता है। तुम मुझे ऐसे सुनो कि जैसे कोई कभी पक्षियों के गीतों को सुनता है, या वृक्षों में हवा के झोकों को सुनता है, या पानी की मरमर को सुनता है, या वर्षा में गरजते मेघों को सुनता है। तुम मुझे ऐसे सुनो कि तुम उसमें अपना हिसाब मत रखो। तुम आनंद के लिए सुनो। तुम रस में डूबो। तुम यहां दूकानदार की तरह मत आओ। तुम यहां बैठे-बैठे भीतर गणित मत बिठाओ कि क्या इसमें से चुन लें और क्या करें और क्या न करें। तुम सिर्फ मुझे आनंद-भाव से सुनो।
स्वांतः सुखाय रघुनाथ गाथा...स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा!
स्वांतः सुखाय! सुख के लिए सुनो। उस सुख में सुनते-सुनते जो चीज तुम्हें गदगद कर जाए, उसमें फिर थोड़ी और डुबकी लगाओ। मेरा गीत सुना, उसमें जो कड़ी तुम्हें भा जाए, फिर तुम उसे गुनगुनाओ। उसे तुम्हारा मंत्र बन जाने दो। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि जीवन में बहुत कुछ बिना बड़ा आयोजन किए घटने लगा।
हवा कहीं से उठी, बही
ऊपर ही ऊपर चली गई
पथ सोया ही रहा
किनारे के क्षुप चौंके नहीं
न कांपी डाल
न पत्ती कोई दरकी
अंग लगी लघु ओस
बूंद भी एक न ढरकी
हवा कहीं से उठी, बही
ऊपर ही ऊपर चली गई।
वनखंडी में सधे खड़े, पर
अपनी ऊंचाई में खोए-से
चीड़ जाग कर सिहर उठे
सनसना गए
एक स्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के गा गए
मैंने उठ कर
खोल दिया वातायन
और दुबारा चौंका
वह सन्नाटा नहीं

झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था।
हवा कहीं से उठी, बही
ऊपर ही ऊपर चली गई
पथ सोया ही रहा।
तुम पथ की तरह मत सोए रहना, पत्थर की तरह मत सोए रहना!
किनारे के क्षुप चौंके नहीं
न कांपी डाल
न पत्ती कोई दरकी
अंग लगी लघु ओस
बूंद भी एक न ढरकी।
यह जो हवा मैं तुम्हारे आसपास उठा रहा हूं, इसके लिए जरा तुम ऊंचे उठो। अगर तुम नीचे ही पड़े रहे तो ओस की एक बूंद भी तुमसे न ढरकेगी, एक आंसू भी न बहेगा। तुम ऐसे ही अछूते पड़े रह जाओगे।
वनखंडी में सधे खड़े, पर
अपनी ऊंचाई में खोए-से
चीड़ जाग कर सिहर उठे
सनसना गए।
जरा ऊंचे उठो। मैं जहां की खबर लाया हूं, वहां की खबर लेने के लिए चीड़ बनो। थोड़े सिर को उठाओ। थोड़े सधो।
वनखंडी में सधे खड़े, पर
अपनी ऊंचाई में खोए-से
चीड़ जाग कर सिहर उठे
सनसना गए।
एक स्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के गा गए।
मेरे साथ गुनगुना लो थोड़ा। जिस एक की मैं चर्चा कर रहा हूं, उस एक की गुनगुनाहट को तुममें भी गूंज जाने दो।
एक स्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के गा गए।
और तब तुम्हें पता चलेगा कि जैसे खुल गई कोई खिड़की। और जिसे तुमने समझा था सिर्फ एक विचार, वह विचार न था; वह ध्यान बन गया। और जिसे तुमने समझा था सिर्फ एक सिद्धांत, एक शास्त्र, वह सिद्धांत न था, शास्त्र न था; वह सत्य बन गया।
मैंने उठ कर खोल दिया वातायन
और दुबारा चौंका
वह सन्नाटा नहीं
झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था।
तो थोड़े उठो। थोड़े जागो। थोड़े सधो। और छोड़ो अपनी क्षुद्र चिंताएं; उनका हिसाब-किताब मत बिठाओ मेरे पास। तुम मुझे पीयो। तुम मेरे पास ऐसे रहो जैसे कोई फूल के पास रहता है।
तुम इसमें से कुछ उपयोग की बातें निकालने की चिंता न करो, क्योंकि उपयोगिता से ईश्वर का कोई संबंध नहीं है। ईश्वर से ज्यादा अनुपयोगी और कोई वस्तु जगत में नहीं है। क्या संबंध है ईश्वर का उपयोगिता से? बाजार में बेच न सकोगे। क्या उपयोग है ईश्वर का? किसी काम न आएगा। अर्थहीन, प्रयोजन-शून्य!
मैं तुमसे जो कह रहा हूं, तुमने अगर उसे उपयोगिता की दृष्टि से सुना
तो तुम चूक जाओगे।
मैं कोई शिक्षक नहीं हूं। मैं तुम्हें कोई उपयोगी बातें नहीं सिखा रहा हूं जो तुम्हारी जिंदगी में काम आएंगी। मैं तुम्हें कुछ दर्शन कराना चाहता हूं, जिसका कोई उपयोग नहीं है सिवाए इसके कि तुम सच्चिदानंद से भर जाओगे; सिवाए इसके कि तुम आनंद-मग्न हो जाओगे, मदमस्त हो जाओगे। यह तो

मस्ती की एक हवा यहां मैं फैलाता हूं। मगर तुम पर निर्भर है। तुम रास्ते पर पटे पत्थर की तरह पड़े रह सकते हो--हवा आएगी, चली जाएगी; तुम अछूते रह जाओगे। तुम्हारे कानों में भनक भी न पड़ेगी। या राह के किनारे छोटे-छोटे पौधों की तरह तुम रह जा सकते हो। उनके शिखर ही इतने ऊंचे नहीं कि आकाश की हवाएं उन्हें छू सकें। तो एक ओस की बूंद भी न ढरकेगी। एक आंसू भी न बहेगा। तुम्हें पता भी न चलेगा कि हवा आई और चली गई।
बुद्ध आए, कितनों को पता चला? थोड़े-से चीड़ जैसे उठे वृक्ष अपने में खोए-से, आकाश में खड़े-से, उत्तुंग उनके शिखर पर बुद्ध की हवा छुई। कृष्ण आए, किसने सुना? कृष्ण की बांसुरी सभी तक तो नहीं पहुंची। अष्टावक्र ने कहा, कोई जनक ने सुना। कोई चीड़ जैसे वृक्ष! उठो थोड़े ऊंचे!
और मुझे ऐसे सुनो जिसमें प्रयोजन का कोई भाव न हो। जो मुझे प्रयोजन से सुनेगा, वह चूकेगा। जो मुझे निष्प्रयोजन, आनंद से सुनेगा--स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा--वही पा लेगा। उसके जीवन में धीरे-धीरे क्रांति घटनी शुरू हो जाती है।

आखिरी प्रश्न: मैं स्त्रैण-चित्त का आदमी हूं, संकल्प बिलकुल नहीं है। क्या संकल्प का विकास करना जरूरी है?

जरा भी जरूरी नहीं है। समर्पण पर्याप्त है। अपने चित्त को पहचानो। कुछ भी थोपना आवश्यक नहीं है। चित्त जैसा हो उसी चित्त के सहारे परमात्मा तक पहुंचो।
परमात्मा तक स्त्रैण चित्त पहुंच जाते हैं, पुरुष-चित्त पहुंच जाते हैं। परमात्मा तक तुम जहां हो, वहीं से पहुंचने का उपाय है; बदलने की कोई जरूरत नहीं है। और बदलने की झंझट में तुम पड़ना मत, क्योंकि बदल तुम पाओगे न। अगर तुम्हारा चित्त भावपूर्ण है तो तुम लाख उपाय करो, तुम उसे संकल्प से न भर पाओगे। अगर तुम्हारा चित्त हृदय से भरा है तो तुम बुद्धि का आयोजन न कर पाओगे। जरूरत भी नहीं है। ऐसी उलझन में पड़ना भी मत। अन्यथा तुम जो हो, वह भी न रह पाओगे; और तुम जो होना चाहते हो वह तो तुम हो न सकोगे।
गुलाब का फूल गुलाब के फूल की तरह ही चढ़ेगा प्रभु के चरणों में। कमल
का फूल कमल के फूल की तरह चढ़ेगा। तुम जैसे हो वैसे ही स्वीकार हो। तुम जैसे हो वैसा ही प्रभु ने तुम्हें बनाया। तुम जैसे हो वैसा ही प्रभु ने तुम्हें चाहा। तुम अन्यथा होने की चेष्टा में विकृत मत हो जाना, क्षत-विक्षत मत हो जाना। तुमसे मैं एक छोटा-सा गीत कहता हूं:
तू नहीं कहेगा, मैं फिर भी सुन ही लूंगा
किरण भोर की पहली, भोलेपन से बतलावेगी
झरना शिशु-सा अनजान उसे दोहरावेगा
घोंघा गीली-पीली रेती पर धीरे-धीरे आंकेगा
पत्तों का मरमर कनबतियों में जहांत्तहां फैलावेगा
पंछी की तीखी कूक फरहरे मढ़े शल्य-सी आसमान पर टांकेगी फिर दिन सहसा खुल कर उसको सब पर प्रगटावेगा।
तू नहीं कहेगा, मैं फिर भी सुन ही लूंगा
मैं गुन ही लूंगा।
तू नहीं कहेगा
आस्था है
नहीं अनमना होऊंगा
तब मैं सुन लूंगा।
और दे भी क्या सकता हूं हवाला या प्रमाण अपनी बात का?
अब से तेरा कर एक वही गह पाएगा। संभ्रम अवगुंठित अंगों को उसका ही मृदुतर कुतूहल
प्रकाश की किरण छुआएगा।
तुझसे रहस्य की बात निभृत में

एक वही कर पाएगा।
तू उतना वैसा समझेगी
वह जैसा जो समझाएगा
तेरा वह प्राप्य वरद कर
तुम पर जो बरसाएगा
उद्देश्य, उसे जो भावे
लक्ष्य वही, जिस ओर मोड़ दे वह
तेरा पथ मुड़-मुड़ कर सीधा उस तक ही जाएगा।
तू अपनी भी उतनी ही होगी जितना वह अपनाएगा
ओ आत्मा री!
तू गई वरी
महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं। उद्देश्य, उसे जो भावे; समर्पण का यही अर्थ है। उद्देश्य, उसे जो भावे
लक्ष्य वही, जिस ओर मोड़ दे वह
तेरा पथ मुड़-मुड़ कर सीधा उस तक ही जाएगा
तू अपनी भी उतनी ही होगी
जितना वह अपनाएगा
ओ आत्मा री!
तू गई वरी
महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं।
अगर तुम्हें लगता है कि स्त्रैण-चित्त है तुम्हारे पास--शुभ है, मंगल है। पुरुष-चित्त का कोई अपने-आप में मूल्य नहीं। हो तो वह भी शुभ है, वह भी मंगल है।
परमात्मा ने दो ही तरह के चित्त बनाए: स्त्रैण और पुरुष; संकल्प और समर्पण। दो ही मार्ग हैं उस तक जाने के। तुम जहां हो वहीं से चलो। तुम जैसे हो वैसे ही चलो। प्रभु तुम्हें वैसा ही अंगीकार करेगा।

हरि ॐ तत्सत्!

अष्टावक्रः महागीता, भाग एक
पंद्रहवां प्रवचन

जीवन की एकमात्र दीनता: वासना

अष्टावक्र उवाच।

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः।। ४६।।
आत्माऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे।। ४७।।
विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंग इव सागरे।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि।। ४८।।
श्रुत्वाऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम्।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति।। ४९।।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेजनित आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तंते।। ५०।।
आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया।। ५१।।
उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रभवधार्याति दुर्बलः।
आश्चर्यं काममाकाक्षेत् कालमंतमनुश्रितः।। ५२।।

गुरु मात्र शिक्षक ही नहीं है, शास्ता भी है। शास्ता यानी वह, जो जीवन
को एक अनुशासन दे, जीवन को शासन दे। जो मात्र शब्द दे, वह शिक्षक। जो शासन भी दे, वह शास्ता।
अष्टावक्र शब्द दे कर ही संतुष्ट नहीं हो गए। शब्द देने के बाद जो पहला खतरा है, उस खतरे की तरफ इंगित है इन सूत्रों में। शब्द सुन कर गुरु के इस बात की बहुत संभावना है कि तुम शब्द से ऐसे अभिभूत हो जाओ कि तुम समझो सब हो गया; तुम शब्द को ही पकड़ लो और शब्द को ही सत्य मान लो।
सदगुरु से निकले हुए शब्दों का बल है, ऊर्जा है। उस ऊर्जा और बल में तुम आविष्ट हो सकते हो, सम्मोहित हो सकते हो। तुम बिना ज्ञानी हुए ज्ञानी बन सकते हो--यही पहला खतरा है। शब्द ठीक मालूम पड़ें, तर्कयुक्त मालूम पड़ें, बुद्धि प्रभावित हो, हृदय प्रफुल्लित हो जाए--तो ऐसी घड़ियां आ सकती है सत्संग में, जब जो तुम्हारा अनुभव नहीं है अभी, वह भी अनुभव जैसा मालूम होने लगे। तो गुरु परीक्षक भी है। वह तुम्हारी परीक्षा भी करेगा कि जो तुम कह रहे हो वह हुआ भी है या केवल सुनी हुई बात दोहरा रहे हो?
अष्टावक्र ने जो उदघोष किया--परम सत्य का--उस उदघोष का ऐसा परिणाम हुआ
कि जनक तत्क्षण प्रतिध्वनि करने लगे। जनक भी वही बोले। और जनक ने कहा कि आश्चर्र्य कि मैं अब तक कैसे सोया रहा! और जनक ने कहा कि मैं जाग गया! और जनक ने कहा कि मैं न केवल जाग गया हूं, मैं जानता हूं मैं ही समस्त का केंद्र, सब मुझसे ही संचालित होता! मुझ का मुझ ही को नमस्कार है!
ऐसी महिमा का उदय हुआ। अष्टावक्र चुपचाप खड़े सुनते रहे। यह जो हुआ है, इसे देखते रहे। इन सूत्रों में परीक्षा है। अष्टावक्र प्रश्न उठाते हैं, संदेह उठाते हैं। जनक के घड़े को जगह-जगह से ठोंक कर देखते हैं, कच्चा तो नहीं है? बातें सुन कर तो नहीं बोल रहा है? किसी प्रभाव के कारण तो नहीं बोल रहा है? मेरी मौजूदगी के कारण तो ये तरंगें नहीं उठी हैं? ये तरंगें इसकी अपनी हैं? यह क्रांति वस्तुतः घटी है? यह कहीं बौद्धिक मात्र न हो। मेरे पास बहुत लोग आते हैं। उनमें अनेक कृष्णमूर्ति के भक्त हैं। वे मुझसे आ कर कहते हैं कि हम वर्षों से सुनते हैं; जो सुनते हैं वह शत-प्रतिशत ठीक भी मालूम होता है, उसमें हमें कुछ संदेह नहीं है। जो कृष्णमूर्ति कहते हैं, उसे हमने समझ भी लिया है। हम नहीं समझे, ऐसा भी नहीं है। लेकिन फिर भी जीवन में कोई क्रांति नहीं घटती। बौद्धिक रूप से सब समझ में आ गया है। बुद्धि भर गई है, लेकिन आत्मा रिक्त की रिक्त रह गई है। ऊपर-

262

ऊपर सब जान लिया और भीतर-भीतर हम वैसे के वैसे हैं; भीतर कोई घटना नहीं घटी। अछूते के अछूते रह गए हैं। वर्षा हो गयी है, घड़ा खाली रह गया है।
बड़ी अड़चन में पड़ जाता है व्यक्ति, जब उसे बौद्धिक रूप से सब समझ में आ जाता है और अस्तित्वगत कोई समानांतर घटना नहीं घटती। तुम्हें उसकी दुविधा का अंदाज नहीं। उसे दिखाई पड़ता है कि दरवाजा कहां है, लेकिन निकलता दीवाल से है। जिसको दरवाजा नहीं दिखाई पड़ता, वह भी दीवाल से निकलता है; लेकिन उसे दरवाजा दिखाई ही नहीं पड़ता, इसलिए शिकायत किससे?
जिस आदमी को खयाल है कि मुझे दरवाजा दिखाई पड़ता है, समझ आ गया है कि कहां है, लेकिन फिर भी मैं दीवाल से सिर तोड़ता हूं--तुम उसकी पीड़ा समझो। जब भी उसका सिर टूटता है, वह महाविषाद से भर जाता है कि मुझे मालूम तो है कि ठीक क्या है, फिर मैं गलत क्यों करता हूं? मुझे मालूम तो है कि कहां जाना चाहिए, फिर मैं विपरीत क्यों जाता हूं?
सब मालूम है उसे और कुछ भी मालूम नहीं। तो उसके भीतर सीखने की क्षमता
भी खो जाती है। उसमें शिष्यत्व का भाव भी खो जाता है, क्योंकि उसे मालूम तो सब है; अब सीखने को और क्या है? उसकी विनम्रता भी खो जाती है। और भीतर की पीड़ा सघन होती चली जाती है। उसमें कोई अंतर पड़ता नहीं।
ऐसा ही समझो कि तुम दवाइयां इकट्ठी करते चले जाओ, इससे तो तुम्हारी बीमारी समाप्त न होगी। पीयोगे तब समाप्त होगी। तुम डाक्टरों के "प्रिसक्रिप्शन" इकट्ठे कर के फाइलें बना लो। उन "प्रिसक्रिप्शनों" से तो कुछ परिणाम न होगा, जब तक उन "प्रिसक्रिप्शनों" के अनुसार जीवन न बनेगा। लेकिन दवाइयों का ढेर तुम्हें एक भ्रांति दे सकता है कि सब दवाइयां तो मेरे पास हैं, पूरी केमिस्ट की दूकान तो उठा लाया, अब और क्या है, अब कहां जाऊं? किससे पूछूं? अब तो पूछने को भी कुछ नहीं बचा।
तो एक दंभ पैदा होता है। बुद्धि की थोथी समझ से एक अहंकार, एक अस्मिता जगती है कि मैं जानता हूं, और भीतर एक पीड़ा भी होती है कि मुझे कुछ भी तो पता नहीं, क्योंकि कुछ हो तो नहीं रहा है।
हो, तो ही कसौटी है। तुम्हारा जीवन बदले किसी सत्य से, तो ही सत्य तुम्हारे पास है। अगर जीवन न बदले तो सत्य तुम्हारे पास नहीं है।
मैंने सुना है, स्वामी रामतीर्थ एक छोटी-सी कहानी कहा करते थे। वे कहते थे, कल्प-गंगा के किनारे, स्वर्ग की गंगा के किनारे, ज्ञान और मोह एक सुबह आ कर रुके। गंगा ने कहा, भले आए, स्वागत! लो डुबकी मुझमें, तुम्हें पवित्र कर दूंगी। उतरो मुझमें। नहा लो। तुम नए हो जाओगे। तुम्हें फिर कुंआरा कर दूंगी। सारी धूल पोंछ डालूंगी।
ज्ञान तो अकड़ा खड़ा रहा, क्योंकि ज्ञान ने कहा: तू, और मुझे शुद्ध करेगी? उसे तो इस बात पर भरोसा न आया। और झुकने की क्षमता वह खो चुका था, समर्पण की कला खो चुका था, शिष्य होना भूल चुका था। किसी दूसरे से कुछ हो सकता है, यह बात ही भूल चुका था। ज्ञान की अकड़ आ गई थी कि मैं सब स्वयं कर लूंगा, किस गंगा की जरूरत है? किस तीर्थ की जरूरत? किस गुरु की जरूरत? किसी की कोई जरूरत नहीं है।
वह तो मुस्कुराया। वह तो गंगा के इस बेहूदे आमंत्रण पर मुस्कुराया। लेकिन मोह तो मोह है-- मोहाविष्ट हो गया। मोह को तो बात लुभा गई। लोभ के कारण वह तो उतर गया। गंगा ने उसे नहला दिया। वह शुद्ध हो गया। वह पवित्र हो गया। वह निर्दोष हो गया। जब वह बाहर आया तो देवताओं ने उसकी स्तुति की, आरती की; क्योंकि मोह अब प्रेम हो चुका था। नहा लिया था गंगा में, झुक गया था। मोह अब प्रेम हो चुका था।
मोह ही तो शुद्ध हो कर प्रेम हो जाता है। प्रेम ही की तो आखिरी ऊंचाई प्रार्थना है। और प्रार्थना का ही आखिरी पड़ाव तो परमात्मा है।
लेकिन ज्ञान तो अपने रास्ते पर जा चुका था--अकड़ा हुआ; अपनी धूल-धवांस सम्हाले हुए, खोपड़ी भरी और मजबूत और भारी, और हृदय बिलकुल सूखा और रिक्त और मरुस्थल।
अष्टावक्र सुन कर जनक की बातें इन सूत्रों में पहला सवाल उठाते हैं
कि जनक, ऐसा तुझे हुआ है? या बातों में उलझ गया? या मेरी बातों में आ गया? वे जगह-जगह से उसे ठोंकते हैं।

पहला सूत्र अष्टावक्र ने कहा, "आत्मा को तत्वतः एक और अविनाशी जान कर
भी क्या तुझ आत्मज्ञानी धीर को धन कमाने में अभी भी रुचि है?"
क्योंकि जनक ने कोई महल तो छोड़ा नहीं। जनक ने कोई धन का त्याग तो किया नहीं। जनक जैसा है वैसा का वैसा है। एक प्रश्न अष्टावक्र उठाते हैं।
जब शिष्य प्रश्न उठाता है तो अज्ञान से उठता है; जब गुरु प्रश्न उठाता
है तो ज्ञान से उठता है। शिष्य के प्रश्नों के उत्तर देने बड़े आसान हैं; गुरु के प्रश्नों के उत्तर तो केवल जीवन से दिए जा सकते हैं, और तो कोई उपाय नहीं।
अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
--तत्व से तू घोषणा कर रहा है कि एक है अविनाशी, एक है आत्मा? अद्वैत की
तू तत्वतः घोषणा कर रहा है?
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः।
--और ऐसी घोषणा के बाद क्या धन में रुचि रह सकती है? राज्य में, साम्राज्य में, महल में, पद-प्रतिष्ठा में, सिंहासन में रुचि रह सकती है? जनक के सामने एक प्रश्न-चिह्न खड़ा किया है अष्टावक्र ने, कि तुझसे पूछता हूं जनक, जब एक का तुझे पता चल गया और तुझे बोध हो गया कि तू स्वयं परमात्मा है, तो क्या धन के पीछे अब भी तू दौड़ सकता है? तू तलाश अपने भीतर, धन का कहीं मोह तो शेष नहीं रहा?
यह पहली बात धन की क्यों उठाई? क्योंकि इस जीवन में बड़ी से बड़ी हमारी दौड़ और बड़े से बड़ा हमारा पागलपन धन के लिए है। हम भीतर हैं खाली, रिक्त, सूने; धन से उसे भरते हैं। खालीपन काटता है। खालीपन में बड़ी बेचैनी होती है कि मैं ना-कुछ, कुछ हो कर दिखाना है! कैसे दिखाऊं? तो पद, प्रतिष्ठा, धन-- वे सब धन के ही रूप हैं। उनसे हम अपने को भरते हैं, ताकि मैं कह सकूं, "मैं कुछ हूं! मैं ना-कुछ नहीं हूं! देखो, कितना धन मेरे पास है!" ताकि मैं प्रमाण दे सकूं कि मैं कुछ हूं!
अष्टावक्र कहते हैं कि धन की दौड़ तो उस आदमी की है जिसे भीतर बैठे परमात्मा का पता नहीं। जिसे भीतर बैठे परमात्मा का पता चल गया वह तो धनी हो गया, उसे तो मिल गया धन। राम-रतन धन पायो! अब उसे कुछ बचा नहीं पाने को। अब कोई धन धन नहीं है; धन तो उसे मिल गया; परम धन मिल गया। और परम धन को पा कर फिर कोई धन के पीछे दौड़ेगा?
छोटे थे तुम तो खेल-खिलौनों से खेलते थे; टूट जाता खिलौना तो रोते भी थे; कोई छीन लेता तो झगड़ते भी थे। फिर एक दिन तुम युवा हो गये। फिर तुम भूल ही गये वे खेल-खिलौने कहां गये, किस कोने में पड़े-पड़े धीरे से झाड़ कर, बुहार कर कचरे में फेंक दिये गये। तुम्हें उनकी याद भी नहीं रही। एक दिन तुम लड़ते थे। एक दिन तुम उनके लिए मरने-मारने को तैयार हो जाते थे। आज तुमसे कोई पूछे कि कहां गये वे खेल-खिलौने, तो तुम हंसोगे। तुम कहोगे, अब मैं बच्चा तो नहीं, अब मैं युवा हो गया, प्रौढ़ हो गया; मैंने जान लिया कि खेल-खिलौने खेल-खिलौने हैं।
ऐसी ही एक प्रौढ़ता फिर घटती है, जब किसी को भीतर के परमात्मा का बोध होता है। तब संसार के सब खेल-खिलौने धन-पद-प्रतिष्ठा सब ऐसे ही व्यर्थ हो जाते हैं जैसे बचपन के खेल-खिलौने व्यर्थ हो गए। फिर उनके लिए कोई संघर्ष नहीं रह जाता, प्रतिद्वंद्विता नहीं रह जाती, कोई स्पर्धा नहीं रह जाती। धन की दौड़ आत्महीन व्यक्ति की दौड़ है। जितना निर्धन होता है आदमी भीतर, उतना ही बाहर के धन से भरने की चेष्टा करता है। बाहर का धन भीतर की निर्धनता को भुलाने की व्यवस्था, विधि है। जितना गरीब आदमी होता है, उतना ही धन के पीछे दौड़ता है।
इसलिए तो हमने देखा कि कभी बुद्ध, कभी महावीर, महाधनी लोग रहे होंगे,
कि सब छोड़ कर निकल पड़े और भिखारी हो गए। इस आश्चर्य की घटना को देखते हो! यहां निर्धन धन के पीछे दौड़ते रहते हैं, यहां धनी निर्धन हो जाते हैं। जिन्हें भीतर का धन मिल गया, वे बाहर की दौड़ छोड़ देते हैं।
अष्टावक्र ने पूछा कि जनक, जरा पीछे भीतर उतर कर टटोल, कहीं धन की आकांक्षा तो शेष नहीं? अगर धन की आकांक्षा शेष हो तो यह सब जो तू बोल रहा है, सब बकवास है। कसौटी वहां है। अभी भी तू पद तो नहीं चाहता? अभी भी तू

राज्य का विस्तार तो नहीं चाहता? अभी भी भीतर तृष्णा तुझे पकड़े तो नहीं है? अगर वासना अभी भी मौजूद है भीतर, तो पक्का जान कि आत्मा का तुझे अनुभव नहीं हुआ। आत्मा का अनुभव तो तभी होता है जब वासना नहीं रह जाती। या आत्मा का अनुभव होते ही वासना नहीं रह जाती। दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते। आत्मा और वासना के बीच किसी तरह का सहयोग नहीं हो सकता; जैसे अंधेरे और प्रकाश के बीच किसी तरह का साथ-संग नहीं हो सकता। प्रकाश--तो अंधेरा नहीं; अंधेरा--तो प्रकाश नहीं।
तू प्रकाश की बातें कर रहा है। तू अचानक महावाक्य बोल रहा है, जनक! यह इतनी जल्दी हुआ है। इसकी तू कसौटी कर ले। इसे तू जरा खोजबीन कर ले, जांच-पड़ताल कर ले। भीतर उतर। देख, कहीं धन की आकांक्षा तो नहीं छिपी बैठी। अगर छिपी बैठी हो तो यह सब जो तूने कहा, मुझे तूने दोहरा दिया; यह सब बासा है; यह सब उधार है; फिर इसकी बहुत मूल्यवत्ता नहीं है। फिर हमें फिर से अ ब स से शुरू करना पड़ेगा। तो मैं फिर तुझे जगाऊं, अगर धन की आकांक्षा कहीं बैठी हो। अगर तू धन की आकांक्षा पाए ही नहीं कहीं, तो कुछ हुआ है, अन्यथा कुछ भी नहीं हुआ है।
"आत्मा को तत्वतः एक और अविनाशी जान कर भी क्या तुझ आत्मज्ञानी धीर को
धन कमाने में रुचि है?"
जरा-सी भी रुचि? लेशमात्र भी रुचि? जरा-सा भी रस?
खयाल रखना, जब तक हम सोचते हैं कि बाहर कुछ हमें मिल जाए, उससे हम कुछ
हो जाएंगे--तब तक हमारी धन में रुचि है। यह भी हो सकता है कि तुम धन का त्याग कर दो, लेकिन त्याग से कुछ मिल जाएगा, ऐसी रुचि शेष रह जाए--कि दुनिया तुम्हें त्यागी कहेगी, कि लोग प्रशंसा करेंगे, कि चरण छुएंगे--तो फिर कुछ फर्क न हुआ; तुमने सिर्फ सिक्के बदल लिए। लेकिन अब भी तुम्हारी आकांक्षा वही की वही है। रुचि तुम्हारी धन की ही है। धन से मात्र धन की तरफ ही इशारा नहीं है, धन से एक भीतर की आकांक्षा का इशारा है कि बाहर कुछ हो सकता है, जिससे मैं मूल्यवान हो जाऊं। धन का आत्यंतिक अर्थ इतना ही है कि बाहर से कुछ मिल सकता है जो मुझे मूल्यवत्ता दे दे!
मेरा मूल्य मेरे भीतर है; मैं स्वयं अपना मूल्य हूं--ऐसी प्रतीति वस्तुतः संन्यास है। मेरा मूल्य बाहर से आता है; लोग क्या कहते हैं, इससे मेरा मूल्य निर्मित होता है--तो ऐसी आकांक्षा धन की आकांक्षा है।
इसलिए तुम्हारे सौ त्यागियों में निन्यानबे तो अभी भी धन की ही आकांक्षा में जीते हैं। धन उन्होंने छोड़ दिया होगा, बाजार छोड़ दिया, दूकान छोड़ दी, सब छोड़-छाड़ कर मंदिरों में बैठ गए हैं; लेकिन अब भी तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं कि तुम आओ और सम्मान दो। अब भी तुम्हारे द्वारा किया गया अपमान खलता है, कांटे की तरह गड़ता है। तुम्हारा सम्मान अभी भी गदगद करता है। तुम कहते हो, महात्यागी हो आप, तो भीतर फूल खिल जाते हैं, कमल खिल जाते हैं।
अगर कोई नहीं आता सम्मान करने को तो त्यागी प्रतीक्षा करने लगता है
कि आज कोई भी नहीं आया। दूकान बदल गई, ग्राहक नहीं बदले। ग्राहक की अभी भी प्रतीक्षा है! जैसे दूकानदार सुबह से दूकान खोल कर बैठ कर प्रतीक्षा करता है ग्राहक आएं, अगर ऐसा ही त्यागी भी सुबह से प्रतीक्षा करने लगता है कि मंदिर में लोग आएं, मेरी पूजा-अर्चना हो, लोग मुझे सम्मान दें, प्रतिष्ठा दें--तो दूकान बदली, कुछ भीतर बदला नहीं।
जिस दिन तुम्हारे मन में दूसरों से मिलने वाले सम्मान का कोई मूल्य नहीं रह जाता--न निषेधात्मक, न विधायक; न उनके अपमान का कोई मूल्य रह जाता है; तुम्हारे पास क्या है, इससे तुम अपनी सत्ता की गणना नहीं करते और तुम्हारे पास क्या नहीं है, इससे तुम अपने भीतर कमी का अनुभव नहीं करते; तुम जिस क्षण बेशर्त पूर्ण हो जाते हो; जिस क्षण तुम्हारी घोषणा पूर्णता की अकारण हो जाती है, जिसमें कोई बाहरी कारण हाथ नहीं देता--उस क्षण तुम जानना कि तुमने जाना। उसके पहले जानकारी है और जानकारी को भूल से जानना मत समझ लेना।
ऐसा हुआ कि स्वामी विवेकानंद अमरीका से वापिस लौटे। जब वे वापिस आए
तो बंगाल में अकाल पड़ा था। तो वे तत्क्षण आ कर अकालग्रस्त क्षेत्र में

सेवा करने चले गए। ढाका की बात है। ढाका के कुछ वेदांती पंडित उनका दर्शन करने आए। स्वामी जी अमरीका से लौटे, भारत की पताका फहरा कर लौटे! तो पंडित दर्शन करने आए थे, सत्संग करने आए थे। लेकिन जब पंडित आए तो स्वामी विवेकानंद ने न तो वेदांत की कोई बात की, न ब्रह्म की कोई चर्चा की, कोई अध्यात्म, अद्वैत की बात ही न उठाई, वे तो अकाल की बात करने लगे और वे तो जो दुख फैला था चारों तरफ उससे ऐसे दुखी हो गए कि खुद ही रोने लगे, आंख से आंसू झरझर बहने लगे।
पंडित एक-दूसरे की तरफ देख कर मुस्कुराने लगे कि यह असार संसार के लिए
रो रहा है। यह शरीर तो मिट्टी है और यह रो रहा है, यह कैसा ज्ञानी!
उनको एक-दूसरे की तरफ व्यंग्य से मुस्कुराते देख कर विवेकानंद को कुछ समझ न आया। उन्होंने कहा, मामला क्या है, आप हंसते हैं? तो उनके प्रधान ने कहा कि हंसने की बात है। हम तो सोचते थे आप परमज्ञानी हैं। आप रो रहे हैं? शास्त्रों में साफ कहा है कि देह तो हैं ही नहीं हम, हम तो आत्मा हैं! शास्त्रों में साफ कहा है कि हम तो स्वयं ब्रह्म हैं, न जिसकी कोई मृत्यु होती, न कोई जन्म होता। और आप ज्ञानी हो कर रो रहे हैं? हम तो सोचते थे, हम परमज्ञानी का दर्शन करने आए हैं, आप अज्ञान में डूब रहे हैं!
विवेकानंद का सोटा पास पड़ा था, उन्होंने सोटा उठा लिया, टूट पड़े उस आदमी पर। उसके सिर पर डंडा रख कर बोले कि अगर तू सचमुच ज्ञानी है तो अब बैठ, तू बैठा रह, मुझे मारने दे। तू इतना ही स्मरण रखना कि तू शरीर नहीं है। विवेकानंद का वैसा रूप--मजबूत तो आदमी थे ही, वे हट्टे-कट्टे आदमी थे--
और हाथ में उनके बड़ा डंडा! उस पंडित की तो रूह निकल गई। वह तो गिड़गिड़ाने लगा कि महाराज, रुको, यह क्या करते हो? अरे, यह कोई ज्ञान की बात है? हम तो सत्संग करने आए हैं। यह कोई उचित मालूम होता है?
वह तो भागा। उसने देखा कि यह आदमी तो जान से मार डाल दे सकता है। उसके पीछे बाकी पंडित भी खिसक गए। विवेकानंद ने कहा: शास्त्र को दोहरा देने से कुछ ज्ञान नहीं हो जाता। पांडित्य ज्ञान नहीं है। पर-उपदेश कुशल बहुतेरे! वह जो पंडित ज्ञान की बात कर रहा था, तोतारटंत थी। उस तोतारटंत में कहीं भी कोई आत्मानुभव नहीं है। शास्त्र की थी, स्वयं की नहीं थी। और जो स्वयं की न हो, वह दो कौड़ी की है।
तो अष्टावक्र पहली परीक्षा खड़ी करते हैं। पहली परीक्षा, वे यह कहते हैं: जनक, ध्यान कर! तू कहता है, आत्मा को तत्वतः तूने जान लिया, पहचान गया अविनाशी को, अब क्या तुझ आत्मज्ञानी धीर को धन कमाने में थोड़ी भी रुचि है? इसका मुझे उत्तर दे।
गुरु तो दर्पण है। गुरु के दर्पण के समक्ष तो शिष्य को समग्र-रूप से नग्न हो जाना है। उसे तो अपने हृदय को पूरा उघाड़ कर रख देना है, तो ही क्रांति घट सकती है।
पुरानी कथा है जैन-शास्त्रों में, मिथिला के महाराजा नेमी के संबंध में। उन्होंने कभी शास्त्र नहीं पढ़े। उन्होंने कभी अध्यात्म में रुचि नहीं ली। वह उनका लगाव ही न था। उनकी चाहत ने वह दिशा कभी नहीं पकड़ी थी। बूढ़े हो गए थे, तब बड़े जोर का दाह्य-ज्वर उन्हें पकड़ा। भयंकर ज्वर की पीड़ा में पड़े हैं। उनकी रानियां उनके शरीर को शीतल करने के लिए चंदन और केसर का लेप करने लगीं। रानियों के हाथ में सोने की चूड़ियां थीं, चूड़ियों पर हीरे- जवाहरात लगे थे; लेकिन लेप करते समय उनकी चूड़ियां खड़खड़ातीं और बजतीं। सम्राट नेमी को वह खड़खड़ाहट की आवाज, वह चूड़ियों का बजना बड़ा अरुचिकर मालूम हुआ। और उन्होंने कहा, हटाओ ये चूड़ियां, इन चूड़ियों को बंद करो! ये मेरे कानों में बड़ी कर्ण-कटु मालूम होती हैं।
तो सिर्फ मंगल-सूत्र के खयाल से एक-एक चूड़ी बचा कर, बाकी चूड़ियां रानियों ने निकाल कर रख दीं। आवाज बंद हो गई। लेप चलता रहा। नेमी भीतर एक महाक्रांति को उपलब्ध हो गए। यह देख कर कि दस चूड़ियां थीं हाथ में तो बजती थीं; एक बची तो बजती नहीं। अनेक हैं तो शोरगुल है। एक है तो शांति है। कभी शास्त्र नहीं पढ़ा, कभी अध्यात्म में कोई रस नहीं रहा। उठ कर बैठ गए। कहा, मुझे जाने दो। यह दाह्य-ज्वर नहीं है, यह मेरे जीवन में क्रांति का संदेश ले कर आ गया। यह प्रभु-अनुकंपा है।

रानियां पकड़ने लगीं। उन्होंने समझा कि शायद ज्वर की तीव्रता में विक्षिप्तता तो नहीं हो गई! उनका भोगी-रूप ही जाना था। योग की तो उन्होंने कभी बात ही न की थी, योगी को तो वे पास न फटकने देते थे। भोग ही भोग था उनके जीवन में। कहीं ऐसा तो नहीं कि सन्निपात हो गया है! वे तो घबड़ा गईं, वे तो रोकने लगीं।
सम्राट ने कहा, घबड़ाओ मत। न कोई यह सन्निपात है। सन्निपात तो था, वह गया। तुम्हारी चूड़ियों की बड़ी कृपा! कैसी जगह से परमात्मा ने सूरज निकाल दिया, कहा नहीं जा सकता! चूड़ियां बजती थीं तुम्हारी, बहुत तुमने पहन रखीं थीं। एक बची, शोरगुल बंद हुआ--उससे एक बोध हुआ कि जब तक मन में बहुत आकांक्षाएं हैं तब तक शोरगुल है। जब एक ही बचे आकांक्षा, एक ही अभीप्सा बचे, या एक की ही अभीप्सा बचे--और ध्यान रखना एक की ही अभीप्सा एक हो सकती है। संसार की अभीप्सा तो एक हो ही नहीं सकती--संसार अनेक है। तो वहां अनेक वासनाएं होंगी। एक की अभीप्सा ही एक हो सकती है।
नेमी तो उठ गए, ज्वर तो गया। वे तो चल पड़े जंगल की तरफ। न शास्त्र पढ़ा,
न शास्त्र जानते थे। लेकिन, शास्त्र पढ़ने से कब किसने जाना! जीवन के शास्त्र के प्रति जागरूकता चाहिए, तो कहीं से भी इशारा मिल जाता है। अब चूड़ियों से कुछ लेना-देना है?
तुमने कभी सुना, चूड़ियों और संन्यास का कोई संबंध? जुड़ता ही नहीं। लेकिन बोध के किसी क्षण में, जागरूकता के किसी क्षण में, मौन के किसी क्षण में, कोई भी घटना जगाने वाली हो सकती है। तुम सो रहे हो, घड़ी का अलार्म जगा देता है, पक्षियों की चहचहाहट जगा देती है, कौओं की कांव-कांव जगा देती है, दूध वाले की आवाज जगा देती है, राह से निकलती हुई ट्रक का शोरगुल जगा देता है, ट्रेन जगा देती है, हवाई-जहाज जगा देता है; कुत्ता भौंकने लगे पड़ोसी का, वह जगा देता है।
ठीक ऐसे ही हम सोए हैं। इसमें जागरण की घटना घट सकती है, लेकिन जागरण
की घटना केवल शब्दों से नहीं घटती। वास्तविक ध्वनि...। शास्त्र तो ऐसे हैं जैसे रिकार्ड में ध्वनियां बंद हैं। तुम रिकार्ड रखे अपने बिस्तर के पास सोए रहो, इससे कुछ भी न होगा। तुम अपनी स्मृति में कितने ही शास्त्रों के रिकार्ड भर लो, इससे कुछ न होगा।
बड़ी महिमापूर्ण घटना घटी है जनक को, लेकिन अष्टावक्र ठीक से कसौटी कर लेना चाहते हैं। अष्टावक्र जनक को भी ठीक से अपने भीतर पहुंच कर मौका देना चाहते हैं कि वह देख ले: कहीं धन की आकांक्षा तो नहीं है? अगर है तो सम्हलो। तो इतनी ऊंची बातें मत करो। तो तुम्हारे पैर तो जमीन में गड़े हैं, आकाश में उड़ने की बातें मत करो। धन तो जमीन है; अगर तुम्हारी धन में आकांक्षा रुपी है, तो तुम्हारी जड़ें जमीन में गड़ी हैं, फिर तुम पंख आकाश में न खोल सकोगे।
जैन शास्त्रों में एक और कथा है, अमरावती के श्रेष्ठि सुमेद की। सुमेद के पिता की मृत्यु हुई। वह अमरावती का सबसे बड़ा धनी व्यक्ति था। पिता के मर जाने पर अंत्येष्ठि क्रिया और सारे परिजनों-प्रियजनों के विदा हो जाने पर, जो बड़ा मुनीम था, बूढ़ा मुनीम था, वह आया। उसने सारा हिसाब-किताब सुमेद के सामने रखा। कितनी उनकी कोठियां हैं सारे देश में, किस कोठी में कितना धन संलग्न है, कितने उनके व्यवसाय हैं, किस व्यवसाय में कितना धन लगा है, कितनी उनकी तिजोरियां हैं--कहा कि आप आएं, तलघर में चलें तो मैं सारी चाबियां आपको सौंप दूं, आप के पिता मुझे सब सौंप गए हैं, अब आप मालिक हैं।
सुमेद उठा। उसने सारे खाते-बही देखे। करोड़ों रुपए की संपत्ति थी। उसने जा कर सारी तिजोरियां देखीं। उनमें बहुमूल्य रत्न भरे थे, अरबों- खरबों की संपत्ति थी। उसने यह सब देखा। लेकिन मुनीम बड़ा हैरान हुआ। वह देख तो रहा था, लेकिन जैसे कहीं बहुत दूर से, पास नहीं था, लोलुप नहीं था। और देखते-देखते उसकी आंखों में आंसू आने लगे। और मुनीम ने पूछा कि मैं समझा नहीं। आप रो रहे हैं! आप इस वक्त पृथ्वी के सबसे धनी लोगों में एक हैं। पिता के जाने पर अब आप मालिक हैं। ये आपके पुरखों की संपदा है। इसको हरेक पीढ़ी बढ़ाती चली गई है, इसमें से घटा कभी भी नहीं है। आप प्रसन्न हों।

सुमेद ने पूछा, मुझे एक बात पूछनी है। मेरे पिता के पिता मरे, वे भी इसे न ले जा सके। मेरे पिता भी मर गए, वे भी इसे न ले जा सके। और मैं तुमसे कहता हूं कि मैं इसे ले जाना चाहता हूं, तुम कोई तरकीब खोजो। तुम कहते हो, पीढ़ियों से चली आयी है! इसका मतलब साफ है: लोग मरते रहे और सब यहीं छूटता गया। अब मैं यह नहीं करना चाहता कि मैं मरूं और सब यहीं छूट जाए। क्योंकि जो यहीं छूट जाए, उसमें सार क्या? ले जाऊंगा सब साथ। या तो तुम खोज कर कल सुबह तक मुझे खबर कर दो या मैं खोज लूंगा। लेकिन अब मुझे चैन नहीं, क्योंकि किसी भी क्षण मौत आ सकती है। फिर ये चाबियां किसी और के हाथ में होंगी। फिर तुम किसी और को दिखाओगे, मेरे बेटे को दिखाओगे। लेकिन न मैं ले जा सकूंगा न मेरा बेटा ले जा सकेगा। नहीं, मैं यह हिसाब खत्म ही करना चाहता हूं। मैं यह सब साथ ही ले जाना चाहता हूं।
मुनीम ने कहा, यह तो कभी हुआ नहीं और हो भी नहीं सकता। कोई इसे कभी ले नहीं गया।
सुमेद ने कहा, मैंने तरकीब खोज ली। उसने उसी क्षण सारी संपत्ति दान कर दी। वह संन्यस्त हो गया। उसने कहा, मैंने तरकीब खोज ली। मैं इसे साथ ले जाऊंगा! यह कह कर उसने सब छोड़ दिया और संन्यस्त हो गया।
एक क्रांति घटती है; जब बाहर का तुम छोड़ते हो, भीतर का उसी क्षण मिल जाता है। लोगों ने तो एक ही बात देखी कि उसने बाहर की संपत्ति छोड़ दी, तुम्हें मैं दूसरी बात में जगाना चाहता हूं--उसने बाहर की संपत्ति यहां छोड़ी कि भीतर की संपत्ति वहां मिली। वह साथ ले कर गया। भीतर का ही साथ जाता है। बाहर में उलझे होने के कारण भीतर का दिखाई नहीं पड़ता। जब भीतर का दिखाई पड़ता है तो बाहर की पकड़ नहीं रह जाती।
आश्चर्य! कहा अष्टावक्र ने। जैसे बार-बार जनक ने कहा आश्चर्य! कि परम ब्रह्म शाश्वत चैतन्य, और कैसे माया में भटक गया था! जैसे बार-बार जनक ने कहा कि आश्चर्य! कि मैं स्वयं परमात्मा और कैसे सपने में खो गया था! ऐसे ही अब बार-बार अष्टावक्र कहते हैं।
"आश्चर्य! कि जैसे सीपी के अज्ञान से चांदी की भ्रांति में लोभ पैदा होता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से विषय-भ्रम के होने पर राग पैदा होता है।"
रस्सी पड़ी देखी और समझा कि सांप है तो भय पैदा हो जाता है। सांप है नहीं और भय पैदा हो जाता है। सांप तो झूठा, भय बहुत सच्चा। तुम भाग खड़े होते हो। तुम घबड़ाहट में गिर भी सकते हो, भागने में हाथ-पैर तोड़ ले सकते हो--और वहां कुछ था ही नहीं; सिर्फ रस्सी थी। सांप के भ्रम ने काम कर दिया। अष्टावक्र कहते हैं, ऐसे ही सीपी में कभी चांदी की झलक दिखाई पड़ जाती है। सीपी पड़ी है, सूरज की किरणों में चमक रही है--लगता है चांदी! चांदी वहां है नहीं, सिर्फ लगता है चांदी है। चांदी के लगते ही उठाने का भाव पैदा हो जाता है, मालिक बनने की आकांक्षा हो जाती है। चांदी के भ्रम में भी लोभ पैदा हो जाता है। आश्चर्य कि भ्रम में भी लोभ पैदा हो जाता है! जहां कुछ भी नहीं है, वहां पाने की आकांक्षा पैदा हो जाती है!
जहां से कभी किसी को कुछ भी नहीं मिला, वहीं-वहीं हम टटोलते रहते हैं। कुछ मिला हो तो भी ठीक। इस पृथ्वी पर कितने लोग हुए, कितने अनंत लोग हुए, सबने धन खोजा, सब निर्धन मरे। सबने पद खोजा, सबने प्रतिष्ठा खोजी, सब धूल में गिरे। बड़े-बड़े सम्राट पैरों में दबे पड़े हैं, धूल हो गए हैं। च्वांगत्सु लौटता था एक गांव से। मरघट से गुजरा तो एक खोपड़ी पर उसका पैर लग गया। उसने वह खोपड़ी उठा ली और उससे माफी मांगने लगा कि क्षमा कर। उसके शिष्यों ने कहा, यह क्या कर रहे हैं! यह मरी खोपड़ी से क्या क्षमा मांग रहे हैं? इसमें सार क्या?
च्वांगत्सु ने कहा, तुम्हें पता नहीं। एक तो यह बड़े लोगों का मरघट है। यहां सिर्फ राजा, धनपति, राजनेता गड़ाए जाते हैं। यह कोई छोटी-मोटी खोपड़ी नहीं है, पागलो! यह किसी बड़े आदमी की खोपड़ी है।
शिष्य हंसने लगे। उन्होंने कहा, आप भी खूब मजाक करते हैं। अब यह बड़े
की हो कि छोटे की हो, खोपड़ी सब बराबर हैं। और मुर्दा खोपड़ी से क्या क्षमा मांगते हो?

च्वांगत्सु कहने लगा, तुम्हें पता नहीं, केवल समय की बात है। दो-चार
छह महीने पहले इस आदमी के सिर में अगर मेरा पैर लग जाता तो मेरे सिर की खैरियत न थी। यह कुल समय की बात है। माफी तो मांग ही लूं। तुम जरा इसकी भी तो सोचो। और कुछ दिनों बाद मेरी खोपड़ी भी यहीं कहीं पड़ी होगी और लोगों के पैर मेरी खोपड़ी से लगेंगे और कोई क्षमा भी न मांगेगा। तुम यह भी तो सोचो! किसको क्या मिला है? कुछ मिला हो और तुम खोजो, तब भी ठीक है।
ऐसा सुलतान महमूद के जीवन में उल्लेख है कि वह रोज रात अपने घोड़े पर सवार हो कर निकलता था गांव में देखने--कहां क्या हो रहा है, कैसी व्यवस्था चल रही है? छिपे वेष में। वह रोज रात एक आदमी को देखता था--नदी के किनारे, रेत को छानते। उसने एक-दो दफा पूछा भी कि तू क्या करता है आधी-आधी रात तक? उसने कहा, मैं रेत छानता हूं, इसमें कभी-कभी चांदी के कण मिल जाते हैं। उनको मैं इकट्ठा करता हूं। वही मेरी जीविका है।
ऐसा अनेक रातों देख कर एक दिन महमूद को लगा कि बेचारा मेहनत तो बड़ी करता है, मिलता कुछ खाक नहीं। तो उसने अपना भुज-बंध, जो लाखों रुपये का रहा होगा, निकाल कर चुपचाप रेत में फेंक दिया और चल पड़ा। उस रेत छानने वाले ने तो देखा भी नहीं। लेकिन थोड़ी देर बाद खोजने पर उसे मिल गया भुज-बंध। दूसरे दिन फिर महमूद रात आया। उसने सोचा कि आज तो वह रेत छानने वाला नहीं होगा वहां। लेकिन वह फिर रेत छान रहा था। महमूद बड़ा हैरान हुआ। उसने कहा कि सुन, मेरे सिपाहियों ने मुझे खबर दे दी है कि जो भुज-बंध मैं फेंक गया था, वह तुझे मिल गया है। तू उसे बाजार में बेच भी चुका है, वह भी खबर आ चुकी है। मैं सुलतान महमूद हूं! भुज-बंध लाखों रुपये का था। तेरे जीवन के लिए और तेरे बच्चों के जीवन के लिए पर्याप्त है। अब तू किस लिए छान रहा है रेत? उसने कहा मालिक: इसी रेत के छानने में भुज-बंध मिला; अब तो चाहे कुछ भी हो जाए, मैं छानना छोड़ नहीं सकता। अब तो छानता ही रहूंगा। अब तो यह जिंदगी है और मैं हूं और यह रेत है। जहां ऐसी-ऐसी चीजें मिल सकती हैं--भुज-बंध मिल गया! अब इसको मैं रोक नहीं सकता।
महमूद ने अपनी आत्मकथा में लिखवाया है कि उसके तर्क में तो बल है; लेकिन हम इस संसार में क्या खोज रहे हैं जहां किसी को कभी कुछ नहीं मिला? फिर भी रेत छान रहे हैं। कुछ मिला किसी को कभी?
कहते हैं, आश्चर्य कि जैसे सीपी के अज्ञान से चांदी की भ्रांति में लोभ पैदा होता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से विषय-भ्रम के होने पर राग पैदा होता है। हे जनक, कहीं तेरे भीतर राग तो नहीं बचा है? कहीं थोड़ा-सा भी मोह तो नहीं बचा, लोभ तो नहीं बचा है?
यह तुम्हें याद दिला दूं। तुमने बहुत बार सुना है कि लोभ छोड़ो, मोह छोड़ो, राग छोड़ो, क्रोध छोड़ो तो आत्मज्ञान होगा। हालत बिलकुल उल्टी है। आत्मज्ञान हो तो राग, मोह, लोभ, क्रोध छूटता है; वह परिणाम है। अंधेरे को थोड़े ही छोड़ना पड़ता है प्रकाश को लाने के लिए; प्रकाश लाना पड़ता है, अधेरा छूटता है।
इसलिए अष्टावक्र यह प्रश्न पूछ रहे हैं। वे कह रहे हैं, आत्मज्ञान हो गया जनक? तेरी उदघोषणा से लगता है आत्मज्ञान हो गया। अब मैं तुझसे पूछता हूं, जरा खोज, कहीं राग तो नहीं? अभी भी कहीं पुराने भ्रम पकड़े तो नहीं हैं? क्योंकि, कई बार ऐसा होता है--रोज ही ऐसा होता है, कई बार क्यों--रोज रात तुम सपना देखते हो, सुबह सपना टूटता है, तुम कहते हो सब सपना था; और फिर दूसरी रात फिर सपना देखते हो। टूट-टूट कर भी सपना टूटता नहीं। सुबह कैसे तुम ज्ञानी हो जाते हो! कहते हो सब बकवास, सब सपना था, कुछ भी सार नहीं! लेकिन यह याद नहीं रह जाता। फिर रात आएगी, फिर तुम सोओगे, फिर सपना उठेगा। तब यह कितनी बार सपना टूट चुका और कितनी बार सुबह तुमने घोषणा कर दी कि सपना टूट गया--ये सब घोषणाएं फिर काम नहीं आतीं, फिर सपना पकड़ लेता है। बड़ा प्रबल प्रभाव मालूम होता है सपने का। तो कहीं यह रोज-रोज सुबह उठ कर जो घोषणा हम करते हैं सपने झूठ होने की, वैसी ही अध्यात्म की घोषणा तो नहीं है?
मैं एक कविता कल पढ़ रहा था:
यह तीसरा फरेबे-मुहब्बत है मालती,

मैं आज फिर फरेबे-मुहब्बत में आ गया।
प्रेमी अपनी प्रेयसी से, किसी मालती से कह रहा है: यह तीसरा फरेबे-मुहब्बत है मालती,
यह तीसरी बार भ्रम हो रहा है।
मैं आज फिर फरेबे-मुहब्बत में आ गया।
रुखसार दिलशिकार हैं आंखें हैं दिलनशीं
शोलाजने-खिरद है तेरा हुस्ने-आतशीं।
मैं सोचता रहा, मैं बहुत सोचता रहा,
लेकिन तेरा जमाल, नजर में समा गया।
पहले भ्रमों की भी याद है। पहले और मालतियां धोखा दे गईं। यह तीसरा भ्रम है; दो मालतियां आ चुकीं, जा चुकीं।
मैं सोचता रहा, मैं बहुत सोचता रहा,
लेकिन तेरा जमाल नजर में समा गया।
गो जानता हूं यह भी तमन्ना का है फरेब,
गो जानता हूं यह भी तमन्ना का है फरेब,
गो मानता हूं राहे-मुहब्बत है पुरनसेब,
यह सब झूठ, यह सब सपना, यह सब फरेब--यह सब जानता हूं।
लेकिन बगैर इसके भी चारा नहीं मेरा,
इसके बिना भी चलता नहीं।
लेकिन बगैर इसके भी चारा नहीं मेरा,
कुछ भी बजुज फरेब सहारा नहीं मेरा।
और इन भ्रमों के सिवाए कोई सहारा ही नहीं मालूम होता, सपनों के सिवाए कोई जिंदगी ही नहीं मालूम होती।
तुझ-सी परी जमाल हसीनाओं के बगैर,
मैं हूं सनमपरस्त, गुजारा नहीं मेरा।
मैं आज फिर फरेबे-मुहब्बत में आ गया
यह तीसरा फरेबे-मुहब्बत है मालती।
तीसरा क्या, तीसवां, तीन सौवां, तीन हजारवां--मगर फरेब जारी रहता है।
जनक से अष्टावक्र कहने लगे, यह कहीं सुबह उठे हुए आदमी की बात तो नहीं
कि सपना था, और फिर कल तू सो जाए? इधर मैं गया और उधर तू सो जाए। तो तू ठीक से देख ले। सोने की अब और कोई संभावना तो नहीं है, यह जागरण आखिरी है? यह भ्रम का टूटना भी कहीं भ्रम ही सिद्ध न हो? तू ठीक से देख ले। यह टूट ही गया है? यह ऐसा टूट गया है कि फिर न बन सकेगा? तो गौर से देख ले, इसके बीज कहीं भीतर छिपे तो नहीं हैं? अन्यथा ऊपर-ऊपर जमीन साफ हो, भीतर बीज पड़े हों, फिर अंकुरित हो जाएं!
इसीलिए तो होता है, सुबह हम देख लेते हैं कि सपना टूट गया; लेकिन बीज
तो मिटते नहीं, बीज तो पड़े ही रहते हैं। जिन बीजों से सपने रात फैले थे, वे बीज तो अब भी भूमि में पड़े हैं वैसे के वैसे। फिर रात आएगी, ठीक मौसम पा कर, ठीक वर्षा होगी, फिर सपने खड़े हो जाएंगे। सपने के टूटने से क्या होता है? सपने के बीज दग्ध होने चाहिए। अगर बीज दग्ध नहीं हुए तो कुछ भी नहीं हुआ। धन की आकांक्षा बीज है। पद की आकांक्षा बीज है। महत्वाकांक्षा बीज है। इन बीजों की तलाश के लिए अष्टावक्र कहते हैं, तू जरा भीतर जा! देख, कहीं छिपे हुए बड़े छोटे-छोटे बीज...!
बीज तो बड़े छोटे होते हैं, वृक्ष बड़े हो जाते हैं। वृक्ष दिखाई पड़ते हैं, बीज तो पता भी नहीं चलते। तो उन बीजों को खोज। जब तक बीज दग्ध न हो जाएं, तब तक तू इस भ्रम में मत आना कि भ्रम के बाहर हो गया है।
"जिस आत्मारूपी समुद्र में यह संसार तरंगों के समान स्फुरित होता है, वही मैं हूं। यह जान कर भी क्यों तू दीन की तरह दौड़ता है?"
आदमी के जीवन की एकमात्र दीनता है वासना, क्योंकि वासना भिखमंगा बनाती है। वासना का अर्थ है: दो। वासना का अर्थ है: मेरी झोली खाली है, भरो! कोई भरो, मेरी झोली खाली है। वासना का अर्थ है: मांगना। वासना का अर्थ है कि मैं जैसा हूं वैसा पर्याप्त नहीं। मैं जैसा हूं, उससे मैं संतुष्ट नहीं, दो!

कहते हैं, फरीद, उनके गांव के लोगों ने कहा कि तुम अकबर को जानते हो, अकबर तुम्हें जानता है, तुम्हारा सम्मान भी करता है। तुम एक बार जा कर अकबर से इतना कह दो कि हमारे गांव में एक मदरसा खोल दे, गांव के बच्चे पढ़ने को तड़फते हैं। गरीब गांव है, तुम कहोगे तो मदरसा खुल जाएगा।
फरीद कभी राजमहल गया नहीं था। कभी-कभी अकबर को जब रस होता था तो फरीद
के दरबार में आता था। लेकिन जब मांगना हो तो जाना चाहिए--यह सोच कर फरीद गया। जब वह पहुंचा, सुबह-सुबह ही पहुंच गया; क्योंकि मांगना हो तो सुबह-सुबह ही मांगना चाहिए। सांझ तक तो आदमी इतने क्रोध में आ जाता है, इतना परेशान हो चुका होता है कि देने की बात कहां--और तुमसे छीन ले!
इसलिए भिखमंगे सुबह आते हैं। सुबह तुमसे थोड़ी आशा है। ताजे हो, रात भर विश्राम के बाद उठे हो, जिंदगी उतनी बोझिल नहीं है, इतना क्रोध नहीं है। सांझ तक तो तुम भी थक जाओगे; सुबह-सुबह तुम्हारी ताजगी में...।
फरीद पहुंचा। अकबर प्रार्थना कर रहा था अपनी निजी मस्जिद में। फरीद
को तो जाने दिया गया। लोग जानते थे अकबर का बड़ा भाव है फरीद के प्रति। फरीद पीछे जा कर खड़ा हो गया। अकबर ने अपनी नमाज पूरी की, हाथ उठाए आकाश की तरफ और कहा, हे परमात्मा! मुझे और धन दे, और दौलत दे, मेरे साम्राज्य को बड़ा कर! फरीद की आंखों में तो आंसू आ गए यह दीनता देख कर। यह सम्राट भी कोई सम्राट है! इससे तो हम भले। कम से कम परमात्मा एक इल्जाम तो नहीं लगा सकता कि हमने कुछ मांगा हो। और फिर उसे याद आया कि इस आदमी से क्या मांगना! इससे तो एक मदरसा लेने का मतलब होगा इसको गरीब बनाना, थोड़ा गरीब हो जाएगा। यह तो वैसे ही गरीब, इसकी हालत तो वैसे ही खराब है! इसकी दीनता तो देखो, अभी भी हाथ फैलाए है! अकबर जैसा सम्राट, जिसके पास सब है, वह भी मांग रहा है अभी! होने से क्या होता है, भिखमंगापन थोड़े ही मिटता है!
दुनिया में दो तरह के भिखमंगे हैं--गरीब और अमीर। भिखमंगे तो सभी हैं। गरीब को तो क्षमा भी कर दो; लेकिन अमीर को कैसे क्षमा करो, वह भी मांगे चला जाता है।
फरीद तो लौटने लगा। अकबर उठा तो फरीद को सीढ़ियों से उतरते देखा। उसने कहा, कैसे आए और कैसे चले? कभी तो तुम आए नहीं। स्वागत! घर में पधारो!
फरीद ने कहा, हो गया; आए थे एक बात से, लेकिन वह तो गलत खयाल था। चूक हो गई। हमसे भूल हुई, तुम्हारा कोई कसूर नहीं है।
अकबर तो बड़ा बेचैन हो गया। उसने कहा, हुआ क्या? मैं कुछ समझूं भी तो! पहेली मत बूझो!
फरीद ने कहा, गांव के लोगों ने--नासमझों ने--यह समझ कर कि तुम सम्राट हो, तुम्हारे पास बहुत है, मुझे भी भ्रम में डाल दिया। मैं भी उनकी बातों में आ कर चला आया। नासमझों की दोस्ती ठीक नहीं। अब मैं वापिस जा रहा हूं उनको समझाने कि तुम गलती में थे। मैं आ गया मांगने। गांव के लोगों ने कहा था एक मदरसा खुलवा दो। नहीं, लेकिन तुम्हारी हालत खराब है, तुम तो दीन अवस्था में हो। वह प्रार्थना मैं तुमसे न करूंगा। मेरे पास कुछ होता तो वह मैं तुम्हें दे डालता। मेरे पास कुछ है नहीं। तुम्हारी हालत बड़ी खराब है। तुम्हारी तो हालत दिवाले निकले जैसी है। तुम प्रार्थना करके मांग रहे थे! मैं आया था सम्राट से मिलने, भिखारी को देख कर वापिस जा रहा हूं। अष्टावक्र ने कहा:
विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंग इव सागरे।
"जैसे आत्मारूपी समुद्र में यह संसार तरंगों के समान स्फुरित होता, वही मैं हूं--ऐसा जानकर...।"
सोऽहमस्मीति विज्ञाय...
"...ऐसा जान कर।"
किं दीनं इव धावसि।
"...फिर तू दीन की तरह दौड़ा जा रहा है!"
जरा भीतर तो देख, वहां कोई दौड़ बाकी तो नहीं है? वहां कुछ मांग बाकी तो नहीं है? वहां कुछ पाने को शेष तो नहीं है? क्योंकि परमात्मा के मिलने का अर्थ यह है कि अब पाने को कुछ भी शेष न रहा। मिल गया जो मिलना था। आखिरी मिल गया, आत्यंतिक मिल गया; इसके पार मिलने को कुछ भी नहीं। अगर तेरे भीतर अब

भी इसके पार मिलने को कुछ हो तो समझना कि परमात्मा नहीं मिला, तू शब्दों के जाल में आ गया जनक! तू मेरे प्रभाव में आ गया जनक। तू सम्मोहित हो गया। ध्यान रखना, मन को अच्छी बातें मान लेने की बड़ी जल्दी होती है। कोई तुमसे कह दे कि आप तो परमात्म-स्वरूप हैं, कौन इंकार करना चाहता है! आप तो ब्रह्म-स्वरूप हैं, कौन इंकार करना चाहता है! अहंकार भरता है। कोई कह दे, आप तो शुद्ध-बुद्ध नित्य-चैतन्य--कौन इंकार करता है! बुद्धू से बुद्धू भी इंकार नहीं करता जब उससे कहो कि आप शुद्ध-बुद्ध! तो वह कहता है बिलकुल ठीक, अब तुम पहचाने। अभी तक कोई पहचाना नहीं। नासमझ हैं; क्या खाक पहचानेंगे! आप बुद्धिमान हैं, इसलिए पहचाना।
ज्ञान की घोषणाएं कहीं तुम्हारे अहंकार के लिए आधार तो नहीं बन रहीं? कहीं ऐसा तो नहीं है, प्रीतिकर लगती हैं, इसलिए मान लीं? कड़वी बातें कौन मानना चाहता है! कोई तुमसे पापी कहे तो दिल नाराज होता है। कोई तुम्हें पुण्यात्मा कहे तो तुम स्वीकार कर लेते हो। और यह हो सकता है कि जिसने पापी कहा था, वह सत्य के ज्यादा करीब हो।
टालस्टाय ने लिखा है अपनी आत्मकथा में कि एक दिन सुबह-सुबह मैं चर्च गया तो देखा गांव का सबसे बड़ा धनपति, सुबह के अंधेरे में चर्च में प्रार्थना कर रहा है। तो मैं तो चकित हुआ कि यह आदमी भी प्रार्थना करता है! मैं पीछे खड़े हो कर सुनने लगा। उस धनपति को कुछ पता नहीं था कि कोई और है अंधेरे में। वह धनपति कह रहा था, "हे प्रभु, मैं महापापी हूं। मुझ जैसा पापी इस संसार में कोई भी नहीं!" वह अपने पापों का कन्फेशन कर रहा था, स्वीकार-भाव से सब प्रगट कर रहा था जो-जो पाप उसने किए थे। और शायद, भाव से कर रहा था।
लेकिन तभी सुबह होने लगी। और उसको खयाल आया, मालूम हुआ कि कोई और भी पीछे खड़ा है। उसने देखा--और देखा टालस्टाय है। वह टालस्टाय के पास आया। उसने कहा, क्षमा करना, यह बात किसी और तक न जाए। यह जो मैंने कहा है, मेरे और परमात्मा के बीच है। तुमने अगर सुन लिया, अनसुना कर दो। यह बात किसी और तक न जाए, अन्यथा मानऱ्हानि का मुकदमा चलाऊंगा।
टालस्टाय ने कहा, यह भी खूब रही! तुम परमात्मा के सामने स्वयं घोषणा
कर रहे हो, फिर आदमियों से क्या डरते हो?
उसने कहा, तुम इस बात में पड़ो ही मत। अगर तुमने यह बात कहीं भी निकाली,
और यहां कोई दूसरा नहीं है, अगर मैंने यह बात कहीं से भी सुनी, तो तुम्हीं पकड़े जाओगे। यह मेरे और परमात्मा के बीच निजी बात है। यह कोई सार्वजनिक बात नहीं है।
तो हम पाप को तो चुपचाप स्वीकार करना चाहते हैं--परमात्मा और हमारे बीच--और पुण्य की हम घोषणा करना चाहते हैं सारे जगत में। करना चाहिए उल्टा। पुण्य की घोषणा तो निजी होनी चाहिए--वह परमात्मा और स्वयं के बीच। पाप की घोषणा सार्वलौकिक होनी चाहिए, सार्वजनिक होनी चाहिए।
तो अष्टावक्र ने कहा, कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये स्वादिष्ट बातें, ये मधुर बातें, ये वेदों का सार, ये उपनिषदों का सार...! तुझे स्वादिष्ट लग रहा है, यह तो पक्का है; लेकिन स्वादिष्ट लगने से कुछ सत्य थोड़े ही हो जाता है! आदमी मौत से डरता है, तो जल्दी से मान लेता है, आत्मा अमर है। इसलिए नहीं कि समझ गया कि आत्मा अमर है; मौत के डर के कारण...।
तुमने देखा, यह भारत है। यह पूरा मुल्क मानता है कि आत्मा अमर है, और इससे ज्यादा कायर कौम खोजनी मुश्किल है। होना तो उल्टा चाहिए। आत्मा जिनकी अमर है, उनको कोई गुलाम बना सकता है? लेकिन एक हजार साल तक ये गुलाम बने रहे। आत्मा अमर है!
नहीं, आत्मा अमर है का सिद्धांत हम पकड़े ही इसलिए हैं कि मरने से हम डरे हैं। यह सिद्धांत हमारी सुरक्षा है। हम यह सिद्धांत अनुभव से नहीं जाने हैं। अगर अनुभव से जाना होता तो यह मुल्क तो गुलाम बनाया ही नहीं जा सकता, इस मुल्क को तो कोई दबा ही नहीं सकता, क्योंकि जिसकी आत्मा अमर है, उसको तुम क्या दबाओगे? ज्यादा से ज्यादा धमकी मार डालने की दे सकते हो, वह धमकी भी नहीं दे सकते तुम इस देश को। आत्मा जिनकी अमर है, उनके ऊपर कोई धमकी न चलेगी।

लेकिन दिखाई उल्टा पड़ता है। भयभीत लोग, मौत से डरे हुए लोग मंत्र-जाप
कर रहे हैं आत्मा की अमरता के। क्षुद्र में पड़े हुए लोग विराट की घोषणा कर रहे हैं। क्षुद्र को छिपाने का आयोजन तो नहीं है विराट की चर्चा? पाप को छिपाने का आयोजन तो नहीं है पुण्य की चर्चा?
अगर ऐसा है तो जनक से अष्टावक्र कहने लगे, तू फिर से एक बार भीतर उतर
कर देख, ठीक से कसौटी कर ले।
"अत्यंत सुंदर और शुद्ध चैतन्य आत्मा को सुन कर भी कैसे कोई इंद्रिय-विषय में अत्यंत आसक्त हो कर मलिनता को प्राप्त होता है!"
श्रुतापि--सुन कर भी!
ध्यान रखना, सुनने से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो स्वयं के अनुभव से होता है। श्रुति से ज्ञान नहीं होता, शास्त्र से ज्ञान नहीं होता। हिंदुओं ने ठीक किया है कि शास्त्र के दो खंड किए हैं--श्रुति और स्मृति। ज्ञान उसमें कोई भी नहीं है। कुछ शास्त्र श्रुतियां हैं, कुछ शास्त्र स्मृतियां हैं। न तो स्मृति से ज्ञान होता, न श्रुति से ज्ञान होता।
श्रुति का अर्थ है सुना हुआ, स्मृति का अर्थ है याद किया हुआ। जाना हुआ दोनों में कोई भी नहीं है।
श्रुत्वाऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुंदरम्।
ऐसा सुन कर कि आत्मा अति सुंदर है, भ्रांति में मत पड़ जाना, मान मत लेना। जब तक जान ही न ले, तब तक मानना मत। विश्वास मत कर लेना, अनुभव को ही आस्था बनने देना। नहीं तो ऊपर-ऊपर तू मानता रहेगा--आत्मा अति सुंदर है--और जीवन के भीतर वही पुरानी मवाद, वही इंद्रिय-आसक्ति, वही वासना के घाव बहते रहेंगे, रिसते रहेंगे।
"अत्यंत सुंदर और शुद्ध चैतन्य आत्मा को सुन कर भी कैसे कोई इंद्रिय-विषय में अत्यंत आसक्त हो कर मलिनता को प्राप्त होता है!"
इसे ध्यान रख! सुनने वाले बहुत हैं। सुन कर मान लेने वाले बहुत हैं। लेकिन उनके जीवन में तो देख। सुन-सुन कर उन्होंने मान भी लिया है, लेकिन फिर भी मलिनता को रोज प्राप्त होते हैं। मलिनता जाती नहीं। जहां मौका मिला, वहां फिर तीसरा फरेब कि तीन सौवां फरेब, फिर फरेब खाने को तैयार हो जाते हैं।
कितनी बार तुमने सोचा कि क्रोध न करेंगे। तुम भलीभांति सुन कर जान चुके हो कि क्रोध पाप है, जहर है, कुछ लाभ नहीं; लेकिन फिर भी जब उठता है तब तुम खो जाते हो किसी झंझावात में, याद ही नहीं रहती। जब क्रोध जा चुका होता है उजाड़ कर तुम्हारे भीतर की सारी बगिया, तब फिर याद आती है, फिर पश्चात्ताप होता है। पर फिर पछताए होत का जब चिड़िया चुग गई खेत! फिर तुम पछताते हो। यह पुरानी आदत हो गई है। क्रोध कर लिया, पछता लिया। फिर क्रोध कर लिया, फिर पछता लिया। क्रोध और पश्चात्ताप एक-दूसरे के संगी-साथी हो गए हैं; उनमें कुछ फर्क नहीं रहा है। तुम्हारे पश्चात्ताप ने क्रोध को रोका तो नहीं। साफ है कि तुमने क्रोध को अभी देखा नहीं है; सुन-सुन कर मान रखा है कि बुरा है। यह तुम्हारा अपना आत्म-दर्शन नहीं है।
मैं एक कहानी पढ़ता था। बौद्ध कथा है। श्रावस्ती में एक सेठ था--मृगार। उसके लड़के की पत्नी थी विशाखा। विशाखा सुनने जाती थी बुद्ध को। मृगार कभी कहीं सुनने गया नहीं। वह धन- लोलुप धन के पीछे पागल था। वह सबसे बड़ा श्रेष्ठि था श्रावस्ती का। श्रावस्ती भारत की सबसे ज्यादा धनी नगरी थी और मृगार उसका सबसे बड़ा धनपति था।
तुम्हें शायद खयाल में न हो, जो शब्द हिंदी में है सेठ, वह श्रेष्ठि का
ही अपभ्रंश है, श्रेष्ठ का अपभ्रंश है। अब तो सेठ गाली जैसा लगता है। लेकिन कभी वह श्रेष्ठतम लोगों के लिए उपयोग किया जाता था।
नगर का सबसे बड़ा, श्रावस्ती का सबसे बड़ा श्रेष्ठि था मृगार, लेकिन कभी बुद्ध को सुनने न गया था। विशाखा उसकी सेवा करती--अपने ससुर की; उसके लिए भोजन बनाती। लेकिन विशाखा को सदा पीड़ा लगती थी कि यह ससुर बूढ़ा होता जाता है और बुद्ध के वचन भी इसने नहीं सुने। जानना तो दूर, सुने भी नहीं। इसका जीवन ऐसे ही धन, पद, वैभव में बीता जा रहा है। यह जीवन यूं ही रेत में गंवाए दे रहा है। यह सरिता ऐसे ही खो जाएगी सागर में पहुंचे बिना।

तो एक दिन जब मृगार भोजन करने बैठा और विशाखा उसे भोजन परोसती थी, तो
वह कहने लगी: तात! भोजन ठीक तो है? सुस्वादु तो है?
मृगार ने कहा: सदा तू सुंदर सुस्वादु भोजन बनाती है। यह प्रश्न तूने कभी पूछा नहीं, आज तू पूछती है, बात क्या है? तेरा भोजन सदा ही सुस्वादु होता है।
विशाखा ने कहा: आपकी कृपा है, अन्यथा भोजन सुस्वादु हो नहीं सकता, क्योंकि यह सब बासा भोजन है। मैं दुखी हूं कि मुझे आपको बासा भोजन खिलाना पड़ता है।
मृगार बोला: पागल! बासा! पर बासा तू खिलाएगी क्यों? धन-धान्य भरा हुआ
है कोठियों में, जो तुझे चाहिए प्रतिदिन उपलब्ध है। बासा क्यों?
उसने कहा कि नहीं मैं वह नहीं कह रही, आप समझे नहीं। यह जो धन-धान्य है, शायद होगा आपके पिछले जन्मों के पुण्यों के कारण; लेकिन इस जीवन में तो मैंने आपको कोई पुण्य-पुरुषार्थ करते नहीं देखा। इस जीवन में तो मैंने आपको कोई पुण्य-पुरुषार्थ करते नहीं देखा, इसलिए मैं कहती हूं यह सब बासा है। होगा, पिछले जन्मों में आपने कुछ पुण्य किया होगा, इसलिए धनी हैं। लेकिन मैंने अपनी आंखों से जबसे आपके घर में बहू हो कर आई हूं, मैंने आपका कोई पुण्य-प्रताप, आपका कोई पुण्य-पुरुषार्थ, आपके जीवन में कोई प्रेम, कोई धर्म, कोई पूजा, कोई प्रार्थना, कोई ध्यान, कुछ भी नहीं देखा। इसलिए मैं कहती हूं, यह पिछले जन्मों के पुण्यों से मिला हुआ भोजन बासा है तात! आप ताजा भोजन कब करेंगे?
मृगार आधा भोजन किए उठ गया। रात भर सो न सका। बात तो सही थी, चोट गहरी पड़ी। दूसरे दिन सुबह विशाखा ने देखा, वह भी बुद्ध के वचन सुनने के लिए मौजूद है, वह भी सुन रहा है। तब सुन-सुन कर वह ज्ञान की बातें करने लगा। वर्ष बीतने लगे। पहले वह ज्ञान की बातें न करता था, अब वह ज्ञान की बातें करने लगा; लेकिन जीवन वैसा का वैसा रहा। फिर विशाखा ने कहा कि तात! आप अब भी बासा ही भोजन कर रहे हैं, अब ज्ञान का बासा भोजन कर रहे हैं। ये बुद्ध के वचन हैं, आपके नहीं। ये उनकी सुन कर अब आप दोहरा रहे हैं। आप अपनी कब कहेंगे? आप जो गीत अपने प्राणों में ले कर आए हैं, वह कब प्रगट होगा? प्रभु, उसे प्रगट करें। कुछ आपके भीतर छिपा पड़ा है झरना, उसे बहाएं! यह अब भी बासा है।
तुम्हारा धन भी बासा है, तुम्हारा ज्ञान भी बासा है। और बासा होना ही पाप है। सब पाप बासे हैं। पुण्य तो सदा ताजा है, सद्यःस्नात! अभी-अभी हुई वर्षा में ताजे खड़े हुए फूल, अभी-अभी ऊगे सूरज की किरणों में नाचती सुबह की ताजीत्ताजी पत्तियां--ऐसा पुण्य है।
ज्ञान को सुन कर सब कुछ मत मान लेना। जब तक जान न लो, तब तक रुकना मत।
"सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को जानते हुए भी मुनि को ममता होती है--यही आश्चर्य है।"
अष्टावक्र कहने लगे, मुनियों को देखो, साधु-संन्यासियों को देखो, संतों को देखो! कहते हैं सब भूतों में आत्मा है और आत्मा में सब भूत हैं, फिर भी मुनि को ममता होती है! तो जरा जल्दी न करो जनक! कहीं तुम भी ऐसे मुनि मत बन जाना। ऊपर-ऊपर से तो कहे चले जाते हैं लोग कि हमारी कोई ममता नहीं, सब छोड़ दिया है...!
एक जैन साध्वी, मैं दिल्ली जाता था, तो मुझे मिलने आयी। मेरी बातें सुन कर उसे लगने लगा कि वह जिस जाल में है, उसके बाहर हो जाए। मैंने कहा, अपने गुरु से पहले बात कर। उसने अपने गुरु को कही, तो गुरु तो बहुत नाराज हो गए। गुरु ने तो कहा कि मुझसे मिलना चाहते हैं। मुझसे मिले तो बड़े नाराज थे। नाराजगी में भूल ही गए वे। वे कहने लगे कि यह साध्वी अगर छोड़ कर चली जाएगी तो हमारे संप्रदाय की बड़ी हानि होगी। फिर इस साध्वी से हमारी बड़ी ममता है। यह हमारे बुढ़ापे का सहारा है।
वे काफी बूढ़े हो गए थे। मैंने कहा, यह तो बात वैसी की वैसी है जैसे कोई बाप कहता है कि यह बेटा हमारे बुढ़ापे का सहारा है; कोई मां कहती है, यह बेटी हमारे बुढ़ापे का सहारा है। यह तो घर-गृहस्थी की बात हो गई। यह साधु को शोभा नहीं देती। अगर इस साध्वी को ऐसा लग रहा है कि इसके जीवन में स्वतंत्रता

घटित होगी इस जाल के बाहर निकलने से, तो तुम्हारा आशीर्वाद दो। अगर तुम्हें इससे ममता है तो अपनी ममता को तुम अपनी समस्या समझो, उसको सुलझाने की कोशिश करो, मरने से पहले ममता छोड़ो।
तब वे थोड़े चौंके। कहने लगे, बात तो ठीक है। ममता होनी नहीं चाहिए, लेकिन ममता है।
बेटे-बेटियों से ममता छूटती है तो शिष्य-शिष्याओं से हो जाती है। ममता थोड़े ही हटती है। घर से छूटती है तो मंदिर से हो जाती है। दूकान से छूटती है तो आश्रम से हो जाती है। ममता थोड़े ही छूटती है। "मेरा" नए-नए आश्रय बनाता चला जाता है। एक आश्रय उजाड़ो, वह उसके पहले दूसरी जगह आश्रय बना लेता है। एक नीड़ गिराओ, दूसरी जगह नीड़ बना लेता है। लेकिन "मेरा" तो बचता ही चला जाता है।
अष्टावक्र ने कहा, सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को जानते हुए भी मैं तुमसे कहता हूं जनक, ऐसे मुनि हैं, जिनको ममता होती है। असली आश्चर्य तो यही है। तुम क्या आश्चर्य की बात कर रहे हो कि शुद्ध-बुद्ध आत्मा कैसे संसार में पड़ गई! छोड़ो यह फिक्र। उससे बड़े आश्चर्य मैंने देखे हैं। मुनि हो गए हैं, सब छोड़ दिया है, घोषणा भी कर दी...!
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेजनित आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तंते।।
मैं तुम्हें असली आश्चर्य बताता हूं। जिन्होंने सब छोड़ दिया, फिर भी कुछ छूटा नहीं, ममता मौजूद है--इससे बड़ा चमत्कार तुम देखोगे! साधु भी गृहस्थ है, संन्यासी भी बंधा है। मोक्ष की आकांक्षा करने वाले अभी संसार में ही भटक रहे हैं। बातें मोक्ष की हैं, प्राण संसार में अटके हैं। तो जरा सोच कर करना, एकदम जल्दी मुनि मत बन जाना। क्योंकि यह चमत्कार होता है। अष्टावक्र निश्चित ही कठोर गुरु रहे होंगे। कठोर गुरु होना ही चाहिए। गुरु कठोर न हो तो करुणावान नहीं। उसकी कठोरता ही उसकी करुणा है। वे कसने लगे, खूब ठोंकने लगे। जनक भी घबड़ाया होगा। जनक ने तो पहले सोचा होगा कि इतनी ऊंची बातें कहीं, गुरु एकदम छाती से लगा लेंगे कि धन्यभाग! कि तू उपलब्ध हो गया! लेकिन ये गुरु भी खूब हैं! ये अष्टावक्र तो उल्टी डांट पिलाने लगे।
मगर अष्टावक्र ने ठीक किया। कसौटियों से गुजर कर ही सोने की परख होती है, आग से गुजर कर ही सोना कुंदन बनता है।
"परम अद्वैत में आश्रय किया हुआ और मोक्ष के लिए भी उद्यत हुआ पुरुष काम के वश हो कर क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल होता है--यही आश्चर्य है।" आदमी मरते-मरते दम, मर रहा हो, आखिरी क्षण तक भी, मौत द्वार पर दस्तक दे रही हो, तब तक भी कामवासना से पीड़ित होता है। और साधारण आदमी नहीं--परम अद्वैत में आश्रय किया हुआ! जो परम अद्वैत में अपनी आस्था की घोषणा कर चुका है, जो कहता हमने घर बना लिया भगवान में, वह भी! और मोक्ष के लिए उद्यत हुआ भी; वह जो कहता है हम मोक्ष की तरफ प्रयाण कर रहे हैं, वह भी!
"...पुरुष काम के वश हो कर क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल होता है--यही आश्चर्य है।"
पुरानी आदतें जाती नहीं। बोध भी आ जाता है तो पुरानी आदतें लौट-लौट कर हमला करती हैं। आदतें बदला लेती हैं।
मैंने सुना है, एक अंधा और एक लंगड़ा दो मित्र थे--दोनों भिखारी। और दोनों की मित्रता एकदम जरूरी भी थी, क्योंकि एक अंधा था और एक लंगड़ा था। लंगड़ा चल नहीं सकता था, अंधा देख नहीं सकता था। तो अंधा चलता था और लंगड़ा देखता था। लंगड़ा अंधे के कंधों पर बैठ जाता, दोनों भिक्षा मांग लेते। साझेदारी थी भिखारी की दूकान में। लेकिन कभी-कभी झगड़ा भी हो जाता था; जैसा सभी साझेदारों में होता है। कभी एक ज्यादा ले लेता, दूसरा कम ले लेता। या लंगड़ा चकमा दे देता अंधे को, तो झगड़ा हो जाता था। एक दिन झगड़ा इतना बढ़ गया कि मारपीट हो गई। मारपीट हो गई और दोनों ने कहा कि अब यह साझेदारी खत्म, यह पार्टनरशिप बंद, अब नहीं करते। अब अपनी तरफ से ही घिसट लेंगे, मगर यह नहीं चलेगा। यह तो काफी धोखा चल रहा है।

कहते हैं, परमात्मा को बड़ी दया आई। पहले आती रही होगी, अब नहीं आती। क्योंकि परमात्मा भी थक गया दया कर-कर के, कुछ सार नहीं। आदमी कुछ ऐसा है कि तुम दया करो तो भी उस तक दया पहुंचती नहीं। परमात्मा भी थक गया होगा। पर यह पुरानी कहानी है, दया आ गई। परमात्मा मौजूद हुआ, प्रगट हुआ। उसने उस दिन सोचा कि आज दोनों को आशीर्वाद दे दूंगा। अंधे के पास जा कर कहूंगा, मांग ले जो तुझे मांगना है। स्वभावतः अंधा मांगेगा कि मुझे आंखें दे दो, क्योंकि वही उसकी पीड़ा है। लंगड़े से कहूंगा, जो तुझे मांगना है तू मांग ले। वह मांगेगा पैर, उसको पैर दे दूंगा। अब दोनों को स्वतंत्र कर देना उचित है। वह गया, लेकिन रोता हुआ वापिस लौटा। परमात्मा रोता हुआ वापिस लौटा! क्योंकि अंधे से जब उसने कहा कि मैं परमात्मा हूं, तुझे वरदान देने आया हूं, मांग ले जो मांगना है--उसने कहा कि लंगड़े को अंधा कर दो। जब उसने लंगड़े से कहा तो लंगड़े ने कहा कि अंधे को लंगड़ा कर दो, प्रभु!
ऐसे ही अनुभवों के कारण उसने आना भी जमीन पर धीरे-धीरे बंद कर दिया। कोई सार नहीं है। बीमारी दुगुनी हो गई। आने से कुछ फायदा न हुआ। दया का परिणाम और घातक हो गया।
आदमी की आदतें! दुख भी आदत है! अगर तुम्हारे सामने परमात्मा खड़ा हो जाए तो तुम जो मांगोगे, उससे तुम और दुख खड़ा कर लोगे। तुम्हारी पुरानी आदत ही तो मांगेगी न! अगर अंधे में थोड़ी भी अक्ल होती तो वह कहता प्रभु, जो तुम्हें ठीक लगता हो, मेरे योग्य हो, वह दे दो। क्योंकि मैं तो जो भी मांगूंगा, वह गलत होगा। क्योंकि मैं अब तक गलत रहा हूं। मेरी उसी गलत चेतना में से तो मेरी मांग भी आएगी। नहीं, मैं न मांगूंगा, तुम जो दे दो! तुम्हारी मर्जी पूरी हो! तुम ज्यादा ठीक से देखोगे। तुम मुझे दे दो जो मेरे योग्य हो।
अंधे ने मांगा, वहीं भूल हो गई। लंगड़े ने मांगा, वहीं भूल हो गई। आदतें पुरानी थीं और अभी भी क्रोध का जहर बाकी था। तो परमात्मा भी सामने खड़ा था, फिर भी चूक गए। आदमी के सामने कई बार मोक्ष की घड़ी आ जाती है, फिर भी आदमी चूक जाता है; क्योंकि पुरानी आदतें हमला करती हैं और मोक्ष की घड़ी में बड़ी जोर से हमला करती हैं। क्योंकि आदतें भी अपनी रक्षा करना चाहती हैं। हर आदत अपनी रक्षा करती है, टूटना नहीं चाहती।
मेरे देखे दुनिया में अधिक लोग दुखी इसलिए नहीं है कि दुख के कारण हैं। सौ में निन्यानबे मौके पर तो कोई कारण नहीं, सिर्फ आदत है। कुछ लोगों ने दुख का गहन अभ्यास कर लिया है। वह अभ्यास ऐसा हो गया है कि छोड़ते नहीं बनता। उसमें ही तो उन्होंने अपना सारा जीवन लगाया है, आज एकदम से छोड़ भी कैसे दें?
मैं एक किताब पढ़ रहा था। एक बहुत अनूठी किताब है, सभी को पढ़नी चाहिए, उससे सभी को लाभ होगा। किताब का नाम है: हाउ टू मेक युअरसैल्फ मिजरेबल; वस्तुतः दुखी कैसे हों? और निश्चित ही लिखने वाले ने (डान ग्रीन वर्ग) ने बड़ी खोज की है। उसने सारे नियम साफ कर दिए हैं कि कहीं कोई चूक न रह जाए। सब नियम साफ कर दिए हैं! थोड़े से तुम भी अभ्यास करते हो, उनमें से अनजाने; मगर अगर किताब पढ़ लोगे तो तुम जान-बूझ कर, ठीक से, व्यवस्था से अभ्यास कर सकोगे। शायद कुछ भूल-चूक हो रही हो और तुम्हारा दुख परिपूर्ण न हो पा रहा हो।
दुख के अभ्यासी हैं लोग। कामवासना एक बड़ा प्राचीन अभ्यास है--सनातन-पुरातन! जन्मों- जन्मों में उसका अभ्यास किया है। कभी उससे कुछ पाया नहीं, सदा खोया, सदा गंवाया; लेकिन अभ्यास रोएं-रोएं में समा गया है।
आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
--वह जो मोक्ष के लिए तैयार है और वह जो परम अद्वैत में अपनी आस्था की घोषणा कर चुका है...।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया।
केलिशिक्षया--पुरानी कामवासना की शिक्षा के कारण, अभ्यास के कारण! आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया।
--पुराने अभ्यास के कारण बार-बार विकल हो जाता है।

मौत के क्षण में तक आदमी कामवासना के सपनों से भरा होता है। ध्यान करने बैठता है, तब भी कामवासना के विचार ही मन में दौड़ते रहते हैं। मंदिर जाता, मंदिर में बाहर से दिखाई पड़ता, भीतर से शायद वेश्यालय में हो। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, जनक, जल्दी मत कर। ये जाल बड़े पुराने हैं।
तू ऐसा एक क्षण में मुक्त हो गया?
अष्टावक्र यह नहीं कह रहे हैं कि तू मुक्त नहीं हुआ। अष्टावक्र की तो पूरी धारणा ही यही है कि तत्क्षण मुक्त हुआ जा सकता है। लेकिन वे जनक को सब तरफ से सावचेत कर रहे हैं कि कहीं से भी भ्रांति न रह जाए। यह मुक्ति अगर हो तो सर्वांग हो, यह कहीं से भी अधूरी न रह जाए। कहीं से भी रोगाणु फिर वापिस न लौट आएं।
"काम को ज्ञान का शत्रु जान कर भी, कोई अति दुर्बल और अंतकाल को प्राप्त पुरुष काम-भोग की इच्छा करता है--यही आश्चर्य है।"
उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रम् अवधार्य अति दुर्बलः च
अंतकालम् अनुश्रितः कामम् आकांक्षेत आश्चर्यम्!
तू क्या आश्चर्य की बातें कर रहा है जनक, असली आश्चर्य हम तुझे बताते हैं--अष्टावक्र कहते हैं--कि मर रहा है आदमी, सब जीवन-ऊर्जा क्षीण हो गई, सब जीवन बिखर गया, फिर भी कामवासना बची है। सिवाय कड़वे तिक्त स्वाद के कुछ भी नहीं छूटा है। सिवाय विषाद और घावों के कुछ भी नहीं बचा है। सारा जीवन एक विफलता थी, फिर भी कामवासना बची है। कठिन है, दुस्तर है; क्योंकि अभ्यास अति प्राचीन है। तो तू ठीक से निरीक्षण कर ले, निदान कर ले, अंतश्चेतन में उतर, अचेतन में उतर।
वस्तुतः जिसको फ्रॉयड ने अनकांशस, अचेतन कहा है--अष्टावक्र उसी की तरफ इशारा कर रहे हैं--कि तेरे चेतन में तो प्रकाश हो गया, लेकिन तेरे अचेतन की क्या गति है? तेरे बैठक के कमरे में तो सब साफ-सुथरा हो गया, लेकिन तेरे तलघरे की क्या स्थिति है? अगर तलघरे में आग जल रही है तो धुआं जल्दी ही पहुंच जाएगा तेरे बैठकखाने में भी। और अगर तलघरे में गंदगी भरी है तो तू बैठकखाने में कब तक सुवास को कायम रख सकेगा? उतर भीतर सीढ़ी-सीढ़ी। खोज बीजों को अचेतन में, और वहां दग्ध कर ले। और अगर तू वहां न पाए तो फिर ठीक हुआ। तो फिर जो हुआ, ठीक हुआ।
दुख, तृष्णा, काम, लोभ, क्रोध सभी बीमारियां हमारे सतत अभ्यास के फल हैं। यह अकारण नहीं है, हमने बड़ी मेहनत से इनको सजाया-संवारा है। हमने बड़ा सोच-विचार किया है। हमने इनमें बड़ी धन-संपत्ति लगाई है। हमने बड़ा न्यस्त स्वार्थ इनमें रचाया है। यह हमारा पूरा संसार है।
जब कोई आदमी कहता है कि मैं दुख से मुक्त होना चाहता हूं, तो उसे खयाल करना चाहिए कि वह दुख के कारण कुछ लाभ तो नहीं ले रहा है, कोई फसल तो नहीं काट रहा है? अगर फसल काट रहा है दुख के कारण, तो दुख से मुक्त होना भला चाहे, हो न सकेगा।
अब कुछ लोग हैं जिनका कुल सुख इतना ही है कि जब वे दुख में होते हैं तो दूसरे लोग उन्हें सहानुभूति दिखलाते हैं। तुमने देखा, पत्नी ऐसे बड़ी प्रसन्न है, रेडियो सुन रही है। पति घर की तरफ आना शुरू हुए, तो रेडियो बंद, सिरदर्द...एकदम सिरदर्द हो जाता है! ऐसा मैंने देखा, अनेक घरों में मैं ठहरा हूं, इसलिए कह रहा हूं। मैं देखता रहा कि अभी पत्नी बिलकुल सब ठीक थी, मुझसे ठीक से बात कर रही थी, यह सब, और तब पति के आने का हार्न बजा नीचे और वह गई अपने कमरे में और लेट गई और पति मुझे बताने लगे कि उसके सिर में दर्द है। यह हुआ क्या मामला? मैं यह नहीं कह रहा हूं कि दर्द नहीं है। दर्द होगा, मगर दर्द के पीछे कारण है गहरा। पति सहानुभूति ही तब देता है, पास आ कर बैठ कर सिर पर हाथ ही तब रखता है, जब दर्द होता है। यह स्वार्थ है उस दर्द में। दर्द वस्तुतः हो गया होगा, क्योंकि वह जो आकांक्षा है कि कोई हाथ माथे पर रखे...और पति बिना दर्द के तो हाथ रखता नहीं। अपनी पत्नी के माथे पर कौन हाथ रखता है! वह तो मजबूरी है कि अब वह सिरदर्द बना कर बैठी है, अब करो भी क्या! हालांकि उसको अपना अखबार पढ़ना है किसी तरह, लेकिन सिर पर हाथ रख कर बैठा है।

अब यह सिर पर हाथ रखने की जो भीतर कामना है--कोई सहानुभूति प्रगट करे, कोई प्रेम जाहिर करे, कोई ध्यान दे--अगर यह तुम्हारे दुख में समाविष्ट है, तो तुम लाख कहो हम दुख से मुक्त होना चाहते हैं, तुम मुक्त न हो सकोगे। क्योंकि तुम एक हाथ से तो पानी सींचते रहोगे और दूसरे हाथ से शाखाएं काटते रहोगे। ऊपर से काटते भी रहोगे, भीतर से सींचते भी रहोगे। इससे कभी छुटकारा न होगा। देखना, दुख में तुम्हारा कोई नियोजन तो नहीं है, इनवेस्टमेंट तो नहीं है?
मंजर रहीनेऱ्यास है, नाजिर उदास है,
मंजिल है कितनी दूर, मुसाफिर उदास है।
परवाज में कब आएगी रिफअत खयाल की
नारस हैं बालो-पर, ताइर उदास है।
तख्लीके-शाहकार का इम्कां नहीं अभी,
अशआर बेकरार है, शायर उदास है।
मुद्दत से यात्री को तरसती है मूर्ति,
सुनसान कोहसार का मंदिर उदास है।
एहसासो-फिक्र दोनों का हासिल है इस्तिराद
शायर है मह्वेऱ्यास मुवक्खिर उदास है।
यहां सभी उदास हैं। पक्षी उदास है, उड़ नहीं पाता। हो सकता है, सोने के पिंजड़े से मोह लग गया हो। यहां कवि उदास है, क्योंकि उदासी के गीत ही लोग सुनते हैं और तालियां बजाते हैं। यहां विचारक उदास है, क्योंकि हंसते और आनंदित आदमी को तो लोग पागल समझते हैं, विचारक कौन समझता है? यहां सब उदास हैं। इस उदासी से भरे वातावरण में, उदासी के पार होना बड़ा मुश्किल मालूम होता है। यहां की हवा उदास है। यहां की हवा में कामवासना है, क्रोध है, लोभ है, मोह है। यहां मोक्ष की किरण को उतारना बड़ा कठिन है।
लेकिन जनक के जीवन में किरण उतरी है। उतरी है, इसलिए अष्टावक्र सब तरह
से परीक्षा कर लेना चाहते हैं--कहीं भूल-चूक न हो जाए, कहीं कोई छिद्र न रह जाए! इस महाकरुणा के वश, वे ऐसे कठोर वचन जनक को बोलने लगे कि तू जरा देख तो! तू भी कहीं उसी जाल में न पड़ जाना, जिसमें बहुत मुनि पड़े हैं, बहुत ज्ञानी पड़े हैं। बहुत-से समझदार नासमझियों में उलझे हैं। बहुत-से पंडित शास्त्रों में दबे हैं। और बहुत-से त्याग की बातें करने वाले भीतर अभी भी धन की आकांक्षा से भरे हैं। इन सबकी ठीक से तू जांच-पड़ताल कर ले। यह सब न हो, तब तेरी उदघोषणा में सत्य है।

हरि ॐ तत्सत्!